न्यायाचार्य न्यायविशारद
महोपाध्याय श्री यशोविजयजी - विरचित

ज्ञानसार

मूल श्लोक, श्लोकार्थ और विवेचन सहित



विवेचनकार
पंन्यासप्रवरश्री भद्रगुप्तविजयजी गणिवर

प्रकाशक
श्री चिंतामणि पार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर तीर्थ
हरिद्वार • दिल्ली

ज्ञानसार

न्यायाचार्य न्यायविशारद

महोपाध्याय श्री यशोविजयजी- विरचित

ज्ञानसार

मूल श्लोक, श्लोकार्थ और विवेचन सहित

विवेचनकार

आचार्य श्री विजय भद्रगुप्त सूरिजी म. सा.

प्रकाशक

श्री चिंतामणि पार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर तीर्थ

हरिद्वार • दिल्ली

न्यायाचार्य-न्यायविशारद महोपाध्याय श्री यशोविजयजी-विरचित

ज्ञानसार

मूल श्लोक, श्लोकार्थ और विवेचन सहित

●

विवेचनकार

आचार्य श्री विजय भद्रगुप्त सूरिजी म. सा.

●

प्रकाशक

श्री चिंतामणि पार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर तीर्थ

(मु. का. : ४१ यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-११०००७)

भूपतवाला, ऋषिकेश राजमार्ग, हरिद्वार २४९ ४१० (उत्तराखंड)

●

©चिंतामणि पार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर तीर्थ, हरिद्वार

●

वि. सं. २०६५

ईस्वी सन् : २००९

●

मूल्य : ३००/- रुपये

आर्थिक सहयोग

कल्याण मित्र परिवार, चेन्नई

एस. देवराज जैन, चेन्नई

संघवी भंवरलाल रघुनाथमलजी दोशी, (मण्डार) दिल्ली

संघवी मुथा दीपचंद जैन, (माण्डवला) दिल्ली

श्री सुमेरचन्द जैन परिवार, अम्बाला

मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

प्रस्तावना

उपाध्याय **यशोविजयजी** विरचित **ज्ञानसार** एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसको विद्वानों ने जैन गीता भी कहा है। इसमें समग्र ज्ञानसागर का सार-अमृत प्राप्त होता है। अनेक भव्यात्माओं ने इसका अनुपान करके अमरत्व की अनुभूति की है। मूल ग्रन्थ संस्कृत भाषा में है। इस पर आचार्य **भद्रगुप्तसूरिजी** ने सरल एवं सुबोध हिन्दी में अर्थ एवं विवेचन लिखा है। यह अनुवाद अत्यन्त आदर के साथ सम्मानित हुआ और कुछ ही समय में अप्राप्य हो गया था। तत्पश्चात् अनेक जिज्ञासुओं के द्वारा इसके पुनः प्रकाशन की बार-बार विनती होती रही। इस बीच हरिद्वार में **ज्ञानसार** पर एक शिविर का आयोजन किया गया। उसमें इस ग्रन्थ के पुनः प्रकाशन के बीज बोए गए। हरिद्वार तीर्थमण्डल का सौभाग्य है कि इसे **ज्ञानसार** ग्रंथ के विवेचन के प्रकाशन का अनुपम लाभ मिल रहा है। आशा है कि यह ग्रन्थ सभी जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

ट्रस्टीगण

श्री चिंतामणि पार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर तीर्थ,

हरिद्वार

विषयानुक्रम

अष्टक	विषय	पेज
१.	पूर्णता	१
२.	मग्नता	१३
३.	स्थिरता	२४
४.	अमोह	३६
५.	ज्ञान	४७
६.	शम	५८
७.	इन्द्रियजय	६९
८.	त्याग	८१
९.	क्रिया	९२
१०.	तृप्ति	११०
११.	निर्लेपता	१२९
१२.	निःस्पृहता	१४४
१३.	मौन	१६२
१४.	विद्या	१७७
१५.	विवेक	१९३
१६.	मध्यस्थता	२१०
१७.	निर्भयता	२२८
१८.	अनात्मशंसा	२४४
१९.	तत्त्वदृष्टि	२५९

२०.	सर्वसमृद्धि	२७५
२१.	कर्मविपाक–चिंतन	२९०
२२.	भवोद्वेग	३०९
२३.	लोकसंज्ञात्याग	३२४
२४.	शास्त्र	३४३
२५.	परिग्रहत्याग	३६१
२६.	अनुभव	३८०
२७.	योग	३९८
२८.	नियाग	४१६
२९.	भावपूजा	४२८
३०.	ध्यान	४४४
३१.	तप	४५७
३२.	सर्वनयाश्रय	४७४
	विषयक्रम निर्देश	४८३
	उपसंहार	४९०

ज्ञानसार–परिशिष्ट

१.	कृष्णपक्ष–शुक्लपक्ष	५०४
२.	ग्रन्थिभेद	५०६
३.	अध्यात्मादि योग	५०७
४.	चतुर्विध सदनुष्ठान	५११
५.	ध्यान	५१३
६.	धर्मसंन्यास–योगसंन्यास	५२०
७.	समाधि	५२१
८.	पांच आचार	५२२
९.	आयोजिकाकरण, समुद्घात, योगनिरोध	५२४

१०.	चौदह गुणस्थानक	५२६
११.	नयविचार	५३२
१२.	ज्ञपरिज्ञा–प्रत्याख्यानपरिज्ञा	५३९
१३.	पंचास्तिकाय	५४०
१४.	कर्मस्वरुप	५४५
१५.	जिनकल्प–स्थविरकल्प	५४७
१६.	उपसर्ग–परिसह	५५३
१७.	पाँच शरीर	५५५
१८.	बीस स्थानक तप	५५६
१९.	उपशम श्रेणी	५५९
२०.	चौदह पूर्व	५६५
२१.	पुद्गल परावर्तकाल	५६६
२२.	कारणवाद	५६९
२३.	चौदह राजलोक	५७१
२४.	यतिधर्म	५७३
२५.	सामाचारी	५७४
२६.	गोचरी के ४२ दोष	५७५
२७.	चार निक्षेप	५७८
२८.	चार अनुयोग	५८१
२९.	ब्रह्म अध्ययन	५८२
३०.	पैंतालीस आगम	५८३
३१.	तेजोलेश्या	५८५

श्री चिंतामणि पार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर तीर्थ, हरिद्वार (उत्तराखण्ड) संक्षिप्त परिचय

आध्यात्मिक साधना में मंदिरों-तीर्थों का विशिष्ट महत्त्व है। तीर्थों से निःसृत होने वाली वीतरागता की ज्योति सांसारिक कर्मों में लिप्त मनुष्य को सदैव अपनी ओर आकर्षित करती रहती हैं। यही कारण है कि भारत में प्राचीनतम समय से तीर्थ-यात्रा को जीवन का पवित्रतम अनुष्ठान माना जाता है। तीर्थपति तीर्थंकर परमात्मा की प्रत्यक्षतः अनुपस्थिति में ये स्थापना तीर्थ ही हमारे लिये भवसागर से पार उतरने के साधन हैं।

समस्त भारत में जैन तीर्थ अपनी अनूठी स्थातप्य-कला, वैभव, कला-कौशल एवं अप्रतिम निर्माण-सौंदर्य के लिय अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन तीर्थों में पालिताणा, सम्मेत-सिखर, आबू-देलवाडा, तारंगा, गिरनार, माण्डवगढ़, पावापुरी, क्षत्रियकुण्ड, राजगृही, राणकपुर, हस्तिनापुर, कांगड़ा, शंखेश्वर, अयोध्या जैसे तीर्थ विशेष प्रसिद्ध हैं। जैन तीर्थो की इसी श्रृंखला में एक तीर्थ है- श्री चिंतामणि पार्श्वनाथ श्वेताम्बर तीर्थ, हरिद्वार (उत्तराखण्ड) जिस के प्रति समस्त जैन समाज की आस्था और निष्ठा समर्पित है।

वर्तमान चौबीसी के प्रथम तीर्थकर भगवान ऋषभदेव का निर्वाण अष्टापद पर्वत पर हुआ था। अष्टापद तीर्थ वर्तमान में अप्राप्य है। भगवान जब अपने निर्वाण समय पर अयोध्या से अष्टापद की और पधारे होंगे तो हरिद्वार उनके निर्वाण मार्ग की समतल भूमि पर अंतिम पडाव रहा होगा। प्रभु के पावन अणु हरिद्वार के वातावरण के कण-कण में व्याप्त हैं और अनन्त काल तक बने रहेंगे।

पावन भूमि हरिद्वार में वर्षों से कोई श्वेताम्बर जैन मंदिर नहीं था। मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन संस्थान के स्वर्गीय लाला सुंदरलालजी जैन को यह अभाव सदैव खटकता रहता था। शेठ कस्तूरभाई लालभाई की भी यही भावना थी कि इस पुण्यभूमि पर एक भव्य जैन मंदिर के साथ-साथ धर्मशाला, भोजनशाला व उपाश्रय का निर्माण होना चाहिए, किन्तु दोनों महानुभावो का यह स्वप्न उनके जीवनकाल में पुरा न हो सका।

लाल सुंदरलालजी के भतीजे पद्म श्री स्व. शांतिलालजी जैन ने अपनी भावना सुश्रावक स्व. श्री शोरीलालजी जैन नाहर (मूल ब्यावर निवासी) के समक्ष रखी। अन्तः प्रेरणा से प्रेरित होकर श्रीयुत् शोरीलाल जी ने स्वयं को इस सम्पूर्ण परिजोयना के साथ तन-मन-धन से जोड़ा व तीर्थ निर्माण का समस्त कार्यभार अपने धों पर लिया। तीर्थ हेतु सर्वप्रथम भूमि का क्रय लाला शांतिलालजी ने अपने मित्र श्री ज्ञानचंदजी जैन (बी. पी. बी. पब्लिकेशन) के सहयोग से किया पद्मश्री ज्ञानचंदजी जैन वर्तमान में तीर्थमण्डल के अध्यक्ष हैं।

दैवयोग से चेन्नई निवासी स्व. श्री अमरचंदजी वैद, जिन्हें अपने दिवंगत पिताश्री का दैव सानिध्य प्राप्त था, भी इस परियोजना की महत्त्वपूर्ण कड़ी बने और इस प्रकार मंदिर निर्माण का स्वप्न साकार हुआ।

जैसलमेर के स्वर्णिम प्रस्तर युक्त देव विमान तुल्य इस मंदिर का निर्माण दो खण्डों में हुआ है। भूतल पर गर्भगृह में प्रथम तीर्थंकर श्री आदिनाथ भगवान की श्वेतवर्ण की ५१" की भव्य प्रतिमा स्थापित है एवं रंगमण्डप में श्री सीमंधर स्वामीजी व श्री महावीर स्वामीजी की प्रतिमायें प्रतिष्ठित हैं। मुख्य खण्ड के गर्भगृह में मूलनायक श्री चिंतामणि पार्श्वनाथ जी की प्रतिमा विराजमान है और रंगमण्डप में श्री शांतिनाथजी एवं श्री नेमिनाथजी की प्रतिमायें प्रतिष्ठित हैं। मंदिर के पार्श्वनाग में आदिनाथ भगवान की चरण पादुकाएँ रायण वृक्ष के निचे विराजमान हैं जो शत्रुंजय तीर्थ पर स्थापित रायण पगलों की प्रतिृ ति है। मूल मंदिर के सम्मुख मणिभद्र देव की देहरी स्थापित है।

पूरे उत्तरी भारत में अपनी तरह के अनुपम इस तीर्थ के शिल्प का संयोजन सुप्रसिद्ध सोमपुरा श्री अमृतभाई त्रिवेदी के संयोजन में सम्पन्न हुआ है। तीर्थ स्थापना के चौदह वर्ष बाद भी शिल्प के सौंदर्यीकरण का कार्य अनवरत चालु है।

तीर्थ की अंजनशलाका-प्रतिष्ठा समारोह परम वंदनीय आचार्य भगवंत श्रीमद् पद्मसागर सूरीश्वरजी महाराज आदि ठाणा एवं मुनिराज (वर्तमान में आचार्य) श्री धर्मधुरंधर विजयजी म. सा. की पावन निश्रा में माघ शुक्ला ६, रविवार, दिनांक ५ फरवरी १९९५ को भारत भर से उपस्थित सहस्त्रों साधर्मिकों के सान्निध्य में संपन्न हुआ।

मंदिर के सन्निकट, तीर्थ परसर के तिमंजिले भवन, में उपाश्रय, साधर्मिक भक्तिगृह, आयंबिल खाता एवं अतिथिगृह की सुविधायें उपलब्ध हैं। तीर्थ परिसर में ही ६०० से ८०० यात्रियों कि निवास हेतु 'नाहर-भवन' धर्मशाला अवस्थित है। सम्मेत शिखरजी यात्रा संघों एवं अन्य महोत्सवों में भोजन व्यवस्था हेतु परिसर के मध्य भाग में भव्य 'जगन्नाथ सरधी-देवी उत्सव पंडाल' निर्मित है। वर्तमान में तीर्थद्वार एवं तीर्थ पेढ़ी का निर्माण कार्य जारी है।

सुश्रावक श्री शोरीलालजी के अन्तर्मन की भावना प्रारम्भ से ही यह रही थी कि तीर्थ परिसर में नवकार पीठ की स्थापना हो। वर्तमान समय में इस वृहद् योजना के प्रारम्भ में उपाश्रय भवन में नवकार पीठ स्थापित है और तीर्थयात्रियों के ध्यान-स्मरण हेतु सुविधा उपलब्ध है। कालांतर में भव्य नवकार पीठ के निर्माण की योजना है।

नवकार-पीठ के अन्य सोपान के रूप में पुस्तक प्रकाशनकी योजना का प्रथम पुष्प अध्यात्मयोगी आचार्य कलापूर्ण सूरिजी म. सा. की गुजराती पुस्तक 'ध्यान-विचार' का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुआ था। इस प्रकाशन सरिता में अब तक 'ध्यान विचार' के उपरांत 'पंचप्रतिक्रमण एवं नवस्मरण प्रबोध टीकानुसारी (अर्थ सहित)', 'मिले मन भीतर भगवान', 'नमस्कार

चिन्तामणि', 'महामंत्र की अनुप्रेक्षा' एवं 'जिनवाणी का निर्झर' का प्रकाशन किया जा चुका है। इसी कड़ी में 'ज्ञानसार' रूपी पुष्प आपके समक्ष प्रस्तुत है। पूज्य उपाध्याय श्री यशोविजयजी विरचित 'ज्ञानसार' की विवेचना पूज्य आचार्य प्रवर श्री विजय भद्रगुप्त सूरिजी द्वारा की गई है। 'ज्ञानसार' आध्यात्मिक साहित्य जगत में एक अद्वितीय रचना है। यह पूज्य महोपाध्याय श्री यशोविजयजी की श्रेष्ठ कृतियों में से एक है।

श्री चिंतामणि तीर्थ हरिद्वार के तीर्थमण्डल की भावना है कि ऐसा अनुपम साहित्य हर घर में पहुँचे व गुणीजनों के हृदय को चिर आनंद प्रदान करे। अस्तु।

बसंत पंचमी

ट्रस्टीगण

२३ अगस्त, २००९

चिंतामणि पार्श्वनाथ तीर्थ, हरिद्वार

'ज्ञानसार'

ग्रन्थ के रचयिता

न्यायाचार्य न्यायविशारद उपाध्याय

श्रीमद् यशोविजयजी

भारतीय संस्कृति सदैव धर्मप्रधान रही हुई है। चूंकि धर्म से ही जीवमात्र का कल्याण हो सकता है और धर्म से ही जीवन में सच्ची शान्ति एवं प्रसन्नता प्राप्त होती है। जीवों की भिन्न–भिन्न योग्यतायें देखते हुए ज्ञानीपुरुषों ने धर्म का पालन करने के अनेक प्रकार बताये हैं।

जीवों की पात्रता के अनुसार धर्ममार्ग बताने का एवं उस धर्ममार्ग पर चलने की प्रेरणा देने का पवित्र कार्य, करूणावन्त साधुपुरुष प्राचीनकाल से करते आ रहे हैं और आज... वर्तमानकाल में भी कर रहे हैं। निष्पाप जीवन जीना, आत्मसाधना में जाग्रत रहना और करूणा से प्रेरित हो, विश्व का कल्याण करने हेतु धर्मोपदेश देना, सुन्दर धर्मग्रन्थों का निर्माण करना–यही है साधुजीवन की प्रमुख प्रवृत्ति और यही है उनकी विश्वसेवा।

विश्ववत्सल भगवान् महावीर स्वामी के धर्मशासन में ऐसे धर्मप्रभावक अनेक महान् आचार्य एवं साधुपुरुष हो गये हैं और अभी इस समय तक होते रहे हैं। परन्तु उन सभी महापुरुषों में अपनी असाधारण प्रतिभा से, विशिष्ट शासनप्रभावना की दृष्टि से और विपुल साहित्यसर्जन की दृष्टि से अपना विशिष्ट स्थान बनानेवाले श्री भद्रबाहुस्वामी, श्री सिद्धसेन दिवाकर, श्री हरिभद्रसूरि, श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, श्री हेमचन्द्रसूरि जैसे समर्थ आचार्यों की पंक्ति में जिनका शुभ नाम आदरभाव से लिया जाता है वे हैं न्यायाचार्य न्यायविशारद उपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी ! जो इस ग्रन्थरत्न–'ज्ञानसार' के रचयिता हैं।

विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में यह महापुरुष हो गये। इनके जीवन के विषय में अनेक दन्तकथायें एवं किंवदन्तियां प्रचलित हैं। परन्तु सत्रहवीं शताब्दी में जिसकी रचना हुई है उस 'सुजसवेली भास' नाम की छोटी सी कृति में उपाध्यायजी का यथार्थ जीवनवृत्तान्त संक्षेप में प्राप्त होता है। उपाध्यायजी के जीवन के विषय में यही कृति प्रमाणभूत मान सकते हैं।

संक्षिप्त जीवनपरिचय :

उत्तर गुजरात में पाटन शहर के पास 'कनोड़ा' गाँव आज भी मौजूद है। उस गाँव में नारायण नाम के श्रेष्ठि रहते थे। उनकी पत्नी का नाम था सौभाग्यदेवी। पति–पत्नी सदाचारी एवं धर्मनिष्ठ थे। उनके दो पुत्र थे : जशवन्त और पद्मसिंह।

जशवन्त बचपन से बुद्धिमान् था। बचपन में भी उसकी समझदारी बहुत अच्छी थी। और उसमें अनेक गुण दृष्टिगोचर होते थे।

उस समय के प्रखर विद्वान् मुनिराज श्री नयविजयजी विहार करते करते वि. सं. १६८८ में कनोड़ा पधारे। कनोड़ा की जनता श्री नयविजयजी की ज्ञान–वैराग्य भरपूर देशना सुनकर मुग्ध हो गई। श्रेष्ठि नारायण भी परिवार–सहित गुरुदेव का उपदेश सुनने गये। उपदेश तो सभी ने सुना, परन्तु बालक जशवत के मन पर उपदेश का गहरा प्रभाव पड़ा। जशवन्त की आत्मा में पड़े हुए त्याग–वैराग्य के संस्कार जाग्रत हो गये। संसार का त्यागकर चारित्रधर्म अंगीकार करने की भावना माता-पिता के सामने व्यक्त की। गुरुदेवश्री नयविजयजी ने भी जशवत की बुद्धिप्रतिभा एवं संस्कारिता देख, नारायण श्रेष्ठि एवं सौभाग्यदेवी को कहा : 'भाग्यशाली, तुम्हारा महान् भाग्य है कि ऐसे पुत्ररत्न की तुम्हें प्राप्ति हुई है। भले ही उम्र में जशवन्त छोटा हो, उसकी आत्मा छोटी नहीं है। उसकी आत्मा महान् है। यदि तुम पुत्र–मोह को मिटा सको और जशवन्त को चारित्रधर्म स्वीकार करने की अनुमति दे दो, तो यह लड़का भविष्य में भारत की भव्य विभूति बन सकता है। लाखों लोगों का उद्धारक बन सकता है। ऐसा मेरा अन्तःकरण कहता है।'

गुरुदेव की बात सुनकर नारायण और सौभाग्यदेवी की आँखें चूने लगी। वे आँसू हर्ष के थे और शोक के भी। 'हमारा पुत्र महान् साधु बन, अनेक जीवों का कल्याण करेगा... श्रमण भगवान् महावीरस्वामी के धर्मशासन को उज्ज्वल

करेगा' यह कल्पना उनको हर्षविभोर बनाती है तो 'ऐसा विनीत बुद्धिमान और प्रसन्नमुख पुत्र गृहत्याग कर, माता-पिता एवं स्नेही-स्वजनादि को छोड़कर चला जायेगा क्या ?' यह विचार उनको उदास भी बना देता है । उनका मन द्विधा में पड़ गया ।

गुरुदेव श्री नयविजयजी वहाँ से बिहार कर पाटण पधारे । चातुर्मास पाटण में किया ।

कनोड़ा में जशवन्त बेचैन था । गुरुदेव की सौम्य और वात्सल्यमयी मुखमुद्रा उसकी दृष्टि में तैरती रहती है । उसका मन गुरुदेव का सान्निध्य पाने को तरसता है । खाने-पीने में और खेलने–कूदने में उसकी कोई रुचि नहीं रही । उसका मन उदास हो गया । बारबार उसकी आँखें भर आती थीं । अपने प्यारे पुत्र की उत्कट धर्मभावना देख माता-पिता के हृदय में भी परिवर्तन आया । जशवन्त को लेकर वे पाटण गये । गुरुदेव श्री नयविजयजी के चरणों में जशवन्त को समर्पित कर दिया ।

शुभ मुहूर्त में जशवन्त की दीक्षा हुई । जशवन्त 'मुनि जशविजय' बन गया । बाद में जशविजयजी 'यशोविजयजी' नाम से प्रसिद्ध हुए ।

छोटा भाई पद्मसिंह भी संसार त्यागकर श्रमण बना । उनका नाम पद्मविजय रखा गया । यशोविजय और पद्मविजय की जोडी श्रमण-संघ में शोभायमान बनी रही । जैसे राम और लक्ष्मण !

साधु बनकर दोनों भाई गुरुसेवा में और ज्ञानाभ्यास में लीन हो गये । दिन-रात उनका साधनायज्ञ चलता रहा । वि० सं० १६९९ में वे अहमदाबाद पधारे । वहाँ उन्होंने गुरु आज्ञा से अपनी अपूर्व स्मृतिशक्ति का परिचय देनेवाले 'अवधान प्रयोग' कर दिखाये । यशोविजयजी की तेजस्वी प्रतिभा देखकर, श्रेष्ठिरत्न धनजी सूरा अत्यन्त प्रभावित हुए । उन्होंने गुरुदेव श्री नयविजयजी के पास आकर विनती की :

'गुरुदेव, श्री यशोविजयजी सुयोग्य पात्र हैं । बुद्धिमान् हैं और गुणवान हैं । ये दूसरे हेमचन्द्रसूरि बन सकते हैं । आप उनको काशी भेजें और षड्–दर्शन का अध्ययन करायें ।'

गुरुदेव ने कहा : 'महानुभाव, आपकी बात सही है। मैं भी चाहता हूँ कि यशोविजयजी, विद्याधाम काशी में जाकर अध्ययन करें, परन्तु वहाँ के पण्डित पैसे लिये बिना अध्ययन नहीं कराते हैं।'

धनजी सूरा ने कहा : 'गुरुदेव, आप उसकी जरा भी चिन्ता नही करें। यशोविजयजी के अध्ययन में जितना भी खर्च करना पड़ेगा, वह मैं करूँगा। मेरी सम्पत्ति का सदुपयोग होगा। ऐसा पुण्यलाभ मेरे भाग्य में कहाँ ?'

एक दिन यशोविजयजी और विनयविजयजी ने, गुरुदेव से आशीर्वाद लेकर, काशी की ओर प्रयाण कर दिया। काशी पहुँचकर, षड्दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् भट्टाचार्य के पास अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। भट्टाचार्य के पास दूसरे ७०० छात्र विविध दर्शनों का एवं धर्मशास्त्रों का अध्ययन करते थे। तेजस्वी बुद्धिप्रतिभा के धनी श्री यशोविजयजी ने शीघ्रगति से न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त और बौद्धदर्शन आदि का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया। 'न्यायचिंतामणी' जैसे न्यायदर्शन के महान् ग्रन्थ का भी अवगाहन किया। जैन-दर्शन के सिद्धान्तों का परिशीलन तो चल ही रहा था। स्याद्वाद-दृष्टि से सभी दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन भी वे करते रहे। काशी के श्रेष्ठ विद्वानों में उनकी ख्याति फैलने लगी।

वह जमाना था वाद-विवाद का। एक बार एक विद्वान् संन्यासी ने बड़े आडम्बर के साथ काशी में आकर विद्वानों के सामने शास्त्रवाद करने का एलान कर दिया। उस संन्यासी के साथ शास्त्रवाद करने के लिये जब कोई भी पण्डित या विद्वान् तैयार नहीं हुए तब श्री यशोविजयजी तैयार हुए। वाद-विवाद में उन्होंने उस संन्यासी को पराजित कर दिया। विद्वत्सभा विस्मित हो गई। काशी के विद्वानों ने और जनता ने मिलकर विजययात्रा निकाली। बाद में यशोविजयजी को सन्मान के साथ 'न्यायविशारद' की गौरवपूर्ण उपाधि प्रदान की। काशी के विद्वानों ने जैन मुनि का सन्मान किया हो, ऐसा यह पहला ही प्रसंग था।

काशी में तीन वर्ष रहकर, यशोविजयजी आग्रा पधारे। वहाँ एक समर्थ विद्वान् के पास चार वर्ष रहकर विविध शास्त्रों का एवं दर्शनों का विशेष गहराई से अध्ययन किया। बाद में विहार कर वे गुजरात पधारे।

उनकी उज्ज्वल यशोगाथा सर्वत्र फैलने लगी । अनेक विद्वान्, पण्डित, जिज्ञासु, वादी, भोजक... याचक... उनके पास आने लगे । यशोविजयजी के दर्शन कर, उनका सत्संग कर वे अपने आपको धन्य मानने लगे । अहमदाबाद में नागोरी धर्मशाला में जब वे पधारे तो धर्मशाला जीवन्त तीर्थधाम बन गयी !

गुजरात का मुगल सूबा महोब्बतखान भी, यशोविजयजी की प्रशंसा सुनकर उनके दर्शन करने गया । खान की प्रार्थना से यशोविजयजी ने १८ अद्‌भुत अवधान–प्रयोग कर दिखाये । खान बहुत ही प्रसन्न और प्रभावित हुआ । जिनशासन का प्रभाव विस्तृत हुआ ।

उस समय जिनशासन के अधिनायक थे आचार्यदेव श्री विजयदेवसूरिजी । श्री जैन संघ ने आचार्य श्री को विनती की : 'गुरुदेव, ज्ञान के सागर और महान्, धर्मप्रभावक श्री यशोविजयजी को उपाध्याय पद पर स्थापित करें, ऐसी संघ की भावना है ।

आचार्यश्री ने अपनी अनुमति प्रदान की । श्री यशोविजयजी ने ज्ञान–ध्यान के साथ साथ २० स्थानक तप की भी आराधना की । संयमशुद्धि और आत्मविशुद्धि के मार्ग पर वे विशेष रूप से अग्रसर हुए । वि. सं. १७१८ में वे महापुरुष उपाध्याय पद से अलंकृत हुए ।

अनेक वर्षो की अखण्ड ज्ञानसाधना एवं जीवन के विविध अनुभवों के परिपाक स्वरुप अनेक ग्रन्थरत्नों का सर्जन वे करते रहे । उन ग्रन्थरत्नों का प्रकाश अनेक जिज्ञासुओं के हृदय को प्रकाशित करने लगा । अनेक मुमुक्षुओं को स्पष्ट मार्गदर्शन देता रहा । अखण्ड ज्ञानोपासना और विपुल साहित्य सर्जन के कारण उपाध्याय श्री यशोविजयजी, विद्वानों में 'लघुहरिभद्र' के नाम से प्रसिद्ध हुए । जीवनपर्यन्त लोककल्याण का और साहित्यसर्जन का कार्य चलता ही रहा । करीबन् २५ वर्ष तक उपाध्यायपद को शोभायमान करते हुए जिनशासन की अपूर्व सेवा करते रहे ।

वि० सं० १७४३ का चातुर्मास उन्होंने डभोई (गुजरात) में किया और वहाँ अनशन कर वे समाधिमृत्यु को प्राप्त हुए । स्वर्गवास–भूमि पर स्तूप (समाधि–मन्दिर) बनाया गया । आज भी वह स्तूप विद्यमान है । ऐसा कहा जाता

है कि स्वर्गवास के दिन वहाँ स्तूप में से न्याय की ध्वनि निकलती है और लोगों को सुनाई देती है कभी कभी ।

श्रीमद् यशोविजयजी के साहित्य का परिचय

उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने चार भाषाओं में साहित्यरचना की है :

१. संस्कृत, २. प्राकृत, ३. गुजराती, ४. राजस्थानी ।

विषय की दृष्टि से देखा जाय तो उन्होंने काव्य, कथा, चरित्र, आचार, तत्त्वज्ञान, न्याय–तर्क, दर्शनशास्त्र, योग, अध्यात्म, वैराग्य आदि अनेक विषयों पर विस्तार से एवं गहराई से लिखा है । उन्होंने जिस प्रकार विद्वानों को चमत्कृत करनेवाले गहन और गम्भीर ग्रन्थ लिखे है वैसे सामान्य मनुष्य भी सरलता से समझ सके वैसा लोकभोग्य साहित्य भी लिखा है । उन्होंने जैसे गद्य लिखा है वैसे पद्यात्मक रचनायें भी लिखी हैं । उन्होंने जिस प्रकार मौलिकग्रन्थों की रचना की है वैसे प्राचीन आचार्यों के महत्त्वपूर्ण संस्कृत–प्राकृत भाषा के ग्रन्थों पर विवेचन एवं टीकायें भी लिखी हैं ।

वे महापुरुष जैसे जैनधर्म-दर्शन के पारंगत विद्वान थे वैसे अन्य धर्म एवं दर्शनों के भी तलस्पर्शी ज्ञाता थे । उनके साहित्य में उनकी व्यापक विद्वता एवं समन्वयात्मक उदार दृष्टि का सुभग दर्शन होता है । वे प्रखर तार्किक होने से, स्वसम्प्रदाय में या पर सम्प्रदाय में जहाँ जहाँ भी तर्कहीनता और सिद्धान्तों का विसंवाद दिखायी दिया वहाँ उन्होंने निर्भयता से स्पष्ट शब्दों में आलोचना की है। ऐसे अलोचनात्मक ग्रन्थ निम्न प्रकार हैं–

अध्यात्ममतपरीक्षा, देवधर्मपरीक्षा, दिक्पट ८४ बोल, प्रतिमाशतक, महावीर जिन स्तवन वगैरह ।

उनके लिखे हुए जैनतर्कभाषा, स्याद्वादकल्पलता, ज्ञानबिन्दु, नयप्रदीप, नयरहस्य, नयामृततरंगिणी, नयोपदेश, न्यायालोक, खण्डनखाद्यखण्ड, अष्टसहस्त्री वगैरह अनेक दार्शनिक ग्रन्थ उनकी विलक्षण प्रतिभा का सुन्दर परिचय देते हैं। नव्यन्याय की तर्कप्रचुर शैली में जैन तत्त्वज्ञान को प्रतिपादित करने का भगीरथ कार्य सर्वप्रथम उन्होंने ही सफलतापूर्वक सम्पन्न किया है ।

गुजराती भाषा में उन्होंने लिखे हुए सवासौ गाथा का स्तवन, देढ़सौ गाथा का स्तवन, साढ़े तीन सौ गाथा का स्तवन, योगदृष्टि की आठ सज्झायें, द्रव्य–गुण–पर्याय का रास... जैसी गम्भीर रचनायें भी पुनः पुनः मनन करने जैसी हैं।

और, उनकी समग्र साहित्य साधना के शिखर पर स्वर्ण कलश सदृश शोभते हैं योग और अध्यात्म के उनके अनुभवपूर्ण श्रेष्ठ ग्रन्थ ज्ञानसार, अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद्, पातञ्जलयोगसूत्रवृत्ति, योगविंशिकावृत्ति और द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका वगैरह ।

उपाध्यायजी की निर्मल प्रज्ञा और आन्तर वैभव का आह्लादक परिचय पाने के लिए उनके इन ग्रन्थरत्नों का अवगाहन अवश्य करना चाहिये । उनके प्रसिद्ध–अप्रसिद्ध ग्रन्थों की सूची बहुत बड़ी है । विशेष जानकारी पाने की जिज्ञासा वालों को '**श्री यशोविजय स्मृतिग्रन्थ**' और "**यशोदोहन**" वगैरह ग्रन्थ देखने चाहिये ।

ऐसे महान् ज्ञानी, उच्च कोटि के आत्मसाधक, संतपुरुष प्रतिभासम्पन्न उपाध्याय श्री यशोविजयजी की, उनके समकालीन विद्वानों ने 'कलिकाल केवली' के रुप में प्रशंसा की है। अपन भी उन महान् श्रुतधर महर्षि को भावपूर्ण हृदय से वंदना कर, उनकी बहायी हुई ज्ञानगंगा में स्नान कर निर्मल बनें और जीवन सफल बनायें ।

–भद्रगुप्तविजय

न्यायाचार्य न्यायविशारद

महोपाध्याय श्री यशोविजयजी- विरचित

ज्ञानसार

मूल श्लोक, श्लोकार्थ और विवेचन सहित

१. पूर्णता

जीव अपूर्ण है, शिव पूर्ण है। अतः अपूर्णता के घोर अन्धकार से पूर्णता के उज्ज्वल प्रकाश की ओर जाने का उपक्रम करें। क्योंकि समग्र धर्मपुरुषार्थ का ध्येय पूर्णता की प्राप्ति है। यही अंतिम ध्येय है, आखिरी मंजिल है।

फलस्वरुप, आत्मा की ऐसी परिपूर्णता प्राप्त कर लें कि कभी अपूर्ण होने का अवसर ही न आये। अपूर्णता का प्रादुर्भाव होने की सम्भावना ही न रहे !

युग–युगांतर से मोंह और अज्ञान की गहरी खाई में दबी चेतना को, पूर्णता की प्रकाश–किरण आकर्षित करती रहती है।

अपूर्णः पूर्णतामेति–अपूर्ण पूर्णता पाये ! ग्रन्थकार महात्मा ने कैसी गहन–गंभीर फिर भी मृदु बात का सूत्रपात किया है ! एक ही पंक्ति में, गागर में सागर भर दिया है। आत्मा की पूर्णता प्राप्त करने हेतु कर्मजन्य पदार्थों से रिक्त हो जाएँ !

ऐन्द्रश्रीसुखमग्नेन, लीलालग्नमिवाखिलम्।
सच्चिदानन्दपूर्णेन, पूर्णं जगदवेक्ष्यते ॥१॥

अर्थ : स्वर्गीय सुख एवं ऐश्वर्य में निमग्न देवेन्द्र जिस तरह पूरे विश्व को सुखी और ऐश्वर्यशाली देखता है, ठीक उसी तरह सत्–चित्–आनन्द से परिपूर्ण योगी पुरुष विश्व को ज्ञान–दर्शन–चारित्र से युक्त, परिपूर्ण देखता है।

विवेचन : जिस तरह सुखी प्राणी अपनी ही तरह अन्य प्राणियों को भी सुखी मानता है, ठीक उसी तरह जो पूर्णात्मा है, वह अन्यों को स्वयं की

तरह पूर्ण समझता है और उसी भाँति सत्–चित्–आनन्द से परिपूर्ण आत्मा निखिला विश्व के जीवात्माओं में सत्–चित्–आनन्द–युक्त पूर्णता का दर्शन करता है ।

यह शाश्वत सत्य, पूर्ण सुख की परिशोध–अन्वेषण करने हेतु कार्यरत आत्मा को दो महत्त्वपूर्ण बातों के निर्देश देता है :

१. समग्र चेतन–सृष्टि में सत्–चित्–आनन्द की परिपूर्णता का अनुभव करने के लिये द्दष्टा पुरुष के लिए सत्–चित्–आनन्द युक्त पूर्णता की प्राप्ति आवश्यक है ।

२. यदि समग्र चेतन–सृष्टि में से राग-द्वेषादि कषायों को जडमूल से उखाड फेंकना हो तो उसमें पूर्णता का अनुभव करने हेतु पुरुषार्थ (प्रयत्न) करना शुरु कर देना चाहिये ।

जब तक जीवात्मा अपूर्ण है, परिपूर्ण नहीं है, तब तक वह **निखिल विश्व** की चेतन–सृष्टि में पूर्णता के दर्शन करने में सर्वथा असमर्थ है । लेकिन इसके लिये वह प्रयत्न अवश्य कर सकता है । मतलब यह कि वह अपने प्रयत्न–बल से पूर्णता का अल्पांश में ही क्यों न हो, दर्शन अवश्य कर सकता है । पूर्णता के अंश के दर्शन का ही अर्थ है–गुणदर्शन । हर प्राणी में थोडे–बहुत प्रमाण में ही भले क्यों न हों, लेकिन गुण अवश्य होते हैं । जैसे–जैसे हमारी गुण–दृष्टि अन्तर्मुख होती जाएगी वैसे–वैसे हमें उसमें गुणों के दर्शन होते जायेंगे। जहाँ गुण–दृष्टि नहीं, वहाँ गुण–दर्शन नहीं । क्योंकि यह कहावत है कि "**जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि**" । स्वर्ग के ऐश्वर्य में आकण्ठ डूबा देवेन्द्र जिस तरह समस्त सृष्टि को ही सुखमय, ऐश्वर्यमय मानता है, उसी तरह गुणदृष्टि–युक्त महापुरुष (आत्मा) सकल विश्व को गुणमय ही समझता है ।

प्राणी में रही गुण–दृष्टि का जिस गति से विकास होता जाता है, उसी प्रमाण में उसमें रही राग-द्वेषादि दृष्टि का लोप होता रहता है । फलतः जीवन में रही अशान्ति, असुख, क्लेश, संतापादि नष्ट होते जाते हैं और उसके स्थान पर परम शान्ति, मनःस्वस्थता, स्थिरता और परमानन्द का आविर्भाव होता है ।

पूर्णता या परोपाधेः सा याचितकमण्डनम् ।
या तु स्वाभाविकी सैव, जात्यरत्नविभानिभा ॥२॥

अर्थ : परायी वस्तु के निमित्त से प्राप्त पूर्णता, किसी से उधार माँगकर लाये गये आभूषण के समान है, जबकि वास्तविक पूर्णता अमूल्य रत्न की चकाचौंध कर देनेवाली अलौकिक क्रान्ति के समान है ।

विवेचन : मान लो तुम्हारे यहाँ शादी–विवाह का प्रसंग है, लेकिन तुम्हारे पास आवश्यक आभूषण–अलंकारों का अभाव है । उसे पूरा करने के लिये तुम अपने किसी मित्र अथवा रिश्तेदार से आभूषणादि मूल्यवान वस्तुएँ माँग लाये । परिणामतः बड़ी सजधज व धूमधाम से शादी का प्रसंग पूरा हो गया । लोगों में बड़ी । वाह–वाह हुई तुम्हारे ऐश्वर्य और बडप्पन की । जहाँ देखो वहाँ, तुम्हारी और तुम्हारे परिवार की प्रशंसा हुई । तुम्हारी मनोकामना पूरी हुई । तुम पूर्ण रूप से संतुष्ट हो गये । लेकिन वास्तविकता क्या है ? क्या तुम इस घटना से सचमुच संतुष्ट हुए, आनंदित हुए ? जो शोभा हुई और बडप्पन मिला, वही सही है ? जिन आभूषणों के दिखावे से लोगों में नाम हुआ, क्या वे अपने हैं ? तुम और तुम्हारा मन इस तथ्य से भली–भाँति परिचित है कि अलंकार पराये–उधार लाये हुए हैं और सारा दिखावा झूठा है । प्रसंग पूरा होते ही लोगों की अमानत (आभूषणादि वस्तुएँ) लौटानी है । अतः हम बाह्य रुप में भले ही प्रसन्न हों, लेकिन आन्तर मन से तो दुःखी होते हैं, व्यथित ही होते हैं ।

ठीक उसी तरह पूर्व भव के कर्मोदय से मानव–भव में प्राप्त सौन्दर्य, कला, विद्या, शान्ति और सुखादि ऋद्धि–सिद्धि भी पराये गहनों की तरह अल्प काल के लिये रहनेवाली अस्थायी है । यह सब तो पुण्य–कर्म से उधार में पाया हुआ है । अतः समय के रहते इस उधार की पूँजी को वापिस लौटा दो तो बेहतर है । इसी में तुम्हारी इज्जत और बड़प्पन है । फिर भी तुम सचेत नहीं हुए, खुद ही स्वेच्छा से इसका त्याग नहीं किया तो समय आने पर कर्मरुपी खलपुरुष इसे तुमसे छीनते देर नहीं करेगा और तब परिस्थिति बड़ी दुर्भर और भयंकर होगी । कर्म को जरा भी शर्म नहीं आएगी अपनी अमानत वसूल करने में, जगत में तुम्हें नंगा करने में । वह कदापि यह नहीं सोचेगा कि 'इस समय इसे (तुम्हें)

धनधान्यादि की अत्यन्त आवश्यकता है, अतः छोड़ दिया जाए, किसी अन्य प्रसंग पर देखेंगे... ।' वह तो निर्धारित समय पर अपनी वस्तु लेकर ही रहेगा । फिर भले ही तुम लाख अपना सर पीटो, चिल्लाओ, चीखो अथवा आक्रन्दन करो । अतः कर्मोदय से प्राप्त ऋद्धि–सिद्धि, सुख–समृद्धि को ही पूर्णता न मानो, यथार्थ न समझो । उसके प्रति आसक्त न रहो कि बाद में पश्चात्ताप के आँसू बहाने पड़ें ।

आत्मा की जो अपनी समृद्धि है, वही सही पूर्णता है, वही वास्तविक है । उसे कोई माँगनेवाला नहीं है । माणेक–मुक्तादि रत्नों की चमक-कांति का कभी लोप नहीं होता । उसे कोई ले नहीं सकता, छीन नहीं सकता और ना ही चुरा सकता है ।

यह निर्विवाद तथ्य है कि आत्मा की वास्तविक सम्पत्ति–समृद्धि है :– ज्ञान, दर्शन, चारित्र, क्षमा, नम्रता, सरलता, निर्लोभिता, परम शान्ति आदि । उसे प्राप्त करने हेतु और प्राप्त सम्पत्ति–समृद्धि को सुरक्षित रखने के लिये हमें भगीरथ पुरुषार्थ करना है ।

अवास्तवी विकल्पैः स्यात्, पूर्णताब्धेरिवोर्मिभिः ।
पूर्णानन्दस्तु भगवान्, स्तिमितोदधिसन्निभः ॥३॥

अर्थ : तरंगित लहरों के कारण जैसे समुद्र की पूर्णता मानी जाती है, ठीक उसी तरह विकल्पों के कारण आत्मा की पूर्णता मानी जाती है । लेकिन वह अवास्तविक है । जबकि पूर्णानन्दस्वरुप भगवान स्वयं में अथाह समुद्र सदृश स्थिर–निश्चल है ।

विवेचन : अथाह समुद्र की पूर्णता उसकी लहरों से मानी जाती है, ठीक उसी भाँति आत्मा की पूर्णता उसके विकल्पों की वजह से मानी जाती है । लेकिन दोनों की पूर्णता अवास्तविक है, क्षणभंगुर, अस्थायी अल्पकालीन है, जो समय के साथ अपूर्णता में परिणत होनेवाली है ।

धन, बल, प्रतिष्ठा, उच्च कुल और सौन्दर्य के बल पर जो यह समझता है कि 'मैं धनवान हूँ, कुलवान हूँ, बलवान हूँ और अनुपम सौन्दर्य का घनी हूँ।'

यह सरासर गलत है। यही नहीं, बल्कि वह इसी को परिपूर्णता मान भ्रम–जाल में उलझ गया है, वह सर्वथा मतिमंद बन गया है। उसे यह ज्ञान ही कहाँ है कि धन, सौन्दर्य, शक्ति, सम्पत्ति और प्रतिष्ठा आदि अनेक विकल्प नीरी लहरें हैं, तरंगे हैं, जो अल्पजीवी हैं साथ ही क्षणभंगुर भी। थोड़े समय के लिये उछलती हैं, ऊपर उठती हैं, अपनी लीला से दर्शक को खुश करती हैं और देखते ही देखते समुद्र के गर्भ में खो जाती हैं, विलीन हो जाती हैं।

समुद्र की लहरों को आपने निरन्तर खलबलाते देखा है ? तूफान और आंधी को आपने लम्बे समय तक चलते पाया है ? लहर का मतलब ही है- अल्पजीवी। जब लहरें उठती हैं, उछलती है, तब समुद्र अवश्य तूफानी रूप धारण कर लेता है और उसमें भारी खलबली मच जाती है। उसका पानी मटमैला बन जाता है।

धन-धान्यादि से परिपूर्ण बनने की चाह रखनेवाले मनुष्यों की स्थिति इससे अलग नहीं है, बल्कि एक ही है। वे इष्ट-प्राप्ति हेतु भागते नजर आते हैं, तो कभी थकावट से चूर, सुस्त ! लेकिन चूप बैठना तो उन्होंने सीखा ही कहाँ है ? जरा सी भनक पड़ी नहीं कान में स्वार्थ–सिद्धि की, दुबारा दुगुनी ताकत से, उत्साह से, उछलते, भागते नजर आते हैं। प्रयत्नों की पराकाष्ठा से जब थक जाते हैं, तब पल दो पल के लिए ठिठक जाते हैं–रुक जाते हैं और बाद में फिर शुरु हो जाते हैं। मनुष्य के मन में जब बाह्य वस्तु (सुख, शान्ति, सम्पत्ति आदि) की प्राप्ति और प्राप्त वस्तु संजोये रखने के विचार–विकल्प पैदा होते हैं, तब उसकी आत्मा क्षुब्ध हो उठती है और अशान्ति, क्लेश संताप, व्यथा और वेदना का वह मूर्तिमान स्वरूप धारण कर लेती है।

जबकि पूर्णानन्दी आत्मा प्रशान्त, स्थिर–महोदधि सदृश स्थितप्रज्ञ और स्थिर होती है। उसमें न कहीं विकल्प के दर्शन होते हैं और न ही अशान्ति का नामो-निशान। ना क्लेश होता है और ना ही किसी प्रकार का संताप ! न वहाँ अनीति–अन्याय के लिये कोई स्थान है, ना ही दुराचार, चोरी अथवा राग-द्वेष का स्थान। पूर्णानन्दी आत्मा के अथाह समुद्र में अनन्य, अमूल्य, ज्ञानादि गुणरत्नों के भण्डार, अक्षय कोष भरे पड़े हैं। उसी में वह स्वयं की पूर्णता समझता है। गुण–गरिमा उसके अंग–अंग से प्रस्फुटित होती है, दृष्टिगोचर होती है।

जागर्ति ज्ञानदृष्टिश्चेत्, तृष्णा–कृष्णाहिजाङ्गुली ।
पूर्णानन्दस्य तत् किं स्याद्, दैन्यवृश्चिकवेदना ? ॥४॥

अर्थ : यदि तृष्णा रूप कृष्णसर्प के विष को नष्ट करनेवाली गारुडी मन्त्र के समान ज्ञानदृष्टि खुलती है, तब दीनतारूप बिच्छु की पीड़ा कैसे हो सकती है ?

विवेचन : तुम्हारे पास अपार सम्पत्ति, बहुमूल्य आभूषण, कीमती वस्त्र, अनुपम रूप–सौन्दर्य, सर्वोच्च सत्ता और ऋद्धि–सिद्धि के भण्डार नहीं, अतः तुम विलाप करते हो, दर–दर भटकते हो । हर दरवाजे पर अपना रोना रोकर प्रदर्शन करते हो । दीन–हीन बनकर चीत्कार करते हो । सौन्दर्यमयी पत्नी जीवन-सहचरी न होने के कारण व्यग्र बनकर गली–गली फिरते हो ।

यह दीनता, व्यथा, चीत्कार, रुदन, लाचारी और निराशा भला क्यों ? आखिर इससे क्या मिलनेवाला है ? दीन न बनो, निराशा को झटक दो और लाचार–वृत्ति छोड़ दो । इच्छित पाने के लिये, इच्छित पदार्थ व वस्तुओं को हस्तगत करने के लिये स्पृहा (अभिलाषा)–तृष्णा रखते हुए, उसकी प्राप्ति के लिये लोगों के सामने हाथ फैलाते हो... भीख माँगते हो... खुशामदें करते हो, यह सब छोड़ दो । उस पदार्थ की ओर तो तनिक देखो । अपनी दृष्टि तो डालो ! क्या तुम समझते हो कि उनकी प्राप्ति से तुम्हें शान्ति मिलेगी ? संतोष होगा ? तुम्हारा समाधान होगा ? बल्कि इससे जीवन में अशान्ति, अप्रसन्नता, परेशानी का ही प्रादुर्भाव होनेवाला है । ठीक उसी तरह प्राप्त वस्तुएँ, जैसे तुम चाहते हो, वैसे तुम्हारे पास स्थायी रूप से रहनेवाली नहीं हैं, इसमें तुम्हें वास्तविक पूर्णता के दर्शन नहीं होंगे, आशातीत पूर्णता नहीं मिलेगी ।

इसके बजाय अपने अन्तर्मन के पट खोलो, ज्ञान–चक्षु खोलो और सोचो : "जगत की बाह्य जड़ वस्तुओं से मेरा कोई प्रयोजन नहीं है । जो भी मिलेगा, मुझे अपने कर्म से मिलेगा, उससे मुझे पूर्णत्व की प्राप्ति होनेवाली नहीं है । मैं अपनी आत्मिक क्षमा, विनम्रता, ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि गुणों से ही पूर्ण हूँ । इन्ही गुणों की प्राप्ति से मेरी पूर्णता है ।" हमारी यही दृष्टि होनी चाहिए । यदि इसमें कोई बाधा–अवरोध पैदा होते हों, तो उन्हें पूरी शक्ति से दूर करने

की चेष्टा करो । जिस तरह हमारी आँख झपक जाए, फिर भी हम उसे खोलने का बारबार प्रयास करते हैं, ठीक उसी भाँति यहाँ भी सचेष्ट और जाग्रत रहना आवश्यक है ।

परिणाम यह होगा कि स्पृहा–तृष्णा के कारण उत्पन्न होनेवाली वेदना, संताप और व्यथा तुम्हारा वाल भी बाँका नहीं कर सकेगी । कारण कि तब तुम ज्ञान–दृष्टि का महामन्त्र पा जाओगे और वह महामन्त्र कृतान्तकाल सदृश विषधर सर्प को भी नियंत्रित करने का रामबाण उपाय है । उसमें परम चमत्कारी शक्ति है । इसकी तुलना में भला बिच्छु के डंक के विष की क्या विसात ?

"मैं अपने में रहे हुए गुण–रत्नों से परिपूर्ण हूँ", यह विचारधारा ऐसी स्फोटक और अमोघ शक्ति है कि आनन–फानन में तृष्णा–अभिलाषा के मेरुपर्वत को चकनाचूर कर देगी । उसका नामोनिशान मिटा देगी । चक्रवर्तियों की तृष्णा को धूल में मिलानेवाली अपूर्व शक्तिशाली ज्ञानदृष्टि, पलक झपकते न झपकते सामान्य जनों की तृष्णा नष्ट करने की शक्ति रखती है ।

पूर्यन्ते येन कृपणास्तदुपेक्षैव पूर्णता ।
पूर्णानन्दसुधास्निग्धा, दृष्टिरेषा मनीषिणाम् ॥५॥

अर्थ : जिससे (धन–धान्यादि परिग्रहों से) लोभी–लालची जीव पूर्ण होते हैं, उसकी उपेक्षा करना ही स्वाभाविक पूर्णता है । तत्त्वज्ञानियों की यही तत्त्वज्ञान के पूर्णानन्दरूप अमृत से गीली दृष्टि है ।

विवेचन : जब तुम्हारा ध्यान संसार के पौद्‌गलिक सुखों से विरक्त होकर आत्मा के अनन्त गुणों के कारण आनन्द अनुभव करने लगे, तभी तुम्हारे जीवन–व्यवहार में और आचार–विचार में आमूल परिवर्तन आ जाएगा । तुम्हें एक नयी दुनिया के दर्शन होंगे ।

लेकिन इसके लिये तुम्हें अपने अन्तरात्मा के गुणों के आनन्द की अनुभूति करनी होगी । इसके बिना कोई चारा नहीं और यह तभी सम्भव है जब तुम दूसरों के आत्मगुणों को निहारकर प्रसन्नता का अनुभव करोंगे, आनन्दित होंगे । इसके लिये तुम्हें सामनेवाले में रहे हुए सिर्फ गुणों को ही देखना है, परखना

है, न कि उनकी त्रुटियों को अथवा दोषों को। मतलब, आत्म–संयम किये बिना यह सम्भव नहीं है।

जब भी तुम्हारी दृष्टि दूसरे जीव के प्रति आकर्षित हो, तुम्हें उसमें रहे अनंत गुणों को ही ग्रहण करना है। उसके गुणों को आत्मसात् कर ज्यों–ज्यों तुम आनंदित बनोगे, अपूर्व आनन्द का अनुभव करोगे, त्यों–त्यों उसके गुण तुम्हारी आत्मा में भी प्रकट होते जायेंगे। परिणाम यह होगा कि इन गुणों की पूर्णता का जो स्वर्गीय आनन्द तुम्हें मिलेगा। ऐसे आनन्द की अनुभूति इसके पहले तुमने कभी नहीं की होगी। तुम्हारा मन इस प्रकार के आनन्दामृत में आकण्ठ डूब जाएगा और तब तुम्हें अपने जीवन के आचार–विचार तथा व्यवहार में एक प्रकार के अद्‌भुत परिवर्तन का साक्षात्कार होगा।

मसलन, जगत में रहे अनन्त जीव जिन सांसारिक सुखों को पाने के लिये रात–दिन मेहनत करते हैं, लाखों की सम्पत्ति लुटाते हैं, असंख्य पाप करते हैं, उनके प्रति तुम्हारे मन में कोई चाह, कोई इच्छा नहीं रहेगी। तुम उन्हें पाने के लिये तनिक भी प्रयत्न नहीं करोगे, ना ही पाप भी करोगे। इस तरह तुममें इन सुखों के प्रति पूर्ण रूप से उदासीनता आ जायेगी। फल यह होगा कि फिर पाप करने का सवाल ही पैदा नहीं होगा। तुम इन सुखों की प्राप्ति से कोसों दूर निकल गये होंगे। इनके प्रति विराग की भावना तुममें पैदा हो जाएगी। क्योंकि यही सांसारिक सुख तुम्हारे गुणानन्द में बाधारूप जो है।

जब तक इस प्रकार का परिवर्तन जीवन में नहीं आये, तब तक तुम्हें चुप नहीं बैठना है, हाथ पर हाथ धरे निष्क्रिय नहीं रहना है। बल्कि अपनी गुणदृष्टि को अधिक से अधिक मात्रा में विकसित–विकस्वर बनाते रहना है।

अपूर्णः पूर्णतामेति, पूर्यमाणस्तु हीयते।
पूर्णानन्दस्वभावोऽयं, जगदद्‌भुतदायकः ॥६॥

अर्थ : अपूर्ण पूर्णता प्राप्त करता है और पूर्ण अपूर्णता को पाता है। समस्त सृष्टि के लिये आश्चर्यकार आनन्द से परिपूर्ण यह आत्मा का स्वभाव है।

विवेचन : 'बाह्य धन–धान्यादि की संगत करें, उसमें परिपूर्ण बनने के

लिये, पूर्णता प्राप्त करने के लिये पुरुषार्थ करें और साथ ही साथ आन्तरिक आत्म–गुणों से भी युक्त बनें,'–यह विचार अनुपयुक्त, अनुचित नहीं तो क्या है ? क्या परस्पर विरोधी दो विचारधाराएँ एक स्थान पर होना सम्भव है ? विभावदशा और स्वभावदशा–दोनों स्थितियों में आनन्दोपभोग करना कितना विचित्र और आश्चर्यकारक है ? एक तरफ एक सौ चार डिग्री ज्वर में उफनता हो और दूसरी ओर मिष्टान्न–स्वाद का गुदगुदानेवाला अनुभव होना जिस तरह सम्भव नहीं है, ठीक उसी तरह जब तक बाह्य (पौद्‌गलिक) सुख लूटने की क्रिया सतत शुरू हो, तृष्णा और लालसा की भूख मिटी न हो, तब तक पूर्णानन्द का अनुभव भी पूर्णतया असम्भव है, असमीचीन है, साथ ही अनुचित है ।

जैसे–जैसे हमारी इन्द्रियजन्य सुखों की स्पृहा नष्ट होती जाएगी, उपभोग की भावना कम होती जाएगी, वैसे–वैसे आत्मगुणों का आनन्द द्विगुणित होता हुआ निरन्तर बढ़ता जाएगा । मतलब, इन्द्रियजन्य सुखों की अपूर्णता ही आत्मगुणों की पूर्णता का प्रमुख कारण है । बिना कारण कोई बात नहीं बनती । यदि हमें आत्मगुणों में पूर्णानन्द का अनुभव करना हो तो अपनी तृष्णा, स्पृहा और इन्द्रियजन्य सुखों की लालसा का त्याग किये बिना कोई चारा नहीं है । मिठाई के स्वाद का मजा लूटना हो तो विषम ज्वर से मुक्ति पानी ही होगी । बीमारी के कारण मुँह में एक प्रकार की जो कडवाहट आ गयी है, उसे खत्म करना ही होगा ।

आत्मगुण के पूर्णानन्द का यह मूलभूत स्वभाव है कि वह इन्द्रिय–जन्य सुखों के साथ रह नहीं सकता । ठीक उसी प्रकार इन्द्रियजन्य सुख का भी स्वभाव है कि वह आत्मगुण के पूर्णानन्द की संगति नहीं कर सकता । न जाने यह कैसा परस्पर विरोधी स्वभाव है ?

बाह्य सुखों का परित्याग कर जब आत्मा निज गुणों के पूर्णानन्द में खो जाती है, तब सृष्टि दिग्मूढ़ बन जाती है । जिन सुखों के बिना प्राणीमात्र का जीवन अपूर्ण है, असम्भव है, ऐसे सुख का त्याग कर अपूर्व आनन्द में आकण्ठ डूबा पूर्णानन्दी जीव, विश्व के लिये अद्‌भुत, महान् बन जाता है ।

परस्वत्वकृतोन्माथा, भूनाथा न्यूनतेक्षिणः ।
स्वस्वत्वसुखपूर्णस्य, न्यूनता न हेरपि ॥७॥

अर्थ : जिन्होंने परवस्तु में अपनत्व की बुद्धि से व्याकुलता प्राप्त की है, वैसे राजा अल्पता का अनुभव करनेवाले हैं, जबकि आत्मा में ही अपनत्व के सुख से पूर्ण आत्मा को, इन्द्र से भी न्यूनता नहीं है ।

विवेचन : बाह्य विषय तुम्हें लाख मिल जायेंगे, लेकिन इससे तुम्हें संतोष नहीं होगा । तुम्हें तृप्ति नहीं मिलेगी । वे तुम्हें प्राय: कम ही लगेंगे ।

जो पदार्थ तुम्हारे नहीं हैं, ना ही तुम्हारी आत्मा से उपजे हैं, बल्कि पराये हैं, दूसरों से उधार लिये हुए हैं, कर्मोदय के कारण मिले हैं, तिस पर भी मनुष्य जब उसके मोह में बावरा बन : 'ये मेरे हैं । यह परिवार मेरा है । धन–धान्यादि सम्पत्ति मेरी है । मैं ही इसका एकमात्र मालिक हूँ ।" कहते हुए सदैव लालायित, ललचाया रहता है, तब उसमें एक प्रकार की अधीरता, विह्वलता आ जाती है और यही विह्वलता उसमें विपर्यास की भावना पैदा करती है । 'सावन के अन्धे को सर्वत्र हरा ही हरा नज़र आता है,' इस कहावत के अनुसार विपर्यस्तदृष्टि मनुष्य में मोह के बीज बोती है । फल यह होता है कि उसके पास जो कुछ होता है, वह कम नजर आता है और अधिक पाने की तृष्णावश वह नानाविध हरकतें करता रहता है । रहने के लिये एक घर है, लेकिन कम लगेगा और दूसरा पाने की स्पृहा जगेगी । धन–धान्यादि सम्पत्ति भरपूर होने पर भी उससे अधिक पाने का ममत्व पैदा होगा । मसलन, जो उसके पास है, उससे संतोष नहीं, शान्ति नहीं, सुख नहीं और समाधान भी नहीं । नित नया पाने की विह्वलता आग की तरह बढ़ती ही जाएगी । फलत: उसका सारा जीवन शोक–संताप और अतृप्ति की चिन्ता में ही नष्ट हो जाएगा । परिणाम यह होगा कि लाखों शुभ कर्म और पुण्योदय से प्राप्त मानव जीवन तीव्र लालसा में, स्पृहा में मटियामेट हो जाएगा ।

जो आत्मा का है, यानी हमारा अपना है, उसी के प्रति ममत्वभाव पैदा कर हमें आत्म–निरीक्षण करना चाहिए । 'यह ज्ञान, बुद्धि मेरी है । मेरा चारित्र है । मेरी अपनी श्रद्धा है । क्षमा, विनय, विवेक, नम्रता एवं सरलता आदि सब मेरे अपने हैं । मैं इसका एक मात्र मालिक हूँ ।' ऐसी भावना का प्रादुर्भाव होते ही तुम्हारा मन अलौकिक पूर्णानन्द से सराबोर होकर एक नये दृष्टिकोण/नवसर्जन की राह खोल देगा । तब तुम्हारे में न्यूनता का अंश भी नहीं रहेगा । तुम किसी बात की कमी महसूस नहीं करोगे । यदि तुम्हारे पास बाह्य पदार्थों का अभाव

होगा, फिर भी तुम न्यूनता का अनुभव नहीं करोगे । ऐसी परिस्थिति में अगर तुम्हारे सामने एकाध राजा–महाराजा अथवा सकल ऋद्धि–सिद्ध से युक्त स्वयं देवेन्द्र आ जायें तो भी तुम्हें किसी बात का गम–दुख नहीं होगा । हाँ, तब तुम्हारे पूर्णानन्दस्वरूप का अनुमान कर वह, स्वयं में ही शून्यता का अनुभव करे तो अलग बात है !

कृष्णे पक्षे परिक्षीणे, शुक्ले च समुदञ्चति ।
द्योतन्ते सकलाध्यक्षाः पूर्णानन्दविधोः कलाः ॥८॥

अर्थ : कृष्णपक्ष के क्षय होने पर जब शुक्लपक्ष का उदय होता है तब पूर्णानन्द रुपी चन्द्र की कला विकसित होती है । खिलती है और सारी सृष्टि प्रकाशमय बना देती है ।

विवेचन : यह शाश्वत् सत्य है कि कृष्णपक्ष के क्षय होते ही शुक्लपक्ष का आरम्भ होता है, उदय होता है । फलतः चन्द्रकला दिन–ब–दिन अधिक और अधिक प्रकाशित हो, विकसित होती जाती है और सारा संसार उससे आलोकित हो उठता है । चन्द्र की पूर्णकला का दर्शन कर एक प्रकार के रोमांचकारी आनन्द व अपूर्व शान्ति का अनुभव करता है ।

ठीक इसी तरह जब आत्मा शुक्लपक्ष में प्रवेश करती है, तब पूर्णानन्द की कला सोलह सिंगार कर उठती है । दिन–ब–दिन उसमें परिपूर्णता आती रहती है । फलतः जैसे–जैसे वह पूर्ण रूप से विकसित हो उठती है, वैसे–वैसे मिथ्यात्व के दुष्ट जाल का, राहु की शैतानी शक्ति का लोप होता रहता है ।

काल–चक्र की दृष्टि से यहाँ 'शुक्लपक्ष' और 'कृष्णपक्ष' की कल्पना की गयी है और अनंत पुद्गल परावर्तकाल से संसार में भटकते जीव को कृष्ण पक्ष के चन्द्र की उपमा दी गयी है । जबकि आवागमन के फेरे लगाता, जन्म–मरण के चक्र में डूबता–इतराता जीव संसार परिभ्रमण के अर्ध पुद्गल परावर्तकाल से भी कम समय बाकी रखता है, उसे शुक्लपक्ष के चन्द्र की संज्ञा दी गयी है ।

आत्मा की चैतन्य–अवस्था पूर्णानन्द की कला से जब सुशोभित होती है, तब वह शुक्लपक्ष में प्रवेश करता है । हमारी आत्मा ने शुक्लपक्ष में प्रवेश

किया है या नहीं इसे जानने के लिये महापुरुषों ने पाँच प्रकार की कसौटी बतायी है : १. श्रद्धा, २. अनुकंपा, ३. निर्वेद (जन्म से अनासक्ति), ४. संवेग (मोक्ष–प्रीति), ५. प्रशम । उपर्युक्त पाँच लक्षण कम या अधिक मात्रा में जीवात्मा में पाये जाने पर समझ लेना चाहिए कि उसने शुक्लपक्ष में प्रवेश कर लिया है।

श्री दशाश्रुतस्कन्ध चूर्णि में संसार–परिभ्रमण का एक पुद्गल परावर्तकाल शेष रह जाए, तब से शुक्लपक्ष बताया गया है । '**किरियावादी णियमा भव्वओ, नियमा सुक्कपक्खिओ, अंतो पुग्गलपरियट्टस्स नियमा सिज्झिहिंति, सम्मदिट्ठा वा मिच्छदिट्ठा वा होज्ज ।**' इसके अनुसार सम्यक्त्व न हो, फिर भी आत्मवादी है, तो वह शुक्लपक्ष में कहलाता है और एक पुद्गल परावर्तकाल में ही वह मोक्षप्राप्ति का अधिकारी बनता है। मतलब, मोक्षगामी बनता है । जीवात्मा के अस्तित्व पर अटूट श्रद्धा रखे बिना आत्मगुणों की पूर्णता का रोमांचक आनन्द और अपूर्व शान्ति का अनुभव हो ही नहीं सकता ।

• • •

२. मग्नता

मग्नता ! तन्मयता !

समग्रतया लीनता, तल्लीनता !

और उसमें भी ज्ञान–मग्नता !

मतलब, ज्ञानार्जन, ज्ञान–चर्चा, ज्ञान–प्रबोधन में अपने आपको / स्वयं को पूर्ण रूप से लीन कर देना ।

पूर्णता के शिखर पर पहूँचने का एकमेव साधन / प्रथम सोपान है–ज्ञान–मग्नता ।

आज तक विषयवासना, मोह–लोभ और परिग्रह... सब कुछ प्राप्त करने की ललक में सदा–सर्वदा खोये रहे । लेकिन क्या मिला ? अपार अशान्ति, संताप, क्लेश और कलह... साथ में उद्वेग और उदासीनता !

फलतः हमें दुबारा सोचना होगा, चिन्तन व मनन करना होगा कि जिसके कारण परमानन्द का 'पिन पोइंट' प्राप्त हो जाये, अक्षय प्रसन्नता और अपूर्व शान्ति के द्वार खुल जाएँ, दिव्य चिंतन की पगदंड़ी मिल जाय और मोक्षमार्ग स्पष्ट रूप से नजर आने लगे । ऐसी मग्नता / तल्लीनता पाने के लिए हमें भगीरथ प्रयत्न करने होंगे । साथ ही इन प्रयत्नों के आधारभूत प्रस्तुत अष्टक का बारबार, निरन्तर परिशीलन करना होगा ।

अतः एक बार तो पठन–मनन कर देखें ।

प्रत्याहृत्येन्द्रियव्यूहं समाधाय मनो निजम् ।
दधच्चिन्मात्रविश्रांतिर्मग्न इत्यभिधीयते ॥२॥१॥

अर्थ : जो आत्मा इन्द्रियसमूह को विषयों से निवृत्त कर, अपने मन को आत्म–द्रव्य में एकाग्र / लीन बना, चैतन्य स्वरुप आत्मा में विश्राम करती है, वह मग्न कहलाती है ।

विवेचन : पूर्णता के मेरुशिखर पर चढ़ने से पूर्व ज्ञानानन्द की तलहटी में जरा रुक जाओ । अपनी आँखे बन्द करो । अपनी चैतन्यावस्था का जायका लो । बाह्य पदार्थों में रमण करनेवाली अपनी इन्द्रियों को निग्रहित–संयमित कर, उनमें रही शक्तियों को चैतन्य दर्शन के महत् कार्य में लगा दो । उसकी ओर प्रवृत्त कर दो । परभाव में भटकते मन की गति को रोक दो और उसे स्वभाव में रमण करने का / लीन होने का निर्देश दो ।

चिन्मात्र में विश्रान्ति ! मतलब ज्ञानानन्दमय विश्रांति ! कैसा प्रशस्त, अद्‌भुत और श्रेष्ठ विश्राम गृह ! अनंतकालीन भव–परिभ्रमण के दौरान ऐसा अनोखा विश्रामगृह कहीं देखने को नहीं मिला ! बल्कि वहाँ तो ऐसे विश्रामगृह मिले कि उनको विश्रामगृह कहने के बजाय अशान्तिगृह अथवा उत्पातगृह की संज्ञा दें, तो भी अतिशयोक्ति न होगी ! साथ ही वहाँ कलह, अराजकता, संताप और शोक के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं ।

आज तक जीवात्मा ने परभाव को, संसार के पौद्‌गलिक विषयों को ही विश्रामगृह का लुभावना नाम देकर वहाँ आश्रय लिया है । अपने बाह्य रूप–रंग से आकर्षक बने ये विश्रामगृह सृष्टि के प्राणी मात्र पर अनोखा जादू कर गये हैं । अपनी रूप–सज्जा के बल पर इन्होंने सबको अपनी मुठ्ठी में कर लिया है। फलतः आनन्द की परिकल्पना करते हुए जो जीव उसमें प्रवेश करते हैं, वे चीखते–चिल्लाते, आक्रन्दन करते बाहर आते नजर आते हैं । वहाँ सर्वस्व लूट लिया जाता है और धकियाते हुए उन्हें बाहर निकाल दिया जाता है ।

ज्ञानानन्द का विश्रांतिगृह अपूर्व ही नहीं, अपितु अनुपम है । हालांकि उसमें प्रवेश पाने के लिये जीवात्मा को प्रयत्नों की पराकाष्ठा करनी पड़ती है । भगीरथ प्रयत्न करने होते हैं । उसके लिये पौद्‌गलिक विषयों से युक्त विश्रांतिगृहों का क्षणभंगुर सुख–ऐश्वर्य और आनन्द भूल जाना पड़ता है । एक बार प्रवेश मिल जाए, फिर तो आनन्द ही आनन्द ! सर्वत्र परमानन्द की शीतल छाया ही मिलेगी ।

असीम शान्ति की अनुभूति होगी । एक बार प्रवेश करने के पश्चाद् बाहर आने की भावना नहीं होगी और यदि निकलना भी पड़े तो शीघ्रातिशीघ्र दुबारा प्रवेश करने की आन्तरिक लगन जग पड़ेगी । जहाँ ज्ञानानन्द में ही पूर्ण विश्राम प्रतीत होता है और पुद्गलानन्द नीरी वेठ–मजदूरी की तरह बेतुका लगता है, वही तो ज्ञानमग्नता, ज्ञानतल्लीनता है ।

यस्य ज्ञानसुधासिन्धौ, परब्रह्मणि मग्नता ।
विषयान्तरसंचारस्तस्य हालाहलोपमः ॥२॥२॥

अर्थ : ज्ञान रूपी अमृत के अनंत, अथाह समुद्र ऐसे परमात्मा में जो लीन है, उसे अन्य विषयों में प्रवृत्त होना हलाहल ज़हर लगता है ।

विवेचन : जलक्रीडा करने के लिये तुमने कभी तूफानी दरिये में छलाँग लगायी है ? तैरने के इरादे से किसी जलप्रवाह / नदी में कूदे हो ? स्वीमींग बाथ (Swimming bath) में प्रवेश किया है ? तैरने के शौकीन अथवा जलक्रीडा के रसिये को समुद्र, सरोवर, नदी या स्वीमींग बाथ में नहाने का आनन्द लूटते समय यदि कोई आकार बीच में ही रोक दे अथवा उसकी क्रिया में बाधा डाल दे, तब जैसे उसे जहर–सा लगता है, ठीक उसी भाँति जब जीवात्मा अपने स्वाभाविक ज्ञानानन्द में सराबोर हो, पूर्ण रूप से लीन बनकर आनन्द में आकण्ठ डूबा अठखेलियां करता हो, ऐसे प्रसंग पर यदि बीच में ही पौद्गलिक विषय घुसपैठ कर लें, तब उसे वे विषय ज़हर से लगते हैं । क्योंकि ज्ञानानन्द की तुलना में उसके (जीवात्मा के) लिये पौद्गलिक आकर्षण, सुख–समृद्धि आदि विषय कोई विसात नहीं रखते । पौद्गलिक सुख उसे मोहपाश में बाँध नहीं सकते । उसका रसभीना व्यवहार जीवात्मा के लिये नीरस और बेतुका होता है । पुद्गल का मृदु स्पर्श उसमें रोमांच की लहर पैदा नहीं कर सकता । उसके मोहक सूर उसे हर्ष विह्वल करने में पूर्णतया असमर्थ होते हैं । मतलब, पौद्गलिक शब्द रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के टपक पड़ने पर, टकराने से वह कंपित हो उठता है । जिस तरह की स्थिति विषधर साप को घर में आते देखकर होती है ।

इस तरह स्वाभाविक आनन्द में तल्लीन आत्मा, भला क्यों कर खुद ही माया के बाजार में पौद्गलिक विषयों की प्राप्ति हेतु जाएगी ? क्यों विषयसुख

के अभाव में दीन बन भटकती फिरेगी ? क्यों शोक–विह्वल होगी ? और वैषयिक सुख मिलने पर संतुष्ट भी क्यों होगी ? हमें समझ लेना चाहिये कि यदि हम पौद्‌गलिक सुख की टोह में घूम रहे हैं, उसे पाने के भ्रम में संसार में भटक रहे हैं और उसके न मिलने पर मायूस बन जाते हैं, हताश हो जाते हैं, आक्रन्दन कर उठते हैं, जबकि पाने पर आनन्दविभोर बन नाच उठते हैं, तो निःसन्देह हम अपनी स्वाभाविक ज्ञानानन्द–वृत्ति के साथ तादात्म्य साधने में असमर्थ रहे हैं और पर ब्रह्म का आनन्द अनुभव नहीं कर पाये हैं । अवश्य हमारे में कोई कमी, त्रुटी रह गयी है ।

स्वभावसुखमग्नस्य, जगत्तत्वावलोकिनः ।
कर्तृत्वं नान्यभावानां, साक्षित्वमवशिष्यते ॥२॥३॥

अर्थ : स्वाभाविक आनन्द में तल्लीन हुए और स्याद्वाद के माध्यम से जगततत्त्व का परीक्षण कर अवलोकन करनेवाले जीवात्मा को अन्य प्रवृत्तियों (भावों)का कर्तृत्व नहीं होता है, परन्तु साक्षीभाव शेष रहता है ।

विवेचन : किसी भले सज्जन मनुष्य को दुष्टों की टोली ने अपने जाल में फंसा दिया । उसे पूरी तरह से अपने खाके में ढाल दिया । उसमें और उसकी प्रवृत्तियों में आमूल परिवर्तन कर दिया । अपने मनपसंद सभी कुकर्म उससे करा दिये । वर्षों बीत गये इस घटना को । एक बार जाने–अनजाने वह एक परमोपकारी महापुरुष के हाथ लग गया । उन्होंने उसे दुष्ट लोगों का रहस्य बताया । उनके चंगुल से उसे आजाद करा दिया और अच्छे सज्जन लोगों के हाथ सौंप दिया। तब वह पीछे मुडकर अपने भूतकाल को देखता है । वेदना और पश्चात्ताप से भर जाता है । वह मन ही मन सोचता है : "सच में तो इन दुष्कार्यों का मैं कर्ता नहीं हूँ । मैं भला सज्जन होकर ऐसे अघोरी कृत्य क्या कर सकता हूँ ? यह सर्वथा असम्भव है, बल्कि ये दुष्कार्य तो उन्हीं दुष्टों के ही हैं । मैं तो सिर्फ उसका निमित्त बना हूँ ।" वह भूलकर भी अपने भूतकालीन कार्यों को लेकर अभिमान नहीं करेगा, बड़ी–बड़ी बातें नहीं करेगा ।

इसी तरह जीवात्मा भी युग–युगान्तर से बुरे कर्मों के चंगुल में फँसा हुआ है । दुष्कर्मों ने उसमें आमूल परिवर्तन कर दिया है । स्वभाव को छोडकर

विभाव में जाने के लिये उकसाया है । साथ ही उसके हाथों नानाविध गैर काम करवाये हैं । इतना ही नहीं, बल्कि उन गैर–कामों के संबन्ध में उसमें मिथ्या अभिमान की भावना भी कूट–कूट कर भर दी है । जैसे 'यह इमारत मैंने बनवायी है... सारी दौलत मैंने कमायी है... यह ग्रंथ मैंने तैयार किया है.... मेरे ही बलबूते पर सबकी जिन्दगी गुलजार है... ।' इत्यादि ।

लेकिन परमोपकारी विश्वोद्धारक तीर्थंकर भगवन्त के कारण आज उसे (जीवात्मा को) बुरे कर्मों की सही परख हो गयी है । उन्होंने हमारी आत्मा को चतुर्विध संघ के हाथ सौंप दिया है । फलतः जीवात्मा को गुरुदेवों की अपूर्व कृपा से स्वभावदशा–ज्ञान, दर्शन, चारित्रमय आत्मस्वरूप की प्रतीति हो गयी । उसमें रहे असीम आनन्द की अनुभूति हुई । परमात्मा तीर्थंकर देवों के द्वारा निर्दिष्ट जगद्–व्यवस्था और रचना समझ में आ गयी । अब भला, वह विभावदशा में किये गये कार्यों को किस दृष्टि से देखेगा ? वर्तमान में भी कई बार उसे विभावदशा के वशीभूत होकर कार्य करने पड़ते हैं । लेकिन यह करने में वह क्या अपना कर्तृत्व समझेगा ? नहीं, कभी नहीं । बल्कि वह हमेशा यह सोचेगा, 'मैं तो अपने शुद्ध गुणपर्याय का कर्ता हूँ, ना कि परपुद्गल के गुणपर्याय का। उसमें तो मैं सिर्फ निमित्त मात्र हूँ, ज्ञाता और दृष्टा हूँ ।

परब्रह्माणि मग्नस्य, श्लथा पौद्गलिकी कथा ।
क्वामी चामीकरोन्मादाः, स्फारा दारादराः क्व च ॥२॥४॥

अर्थ : परमात्मस्वरुप में लीन मनुष्य को पुद्गल–सम्बन्धी बात नीरस लगती है, तब भला उसे धन का उन्माद और परम सुन्दरी के मदहोश कर देनेवाले आलिंगनादिरुप आकर्षण क्यों होगा ?

विवेचन : परम आत्मस्वरूप में लीन जीवात्मा की दशा मायावी संसार के प्राकृत जीवों से–प्राणियों से बिल्कुल अलग होती है । वह प्रायः आत्मा के अनंत गुण–प्रदेश पर विचरण करने में, उस अद्भुत/अनोखे प्रदेश के सम्बन्ध में सही जानकारी प्राप्त करने में, उसकी अजीबो गरीब दास्ताँ सुनने और उसके अनादिकाल से चले आ रहे इतिहास को आत्मसात् करने में मग्न रहता है । पार्थिव/असार संसार में आज तक उसने न देखा हो, न सुना हो और न जाना

हो, ऐसा आश्चर्यकारक खेलतमाशा निहारने में/निकट से देखने में वह इस कदर खो जाता है कि बाह्य जड पुद्गलों का शोरगुल और कोलाहल उसे आकुल–व्याकुल कर देता है। संगीत के मधुर स्वर और सरोद उसके लिये सिर्फ हर्ष–विषाद का कोलाहल बनकर रह जाता है। नवयौवनाओं के अंग–प्रत्यंग का निखार उसके लिए धधकता ज्वालामुखी बनकर रह जाता है। मनोहारी पुष्प और इत्र आदि की सुगंधित सौरभ में उसे सड़े–गले श्वान–फलेवर की बदबू का आभास होता है। बत्तीस व्यंजनों से युक्त भोज्य–पदार्थ उसके लिये 'रिफाईन' की गयी विष्टा से अधिक कुछ नहीं होते। रूपसुन्दरियों के दिल गुदगुदानेवाले मोहक स्पर्श और जंगली भालू के खुरदरे स्पर्श में उसे कोई अन्तर नज़र नहीं आता। ऐसी जीवात्मा भूलकर भी कभी शब्द, सौन्दर्य, संगीत, रस और गन्ध की क्या प्रशंसा करेगी ? हर्गिज नहीं करेगी, ना ही कभी सुनेगी। उसके लिए दोनों नीरस जो हैं।

तब भला वह सोने–चाँदी के ढेर को देखकर मुग्ध हो जाएगा क्या ? अरे ! सोने–चांदी की चमक तो उसे आकर्षित कर सकती है, जो शब्द, सौंदर्य, संगीत, रस और गन्ध का रसिया हो, लालची और लम्पट हो।

ऐसी स्थिति में पूर्ण यौवना नारी को अपने बाहुपाश में लेकर आलिंगन बद्ध करने की चेष्टा करना तो दूर रहा, ऐसी कल्पना करना भी उसके लिए असम्भव है।

कंचन और कामिनी के प्रति नीरसता / उपेक्षाभाव, यह ब्रह्ममग्न आत्मा का लक्षण है और यही ब्रह्ममस्ती का मूल कारण है।

तेजोलेश्या–विवृद्धिर्या साधोः पर्यायवृद्धितः।
भाषिता भगवत्यादौ, सेत्थंभूतस्य युज्यते ॥२॥५॥

अर्थ : 'भगवती सूत्रादि' ग्रन्थों में साधु / श्रमण संबंधित जिस तेजोलेश्या की वृद्धि का उल्लेख, मासादि चारित्र–पर्याय की वृद्धि को लेकर किया गया है, वह ऐसे ही स्वनामधन्य ज्ञानमग्न जीवात्मा में सम्भव है।

विवेचन : ज्ञानमूलक वैराग्य से प्रेरित होकर जो जीवात्मा संसार का

त्याग कर साधु–जीवन / श्रमण–जीवन अंगीकार करती है, जिसने ज्ञान–दर्शन चारित्रमय जीवन जीने का संकल्प कर लिया है, उसे उसी समय से, जबसे वह साधु बना है, ज्ञान–दर्शन–चारित्र के क्षेत्र में अपूर्व आनन्द का अनुभव करने का मौका मिलता है। जबकि दूसरे दिन उसमें और वृद्धि होती है। इस तरह तीसरे दिन, चौथे दिन और एक माह तक उसमें निरन्तर अधिक से अधिकतर वृद्धि होती रहती है। यहाँ तक कि वह प्राय: दैवी सुखों में आकण्ठ डूबे व्यंतर देव–देवियों की आनन्द–परिघि को भी लांघकर आगे बढ़ जाता है। ऐसी हालत में, उसका मन मृत्युलोक के गंदे और क्षणभंगुर सुख और समृद्धि की ओर आकर्षित होने का सवाल ही नहीं उठता। इस तरह दिन–प्रतिदिन ज्ञान–दर्शन–चारित्र में / पूर्णता के आनन्द में साधक इतना तो लीन / तल्लीन हो जाता है कि बारह माह अर्थात् एक वर्ष में अनुत्तरदेव के सुख भी उसके लिये कोई किंमत नहीं रखते। मतलब, वह पूर्ण रूप से ज्ञान–दर्शन–चारित्र के आनन्द में सराबोर हो उठता है। चित्तसुख को तेजोलेश्या कहा जाता है। यही चित्तसुख एक वर्ष के बाद असीम / अमर्यादित बन जाता है।

'**श्री भगवती सूत्र**' में कहा गया है कि आत्मानन्द / पूर्णानन्द की ऐसी क्रमश: वृद्धि केवल श्रमण ही करने में समर्थ हो सकता है। लेकिन इस तरह की पूर्णानन्द की क्रमश: वृद्धि करने के लिये श्रमण को कैसी साधना करनी पड़ती है, इसका मार्गदर्शन परम आराध्य उपाध्यायजी महाराज ने किया है :

इन्द्रिय और मन, ज्ञान–दर्शन–चारित्र्य के विश्रांति गृह में है ?

पौद्गलिक विषयों के दर्शन मात्र से अथवा आसक्ति के समय ऐसा अनुभव हुआ जैसे कि विष–पान कर लिया हो ?

परभाव संबंधित कर्तृत्व का मिथ्याभिमान नष्ट हुआ ?

धनधान्यादि सम्पत्ति का उन्माद और रूपसुन्दरियों के प्रति मोह की भावना खत्म हो गयी ?

जो साधक इन चार प्रश्नों का उत्तर 'हाँ' में देता है, यही पूर्णानन्द की क्रमश: वृद्धि करने में पूर्णतया समर्थ है। इन चार बातों को पूरी करने के लिये जीवात्मा को निरन्तर प्रयास करना चाहिए। एक बार तुम्हें सफलता मिल गयी

तो समझ लो कि पूर्णानन्द में निरन्तर वृद्धि होते देर नहीं लगेगी ।

ज्ञानमग्नस्य यच्छर्म, तद्वक्तुं नैव शक्यते ।
नोपमेयं प्रियाश्लेषैर्नापि तच्चन्दनद्रवैः ॥२॥६॥

अर्थ : ज्ञान–सरोवर में आकण्ठ डूबी जीवात्मा को जो अपूर्व सुख और असीम शान्ति मिलती है, उसका वर्णन शब्दों में अथवा लिखकर नहीं किया जा सकता । ठीक इसी तरह उसकी तुलना नारी के आलिंगन से प्राप्त सुख के साथ अथवा चन्दन–विलेपन के साथ नहीं कर सकते ।

विवेचन : आकाश की भी कोई उपमा हो सकती है क्या ? अथाह समुद्र को भला कोई उपमा दी जा सकती है क्या ? समस्त सृष्टि और समष्टि में जो एकमेव, अद्वितीय है, उसे महाकवि, मनीषी भी कोई उपमा देने में सर्वथा असमर्थ होते हैं । ज्ञान–मग्नता से उपजा सुख भी ऐसा ही एकमेव और अद्वितीय है ।

यदि तुम यह प्रश्न करो की, "ज्ञान–मग्न जीवात्मा को भला कैसा सुख मिलता है ?" तो इसका हम सही शब्दों में उत्तर नहीं दे सकेंगे, ना ही कोई निश्चित उपमा दे पायेंगे ।

–"क्या यह सुख रूपयौवना के मादक आलिंगन से प्राप्त सुख जैसा है ?"

"नहीं, कदापि नहीं ।"

–"क्या यह चन्दन–विलेपन से मिलते सुख जैसा है ?"

"वह भी नहीं !"

–"तब भला कैसा है ?"

उसको समझाने के लिए संसार में कोई उपमा नहीं मिलती ! बल्कि उसे समझाने के लिये, सिवाय उसका खुद अनुभव किये, दूसरा कोई उपाय नहीं है । बाह्य पदार्थों से प्राप्त समस्त सुखों में अद्वितीय, एकदम विलक्षण, जिसका जिंदगी में कभी कहीं कोई अनुभव नहीं किया हो, ऐसे ज्ञान–मग्नता के अपूर्व सुख का यदि एक बार भी स्वाद चख लिया, तब निःसन्देह बार–बार उसका अनुभव करने / 'टेस्ट' करने के लिए स्वभाव दशा, गुणसृष्टि और आत्मस्वरूप की ओर

दौडे चले आओगे ।

अनादिकाल से प्राणी मात्र का यह स्वभाव रहा है कि यदि वह एक बार किसी चीज का उपभोग करेगा, स्वाद चखेगा और वह उसे 'अपूर्व रस से भरपूर / तरबतर लग जायेगा तो उसका स्वाद लेने / उपभोग करने के पीछे पागल बन जाएगा । हालाँकि जगत के भौतिक सुख प्राप्त करना जीवात्मा के हाथ की बात नहीं है । वे उसके लिये सर्वथा अप्राप्य सदृश ही हैं । अतः उसको पाने के लिये अधीर / आतुर / आकुल–व्याकुल होने के उपरान्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है । जबकि ज्ञान मग्नता का सुख अपने हाथ की बात है । जब इसे पाने की इच्छा मन में पैदा हो जाए, तब आसानी से पा सकते हैं ।

सभी बातों का सार यह है कि ज्ञान–मग्नता का सुख, शाब्दिक वर्णन पढ़कर / सुनकर अनुभव नहीं किया जा सकता, बल्कि इसके लिये स्वयं को अनुभव करना पड़ता है ।

शमशैत्यप्रुषो यस्य, विप्रुषोऽपि महाकथा ।
किं स्तुमो ज्ञानपीयुषे, तत्र सर्वाङ्गमग्नता ? ॥२॥७॥

अर्थ : ज्ञानामृत के एक बिन्दु की भी उपशमरूपी शीतलता को पुष्ट करनेवाली अनेकानेक कथायें मिलती हैं, तब ज्ञानामृत में सर्वांग मग्नता / लीन अवस्था की स्तुति भला किन शब्दों में की जाए ?

विवेचन : केवल एक बूंद ! ज्ञान–पीयूष की एक बूंद ! लेकिन उसके असर की / प्रभाव की न जाने कितनी कथाएँ कहें ! किन शब्दों में उसका वर्णन करें ! एक–एक बूंद के पीछे चित्त को / मन को उपशम (इन्द्रिय–निग्रह) रस में सराबोर कर देनेवाले अगणित आख्यान और महाकाव्यों की रचना की गयी है । ज्ञानामृत की सिर्फ एक अकेली बूंद में मोह, मान, क्रोध, माया और लोभ के धधकते ज्वालामुखी को शान्त करने की असीम शक्ति निहित है । आहार, भय, मैथुन और परिग्रह की बाढ को वह लोटा सकती है । पाप के प्रलय को मिटा सकती है ।

सौन्दर्य और यौवन की प्रतिमूर्ति सी नृत्यांगना कोशा की चित्रशाला में

निवास कर आर्य स्थूलिभद्र ने कामविजेता बनकर सारे संसार को आश्चर्य चकित कर दिया। भला उसके पीछे कौन सी शक्ति / तत्त्व काम कर रहा था ? सिर्फ ज्ञानामृत की एक बूंद। पूर्णानन्द की एकमात्र बूंद।

निर्दोष–निष्पाप मदनब्रह्म मुनिराज को पकडकर और गुड्ढे में फेंक कर क्रूर राजा ने ठंडे कलेजे से उनका शिरच्छेद कर धरती को खून से रंग दिया। लेकिन धीर-गम्भीर मुनिराज ने क्रोध पर विजय पाकर आत्मस्वरूप की पूर्णता प्राप्त कर ली। उसके पीछे कौन सा परम रहस्य काम कर रहा था ? वही ज्ञानामृत की एक बूंद ! पूर्णानन्द की एकमात्र बूंद !

राजसी ऋद्धि–सिद्धियों का त्याग कर राजकुमार से मुनिराज बने ललितांग के आहार पात्र में चार तपस्वी मुनिराजों ने थूक दिया। फिर भी करुणावतार, दयासागर ललितांग मुनि के हृदय–मन्दिर में उपशम रस की बांसुरी बजती ही रही। फलतः वे शिवपुरी के स्वामी बने। सोचो, जरा उस उपशम–रसभीनी बांसुरी के मधुर सुर छोडनेवाला कौन था ? वही ज्ञानामृत की एक बूंद ! पूर्णानन्द की एकमात्र बूंद।

ऐसी अगणित आख्यायिकाओं का सर्जन कर ज्ञान–बिंदुओ ने अनादिकाल से इस धरती पर उपशमरस का झरना निरन्तर प्रवाहित रखा है और उसमें प्लावित होकर असंख्य आत्माओं ने अपनी संतप्त अन्तरात्माओं को प्रशान्त किया है।

ज्ञानामृत में सर्वांग / सम्पूर्ण स्नान करनेवाले महापुरुषों की स्तुति भला किन शब्दों में की जाए ? यह सब शब्द से परे है। बल्कि इन्हें आँखे मूँदकर अन्तर्मन से देखते ही रहें। सिर्फ देखकर अनुभव करने से विशेष हम कुछ नहीं कर सकते।

यस्य दृष्टिः कृपावृष्टिर्गिरः शमसुधाकिरः।
तस्मै नमः शुभज्ञानध्यानमग्नाय योगिने ॥२॥८॥

अर्थ : जिनकी दृष्टि कृपा की वृष्टि है और जिन की वाणी उपशमरूपी अमृत का छिड़काव करनेवाली है, उन प्रशस्त–ज्ञानध्यान में सदा–सर्वदा लीन रहनेवाले महान योगीश्वर को नमस्कार हो।

विवेचन : एक नजर देखो तो, उनकी दृष्टि से करुणा की धारा बह रही है ! सिर्फ करुणा..... सदैव करुणा ! समस्त भूमण्डल पर करुणा की वर्षा हो रही है । 'समस्त जीवात्माओं के दुःख दूर हों, सभी जीवों के कर्म–क्लेश मिट जाएँ ।'

जानते हो यह वर्षा किस बादल में से हो रही है ? यह ज्ञान–ध्यान की मग्नता का बादल है । इसमें से करुणा की अविरत धारा बह रही है । कैसा यह अपूर्व बादल और कैसी अनुपम वर्षा ! जो कोई इसमें स्नान करेगा, नहायेगा, क्षणार्ध में उसके तन मन के सारे संताप, क्लेश और दर्द दूर हो जाएंगे । मन का मैल और तन का ताप मिट जाएगा ।

उनकी वाणी कैसी मधुर, मंजुल और मीठी है ? मानो अमृत ! जो कोई इसका श्रवण–मनन करेगा, उसके क्रोध, मान, माया और लोभ के उन्माद / विक्षिप्तता आनन–फानन में मिट जाएगी और उपशम रस का स्रोत फूट पड़ेगा । उनकी वाणी से रोष, कोप और मोह का लावारस नहीं बहेगा, ना ही कभी सांसारिक सुखों की लालसा के प्रलाप / बकवास सुनायी देंगे । जब भी सुनोगे, आत्महित की चर्चा ही कानों से टकराएगी और वह भी शहद–सी स्वादिष्ट, एकदम मीठी ।

ऐसे महान धुरंधर योगीराज को हम तन–मन से नस्कार करें । भक्ति–भावपूर्वक उनके चरणों में वन्दन करें । इसके लिये उनके सन्मुख खड़े रहें । उनकी असीम कृपा के पात्र बनें ! उनकी वाणी श्रवण करने के अधिकारी बनें ।

साधक जीवात्मा को यहाँ पर महत्त्वपूर्ण दो बातों का साक्षात्कार होता है । जैसे–जैसे ज्ञान–ध्यानादि प्रक्रिया में उसकी मग्नता / लीन अवस्था में वृद्धि होती रहती है, उसी अनुपात में उसकी दृष्टि और वाणी में यथोचित परिवर्तन होना परमावश्यक है । करुणा–दृष्टि से विश्व का अवलोकन करना चाहिए और प्राणिमात्र के साथ उपशमरस–भरपूर वाणी से व्यवहार करना चाहिए । इसके लिये जगत के प्राणियों के प्रति जो दोषदृष्टि है, उसके बजाय गुण–दृष्टि का आविष्कार करना आवश्यक है । क्योंकि ज्ञान–ध्यानादि की मग्नता / लीनता में से ही गुणदृष्टि प्रगट होती है और गुण–दृष्टि के कारण ही समस्त जीवों के साथ के संबन्ध प्रशस्त और मधुर बनते हैं ।

३. स्थिरता

सदैव स्थिर रहो । निरन्तर..... सदा सर्वदा !

– स्थिरता मानव का स्थायी भाव होना चाहिए ।

– ज्ञानमग्न बनने के लिए मानसिक स्थिरता / मन की स्थिरता होना आवश्यक है । उसमें चंचलता, अस्थिरता और विक्षिप्तता के लिए कोई स्थान नहीं है ।

– "मैं स्थिर नहीं रह सकता"–कहने से कोई लाभ नहीं है । बार–बार यही शिकायत करते रहोगे कि इसका हल खोजना है ? शिकायत को दूर करने का कोई मार्ग निकालना है ? यदि हल खोजना है, मार्ग निकालना है तो इस अष्टक में बताये / निर्दिष्ट उपायों का आधार लेना जरुरी है । योजना को कार्यान्वित करना परमावश्यक है ।

– यदि अपने आप में आत्मविश्वास जगाओगे कि 'स्थिर रह सकते हैं, तब स्थिर बनने के उपाय खोज निकालोगे–उसें अमल में लाओगे । स्थिरता के रत्न–दीपक के शीतल प्रकाश में आध्यात्मिक मार्ग का अनुसरण जारी रखो, पूर्णता की मंजिल अवश्य मिलेगी और तुम अपने उद्देश्यों मे सफल बनोगे ।

वत्स ! किं चंचलस्वान्तो भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा विषीदसि ?
निधिं स्वसन्निधावेव स्थिरता दर्शयिष्यति ॥३॥१॥

अर्थ : हे वत्स ! तू चंचल प्रवृत्ति के बन के भटक–भटक कर क्यों विषाद करता है ? तेरे पास रहे हुए निधान को स्थिरता बतायेगी ।

विवेचन : तुम्हारा तन और मन क्या चंचल बन गया है ? तुम अपने आप में क्या अगणित चिंताओ और सोच–विचारों में फंस गये हो ? तब भला क्यों इधर–उधर भटक रहे हो ? गाँव–गाँव और दर–दर क्यों फिर रहे हो ? पर्वत गुफायें और घने जंगलों की खाक क्यों छान रहे हो ? निष्प्रयोजन भटकाव अच्छा नहीं । उससे तुम्हें कौन सा गडा खजाना मिल जानेवाला है ? वह आज तक किसीको मिला नहीं और भविष्य में भी मिलनेवाला नहीं है । यह शाश्वत् सत्य है । यदि तुम्हें विश्वास न हो तो तुम्हारे साथ निरन्तर भटकती तुम जैसी अन्य आत्माओं को पूछ देखो ! वे भी तुम्हारी तरह ही संतप्त और अशान्त हैं । अपने आप से पूछो कि इस कदर भटकने से कहीं खजाना मिला है सो मिल जाएगा ? और फिर तुम जिसे खजाना समझ बैठे हो, वह खजाना नहीं, असीम सुख और परम शान्ति देनेवाली अपूर्व सम्पदा नहीं, बल्कि एक छलावा है, मृगजल है !

हम तुम्हें रोक नहीं रहे हैं, साथ ही यह भी नहीं कहते कि तुम खजाने की खोज न करो । उसे पाने के लिए प्रयत्नशील न बनो । अपितु हम यह कहना चाहते हैं कि वहाँ खोजो, जहाँ सचमुच खजाना है । उसके होने की पूरी सम्भावना है । नाहक चिन्ता न करो, शोक से विह्वल न बनो, हताश न हो । हम तुम्हें खजाना बताते हैं । तुम एकाग्र मन से उसे खोजने का प्रयत्न करो । अधीर और अस्थिर होने से काम नहीं चलेगा, बल्कि पूर्ण मनोयोग से प्रयास करो । खजाना मिलते देर नहीं लगेगी और वह भी ऐसा मिलेगा कि जिससे तुम्हारा तन–मन आनन्द से थिरक उठेगा । तुम्हारे सारे संताप और दु:ख क्षण भर में खत्म हो जाएँगे । फलत: तुम्हें परम शान्ति का अनुभव होगा ।

और इसके लिए एक ही उपाय है, 'स्थिर बनो' ! आत्म–निग्रही बनो ! मतलब, अपने मन में रही पौद्‌गलिक पदार्थों की स्पृहा को नष्ट करना / बाहर निकाल फेंकना और जीवात्मा के ज्ञानादि गुणों की तरफ गतिशील होना । बाह्य धन–धान्यादि–सम्पत्ति और कीर्ति हासिल करने के लिए लगातार दौडधूप करने के बावजूद जीवात्मा के हाथ हताशा, खेद और क्लेश के सिवाय कुछ नहीं आता । वह आकुल–व्याकुल और बावरा बन जाता है । मन की व्याकुलता जीवमात्र को ज्ञान में / परब्रह्म में लीन नहीं होने देती । फलत: वह पूर्णानन्द के मेरुशिखर की ओर गतिशील नहीं बन सकता और यदि गतिशील बन भी जाए तो आधे

रास्ते में रुक जाता है, ठिठक जाता है, वापिस लौट आता है। अतः स्थिर बनना अत्यन्त आवश्यक है। यही स्थिरता तुम्हें खजाने की ओर ले जाएगी और दिलाएगी भी !

इसीलिए ज्ञानी पुरुषों का कहना है कि बाह्य पौद्गलिक पदार्थों के पीछे पागल बने मन को रोको। मन के रुकते ही वाणी और काया को रुकते देर नहीं लगेगी। मन को अपने आप में केन्द्रित करने के लिए उसे आत्मा की सर्वोत्तम, अक्षय, अनन्त समृद्धि का दर्शन कराओ।

ज्ञानदुग्धं विनश्येत, लोभविक्षोभकुर्चकैः।
अम्लद्रव्यादिवास्थैर्यादिति मत्वा स्थिरो भव ॥३॥२॥

अर्थ : ज्ञानरूपी दूध अस्थिरता रुपी खट्टे पदार्थ से (लोभ के विकारों से) बिगड़ जाता है। ऐसा जानकर स्थिर बन।

विवेचन : कई सरल प्रकृति के लोग यह कहते पाये जाते हैं कि हम आत्मज्ञान प्राप्त करें और बाह्य पौद्गलिक पदार्थों की प्राप्ति हेतु पुरुषार्थ भी करें। ऐसे पथ–भ्रष्ट सरल चित्तवाले लोगों को परम श्रद्धेय यशोविजयजी महाराज उनके मार्ग में रहे अवरोध, बाधाएँ और बुराईयों के प्रति सजग कर सावधान करते हैं।

यदि दूध से छलछलाते बर्तन में खट्टा पदार्थ डाल दिया जाए, तो उसे फटते देर नहीं लगेगी। वह बिगड जाएगा और उसका मूल स्वरूप कायम नहीं रहेगा। फलतः उसको पीनेवाला नाक–भौं सिकोडेगा। पीने के लिये तैयार नहीं होगा और पी भी जाए, तो उसे किसी प्रकार का संतोष, बल और समाधान नहीं मिलेगा। बल्कि रोग का भोग बन बीमार हो जाएगा, नानाविध व्याधियों का शिकार हो जाएगा।

यही दशा ज्ञानामृत से छलछलाते आत्मभाजन में पौद्गलिक सुखों की स्पृहा के मिल जाने से होती है। परिणाम यह होता है कि वह ज्ञान स्वरूप में न रहकर उसमें विकार की भर पड जाती है और तब वह आत्मोन्नति अथवा आत्म–विशुद्धि नहीं कर सकता अपितु अपने क्रिया–कर्मों से आत्मा को विमोहित कर पतन के गहरे गड्ढे में धकेल देता है।

बर्तन दूध से भरा हुआ हो और उसमें थोड़ी सी खट्टाई भी मिला दी जाए, तब भी वह बिगड जाता है। मनुष्य के किसी काम का नहीं रहता। जबकि हमारे पास तो दूध कम है और खट्टाई का प्रमाण अधिक है। फिर तो दूध बिगडते भला कौन सी देर लगेगी ? ठीक इसी तरह हमारे पास ज्ञान की मात्रा अल्प है और पौद्‌गलिक सुखों की स्पृहा अधिक है। उसका कोई पारावार नहीं है। तब भला वह ज्ञान, ज्ञानरूप में रह सकता है क्या ? इसीलिये यदि ज्ञानामृत को, अपने आत्मज्ञान को सुरक्षित रखना हो, अन्त तक उसे उसके मूल स्वरूप में कायम रखना हो तो निःसन्देह हमें पौद्‌गलिक आकर्षण / आसक्ति का त्याग करना ही होगा। हमें चंचलता, विक्षिप्तता और अस्थिरता को तिलांजलि देनी ही होगी। क्योंकि वह खट्टे पदार्थ जैसी घातक, मारक और बाधक है।

मथुरा के आचार्य मंगु के पास ज्ञानामृत से भरा कुम्भ था। लेकिन उसमें रसनेन्द्रिय से तरबतर विषयों की स्पृहा की खटाई मिल गयी। परिणामतः उसमें अस्थिरता और चंचलता की भर पड़ गयी। ज्ञान, विष में परिवर्तित हो गया और आचार्यश्री को मोक्ष–प्राप्ति के बजाय दुर्गति की राह में भटकना पड़ा। यदि तुम्हें इस मार्ग में नहीं जाना है तो 'स्थिर बनो, दृढ़ बनो।'

अस्थिरे हृदये चित्रा, वाङ्‌नेत्राकारगोपना।
पुंश्चल्या इव कल्याणकारिणी न प्रकीर्तिता ॥३॥३॥

अर्थ : यदि चित्त सर्वत्र भटकता है, तो विचित्र वाणी, नेत्र, आकृति और वेषादि का गोपन करने रुप क्रिया (धर्मक्रियायें) कुटनी स्त्री की तरह कल्याणकारिणी नहीं कही गयी हैं।

विवेचन : जिस नारी के मन में पराये पुरुष के लिए प्रेम हो, स्नेहभाव भरा पड़ा हो और ऊपरी तौर पर वह पतिव्रता होने की डींग मारती है, पति–भक्ति प्रदर्शित करती है, दिल को लुभानेवाली बातें करती है और पति–सेवा का मिथ्या प्रदर्शन करती है, उसे कुलटा / छिनाल नारी कहा जाता है। परिणाम स्वरूप उसकी मीठी वाणी, सेवा–भाव और भक्ति, उसका कल्याण नहीं कर सकती, ना ही जीवन सफल बनाती है।

ठीक उसी भाँति जब तक जीवात्मा में परपुद्गल / बाह्य पदार्थों के प्रति अनन्य आकर्षण-और आसक्ति (लगन) विद्यमान है, इहलौकिक और पारलौकिक पौद्गलिक सुखों की स्पृहा है, तबतक वह (मनुष्य) तन–मन से कितनी भी धर्मक्रियायें क्यों न करे, वे क्रियायें उसे कतई लाभ नहीं पहुँचाती, उसका कल्याण नहीं करतीं । मन में सांसारिक विषयों की लालसा (वासना) और आचरण में धर्म है, ऐसा मनुष्य कुलटा नारी के समान ही है ।

वह नानाविध धार्मिक क्रियाओं के माध्यम से हमेशा अपनी पौद्गलिक सुखों की अभिलाषा पूरी करने की आशा रखता है । फलतः उसकी मौनावस्था अथवा काया का योग–ध्यानादि सब कुछ आत्म-विशुद्धि को सहज–सुलभ बनाने के बजाय अवरोध ही पैदा करता है । उसकी मानसिक अशान्ति, संताप और क्लेशों में निरन्तर वृद्धि होती रहती है ।

हम परमात्मा की पूजा–अर्चना करते हैं, प्रतिक्रमण–सामायिकादि अनुष्ठान करते हैं, नियमित रूप से तप–जप करते हैं, धर्मध्यान करते हैं; फिर भी हमें मानसिक शान्ति क्यों नहीं मिलती ? हमारी अशान्ति दूर क्यों नहीं होती ?" ऐसे असंख्य प्रश्न, धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति में और लोगों में आम चर्चा के विषय बने हुए हैं । इसका मूल कारण यह है कि हृदय पौद्गलिक सुखों के पीछे पागल हो गया है । अस्थिर, चंचल और विक्षिप्त बन गया है । हम धर्माचरण अवश्य करना चाहते हैं, लेकिन हमारी पौद्गलिक सुखों की लालसा / आसक्ति कम करना नहीं चाहते । ऐसी विषम परिस्थिति में हमारी धर्मक्रियायें भला कल्याणकारी कैसे बन सकती हैं ? किस तरह शुभ और शुद्ध अध्यवसाय पैदा कर सकती है ? अर्थात् यह सब असम्भव... एकदम असम्भव है ।

याद रखो, जब तक हमारा मन विभावदशा में अनुरक्त रहेगा, तब तक उत्तमोत्तम धर्मक्रियाओं के माध्यम से भी आत्मकल्याण / आत्मसिद्धि होना सर्वथा मुश्किल है ।

अन्तर्गतं महाशल्यमस्थैर्यं यदि नोद्धृतम् ।
क्रियौषधस्य को दोषस्तदा गुणमयच्छतः ॥३॥४॥

अर्थ : यदि मन में रही महाशल्य रुपी अस्थिरता दूर नहीं की है, (उसे जड़मूल से उखाड़ नहीं फेंका है) तो फिर गुण नहीं करनेवाली क्रियारूप औषधि का क्या दोष ?

विवेचन : यह तथ्य किसी से छिपा हुआ नहीं है कि जब तक हमारे पेट में मल जम गया है, तब तक देवलोक से साक्षात् धन्वंतरी भी उतर कर क्यों न आ जाए, ज्वर उतरने का नाम नहीं लेगा । इसमें भला वैद्य की दवा का क्या दोष है ? क्योंकि पेट में जमे हुए मल को जब तक साफ नहीं करेंगे, तब तक दवा अपना काम नहीं कर पाएगी ।

जिनेश्वर देव द्वारा प्रतिपादित श्रावकधर्म और साधुधर्म की अनेकविध क्रियायें अनमोल औषधियाँ हैं । इनके सेवन से असंख्य आत्माओं ने सर्वोत्तम आरोग्य और मानसिक स्वस्थता प्राप्त की है । लेकिन जिन्होंने इसे (आरोग्य–आत्म विशुद्धि) प्राप्त किया है, वे सब सांसारिक, भौतिक, पौद्गलिक सुखों की स्पृहा को पहले ही तिलांजलि दे चुके थे । तभी वे आत्मविशुद्धि और अक्षय आरोग्य के धनी बने थे । पौद्गलिक सुखों की स्पृहा, अनादिकाल से आत्मा में जमा मल है । यह निरन्तर चुभनेवाला शल्य नहीं तो और क्या है ?

तब सहसा एक प्रश्न मन में कौंध उठता है : "वीतराग देव द्वारा प्रतिपादित धर्मक्रिया रुपी औषधि, क्या पौद्गलिक सुखों की स्पृहा को नष्ट नहीं कर सकती ?"

अवश्य कर सकती है । एक बार नहीं, सौ बार नष्ट कर सकती है । लेकिन यह तभी सम्भव है, जब जीवात्मा का अपना दृढ़ संकल्प हो कि '**मुझे पौद्गलिक सुखों की स्पृहा का नाश करना है ।**' ऐसी स्थिति में जो धर्मक्रिया की जाए, वह भी सिर्फ वाणी और काया से नहीं, बल्कि अन्तर्मन से की जानी चाहिए । तब पौद्गलिक सुखों की स्पृहा अवश्य दूर होगी और क्रियारुपी औषधि आत्मआरोग्य के संवर्धन में गति प्रदान करेगी ।

इस तरह एक ओर धर्मक्रियाओं को अंजाम देने के साथ–साथ इस बात की भी पूरी सावधानी बरतनी होगी कि 'मेरी बाह्य पौद्गलिक सुखों की स्पृहा में क्या आशातीत कमी हुई है ?' साथ ही पूरा ध्यान रखा जाए कि इस कालावधि

में बाह्य सुखों का खयाल तक मन में उठने न पाए। वर्ना **'नमाज पढ़ते, रोजे गले पडे !'** वाली कहावत चरितार्थ होते देर नहीं लगेगी। एक तरफ मल नष्ट करने की औषदि का सेवन और उसमें वृद्धि करनेवाली औषधि का सेवन ! फिर तो जो होना होगा, सो होकर ही रहेगा। लेकिन इससे बड़ी मूर्खता और कौन सी हो सकती है ?

अपने मन को स्थिर किये बिना अथवा करने की इच्छा नहीं रखने के उपरान्त सिर्फ धर्मक्रिया करते रहने से अगर आत्मसुख का लाभ न मिले तो इसमें क्रिया का दोष मत निकालो। यदि दोष निकालना है तो अपनी वैषयिक सुखों की अनन्त लालसाओं का, स्पृहा का और अपनी मानसिक अस्थिरता का निकालें।

स्थिरता वाङ्मनःकायैर्येषामङ्गाङ्गितां गता ।
योगिनः समशीलास्ते ग्रामेऽरण्ये दिवा निशि ॥३।५॥

अर्थ : जिस महापुरुष को स्थिरता, वाणी, मन एवं काया से एकात्मभाव को प्राप्त हुई है, ऐसे महायोगी ग्राम, नगर और अरण्य में, रात–दिन सम स्वभाववाले होते हैं।

विवेचन : जो व्यक्ति मनोहर नगर में निवास करते हों अथवा घने जंगल में, साथ ही जिन्हें नगर के प्रति आसक्ति–लगन नहीं और अरण्य के प्रति उद्वेग / अरुचि नहीं, उन्हें आँखों को चकाचौंध करनेवाला दिन का प्रकाश हो अथवा अमावस की गहरी अंधियारी रात हो, वे सदा–सर्वदा ऐसी दशा में निर्लिप्त भाव से युक्त होते हैं। दिन का उजाला उन्हें हर्षविह्वल करने में असमर्थ होता है और रात का अन्धकार शोकातुर बनाने में ! कारण उनके वाणी–व्यवहार और तन–मन में स्थिरता समरस जो हो गयी है। उनके मन में आत्मस्वरूप की... पूर्णानन्द की... ज्ञानामृत की रमणता, वाणी में पूर्णानन्द की सरिता और काया में पूर्णानन्द की प्रभा प्रगट होती है।

बाह्य जगत से संबन्धविच्छेद किये बिना और आन्तर जगत के साथ, अन्तर्मन से सम्बन्ध जोडे बिना मन, वचन और काया में स्थिरता का प्रादुर्भाव

नहीं हो सकता । जो मनुष्य अपने परिवार में ही खोया रहता है, संबन्ध बढ़ाता है और स्नेहभाव का आदान–प्रदान करता है, उसे परिवार में से ही प्रेम, सुख, स्नेह और आनन्द की प्राप्ति होती है । उसे सुख–शान्ति और आनन्द की खोज हेतु बाहरी जगत में दूसरे लोगों के पीछे भटकना नहीं पड़ता । अपनी खुशी–नाखुशी के लिए उसे दूसरों की कृपा / मेहरबानी पर अवलंबित नहीं रहना पड़ता। फलतः उसे बाह्य जगत की तनिक भी परवाह नहीं होती । मालवनरेश मदनवर्मा एक ऐसा ही व्यक्ति था, जिसे बाह्य जगत की कोई परवाह नहीं थी । वह अपने अन्तःपुर में ही प्राप्त ऋद्धि–सिद्धियों में पूर्ण रूप से खो गया था, एक रूप हो गया था । उसने किसी से युद्ध नहीं किया और ना ही किसी के साथ लडाई !

इसी तरह काकंदी के धन्यकुमार ने बत्तीस करोड़ सुवर्ण मुद्रा और बत्तीस नव यौवनाओं का मोह त्याग कर आन्तर जगत से नाता जोडा और स्व–आत्मस्वरूप में लीन होकर स्वर्गीय सुख प्राप्त किया । उनका तन–मन और वाणी–व्यवहार पूर्णानन्द में सराबोर हो गया । रूखा–सूखा आहार और वैभारगिरि के निर्जन बन का उन पर तिल मात्र भी असर नहीं हुआ । स्थिरता के कारण उन्होंने अक्षय सुख, असीम शान्ति और अपूर्व आनन्द का खजाना सहजता से पा लिया । तब भला उन्हें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से झगडने की, लडाई मोल लेने की जरूरत ही क्या थी ? धन्य है ऐसे त्यागी साधु–श्रमणों को ।

स्थैर्यरत्नप्रदीपश्चेद् दीप्रः संकल्पदीपजैः ।
तद्विकल्पैरलं धूमैरलं धूमैस्तथाऽऽश्रवैः ॥३॥६॥

अर्थ : यदि स्थिरता रूपी रत्नदीप सदा–सर्वदा देदीप्यमान हो तो भला संकल्प रूपी दीपशिखा से उत्पन्न विकल्प के धूम्रवलय का क्या काम ? ठीक वैसे ही अत्यन्त मलीन ऐसे प्राणातिपात आदिक आश्रवों की भी क्या जरूरत है ?

विवेचन : "मैं धनवान बनूँ । ऋद्धि–सिद्धियाँ मेरे पाँव छुए....!" यह है संकल्प दीप ! मिट्टी का दीया ! मिट्टी से बना हुआ !

और नानाविध विचारव्यापार से पैदा हुए : "अमुक मार्केट / बाजार में

जाऊँ, आलीशान दुकान बनाऊँ, धूम–धडल्ले से व्यापार करूँ ! किसी बड़े प्रभावशाली धनी व्यक्ति को व्यापार में साझेदार बनाऊँ ! अक्लमंदी और चातुर्य से व्यापार करूँ ! ढेर सारी सम्पत्ति बटोर लूँ । भव्य बंगला और अट्टालिका बना लूँ ! एम्पाला कार खरीद लूँ और दुनिया में इठलाता फिरूँ !" आदि हैं विकल्प के धूम्र–वलय ! संकल्प दीप में से प्रायः विकल्प का धुआँ फैलता ही रहता है । जबकि संकल्प–दीप की ज्योति क्षणभंगुर है । वह प्रज्वलित होता है और बुझ भी जाता है । लेकिन पीछे छोड जाता है धुएँ की पर्तें ! एक नहीं अनेक और उससे मनगृह मटमैला, धुमिल बन जाता है ।

धनी बनने की एक भावना अपने पीछे हिंसादि अनेकानेक आश्रवों के विचारों की कतार लगा देती है । लेकिन इससे भला क्या लाभ ? सिवाय थकावट, क्लेश, खेद और अनदिखे आन्तरिक दर्दों की परंपरा, नीरा कर्मबन्धन ! धनिकता की भावना पैदा होती है और पानी के बुलबुले की तरह क्षणार्ध में लुप्त हो जाती है । लेकिन मनुष्य इसके व्यामोह में पागल बन नानाविध विकल्पों की झंखना कर अपने मन को आर्तध्यान, रौद्रध्यान में पिरोकर बिगाड देता है और उसी तरह विकल्पों के धुएँ में बुरी तरह फँसकर घुटन अनुभव करने लगता है, घबरा उठता है और परिणाम यह होता है कि हिंसादि आश्रवों का सेवन कर अन्त में मृत्यु का शिकार बन, दुर्गति को पाता है ।

धनी बनने की तीव्र लालसा की तरह कीर्ति की लालसा पैदा होना भी भयंकर बात है । "मैं मन्त्री बनूँ अथवा राष्ट्र का गरिमामय सर्वोच्च पद मुझे मिल जाए !" संकल्प जगते ही विकल्पों की फौज बिना कहे पीछे पड़ जाएगी । विकल्प भी कैसे... कैसे ?' 'चुनाव लडुँ, पैसों का पानी करूँ... अन्य दल के उम्मीदवार को पराजित करने के लिए विविध दाँवपेंच लडाने की योजना बनाऊँ...' आदि विकल्पों की पूर्ति हेतु हिंसा, असत्यादि आश्रवों / पापों का आधार लेते जरा भी नहीं हिचकिचाता । लेकिन यह सब करने के बावजूद भी वह मन्त्री अथवा सर्वोच्चपद पर आसीन हो ही जाता है, सो बात नहीं । बल्कि पागल अवश्य बन जाता है ! नानाविध पापों का भाजन जरूर हो जाता है ।

जबकि स्थिरता वह रत्नदीप है । जहाँ धुम्रवलय का कहीं नामो–निशान तक नहीं है । 'मैं सदैव अपने आत्मगुणों में तल्लीन रहुँ... !' निमग्न रहुँ... !' यह

भावना है रत्नदीप !

'अत: इसके लिये मैं पर पदार्थों की आसक्ति से कोसों दूर रहुँ । बाह्य जगतको देखना, सुनना और भोगना... जैसी क्रियाओं को पूरी तरह से त्याग दूँ। देव, गुरु और धर्माचरण में अपने आप को लीन कर दूँ । तन–मन से धर्मश्रवण और धर्मोपासना में खो जाऊँ...।' यह रत्नदीप की प्रखर ज्योति है । इससे मनोमन्दिर देदीप्यमान हो उठता है और विकल्प–आश्रवादि का अंधियारा छिन्न–भिन्न हो जाता है ।

उदीरयिष्यसि स्वान्तादस्थैर्यं पवनं यदि ।
समाधेर्धर्ममेघस्य घटां विघटयिष्यसि ॥३॥७॥

अर्थ : यदि अन्त:करण से अस्थिरता रूपी आँधी पैदा करोगे, तो नि:सन्देह धर्ममेघ–समाधि की श्रेणी को बिखेर दोगे ।

विवेचन : जिस तरह सनसनाती हवा के झोंके और आकाश में उठी भयंकर आँधी मेघघटाओं को छिन्न–भिन्न कर देती है, बिखेर देती है, ठीक उसी तरह मानसिक अस्थिरता / चंचलता भी समाधी–रूपी धर्ममेघ की घटाओं को बिखेर देती है । प्रकट होनेवाले केवलज्ञान को तितर–बितर कर देती है । 'धर्ममेघ' समाधि (योग) आत्मा की ऐसी श्रेष्ठ–सर्वोच्च दशा–अवस्था को कहा जाता है, जहाँ चित्त की सभी भावनाएँ, वृत्तियाँ शान्त बन जाती हैं । तब वहाँ किसी शुभ विचार अथवा अशुभ विचार के लिए कोई स्थान नहीं होता । साथ ही ऐसी कोई चंचलता और अस्थिरता पैदा ही नहीं होती कि जिसके कारण केवलज्ञान प्रकट न हो सके ।

यह तो तुम भली भाँति जानते ही हो कि मन के पौद्‌गलिक पदार्थों में फँसने मात्र से ही आत्मस्वरूप सम्बन्धित शुभ विचार पैदा होने से रहे ! दान, शील, परमार्थ, परोपकारादि आत्मकल्याणकारक शुभ विचार भी टिक नहीं सकते । इससे एक कदम आगे चलकर यदि हम यह विधान करें तो अतिशयोक्ति न होगी कि, 'जहाँ कोई शुभ विचार काम कर रहा हो, वहाँ पौद्‌गलिक सुख की स्पृहा अगर बीच में आ जाए तो सब कुछ मटियामेट हो जाता है । जीवात्मा का

पतन होते देर नहीं लगेगी। इस जगत में जो भी शुभ विचार एवं शुद्ध आचरण से च्युत हुआ है, उसके पीछे इसी पौद्‌गलिक सुख की स्पृहा से पैदा हुई अस्थिरता का ही हाथ रहा है। इसके मूल में पौद्‌गलिक सुखों की स्पृहा ही रही है।

एक समय की बात है। युवक मुनि अरणिक आहार–ग्रहण हेतु बाहर निकले। मध्याह्न का सूर्य तप रहा था। मारे गर्मी के लोग बाग व्याकुल हो रहे थे। युवक मुनि भी प्रखर ताप से बच नहीं पाये। उनका मन उद्विग्न और उदास था। तभी सामने रही प्रशस्त अट्टालिका के गवाक्ष में खड़ी षोडशी पर उनकी नजर पड़ी। युवती की बाँकी चितवन और दृष्टिक्षेप से वे घायल हो गये। उनके संयम जीवन में विक्षेप पड़ गया। वर्षों की साधाना खाक में मिल गयी। संयम–साधना को शुभ विचारमाला छिन्न–भिन्न हो गयी। अस्थिरता ने अपना रंग दिखाया।

पुंडरिक नरेश की पौषधशाला में औषधोपचार हेतु ठहरे कंडरिक मुनि के चित्त प्रदेश पर विषयवासना की आधी क्या उठी ? उनका त्यागी जीवन रसातल में चला गया। शिवपुरी का साधक दुर्गति के द्वार पर भिक्षुक बन भटक गया।

क्या तुम्हें ऐसा अनुभव नहीं हुआ अब तक ? परमपिता परमात्मा की आराधना में तुम आकण्ठ डूबे हुए हो ? तुम्हारा तन–मन और रोम-रोम प्रभुभक्ति में ओतप्रोत हो उठा हो, वहीं किसी नवयौवना नारी पर अचानक तुम्हारी नज़र पड जाए... वह तुम्हारे रोम–रोम में बस जाए...। तब क्या होता है ? अस्थिरता का उद्‌गम और प्रभु–भक्ति में विक्षेप ! रंग में भंग ! शुभविचारधारा चूर्ण–विचूर्ण !

चारित्रं स्थिरतारुपमतः सिद्धेष्वपीष्यते ॥
यतन्तां यतयोऽवश्यमस्या एव प्रसिद्धये ॥३॥८॥

अर्थ : योग की स्थिरता ही चारित्र है और इसी हेतु से सिद्धि के बारे में भी कहा गया है। अतः हे यतिजनों, योगियों ! इसी स्थिरता की परिपूर्ण सिद्धि के लिये समुचित प्रयत्न करें। (सदा प्रयत्नशील रहें)

विवेचन : असंख्य आत्मप्रदेशों की स्थिरता... सूक्ष्म स्पन्दन भी नहीं...।

यही सिद्ध भगवन्तों का चारित्र है। सिद्धों में क्रियात्मक चारित्र का पूर्णतया अभाव होता है। क्योंकि क्रियात्मक चारित्र में आत्मप्रदेश अस्थिर होते हैं। जबकि सिद्ध भगवन्तों का एक भी आत्मप्रदेश अस्थिर नहीं, अपितु पूर्ण रूप से स्थिर होता है।

जिस आत्मा का अन्तिम लक्ष्य 'सिद्ध' बनना है, उसे अपनी समग्र साधना का केन्द्रस्थान 'स्थिरता' को, 'स्थिर वृत्ति' को ही बनाना होगा। उसकी पूर्व तैयारी के लिए तीन योगों को स्थिर करने का भरसक प्रयास करना पडेगा। उसमें भी सर्व प्रथम काया, वाणी और मन को पाप–प्रवृत्तियों से मुक्त कर और उसकी अस्थिरता को दूर कर उन्हें पुण्यप्रवृत्तियों की ओर गतिशील बनाना होगा। अलबत्ता, पुण्यप्रवृत्ति में भी स्वाभाविक आत्मस्वरूप की रमणता रूपी स्थिरता का अभाव ही है। यहाँ भी इसे पाने के लिये काया के माध्यम से, पुण्यकर्मोपार्जन करने के लिये दौडधूप, वाणी के माध्यम से उपदेशदान और मन से पुण्यवृत्तियों के मनोरथ और योजनायें जारी रखनी पड़ती हैं। इसके बावजूद भी आत्मप्रदेश सदा अस्थिर होते हैं। फिर भी यह सब अनिवार्य है। पापक्रियाओं से मुक्ति पाने हेतु पुण्यक्रियायें आवश्यक हैं।

'पुण्यप्रवृत्ति में भी अस्थिरता का भाव कायम है, बाह्य भाव का समावेश है। अतः वह त्याज्य है।' यदि इस विचार को मन में बनाये रखोगे तो अनादि काल से पापवृत्ति में सराबोर बनी आत्मा क्या चुटकी बजाते ही पापप्रवृत्ति को त्याग देगी ? क्या वह आत्मस्वरूप की रमणता में अहर्निश खो जाएगी ? उससे तादात्म्य साध लेगी ? इसका परिणाम कल्पना से विपरीत ही यह आएगा कि 'पुण्य प्रवृत्ति में भी अस्थिरता है।' अतः वह पुण्यप्रवृत्ति से मुँह मोड लेगा। दुबारा उसकी ओर भूलकर भी नहीं देखेगा और सिर्फ पाप–प्रवृत्तियों में आकण्ठ डूब जाएगा !

अतः साधक को चाहिए कि वह पाप–प्रवृत्तियों से मुक्त होकर अपने मन को सदा पुण्य–प्रवृत्तियों में पिरोये रख, विशुद्ध आत्मस्वरूप में रमणता रुपी स्थिरता का अपना अंतिम ध्येय–बिन्दु मानकर अपना जीवन व्यतीत करे।

• • •

४. अमोह

तन और मन स्थिर बन, आत्मभाव में पूर्णरूप से लयलीन बन गये तो समझ लो मोह का नाश... मोह की मृत्यु निःसंदिग्ध है ।

मन–वचन और काया की स्थिरता में से अ–मोह (निर्मोही–वृत्ति) सहज पैदा होता है ! अतः मोह के मायावी आक्रमणों की तिलमात्र भी चिंता न करो !

प्रस्तुत अष्टक में से तुम्हें निर्मोही बनने का अद्‌भुत उपाय मिलेगा और तम्हारी प्रसन्नता की अवधि न रहेगी । तुम्हारा दिल मारे खुशी के बाग–बाग हो उठेगा । इसमें तुम्हें अमूढ बन, सिर्फ ज्ञाता और द्रष्टा बनकर, जिंदगी बसर करने का, अपूर्व आनन्द प्राप्त करने का एक नया अद्‌भुत मार्ग दिखायी देगा !

अहं–ममेति मन्त्रोऽयं मोहस्य जगदान्ध्यकृत् ।
अयमेव हि नञ्पूर्वः प्रतिमन्त्रोऽपि मोहजित् ॥४॥१॥

अर्थ : मोहराजा का मूलमन्त्र है : 'मैं और मेरा । जो सारे जगत को अन्धा अज्ञानी बनानेवाला है । जबकि इसका प्रतिरोधक मन्त्र भी है, जो मोह पर विजय हासिल करानेवाला है !

विवेचन : जो अन्धा है, उसे पथभ्रष्ट होते–भटकते देर नहीं लगती । उसमें जो बाह्यरूप से अन्धा है वह अभ्यास के बल पर प्रयत्न करने पर सीधी राह चलता है, बिना किसी रोक–टोक के गन्तव्य–स्थान पर पहूँच जाता है । लेकिन जिस के आन्तर–चक्षुओं पर अन्धेपन की पर्तें जम गयी हैं, वह लाख कोशिश के बावजूद भी सन्मार्ग पर चल नहीं सकता ! जैसे सांप हमेशा टेढ़ा–मेढ़ा ही चलता है । सीधा चलना उसके स्वभाव में ही नहीं होता ।

जीवात्मा के आन्तर–चक्षु यों ही बन्ध नहीं हैं, बल्कि उस पर मन्त्र प्रयोग किया हुआ है । आत्मा स्वयं अपने पर ही इस प्रकार का मन्त्र प्रयोग करता है, जो उसे मोहदेवता से विरासत में मिला हुआ है । मन्त्रदान करते समय मोहदेवता ने उसे भली–भांति समझा दिया है कि: 'जब तक तुम इस मन्त्र का प्रयोग करते रहोगे तब तक निर्बाध रूप से स्वर्गसुख का आनन्द लूटते रहोगे ! नानाविध रिद्धि–सिद्धियाँ तुम्हारे कदमों में आलोडन करती रहेंगी ।' और बाह्य पौद्गलिक सुख सुविधाओं के लालची जीव को यह बात भा गयी, अन्तर की गहराइयों में उतर गयी ! फलत: उसने अविलम्ब मन्त्र को ग्रहण कर लिया: 'अहं–मम्' और आज वह वन–नगर, घर–बाहर, मस्जिद–मन्दिर, दुकान–उपाश्रय–सर्वत्र इसी महामन्त्र का जाप करता भटक रहा है । आज से नहीं अनादि काल से भटक रहा है । मोह के कारण उसकी दिव्यदृष्टि के द्वार बिल्कुल बन्ध हैं । वह मोक्ष–मार्ग देख नहीं पाता ।

इसी तरह भटकता हुआ वह चारित्ररूपी महाराजा के द्वार पहुँच जाता है। विनीत भाव से उनकी शरण ग्रहण कर अपने तन–मन के कष्ट, दु:ख दूर करने का अनुनय करता है ।

"यदि तुम्हें अपने तन–मन के समस्त दु:ख, यातनाओं से मुक्ति पानी हो तो एक काम करना होगा !"

प्रभु "कहिए !"

मोह द्वारा प्रदत्त मन्त्र '**अहं–मम्**'–मैं और मेरा–को सदा के लिए तजना होगा, भुला देना पड़ेगा ।

"लेकिन यह भला कैसे सम्भव है ? अनादि काल से अहर्निश मैं इस मन्त्र का जाप करता आया हूँ, वह मेरे रोम–रोम में समाया हुआ है । इसे भूलना मेरे बलबूते की बात नहीं है । लाख चाहने पर भी मैं भूल नहीं–सकता ।"

"कोई बात नहीं । लो यह दूसरा मन्त्र । आज से हमेशा इस का जाप करते रहो" और चारित्र–महाराज ने उसे दूसरा मन्त्र दिया: "नाहं–न मम् (मैं नहीं.... मेरा नहीं)

'शुद्धात्मद्रव्यमेवाहं' 'शुद्धज्ञानं' गुणो मम' ।
'नान्योऽहं न ममान्ये' चेत्यहो मोहास्त्रमुल्बणम् ॥४॥२॥

अर्थ : मोह का हनन करनेवाला एक ही अमोघ शस्त्र है और वह है : 'मैं शुद्ध आत्म–द्रव्य हूँ । केवलज्ञान मेरा स्थायी गुण है । मैं उससे अलग नहीं और अन्य पदार्थ मेरे नहीं हैं ।' ऐसा चिंतन करना ।

विवेचन : "मैं धनवान नहीं, सौन्दर्यवान नहीं, पिता नहीं, माता नहीं, मनुष्य नहीं, गुरु नहीं, लघु नहीं, शरीरी नहीं, शक्तिशाली नहीं, सत्ताधारी नहीं, वकील नहीं, डॉक्टर नहीं, अभिनेता नहीं ! तो फिर मैं कोन हूँ ? **'मैं सिर्फ एक शुद्ध आत्मद्रव्य हूँ ।'**

संसार के धन–धान्यादि मेरे नहीं, माता-पिता मेरे नहीं, पुत्र–पुत्रियाँ मेरे नहीं, सत्ता मेरी नहीं, शक्ति मेरी नहीं, स्वजन मेरे नहीं, रिद्धि–सिद्धियाँ मेरी नहीं ।' तो फिर मेरा क्या है ! **'शुद्ध–ज्ञान केवलज्ञान मेरा है । मैं उससे अलग नहीं, बल्कि सभी दृष्टि से अभिन्न हूँ ।'**

यह भावना / विचार मोहपाश को छिन्न–भिन्न करनेवाला अमोघ शस्त्र है, अणुबम है । मतलब यह है कि शुद्ध आत्म–द्रव्य का प्रीतिभाव, आत्म–द्रव्य से अलग पुद्गलास्तिकाय के प्रीतिभाव को तहस–नहस करने में सर्वशक्तिमान है । सभी तरह से समर्थ है । जीवन का उद्देश्य होना चाहिए आत्म–तत्त्व से प्रेम करना और पुद्गल–तत्त्व से कोसों दूर रहना । इसका परिणाम यह होगा कि जीवात्मा में जैसे–जैसे आत्म–तत्त्व का प्रीतिभाव बढता जायेगा उस अनुपात से पुद्गल–प्रीति के बन्धन टूटते जायेंगे । लेकिन उस बात की पूरी तरह से सावधानी बरतनी होगी कि आत्म–तत्त्व से प्रेमभाव बढाते हुए कहीं पुद्गल अथवा उसके गुण के प्रति हमारे मन में प्रीति की भावना रुढ न हो जाएं ! हमें आत्मद्रव्य के साथ प्रेम करना है । अतः सबसे पहले हमारा ध्यान शुद्ध आत्म–द्रव्य पर ही केन्द्रित करना होगा । इसके लिए हमें **'मैं शुद्ध आत्म–द्रव्य हूँ,'** की भावना से तरबतर होकर परपर्यायों में निहित 'अहं–मैं' के भाव को सदा के लिए मिटा देना होगा । साथ ही शरीर के अंग–उपांग के रुप–रंग से आकर्षित हो मन्त्रमुग्ध होने की वृत्ति को हमेशा के लिए तिलांजलि देनी होगी ।

मोह को पराजित करने के लिए परमाराध्य उपाध्यायजी महाराज हमें शस्त्र और मन्त्र–दो शक्तियाँ प्रदान कर रहे हैं । हमें इन दोनों महाशक्तियों को ग्रहण कर मोह पर टूट पड़ना है, आक्रमण करना है । उसके साथ युद्ध के लिए सजग, सन्नद्ध होना है और जब युद्ध ही करना है तो शत्रु के वार भी झेलने होंगे । बल्कि उनके प्रहारों का, आघातों का डटकर सामना करना पड़ेगा । ऐसी स्थिति में शरणागति के लिए कोई स्थान नहीं । उसका एक प्रहार तो हमारे दस प्रहार! युद्ध में एक ही संकल्प हो, भावना हो : **'अन्तिम विजय हमारा है ।'**

मनुष्य की जिंदगी ही युद्ध का मेदान है । इसमें कई नरवीर युद्ध खेलकर मोहविजेता बने हैं । तब भला, हम क्यों न बनेंगे ? जबकि हमारे पास तो पूज्य–उपाध्यायजी द्वारा प्रसादरूप मिले शस्त्र और मन्त्र जैसे दो वरदान हैं ।

यो न मुह्यति लग्नेषु भावेष्वौदयिकादिषु ।
आकाशमिव पङ्केन, नाऽसौ पापेन लिप्यते ॥४॥३॥

अर्थ : जो जीव लगे हुए औदायिकादि भावों में मोहमूढ नहीं होता है वह जीव जिस तरह कीचड से आकाश पोता नहीं जा सकता, ठीक वैसे ही वह पापों से लिप्त नहीं होता है ।

विवेचन : मोह की माया का कोई पार नहीं है । जिसे मोह के साथ युद्ध में उतरना है उसे उसकी मायाजाल से भी बचकर रहना होगा । जो उसके मायाजाल को पूरी तरह समझ गया है, जान गया है, वह भूलकर भी उसमें नहीं फँसेगा । शत्रु की मायाजाल एकबार समझ लेने पर भला, उसके प्रति मोह कैसा ?

मोहराजा ने औदायिकभाव की मायाजाल समस्त विश्व पर सावधानी के साथ फैला दी है । अज्ञान, असंयम, असिद्धता, छह लेश्याएँ, चार कषाय, तीन वेद, चार गति और मिथ्यात्व, इत्यादि औदयिक भाव के इक्कीस प्रधान अंग हैं । इस तरह क्षायोपशमिक–भाव के सभी अंग जीवात्मा को फंदे में डालनेवाले, वशीभूत करनेवाले नही हैं । लेकिन यदि वह अपने आप में अचेत बेसुध रहे तो वहाँ भी उसके लिए फंदा तैयार ही है ! अतः दान, लाभ, भोगोपभोग, वीर्य की लब्धियाँ मति–अज्ञान, श्रुत–अज्ञान, विभंगज्ञानादि में बन्धते देर नही लगती,

वह क्षणार्ध में फंस जाता है ।

जो आत्मा अशुभ–भाव के बन्धन के वशीभूत नहीं होता, मोहराजा उसे अशुभ–भाव में फंसाने के लिए सदा प्रयत्नशील रहता है । मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, देशविरति, सर्वविरति, उपशम–समकित, चारित्रादि में गतिशील होने के उपरान्त भी यदि जीवात्मा ने आसक्ति की, राग-द्वेष किया तो समझिए मोह–जाल उसका शिकार करके ही रहेगी ! उस जाल को छिन्न–भिन्न, नेस्तनाबूद करने के लिए सूक्ष्म मति और युद्ध–कौशल्य की पूर्णरुप से आवश्यकता है । तभी उसका सर्वदृष्टि से उच्चाटन हो सकता है ।

कहने का तात्पर्य यह है कि मोहराजा भले अनेकविध बाह्य–आभ्यन्तर आकर्षण पैदा करे, अपनी जाल फैलाये, जीवात्मा को उसके वशीभूत नहीं होना चाहिए, बल्कि उससे दूर रहना चाहिए । तब मोह का कुछ नहीं चलेगा । बार–बार प्रयत्न कर हार जायेगा । जिस तरह कोई व्यक्ति आकाश को मलिन करने के लिये कीचड उछाले तो आकाश मलिन नहीं होता, ठीक उसी तरह मोह द्वारा उछाले गये कीचड से आत्मा मलिन नहीं होगी, ना ही पाप के अधीन बनेगी !

कहा गया है कि अराग-अद्वेष के कवच को मोह के तीक्ष्ण तीर भी भेदने में पूर्णतया असमर्थ हैं !

पश्यन्नेव परद्रव्य–नाटकं प्रतिपाटकम् ।
भवचक्रपुरस्थोऽपि, नाऽमूढः परिखिद्यते ॥४॥४॥

अर्थ : अनादि अनंत कर्म–परिणामरुप राजा की राजधानी–स्वरुप भवचक्र नामक नगर में वास करते हुए भी एकेन्द्रियादि नगर की गली–गली में नित्य खेले जानेवाले परद्रव्य के जन्म–जरा और मृत्युरुपी नाटक को देखती हुई मोहविमुक्त आत्मा दुःखी नहीं होती !

विवेचन : मोहराजा ने भव–नगर की गली–गली में और राजमार्गों पर अपनी औदयिक भाव की मजबूत जाल फैला रखा है और गली–गली में वास करती अनन्त–जीवात्माएँ उसके सुहाने जाल में फँसकर निरन्तर विविध चेष्टाएँ करती रहती हैं । कारण, वे सब मोहराजा के माया–जाल को कतई समझ नहीं

पाये हैं । वे इस स्थिति से बिल्कुल बेखबर जो हैं । जन्म, यौवन, जरा और मृत्यु में शोक–हर्ष करती हुई आत्माएँ तीव्र दु:ख और क्लेश का अनुभव करती छटपटा रही हैं ।

लेकिन भवचक्र नगर में अवस्थित जीवात्मा, जो मूढता से मुक्त बन गयी है, औदयिकभाव जिसे अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकते 'फिर भी मोह की नाट्यभूमि पर उसे नि:सहाय, दीन बन कर अब भी रहना पडा है, लेकिन स्व– और पर के जीवन में घटित विविध घटनाओं को देखने की प्रवृत्ति में आमूल परिवर्तन आ जाने के कारण, वह उसे सिर्फ 'मोहप्रेरित मोहक नाटक' समझ, उसके प्रति अनासक्त, उदासीन हो गयी है । उसे यह देखकर न खेद है ना कोई आनन्द ! वह स्थितप्रज्ञ जो बन गयी है !

समग्र सृष्टि को यहाँ एक नगर की संज्ञा दी गई है और नरक गति, मनुष्य गति, तिर्यंच गति और देवगति उसके प्रधान राजमार्ग हैं । इन्हीं राज–मार्गों के भागरुप अवान्तर–गलियों के रुप में चार गतियों के अवान्तर भेद हैं । इन गलियों में और राजमार्ग पर रहे असंख्य, अनंत जीव इस नाटक के विभिन्न पात्र हैं, जिनकी विविध चेष्टाएँ नाटक का अभिनय हैं ! जबकि समस्त नाट्य–भूमि–रंगभूमि का सूत्र–संचालन, दिग्दर्शन स्वयं मोहराजा करता रहता है !

जिस तरह रंगभूमि पर जन्म का दृश्य हूबहू खडा कर दिया जाता है, मृत्यु का साक्षात् अभिनय किया जाता है, लेकिन वह वास्तविक नहीं होता ! केवल पात्रों के अभिनय–कौशल्य का कमाल होता है । दृष्टा स्वयं इस तथ्य को भलिभांति जानते हैं, समझते हैं ! अत: जन्म होने पर प्रसन्न नहीं होते और मृत्यु को लेकर शोक–विह्वल नहीं बनते ! ठीक उसी तरह सृष्टि की रंगभूमि पर जन्म, जरा और मृत्यु के प्रसंग उपस्थित होने पर, ज्ञानीपुरुष कतइ विचलित नहीं होते । क्योंकि वे इस तथ्य से अवगत हैं कि आत्मा कभी जन्म नहीं लेती, नही मृत्यु पाती है । वह सहज ही जन्म–मरण का अभिनय करती है । अत: व्यर्थ ही शोक करने से क्या लाभ ?

विकल्पचषकैरात्मा, पीतमोहाऽऽसवो ह्ययम् ।
भवोच्चतालमुत्ताल–प्रपञ्चमधितिष्ठति ॥४॥५॥

अर्थ : विकल्प रुपी मदिरा–पात्रों से सदा मोह–मदिरा का पान करनेवाला जीवात्मा, सचमुच जहाँ हाथ ऊँचे कर, तालियां बजाने की चेष्टा की जाती है वैसे संसार रुपी मदिरालय का आश्रय लेता है ।

विवेचन : संसार यह एक मदिरालय है । सुभग, सुन्दर और सुखद मोह–मादक मदिरा है । विकल्प मदिरा–पान का पात्र है ! अनादिकाल से जीवात्मा संसार की गलियों की खाक छान रहा है ! पौद्‌गलिकसुख और मोह–माया के विकल्पों में आकण्ठ डूब मदोन्मत्त बन गया है, नशे में धुत्त है । वह क्षणार्ध में तालियां बजाता नाचने लगता है तो पलक झपकते न झपकते करतल–ध्वनि करता सुध–बुध खो देता है ! क्षणार्ध में खुशी से पागल हो उठता है तो क्षणार्ध में शोक–मग्न बन क्रंदन करने लगता है ! क्षणार्ध में कींमती वस्त्र परिधान कर बाजार घूमता नजर आता है तो क्षणार्ध में वस्त्र–विहीन नंग–धडंग बन धूल चाटता दिखायी देता है !

अभी कुछ समय पहले 'पिता–पिता' कहते उनका गला भर आता है तो कुछ समय के बाद हाथ में डंडा ले, उस पर टूट पड़ता है ! एक–दो क्षण पहले जो माता 'मेरा पुत्र मेरा पुत्र'... कहते हुए वात्सल्य से ओत–प्रोत हो जाती है, तो क्षण में ही शेरनी बन उसकी बोटी–बोटी नोचने के लिए पागल हो जाती है ! सुबह में 'मेरे प्राणप्रिय हृदयमन्दिर के देवता,' कहनेवाली नारी शाम ढलते न ढलते 'दुष्ट, चांडाल' शब्दोच्चारण करती एक अजीब हंगामा करते देर नहीं करती !

मोह–मदिरा का नशा... वैषयिक सुखों की तमन्ना ! उसमें अटका जीव न जाने कैसा उन्मत्त, पागल बन मटरगस्ती करता नजर आता है ? जब तक मोह–मदिरा के चंगुल से आजाद न हुआ जाए, विकल्प के मदिरा–पात्र फेंक न दिये जाए तब तक निर्विकार ज्ञानानन्द में स्थिर–भाव असम्भव है । जब तक ज्ञानानन्द में स्थिर न हो तब तक परम ब्रह्म में मग्न होना तो दूर रहा, उसका स्पर्श तक कठिन है । जबकि परम ब्रह्म में मग्नता साधे बिना पूर्णता, आत्म–स्वरूप की परिपूर्णता और अनंत गुणों की समृद्धि पाना असम्भव है ।

स्थिरता के पात्र से ज्ञानामृत का पान करनेवाली जीवात्मा ही विवेका,

विशुद्ध–व्यवहारी बन सकती है ।

निर्मलं स्फटिकस्येव सहजं रुपमात्मनः ।
अध्यस्तोपाधिसम्बन्धो जडस्तत्र विमुह्यति ॥४॥६॥

अर्थ : आत्मा का वास्तविक सिद्ध स्वरुप स्फटिक की तरह विमल, निर्मल और विशुद्ध है ! उसमें उपाधि का सम्बन्ध आरोपित कर अविवेकी जीव आकुल-व्याकुल होता है ।

विवेचन : यदि स्फटिक–रत्न के पीछे लाल कागज लगा हुआ है, तो वह स्फटिक लाल दिखायी देता है, तब अगर कोई तुम्हें पूछे : "स्फटिक कैसा है ?" तुम क्या जवाब दोगे ? 'स्फटिक लाल है !' यूँ कहोगे अथवा 'स्फटिक लाल दिखायी देता है !' आखिर जवाब क्या दोगे ? क्योंकि लालिमा तो उसकी उपाधि है, वह मूल रूप में तो लाल है ही नहीं !

ठीक उसी तरह हम आत्मा को लें । क्या वह मूल रूप में एकेन्द्रिय है ? द्वि–इन्द्रिय है ? या पंचेन्द्रिय है ? उसका मूल रंग क्या श्याम, पीत, लाल अथवा गोरा है ? मोटापा, पतलापन, छरहरापन, ऊँचाई, चौडाई उसका वास्तविक रूप है ? क्या वह स्वाभाविक रूप में शोक, हर्ष, विषाद, राग द्वेष इत्यादि से युक्त है ? इन सब का उत्तर इन्कार में ही आएगा ।

स्फटिक की श्यामलता, लालिमा और गौरता को परिलक्षित कर उसे लाल पीला अथवा गोरा कहनेवाला मनुष्य मूर्ख है–एक नम्बर का शेखचिल्ली है। उसी भाँति जीवात्मा के एकेंद्रिय, द्वि–इन्द्रिय, पंचेन्द्रिय स्वरूप को देखकर उसे एकेन्द्रिय, द्वि–इन्द्रिय अथवा पंचेंद्रिय माननेवाला भी नीरा मतिमंद और अज्ञानी है । उसकी श्यामलता, गौरता और पीतता को निरख, उसे श्याम, पीत और गौर समझनेवाला भी निपट मूर्ख के अलावा भला, क्या है ?

आत्मा का श्याम स्वरुप, उसकी बदसुरती, उसके टेढे वक्र अंगोपांग को देखकर मन में नफरत पैदा होती है, ठीक वैसे ही उसकी गौरता, सुघडता सौन्दर्य के दर्शन कर प्रीति–भाव उत्पन्न होता है । वह एक प्रकार की जडता नहीं तो और क्या है ? क्योंकि वह जरा भी नहीं सोचता कि यह तो आत्मा के

शरीर का बाह्य रंग-रुप, गुण मात्र है । वास्तव में तो आत्मा स्फटिक–रत्न की तरह निर्मल, विमल और विशुद्ध है । न तो उसका स्वरूप काला अथवा गोरा है, ना ही उसकी आकृति सुन्दर अथवा बेडोल है । यह सब कर्मों का खेल है। आत्मा कर्म की छाया से ढकी हुई है और ये सब उसके विभिन्न प्रतिबिम्ब है।

मोहदृष्टि को चूर-चूर करनेवाला यह चिंतन, विशुद्ध आत्मस्वरूप का चिंतन-मनन, कितना तो अलौकिक और प्रभावशाली है ? शक्ति सम्पन्न है ? इसकी प्रतीति तभी हो सकती है जब इसका सही रूप में प्रयोग किया जाए । कोरी बातें करने से काम नहीं बनेगा । पूर्णता पाने के लिए हमें तन–मन से प्रवृत्त होकर इसका अमल करना होगा । तभी पराये को अपना मानने की जडता दूर होगी और अन्तःचक्षु के द्वार खुल जाएँगे ।

अनारोपसुखं मोहत्यागादनुभवन्नपि ।
आरोपप्रियलोकेषु वक्तुमाश्चर्यवान् भवेत् ॥४॥७॥

अर्थ : योगी, मोह–त्याग से (क्षयोपशम से) आरोपरहित स्वाभाविक–सुख अनुभव करते हुए भी रात–दिन असत्याचरण में खोये मिथ्यात्वी जीवों को, अपना अनुभव कहने में आश्चर्य करता है ।

विवेचन : वीतराग सर्वज्ञ भगवत द्वारा प्रतिपादित योगमार्ग पर निरंतर गतिशील योगी पुरुष, देवाधिदेव की अनन्य कृपा से जब मोह का क्षय–उपशम करनेवाला बनता है और उस पर छाये मोहादि–आवरण के प्रभाव को नहीवत् बना देता है, तब आत्मा के स्वाभाविक (कर्मोदय से अमिश्रित) सुखों का अनुभव करता है ।

ऐसे नैसर्गिक आत्मीय सुख के अनुभवी महात्मा के समक्ष जब सामान्यजनों की भीड उभर आए, जिस पर मोहनीय कर्म का अनन्य प्रभाव हो, तब उन्हें क्या उपदेश दिया जाए, यह एक यक्ष–प्रश्न होता है । ना तो वे अपने स्वाभाविक सुख के अनुभव की बात कह सकते हैं नहीं जिसकी वह सुख मान रहे हैं, उसे 'सुख' की संज्ञा दे सकते हैं । तब वे असमंजस में पड जाते हैं । अजीब कशमकश मे फंस जाते हैं कि, 'इस प्रजा को क्या कहा जाए ?'

जो जीवात्माएँ निरंतर बाह्य पौद्‌गलिक सुख में ही ओत–प्रोत हैं, निमग्न हैं, उनके समक्ष स्वाभाविक सुख के अनुभव की बात हास्यास्पद बन जाती है। ऐसे समय आत्मिक सुख की अनुभवी आत्मा, पौद्‌गलिक सुख को 'वास्तविक सुख' के रूप में उसका वर्णन करने में असमर्थ होता है। क्योंकि ज्ञानीपुरुष की दृष्टि में पौद्‌गलिक सुख, कर्मोदय से उत्पन्न रिद्धि–सिद्धि और सुख–संपदा मात्र दुःख ही दुःख, अनंत पीडाओं का केन्द्र–स्थान जो है।

तब कुछ महत्त्वपूर्ण बातों का पता लगता है, जो जीवात्मा के लिए महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शन हैं :

- मोहनीय कर्म का क्षयोपशम किये बिना आत्मा के स्वाभाविक सुख का अनुभव मिलना असम्भव है।
- ऐसे स्वाभाविक सुख का अनुभवी वैभाविक सुख में भी दुःख का ही दर्शन करता है, उसे वह 'सुख' नहीं लगता।
- बाह्य जगत के सुख में सरोबार जीव आत्मसुख की बात समझने से इन्कार करे, तब भी उस पर गुस्सा करने के बजाय मन में करुणा भाव ही रखें।
- आत्मसुख को अनुभवी जीवात्मा का सम्बन्ध बाह्य सुखों में खोये जीव के साथ कदापि टीक नहीं सकता।

यश्चिद्दर्पणविन्यस्त–समस्ताऽऽचारचारुधीः ।
क्व नाम स परद्रव्ये–ऽनुपयोगिनि मुह्यति ? ॥४॥८॥

अर्थ : जो ज्ञानरूपी दर्पण में प्रतिबिंबित समस्त ज्ञानादि पाँच आचार से युक्त सुन्दर बुद्धिमान है–ऐसा योगी, भला, अनुपयोगी ऐसे परद्रव्य में क्यों मोहमूढ़ बनेगा ?

विवेचन : दर्पण में अपने समस्त अवयवों की सुन्दरता को निहार मनुष्य अपने आप में आनन्दित होकर झुम उठता है और उसे अधिक सुन्दर एवं आकर्षक बनाने के लिए सदा प्रवृत्तिमय रहता है। उसका सुख लूटने, सुन्दरता में अधिकाधिक वृद्धि करने हेतु बाजार में जाता है, बाह्य जगत में बावरा बन प्रायः भटकता रहता है और समय समय मोहित हो उठता है।

जबकि जो आत्मा अपने समस्त अभ्यंतर अवयवों को ज्ञान के दर्पण में निरख निज सुन्दरता को आत्मसात् करता है, उसका कृत्रिम प्रदर्शन करने, बाह्य दिखावे के लिए उसे बाहरी दुनिया में कभी भटकना नहीं पड़ता। क्योंकि यह सौन्दर्य, बाह्य सापेक्ष जो नहीं है। इसके सुखों का अनुभव करने के लिए दुनिया के बाजार की खाक नहीं छाननी पड़ती। तब भला, वह बाह्य पदार्थों के प्रति मोहित क्यों होगी ? उसके दिल में उनके प्रति आसक्ति क्यों कर पैदा होगी ?

ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार एवं वीर्याचार, ये पाँच आचार आत्मा के अभ्यंतर रमणीय अवयव हैं ! दर्पण में देखे बिना वह अपनी सुन्दरता और रमणीयता का वास्तविक दर्शन नहीं कर सकती। ज्ञान–आत्मस्वरूप यह दर्पण है। इसमें जब ज्ञानाचारादि पाँच आचारों के अनुपम सौन्दर्य का दर्शन होता है तब जीवात्मा झूम उठती है, परम आनन्द का अनुभव करती है। उसमें आकण्ठ डूब जाती है, उन्मत्त हो गोते लगाने लगती है। वह एक प्रकार के अनिर्वचनीय सुखानुभूति में खो जाती है। परिणामस्वरूप उसे बाह्य पदार्थ, परद्रव्य नीरस निस्तेज और आकर्षणविहीन लगते हैं और फिर जो पदार्थ नीरस स्वादहीन, फीका और अनाकर्षक लगे, उसके प्रति भला, क्या मोहभावना पैदा हो सकती है ? यह असम्भव है !

परद्रव्य तब तक ही मन को मलिन, मोहित करने में समर्थ होता है जब तक शीशे के दर्पण में मनुष्य अपना सौन्दर्य और व्यक्तित्व को देखने का प्रयत्न करता है। वह जैसे जैसे आत्मस्वरूप के दर्पण में अपने व्यक्तित्व को (ज्ञान... दर्शन... चारित्र आदि) सुन्दरता को गौर से देखने का प्रयत्न करता है, वैसे वैसे पर द्रव्यों के प्रति रही आसक्ति, प्रीति–भाव कम होने लगता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि ज्यों–ज्यों ज्ञानाचारादि पाँच आचारों के पालन की गति बढ़ती जाएगी त्यों–त्यों आत्म–स्वरूप की सुन्दरता में बढोतरी होने से पर–द्रव्य के सम्बन्ध में जीवात्मा की आसक्ति कम होने लगती है।

• • •

५. ज्ञान

अमोही बनना मतलब ज्ञानी बनना ।

आत्मा पर से मोह का आवरण दूर होते ही ज्ञान का प्रकाश देदीप्यमान हो उठता है । ज्ञानज्योति प्रज्वलित हो उठती है । अ–मोही का ज्ञान भले ही एक शास्त्र, एक श्लोक अथवा एक शब्द का क्यों न हो, वह जीवात्मा को निर्वाणपद की ओर बढाने में और प्राप्ति में पूर्णतया शक्तिमान होता है ।

जिस ज्ञान के माध्यम से आत्मस्वभाव का बोध होता है, उसको ही वास्तविक ज्ञान कहा गया है । वाद–विवाद और विसंवाद निर्माण करनेवाला ज्ञान, ज्ञान नहीं है । अ–मोही आत्मा प्रायः वादविवाद और विसंवाद से परे रहता है ।

ध्यान में रखिये ! थोड़ा भी अमोही बन, इस अष्टक का अध्ययन–मनन और चिन्तन करना । तभी ज्ञान के वास्तविक रहस्य को आप आत्मसात् कर सकेंगे ।

मज्जत्यज्ञः किलाज्ञाने, विष्ठायामिव शूकरः ।
ज्ञानी निमज्जति ज्ञाने, मराल इव मानसे ॥५॥१॥

अर्थ : जैसे सूअर हमेशा विष्ठा में मग्न होता है, वैसे ही अज्ञानी सदा अज्ञान में ही मग्न रहता है । जैसे राजहंस मानसरोवर में निमग्न होता है, ठीक उसी तरह ज्ञानी पुरुष ज्ञान में निमग्न होता है ।

विवेचन : मनुष्य बार–बार कहाँ जाता है, पुनः पुनः उसे क्या याद आता है, वह किसकी संगत में अपना अधिकाधिक समय व्यतीत करता है, क्या सुनना उसको प्रिय है, क्या जानना वह पसन्द करता है ? यदि इसका सावधानी के

साथ सूक्ष्मावलोकन किया जाय, तो जीवात्मा की आन्तरिक भावना की थाह पायी जा सकती है । उसकी सही रुचि, अनुराग का पता लग सकता है ।

जहाँ सिर्फ भौतिक और वैषयिक सुख–दुःख की चर्चा होती हो, पद्गलानन्दी जीवों का सहवास ही प्रिय हो, कुपदार्थों की चर्चा चलती हो, मिथ्यात्वी किस्से–कहानियाँ कही जाती हों और इन्द्रियों को तृप्त करनेवाली बातें सुनना ही प्रिय हो, इससे उसकी परख होती है कि उसका सही आकर्षण भौतिक, वैषयिक पदार्थों की ओर है । उसका अनुराग काम–वासनादि सुखों के प्रति ही है । हालाँकि यह सब आकर्षण, अनुराग, चाह, भावनादि वृत्तियाँ जीवात्मा की अज्ञानता है, मोहान्धता है और उसकी अवस्था मल–मूत्र से भरे गंदे नाले में गोता लगाते एकाध सूअर जैसी है ।

जबकि जो ज्ञानी हैं, वास्तवदर्शी–सत्यदर्शी हैं, उनका ध्यान सदैव जहाँ आत्मोन्नति व आत्मकल्याण की चर्चा होती हो, उस तरफ ही जाएगा । उसे आत्मज्ञानी–जनों का सतत समागम ही पसन्द आएगा । उसके हृदय में आत्मस्वरूप और उससे तादात्म्य साधने की भावना ही बनी रहेगी । उसके मुँह से आत्मा, महात्मा एवं परमात्मा की कथायें ही सुनने को मिलेंगी और इन्हीं कथाओं के पठन–पाठन में वह सदा खोया दिखायी देगा । जिस तरह राजहंस मानसरोवर में मुक्त मन से क्रीडा करता दृष्टिगोचर होता है । उसकी वह स्थिति सभी दृष्टि से प्रगतिपरक और उन्नतिशील होती है ।

साधक आत्मा का फर्ज है कि वह अपना आत्म–निरीक्षण करते समय सदैव यह प्रश्न उठाये कि "मैं ज्ञानी हूँ अथवा अज्ञानी ?" और इसका निराकरण भी अपने आप अन्तर्मन की गहराईयों में जाकर करें । सत्य किसी से छिपा नहीं रहेगा । यदि उसे अपनी स्थिति अज्ञानता से परिपूर्ण लगे, तो फौरन उसे ज्ञानक्षेत्र को विस्तृत और विकसित करने में जुट जाना चाहिए । यह प्रक्रिया जब तक केवलज्ञान की प्राप्ति न हो, तब तक अबाध रूप से, निरन्तर चलनी चाहिए ।

निर्वाणपदमप्येकं, भाष्यते यन्मुहुर्मुहुः ।
तदैव ज्ञानमुत्कृष्टं, निर्बन्धो नास्ति भूयसा ॥५॥२॥

अर्थ : एक भी निर्वाणसाधक पद जो कि बार–बार आत्मा के साथ भाषित किया जाता है, वही श्रेष्ठ ज्ञान है । ज्यादा ज्ञान–प्राप्ति यानी ज्यादा पढ़ाई का आग्रह नहीं है ।

विवेचन : हमारा यह कतई आग्रह नहीं है कि तुम अनेकविध ग्रन्थों को पढ़ो, उनका पठन–पाठन और अवगाहन करो । ना ही यह आग्रह है कि विस्तृत जानकारी का अच्छा–खासा भण्डार खड़ा कर दो । बल्कि हमारा सिर्फ इतना ही आग्रह है कि निर्वाणसाधक पद, ग्रन्थ अथवा श्लोक का सूक्ष्म अभ्यास कर लें । उसमें एकरूप हो जायें, सतत उसका ही रटन और चिन्तन–मनन करते रहें, तो बेड़ा पार लगते देर नहीं लगेगी । मोक्ष की मंजिल की तरफ गतिशील करनेवाला एकाध चिन्तन भी तुम्हें आलोडित, प्लाबित कर गया, तो वह सच्चा ज्ञान है । ज्ञान को उत्कृष्ट बनाने के लिये निम्नांकित चार सूत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं :-

- हाथ में रहा ग्रन्थ बन्द कर देने के बाद भी ग्रन्थोक्त विचारों का चिन्तन–परिशीलन सतत चलते रहना चाहिये ।
- जैसे–जैसे ग्रन्थोक्त विचारों के परिशीलन में वृद्धि होती जाए, वैसे–वैसे तत्त्वोपदेशक परम कृपालु वीतराग भगवन्त के प्रति प्रीति–भावना और गुरुजनों के प्रति श्रद्धा–भावना, कृतज्ञ–भाव, तत्त्वमार्ग के प्रति उत्कट आकर्षण आदि हमारे हृदयप्रदेश में पैदा होने चाहिए ।
- तत्त्व का विवेचन हमेशा शास्त्रोक्त पद्धति और युक्तियों के माध्यम से करना चाहिए । आगमोक्त शैली के अनुसार होना चाहिए । मतलब, हमारे द्वारा किया गया विवेचन शास्त्रपद्धति के अनुसार होना चाहिए । आगमविरोधी भावना से युक्त नहीं होना चाहिए ।
- जिस तरह तत्त्वचिन्तन की गति बढ़ती जाएगी, उसी तरह कषायों का उन्माद शान्त होता जाएगा । संज्ञाओं की बुरी आदतें कम होती जायेंगी और गारवों (रस–ऋद्धि–शाता) का उन्माद मन्द होता जाएगा ।

एकबार गुरुदेव ने अपने शिष्य 'माषतुष मुनि' को निर्वाणसाधक ऐसा एक पद दिया : 'मा रुष... मा तुष ।' अर्थात् 'न कभी द्वेष करो, न कभी राग

करो'। लगातार बारह वर्ष तक महामुनि ने इसी पद का सतत चिन्तन–मनन किया, उसका सूक्ष्मता से परिशीलन किया। फल यह हुआ कि बारह वर्ष की अवधि के बाद वे मोक्ष–पद के अधिकारी बने। सिर्फ एक ही पद के चिन्तन–मनन से उन्हें सिद्धि मिली : 'मा रुष, मा तुष' क्योंकि उनके लिए यह पद एक प्रकार का उत्कृष्ट जादू बन गया और उन्हें मुक्ति–पद की प्राप्ति हुई।

तत्त्वचिन्तन में अपने आप को विलीन कर देना, लयलीन कर देना ही उच्च कोटि का ज्ञान है।

स्वभावलाभसंस्कारकारणं ज्ञानमिष्यते।
ध्यान्ध्यमात्रमतस्त्वन्यत्, तथा चोक्तं महात्मना ॥५॥३॥

अर्थ : ऐसे ज्ञान की इच्छा करते हैं, जो आत्म–स्वरुप की प्राप्ति का कारण हो। इससे अधिक सीखना/अभ्यास करना, बुद्धि का अन्धापन है। इसी प्रकार महात्मा पतंजलि ने भी कहा है।

विवेचन : ज्ञान वही है, जो आत्मस्वरुप की प्राप्ति हेतु जीवात्मा को निरन्तर बढावा देता रहता है। आत्मस्वरूप को जानने की मन में वासना जगाता है। वासना वह है, जो किसी विषय को गहराई से जानने की प्रवृत्ति मन में पैदा करती है। उसे पाने के लिये अथक परिश्रम करने की प्रेरणा देती है, उसके पीछे हाथ धोकर पडने के लिये उकसाती रहती है। जैसे, यदि किसीको किसी युवती के प्रति वासना जगी, मसलन वह उसे वशीभूत करने के लिये सतत कार्यशील रहेगा। उसके मन में सोते–जागते, उठते–बैठते, घूमते–घामते केवल एक ही विचार रहेगा : 'उस युवती को कैसे प्राप्त किया जाय ? और उसकी हर प्रवृत्ति उसे पाने की रहेगी। यह वासना पैदा किसने की ? उसके पीछे कौन–सी शक्ति काम कर रही है ? यह वासना युवती के मनोहर दर्शन से पैदा हुई। मतलब, युवती–विषयक ज्ञान के कारण ही वासना उसके मन में जगी।

यही शाश्वत् सत्य है, जो यहाँ भी लागु पड़ता है। आत्मस्वरूप का ज्ञान होते ही वह ज्ञान जीवात्मा को अविरत रूप से आत्मस्वरूप के विचारों में ही मग्न कर देता है और उसकी प्राप्ति के लिये आवश्यक पुरुषार्थ / प्रवृत्तियाँ करने

के लिये उत्तेजित करता रहता है और, ऐसे ही ज्ञान की हमें आवश्यकता है। हमें ऐसे ज्ञान की कतइ गरज नहीं, जिससे जैसे-जैसे ग्रन्थाभ्यास बढता जाए, अध्ययन की प्रवृत्ति बढ़ती जाए, वैसे–वैसे पुद्गल–विषयक आसक्ति / चाह की गति में भी बढोतरी होती जाए। इससे तो रागवृद्धि और द्वेषवृद्धि के अलावा और कुछ नहीं होगा। फलतः मन में असत् ऐसी रस–ऋद्धि और शाता की लोलुपता निर्बाध गति से बढती जाएगी।

भगवान सुधर्मास्वामी ने जंबुकुमार को प्रतिबोध / ज्ञान–दान दिया और वे संसार–सागर से तैर गये / पार लग गये। खंधकसूरिजी ने अपने पाँच सौ शिष्यों को ज्ञान (प्रतिबोध) दिया। पाँच सौ शिष्यों में इसी ज्ञान के बल से आत्मस्वरूप प्राप्ति की वासना जगी। फलस्वरूप, इसे हासिल करने के लिये उन्होंने कोल्हू में पीस जाना बेहतर समझा। अरे, वासना के खातिर मनुष्य क्या–क्या नहीं करता ? एक बार वासना पैदा होनी चाहिये। फिर कोल्हू में पीस जाना दुष्कर नहीं है, ना ही अग्नि में जल जाना कठिन है। उसके लिए पर्वत से छलांग लगाना, भूख और प्यास से अस्थि–पिंजर बनना, बोटी–बोटी कटवाना... आदि बातें असाध्याय नहीं बल्कि साध्य हैं। हाँ, ऐसी तीव्र वासना जीवात्मा में पैदा होनी चाहिये। वासना को तीव्र बनानेवाली, बढ़ावा देनेवाली, उसे उत्तेजित करनेवाली एक ही शक्ति है और वह है ज्ञान। हमें ऐसे ही ज्ञान की जरूरत है। यही ज्ञान उपादेय है। इसके अलावा जो ज्ञान होगा, वह तो सिर्फ छलावा है। महात्मा पतंजलि ने यही कहा है और यह बात सर्वसम्मत है।

वादांश्च प्रतिवादांश्च वदन्तोऽनिश्चितांस्तथा।
तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति, तिलपीलकवद् गतौ ॥५॥४॥

अर्थ : निरर्थक वाद (पूर्वपक्ष) और प्रतिवाद (उत्तरपक्ष) में फंसे जीव कोल्हू के बैल की तरह तत्त्व का पार पाने में पूर्णतया असमर्थ होते हैं।

विवेचन : जिस शास्त्र–ज्ञान से अन्तर्शत्रुओं पर विजय पाना है, बाह्य पार्थिव जगत से अन्तः चेतना की ओर गतिमान होना है, अरे जीव ! उसी शास्त्र के सहारे तू निरर्थक वाद–विवाद में उलझकर रह गया ? जो इष्ट है, उसे छोड़ दिया और जो अनिष्ट है, उसके पीछे लग गया ? राग और द्वेष का शरणागत

हो गया और अपने आप को, अपने आत्मस्वरूप को भूल–भालकर संसार के यश–अपयश में आकण्ठ डूब गया !

यह सब करने के पहले भले आदमी, इतना तो सोच कि तेरे पास जो शास्त्र हैं, ग्रन्थ हैं और ज्ञान की अपूर्व निधि है, उसे अच्छी तरह जान पाया है क्या ? उसका सही अर्थ–निर्णय कर सका है क्या ? आज इस जगत में केवलज्ञानी परम पुरुषों का वास नहीं है, ना ही मन:पर्यवज्ञानी अथवा अवधिज्ञान के अधिकारी महात्मा यहाँ विद्यमान हैं । तब भला, अनंतज्ञान के स्वामी परम मनीषियों द्वारा रचित और प्रतिपादित शास्त्रों को तू अल्पमति से समझने का, आत्मसात् करने का दावा करता है ? यह कैसी विडंबना है ? और फिर तेरे द्वारा लगाया गया अर्थ ही सही है; सरे–आम कहने की धृष्टता करता है ? दूसरों के अर्थ–निर्णय को बेबुनियाद करार देकर वाद–विवाद करने की नाहक चेष्टा करता है ? तू भली–भाँति समझ ले कि तेरी मति अल्प है, श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम अति मन्द है । ऐसी स्थिति में तेरे पास जो शास्त्रज्ञान है, वह अनिश्चित अर्थ से युक्त है । इसके बलबूते पर तू वर्षों तक वाद–विवाद करता रहेगा, फिर भी उसका पार नहीं पा सकेगा । उसके वास्तविक अर्थ को समझने में असफल सिद्ध होगा । ज्ञान के परमानन्द का मुक्त मन से उपभोग नहीं कर सकेगा । सम्भव है कि वाद–विवाद और वितंडावाद में तू विजयी होगा और उसका आनन्द तेरे रोम–रोम को पुलकित कर देगा । लेकिन यह न भूलो कि वह आनन्द क्षणिक है, क्षणभंगुर है और वैभाविक है ।

वाद–विवाद कर तत्त्व के साक्षात्कार की अपेक्षा रखना, दिन में तारे देखने का दावा करने जैसी बात है । जिस तरह कोल्हू का बैल लगातार बारह घंटे तक अविश्राम श्रम करने के बावजूद अपनी जगह से एक कदम भी, तिलमात्र भी आगे नहीं बढ़ता ।

अत: हे आत्मन् ! तू अपनी आँखों पर यश–प्राप्ति, कीर्ति–प्राप्ति, सम्पत्ति और संपदा पाने की पट्टी बाँधकर अन्धी दौड तो लगा रहा है, लेकिन क्षणार्ध के लिये ठहर कर, अपनी आँख की पट्टी हटाकर तो जरा देख कि तू आत्मस्वरूप की मंजिल तक पहुँचा भी है ? कर्मराजा ने अपने माया–जाल में फँसाकर तेरी आँख पर पट्टी बाँध दी है और तू है कि भ्रमित बन, उसी कर्म–

निर्धारित भव–चक्र के फेरे लगा रहा है, चक्कर काट रहा है ।

मतलब यह कि वाद–विवाद से अलिप्त रहकर शास्त्रज्ञान के माध्यम से आत्मस्वरूप की ओर गतिशील होना ही हितावह है ।

स्वद्रव्यगुण–पर्यायचर्या वर्या पराऽन्यथा ।
इति दत्तात्मसंतुष्टिर्मुष्टिज्ञानस्थितिमुनेः ।।५।।५।।

अर्थ : अपने द्रव्य, गुण और पर्याय में परिणति श्रेष्ठ है । पर-द्रव्य, गुण और पर्याय में परिणति ठीक नहीं ।' इस तरह जिसने आत्मा को संतुष्ट किया है, ऐसा संक्षिप्त रहस्यज्ञान, मुनिजन की मर्यादा मानी गयी है ।

विवेचन : हे मुनिवर्य ! तुमने अपने लिए समस्त ज्ञान का कौन सा रहस्य पा लिया है ? क्या उक्त रहस्यज्ञान से तुम अपने आप को संतुष्ट कर पाये हो ?

'पर द्रव्य, परगुण और पर पर्याय में परिभ्रमण कर, तुम परिश्रान्त बन गये हो, थक गये हो । अनादि काल से 'पर' में परिभ्रमण कर तुम संतुष्ट नहीं हो, बल्कि उत्तरोत्तर तुम्हारे असंतोष में वृद्धि ही होती रही है । अब उसे संतुष्ट करना जरूरी है । साथ ही यह कदापि न भूलो कि परद्रव्य, गुण और पर्याय में अभी वर्षों भटकने के बावजूद आत्मा को संतोष नहीं होगा, बल्कि उसके असंतोष में बढोतरी ही होनेवाली है ।

'हे आत्मन् ! तुम अपने में ही परिणति करो । तुम स्वयं विशुद्ध आत्मद्रव्य हो । अतः उसमें रमण करो । तू अपने में निहित ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि गुणों में तन्मय हो जा । तू अपनी वर्तमान तीनों अवस्था का द्रष्टा बन । तेरे त्रैकालिक पर्याय विशुद्ध हैं । अतः उन विशुद्ध पर्यायों में परिणति कर ले । क्योंकि यही परिणति सर्वश्रेष्ठ है ।'

'हे आत्मन्, परद्रव्य–गुण–पर्याय के प्रति आसक्ति रखना मिथ्या है, गलत है । अतः उसका तन–मन से त्याग कर दो । फलतः अपने शरीर, भवन, धन–धान्यादि संपदा, रस–रूप, गन्ध, स्पर्श, शब्द आदि का मोह न कर, ना ही शरीर, सम्पत्ति, रूप–रसादि पर–पदार्थों की परिवर्तनशील अवस्थाओं में भी

राग-द्वेष को जीवन में स्थान दे ।

इस तरह प्रत्येक मुनि का कर्तव्य होता है कि वह अपने आप को, अपनी आत्मा को संतुष्ट करे... करते रहना चाहिए और यही उसका रहस्यज्ञान है । अर्थात् यह मान कर कि मुनि का दर्शन–ज्ञान–चारित्र से भिन्न अस्तित्व ही नहीं है । उसे सदैव ज्ञान, दर्शन चारित्रमय आत्मा में खो जाना चाहिए और यही उसका परम कर्तव्य है । अतः इसके लिये उपयुक्त भावना का सदा–सर्वदा अपने मन में चिन्तन–मनन करते रहना अत्यन्त आवश्यक है । साथ ही, जहाँ कहीं उसके चित्त की परपुद्गल के प्रति आसक्त होने की सम्भावना पैदा हो, उसे इस संक्षिप्त रहस्यज्ञान का आधार ले, खुश कर, तुरन्त रोक लेना चाहिए । मोह को उखाड़ फेंकने के लिये 'रहस्यज्ञान' एक अमोघ शस्त्र है ।

अस्ति चेद् ग्रन्थिभिज्ज्ञानं, किं चित्रैस्तंत्रयंत्रणैः ।
प्रदीपाः क्वोपयुज्यन्ते, तमोघ्नी दृष्टिरेव चेत् ॥५॥६॥

अर्थ : ग्रन्थिभेद से मिला ज्ञान जब तुम्हारे पास है, तब भला, अनेकविध शास्त्रों के बन्धनों की आवश्यकता ही क्या है ? यदि अन्धकार का उच्छेदन करनेवाली आँख तुम्हारे पास है, तो दीपमाला तुम्हारे किस उपयोग में आयेगी ?

विवेचन : जिस मनुष्य की आँखों में ही इतनी तेजस्विता है कि जो घने अन्धेरे को छिन्न–भिन्न करने में शक्तिमान है, तब उसे दीपशिखा की क्या गरज ? ठीक उसी तरह जिस आत्मा ने मोह–माया की ग्रन्थियों को विदीर्ण कर लिया है और आत्मस्वरूप का साक्षात्कार हो गया है, उसके लिये भला अनेकविध शास्त्रों का ज्ञान किस काम का ?

प्रबल राग-द्वेष की परिणतिमय ग्रन्थि के भेदने से आत्मा में सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव होता है, उसका प्रखर प्रकाश आत्मा में फैल जाता है । लेकिन ग्रन्थिभेद की भी कुछ शर्तें हैं । १. संसार–परिभ्रमण की अवधि सिर्फ 'अर्ध पुद्गल परावर्त' बाकी हो । २. आत्मा भव्य हो और ३. आत्मा पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय हो । तब वह ग्रन्थिभेद करने के लिये शक्तिमान है । ग्रन्थिभेद के पश्चात् सम्यकत्व की भूमिका पर अवस्थित आत्मा में प्रतिभास ज्ञान टिक नहीं सकता ।

अर्थात् इहलोक–परलोक के भौतिक पदार्थों के प्रति जब–जब वह आकर्षित होता है, तब उन्हें तात्त्विक दृष्टि से देखता है, ज्ञानी जनों की नजर से देखता है। मतलब, क्या आत्मा को हितकारी है और क्या अहितकारी है, इसका उसे पूरा आभास होता है। जब तक आत्मा को इहलोक–परलोक में वास्तविक हित–अहित का प्रतिभास / सही ज्ञान नहीं होता, तब तक यह समझना चाहिए कि उसका ग्रन्थिभेद नहीं हुआ है, बल्कि वह मिथ्यात्व की भूमिका पर हि स्थित है।

संसार में रहे किसी रूप, रस, गन्ध, स्पर्श अथवा शब्द का साक्षात्कार होने पर 'यह मेरी आत्मा के लिये हितकारी है अथवा अहितकारी ?' समझने की कला यदि हमें हस्तगत हो जाए, तब नि:संदेह हमारे भाव चारित्र और तत्त्व–परिणति की मंजिल दूर नहीं है। आत्म–परिणति के अविरत अभ्यास, चिन्तन–मनन से तत्त्व–परिणति युक्त ज्ञानोपार्जन होता है। अगर हमें आत्म–परिणति युक्त ज्ञान (ग्रन्थिभेद से उत्पन्न) प्राप्त हो गया है, तो फिर विविध शास्त्रों के बन्धनों का प्रयोजन ही क्या है ? शास्त्राभ्यास और पठन, चिन्तन ग्रन्थिभेद के लिये ही किया जाता है। अत: ग्रन्थिभेद के होते ही आत्मा में से ज्ञानप्रकाश प्रकट होता है।

मिथ्यात्वशैलपक्षच्छिद्, ज्ञानदम्भोलिशोभितः ।
निर्भयः शक्रवद् योगी, नन्दत्यानन्दनन्दने ॥५॥७॥

अर्थ : मिथ्यात्व रुपी पर्वत की चोटियों को छेदनेवाले और ज्ञानरूपी वज्र से सुशोभित सर्वशक्तिमान इन्द्र की तरह निर्भय योगी सदैव आनन्दरुपी नन्दनवन में केलि–क्रीड़ा करता है, सुखों का अनुभव करता है।

विवेचन : देवराज इन्द्र को भला भय कैसा ? जिसके पास असीम आकाश की क्षितिजों को पार करनेवाला, उत्तुंग पर्वत शिखरों को चूर–चूर करने में शक्तिशाली वज्र जैसा सर्वोच्च शस्त्र है, उसे भला किस बात का डर ? वह तो सदा सर्वदा स्वर्गीय आनन्द के नन्दन–वन में केलि करता रहता है। उसका चित्त प्राय: निर्भय और अभ्रान्त होता है।

इसी भाँति योगीराज को भय कैसा ? जिसके पास मिथ्यात्व के हिम शिखरों को आनन–फानन में छेदनेवाला एकमेव शस्त्र 'ज्ञान' जो है। ज्ञान वज्र

के समान अपने आप में सर्वशक्तिमान है। उसे डर किस बात का ? वह तो सुहाने आत्मप्रदेश के स्वर्ग में... आत्मानन्द के नन्दनवन में निर्भय बन हमेशा रमण करता अपूर्व सुख का उपभोग करता है।

यहाँ मुनिजनों को देवराज–इन्द्र की उपमा दी गयी है। जैसे क्षणार्ध के लिये भी इन्द्र वज्र को अपने से दूर नहीं करता, ठीक उसी तरह मुनिजनों को भी सदैव आत्म–परिणति रूप ज्ञान को अपने पास बनाये रखना चाहिए। तभी वे निर्भय / निर्भ्रान्त रह सकते हैं और आत्मसुख का वास्तविक आनन्द पा सकते हैं। भगवान महावीर ने गौतम से एक बार कहा था : **समयं गोयम ! मा पमायए।**' इस वचन का रहस्य–स्फोट यहाँ होता है। उन्होंने कहा था : "हे गौतम ! तुम्हारे पास रहे ज्ञान वज्र को क्षणार्ध के लिए भी अपने से दूर रखने की भूल मत करना।" इस सूक्ति के माध्यम से देवाधिदेव महावीर प्रभु ने सभी साधु–मुनिराजों को आत्मपरिणतिरूप ज्ञान को सदा–सर्वदा अपने पास संजोये रखने का उपदेश दिया है। जहाँ आत्म–परिणतिरूप ज्ञान का विछोह हुआ नहीं कि तत्क्षण राग-द्वेषादि असुरों का प्रबल आक्रमण तुम पर हुआ नहीं। ये असुर, मुनिजनों को आत्मानन्द के स्वर्ग से धकियाते हुए बाहर निकाल पुद्गलानन्द के नरकागार में आसानी से धकेल देंगे। फलतः मुनिजन अपनी 'मुनि–प्रवृत्ति' से भ्रष्ट हो जाते हैं और चारों ओर भय, अशान्ति, क्लेशादि अरियों से घिर जाते हैं।

जब तक मुनि आत्मपरिणति में स्थित रहता है, तब तक राग-द्वेष मोह–मायादि दुर्गुण उसके पास भटकने का नाम नहीं लेते और वह किसी भी प्रकार के बाह्य व्यवधान से निर्भय बन, आत्मानन्द का अनुभव करता रहता है।

पीयूषमसमुद्रोथं, रसायनमनौषधम्।
अनन्यापेक्षमैश्वर्यं, ज्ञानमाहुर्मनीषिणः ॥५॥८॥

अर्थ : पण्डितों ने ऐसा कहा है कि ज्ञान अमृत होते हुए भी समुद्र में से पैदा नहीं हुआ है, रसायन होते हुए भी औषधि नहीं है और ऐश्वर्य होते हुए भी हाथी–घोडे आदि की अपेक्षा से रहित है।

विवेचन : लोग कहते हैं कि अमृत समुद्र–मंथन से पैदा हुआ है।

रसायन–शास्त्रियों का मत है कि रसायन औषधिजनित होता है। राजा–महाराजाओं की मान्यता है कि ऐश्वर्य हाथी–घोडे और सोना–चांदी आदि संपदा में समाया हुआ है।

जबकि ज्ञानी पुरुषों का कहना है कि, "ज्ञान 'अमृत' होते हुए भी समुद्र–मंथन से नहीं निकला, रसायन होते हुए भी औषधि–जन्य नहीं और ऐश्वर्य होते हुए भी हाथी-घोडे अथवा सोने-चांदी की अपेक्षा नहीं रखता।"

समुद्र-मंथन से प्रकट अमृत, मानव को मृत्यु से बचा नहीं सकता। लेकिन ज्ञानामृत उसे अजरामर बनाता है। औषधिजन्य रसायन उसे शारीरिक व्याधियों तथा वृद्धावस्था से सुरक्षित रखने में असमर्थ है, जबकि ज्ञान–रसायन से वह अनंत यौवन का अधिपति बनता है। सोने चांदी और हाथी–घोडेवाला ऐश्वर्य, जीवात्मा को निर्भय / निर्भ्रान्त बनाने की शक्ति नहीं रखता, लेकिन ज्ञान का ऐश्वर्य उसके जीवन में सदैव अक्षय शान्ति, परम आनन्द और असीम निर्भयता भर देता है।

तब भला क्यों भौतिक अमृत, रसायन एवं ऐश्वर्य की स्पृहा करें ? नाहक उसके पीछे दीवाने बन, तन–मन–धन की शक्तियाँ क्यों नष्ट करें ? व्यर्थ में ही क्यों ईर्ष्या, मोह, रोष, मत्सर, मूर्च्छादि पापों का अर्जन करें ? क्या कारण है कि उसके खातिर अन्य जीवों से शत्रुता मोल लें ? अमूल्य ऐसे मानव जीवन को क्यों नेस्तनाबुद करें ? क्योंकि यह जीवन ज्ञानामृत, ज्ञान–रसायण और ज्ञान ऐश्वर्य की प्राप्ति से उन्नत बनाने के लिए है। हमें सदा सर्वदा इसकी ही स्पृहा करनी चाहिए। इसे प्राप्त करने हेतु तन–मन–धन की समस्त शक्तियों का उपयोग करना चाहिये।

इस तरह का भावनाज्ञान आत्मा में से प्रकट होता है और उसे प्रकट करने के साधन हैं–देव, गुरु और धर्म की आराधना। देव–गुरु–धर्म की उपासना से ही आत्मा में से ज्ञान–अमृत, ज्ञान–रसायण और ज्ञान–ऐश्वर्य की ज्योति प्रज्वलित होती है। फलतः जीवात्मा को परम तृप्ति का अद्‌भुत आनन्द मिलता है। वह उत्तम आरोग्य की अधिकारी बनती है और परम शोभा को धारण करती है।

६. शम

ज्ञानीजनों को शान्ति ही होती है। निर्मोही–अमोही ऐसी आत्मा को नहीं होते हैं विषय–विकार और नहीं होते हैं विकल्प। उसे इनसे कोई मतलब नहीं होता। ज्यादा समय आत्मा की स्वभावदशा में तल्लीन रहनेवाले जीवात्मा को ज्ञान का सही फल मिल जाता है।

कर्मजन्य विषमता ज्ञानीजनों के ध्यान में कभी नहीं आती है। उन्हें समस्त जीवसृष्टि प्रायः ब्रह्मरुप में ही दिखती है। ऐसी सभी आत्माएं निरन्तर शमरस का अमृतपान कर कृतार्थ होती हैं।

आइए, शम और प्रशम के वास्तविक मूल्यांकन और उसके प्रभाव से परिचित हो जायें। यकीन कीजिए, इससे जीवनमार्ग को एक नयी दिशा मिलेगी, अपने आप को जानने की और उसके प्रभाव को समझने की !

विकल्पविषयोत्तीर्णः, स्वभावालम्बनः सदा।
ज्ञानस्य परिपाको यः, स शमः परिकीर्तितः ॥६॥१॥

अर्थ : विषय–विकल्प से रहित और निरन्तर शुद्ध स्वभावदशा का आलम्बन लेनेवाली आत्मा का ज्ञानपरिणाम ही स्वभाव है।

विवेचन : कोई विकल्प नहीं ! जैसे कि अशुभ विकल्प नहीं–'मैं धनवान बनूँ, मैं सर्वोच्च सत्ता का स्वामी बनूँ, सर्वशक्तिमान बनूँ...।' ठीक उसी तरह 'मैं दान दूँ, तपस्या करूँ, मन्दिर–उपाश्रयों का निर्माण कराऊँ, आदि विकल्प भी नहीं। सिर्फ एक ध्येय ! वह है आत्मा के अनन्त, असीम सौन्दर्य में ही अहर्निश रत रहने का, आकण्ठ डूबे रहने का।

ज्ञान का यही परिपाक है, आत्मपरिणति–स्वरुप ज्ञान का परिपाक ! यही आत्मा के विशुद्ध, अनन्त गुणों से युक्त स्वरूप का परिणाम है । यही शम है; मतलब समतायोग है । जीवात्मा शम–समता की भूमिका पर तभी पहुँच सकता है, जब वह अध्यात्म–योग, भावना–योग और ध्यान–योग की आराधना से पार उतरता है । अर्थात् वह उचित वृत्तिवाला व्रतधारी बन गया हो । उसने मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ भाव से ओत–प्रोत बन तत्त्वचिन्तन किया हो, परिश्रमपूर्वक शास्त्र–परिशीलन किया हो और प्रतिदिन स्व–वृत्तियों का निरोध करते हुए अध्यात्म का निरन्तर अभ्यास कर, किसी एक प्रशस्त विषय में तन्मय हो गया हो । स्थिर दीपक की तरह निश्चल एवं उत्पात्, व्यय और घौव्यविषयक सूक्ष्म उपयोगवाला चित्त बना सका हो । तभी वह समतायोग की प्राप्ति का अधिकारी बन सकता है ।

समतायोगी शुभ विषय के प्रति इष्ट बुद्धि नहीं रखता, ना ही अशुभ विषय के प्रति अनिष्ट बुद्धि । बल्कि उसकी दृष्टि में तो शुभ और अशुभ दोनों विषय समान ही होते हैं । उसके मन में 'यह मुझे इष्ट है और यह अनिष्ट है,' जैसा कोई विकल्प नहीं होता । ठीक उसी तरह 'यह पदार्थ मेरे लिये हितकारी है और वह पदार्थ अहितकारी', ऐसे विचार भी नहीं होते । वह तो सदा–सर्वदा आत्मा के परम शुद्ध स्वरुप में ही डूबा रहता है ।

समतायोगी / शमपरायण जीवात्मा 'आमषैषिधि' वगैरह का इस्तेमाल नहीं करता । केवलज्ञानावरण आदि कर्मों का क्षय करता है । वह अपेक्षा–तंतुओं का विच्छेद–करता है । मतलब, बाह्य पदार्थ की उसे कभी अपेक्षा नहीं रहती । क्योंकि बाह्य पदार्थ की अपेक्षा ही बन्धन का मूल कारण है ।

अनिच्छन् कर्मवैषम्यं, ब्रह्मांशेन समं जगत् ।
आत्माभेदेन यः पश्येदसौ मोक्षंगमी शमी ॥६॥२॥

अर्थ : कर्मकृत विविध भेदों को नहीं चाहता हुआ और ब्रह्मांश के द्वारा एक स्वरूपवाले जगत को आत्मा से अभिन्न देखता हुआ, ऐसा उपशमवाला जीवात्मा मोक्षगामी होता है ।

विवेचन : 'यह ब्राह्मण है..., यह शुद्र है..., यह जैन है..., यह विद्वान है..., यह अशिक्षित है..., यह बदसूरत है..., आदि भेद शमरस में ओतप्रोत योगी अनुभव नहीं करता । वह तो निखिल ब्रह्मांड को ब्रह्मस्वरूप मानता है । चित् स्वरूप आत्मा में अभेद भाव से देखता है ।

शमरस में लीन योगी चर्मचक्षु से संसार का अवलोकन नहीं करता । उसे उसका (संसार का) अवलोकन करने की आवश्यकता भी नहीं होती । वह तो दर्शन आत्मा के शुद्ध स्वरूप का ही करता है । आत्मा के अलावा विश्व को वह जानता ही नहीं ।

ब्रह्म के दो अंश माने जाते हैं : द्रव्य और पर्याय । योगी ब्रह्म के द्रव्यांश को परिलक्षित कर तत्त्वस्वरूप समस्त जगत का अवलोकन करता है । आत्मा की विभिन्न सांसारिक अवस्थायें पर्यायांश हैं । मानवता, पशुता, देवत्व, नरक, स्वर्ग, धनाढ्यता, गरीबी आदि सब आत्मा के पर्याय हैं । **पर्यायांश में भेद है, जबकि द्रव्यांश में अभेद है** । इस तरह द्रव्यास्तिक नय से किये गये दर्शन में राग का कोई स्थान नहीं है, ना ही द्वेष, ईर्ष्या–मत्सरादि वृत्तियों का / राग-द्वेष की कंटीली परिधियों से ऊपर उठकर शमरस–सरोवर में गोते लगाता योगी, अल्पावधि में ही मोक्ष पाता है ।

श्री 'भगवद् गीता' में कहा है कि :

विद्याविवेकसम्पन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥ अ. ५. श्लोक १८॥

समदर्शी योगीजन विद्या–विवेकसम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में कोई भेद नहीं करते । बल्कि वे इन सब में समान रुप में स्थित आत्मद्रव्य को ही परिलक्षित करते हैं । उनके मन में न तो किसी ब्राह्मण के प्रति प्रीतिभाव होता है, ना ही किसी चांडाल के प्रति घृणा । ना ही गाय के प्रति दया भाव होता है, ना ही कुत्ते के लिये द्वेष–भाव । जीवात्मा के दृष्टिकोण में जहाँ 'पर्याय' प्रधान बन जाता है, वहाँ विषमता दबे पाँव आ ही जाती है और फिर वह अकेली नहीं आती, बल्कि अपने साथ राग-द्वेष, मत्सरादि को भी ले आती है ।

आरुरुक्षुर्मुनिर्योगं, श्रयेद् बाह्यक्रियामपि ।
योगारुढः शमादेव, शुद्धत्यन्तर्गतक्रियः ॥६॥३॥

अर्थ : समाधि लगाने का इच्छुक साधु बाह्याचार का भी सेवन करे, आभ्यन्तर क्रियाओं से युक्त योगारूढ योगी समभाव से शुद्ध होता है ।

विवेचन : जिस आत्मा के अन्तर में समाधियोग ग्रहण करने की भावना पैदा हुई हो, वह प्रीति अनुष्ठान, भक्ति अनुष्ठान और वचनानुष्ठान द्वारा अपने में रहे अशुभ संकल्प–विकल्पों को दूर कर, शुभ संकल्पमय आराधक–भाव से सिद्धि प्राप्त करता है ।

परमात्म–भक्ति, प्रतिक्रमण, शास्त्र–पठन, प्रतिलेखन आदि परमात्मदर्शित नानाविध क्रिया–कलापों में जीवात्मा को न जाने कैसा स्वर्गीय आनन्द मिलता है ! हिमालय की उत्तुंग पर्वत–श्रेणियों पर विजय पाने का पर्वतारोहकों में रहा अदम्य उत्साह, 'एवरेस्ट' आरोहण की सूक्ष्मतापूर्वक की गयी भारी तैयारियाँ, आरोहण के लिये आवश्यक साज–सामान इकट्ठा करने की सावधानी ! इन सबमें महत्त्वपूर्ण है एक मात्र, 'एवरेस्ट' आरोहण की प्रवृत्ति ! मन में जगी तीव्र लालसा ! इसमें हमें कौन सी बात के दर्शन होते हैं ? कौन सी प्रवृत्ति देखने को नहीं मिलती ? ठीक यही बात यहाँ भी है । समाधियोग के उत्तंग शिखर पर आरोहण करने उत्तेजित साधक आत्मा का उल्लास, अनुष्ठानों के प्रति परम प्रीति, उत्कट भक्ति एवं पौद्गलिक क्रीडा को तजकर सिर्फ 'समाधियोग' के शिखर पर चढ़ने की तीव्र प्रवृत्ति आदि होना सहज है । साथ ही धर्मग्रन्थों में दिग्दर्शित मार्ग का अनुसरण करने के उसके सारे प्रयत्न भी स्वाभाविक ही हैं । परम आराध्य तार्किक शिरोमणि उपाध्यायजी महाराज ने भी '**योगविंशिका**' में 'वचनानुष्ठान' की व्याख्या इस तरह की है, '**शास्त्रार्थ–प्रतिसंधानपूर्वा साधोः सर्वत्रोचितप्रवृत्तिः ।**' क्या एवरेस्ट आरोहक, आरोहण–गाइड का शत प्रतिशत अनुसरण नहीं करते ? अपनी प्रवृत्ति में क्रियाशील नहीं रहते ? प्रवृत्ति करते हुए आनंदित नहीं होते ? गाईड (मार्गदर्शक) के प्रति उनके मन में प्रीतिभाव और भक्ति नहीं होती ? यही बात समाधि–शिखर के आरोहक के लिये भी अत्यन्त आवश्यक है।

समाधि शिखर के विजेता बनते ही मुनिजन / योगी महापुरुष अन्तरंग

क्रियायुक्त बनता है । वह उपशम द्वारा ही विशुद्ध बनता है । तब उसे '**असंग अनुष्ठान**' की भूमिका प्राप्त होती है । जिसे सांख्य दर्शन में '**प्रशान्त वाहिता,**' बौद्ध दर्शन में '**विसभागपरिक्षय**' शैवदर्शन में '**शिववर्त्म**' और जैनदर्शन में '**असंग अनुष्ठान**' की संज्ञा दी गयी है । इसे सम्पन्न करने के लिये शास्त्र के आधार की आवश्यकता नहीं होती । बल्कि जिस तरह चन्दन में सौरभ मिली है, उसी तरह उनमें (मुनि / योगी में) अनुष्ठान आत्मसात् होता है और यह अनुष्ठान जिनकल्पी महात्मा वगैरह में सदा–सर्वदा होता है ।

ध्यानवृष्टेर्दयानद्याः शमपूरे प्रसर्पति ।
विकारतीरवृक्षाणां, मूलादुन्मूलनं भवेत् ॥६॥४॥

अर्थ : ध्यान रूपी सतत वृष्टि से दया रूपी सरिता में जब उपशम रूपी उत्ताल तरंगे उछलने लगती हैं, तब तट पर रहे विकास–वृक्ष जड़–मूल से उखड जाते हैं

विवेचन : गंगा–यमुना अथवा ब्रह्मपुत्र नदी में आयी प्रलयंकारी बाढ़ को देखने का कभी मौका मिला है ? तट पर लहराते–इठलाते उन्नत वृक्षों को क्षणार्ध में बाढ़ का भोग बन, धराशायी होते देखा है ? दया–करूणा की सिंधु सदृश सरयु में जब शमजल की प्रलयंकारी बाढ़ आती है, तब अनादि काल से तट पर रहे फलते–फूलते भौतिक / पौद्गलिक विषय–वासना के गर्वोन्नत वृक्ष, गगनभेदी आवाज के साथ ढहते देर नहीं लगती ।

लेकिन किसी सरिता में बाढ़ कब आती है ? जब निरन्तर मूसलाधार बारिश होती है ! ठीक उसी भाँति आत्मप्रदेश पर दया की नदी मंथर गति से बहती हो और तिस पर अविरत रूप से धर्म–ध्यान की वृष्टि भी होती हो, तब शमरस की बाढ आते देर नहीं लगती और बाढ़ के प्रबल प्रवाह में वासना के वृक्ष उखड़ते विलम्ब नहीं लगता ।

जब करुणा की / जीवदया की नदी में शमरस रूपी बाढ़ आती है, तब सर्व प्रथम जीवात्मा के मन में प्राणी मात्र के लिये '**सव्वे जीवा न हंतव्वा**'– 'संसार के सभी जीवों की हत्या नहीं करनी चाहिये, किसी तरह की पीडा नहीं

पहुँचानी चाहिये', ऐसी करूणा प्रकट होनी चाहिये । करूणा के साथ–साथ ध्यान–धारा का प्रवाहित होना भी जरूरी है ।

मतलब, तीसरा ध्यान–योग है, जिसका अनुसरण जीवात्मा के लिये अत्यन्त जरुरी है । **'ध्यानं स्थिरोऽध्यवसाय :' 'श्री ध्यान विचार'** ग्रन्थ में, स्थिर अध्यवसाय को 'ध्यान' कहा गया है । आर्त–रौद्र यह द्रव्यध्यान है, जबकि आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय रूपी धर्मध्यान भावध्यान है । 'पृथक्त्व वितर्क सविचार' रूपी शुक्लध्यान का पहला भेद 'परमध्यान' है । परम आदरणीय श्री मलयगिरि महाराज ने श्री आवश्यक सूत्र में धर्मध्यानी के निम्नांकित लक्षणों का वर्णन किया है :

सुविदियजगस्सभावो निस्संगो निब्भओ निरासो अ ।
वेरग्गभावियमणो ज्ञाणम्मि सुनिच्चलो होइ ॥

'जो जगत्–स्वभाव से परिचित है, निर्लिप्त है, निर्भय है, स्पृहा–रहित है और वैराग्य भावना से ओतप्रोत है, वही आत्मा ध्यान में निश्चल / तल्लीन रह सकती है ।' ऐसी महान आत्मा जिस वेग से धर्मध्यान की ओर अग्रसर होती जाती है, उसी अनुपात से उसके हृदयवारिधि में उपशम–तरंगें उठती जाती हैं, शमरस की प्रलयंकारी बाढ आती है और विकास–वासना के वृक्ष आनन–फानन में धराशायी हो जाते हैं ।

ज्ञान–ध्यान–तपःशील–सम्यक्त्वसहितोऽप्यहो ।
तं नाप्नोति गुणं साधुर्यमाप्नोति शमान्वितः ॥६॥५॥

अर्थ : जो गुण, ज्ञान–ध्यान, तप, शील और समकितधारी साधु भी प्राप्त नहीं कर सकता, वह गुण शमयुक्त साधु आसानी से प्राप्त कर लेता है ।

विवेचन : भले ही नौ तत्त्वों का बोध हो, किसी एक प्रशस्त विषय में सजातीय परिणाम की धारा प्रवाहित हो, अनादिकालीन अप्रशस्त विषय–वासनाओं के निरोध स्वरुप उग्र तपश्चर्या हो, नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य का पालन हो, जिन–प्रणीत वचन और सिद्धान्तों के प्रति अटूट श्रद्धा हो, फिर भी यदि जीवात्मा के जीवन में 'शम' के लिये स्थान नहीं है, उसमें समता नामक वस्तु

का नामोनिशान नहीं है, समस्त विश्व को द्रव्यास्तिक नय से राग-द्वेषरहित पूर्ण चैतन्यस्वरुप समझने की कला का अभाव है, दृष्टि नहीं है, तो सब व्यर्थ है। इससे आत्मा का विशुद्ध अनन्त असीम ज्ञानमय स्वरुप प्रकट नहीं होता। उसे समग्र दृष्टि से पूर्णत्व प्राप्त नहीं होता।

भगवान उमास्वाति ने श्री **'प्रशमरति'** में कहा है–

सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी विरतितपोबलयुतोऽप्यनुपशान्तः ।
तं न लभते गुणं यं प्रशमगुणमुपाश्रितो लभते ॥२४३॥

जो स्वयं समकितधारी होते हुए भी अन्यों को मिथ्यात्वी समझता है, खुद ज्ञानी होते हुए भी दूसरों को मूर्ख समझता है, स्वयं श्रावक या श्रमण होते हुए दूसरों को मोहान्ध मानता है, तपस्वी होते हुए दूसरों को तपस्वी नहीं समझता और उनके प्रति धिक्कार की दृष्टि से देखता है, ऐसे मनुष्य का चित्त क्रोध, मान, माया और स्पृहा से आकण्ठ भरा हौता है। वह केवलज्ञान से कोसों दूर होता है।

चार–चार माह के निर्जल–निराहरा उपवास की घोर तपश्चर्या के बावजूद चार मुनियों ने संवत्सरी के दिन खानेवाले **'कुरगडु–मुनि'** के प्रति घृणा–भाव प्रकट किया, अनुपशान्त बने... परिणाम यह हुआ कि केवलज्ञान की मंजिल उनसे दूर होती चली गयी। जबकि उपशमरुपी शान्त जलाशय में गोते लगाते 'कुरगडु मुनि' केवलज्ञान के अधिकारी बन गये।

लगातार अविश्रान्त तपश्चर्या करनेवाले और बीहड जंगल में नानाविध कष्ट–अनिष्टों का समतापूर्वक सामना करनेवाले बाहुबली में किस ज्ञान की कमी थी ? क्या धर्मध्यान नहीं था ? क्या वे तप अथवा शील से युक्त न थे ? उनमें सब कुछ था। न थी तो सिर्फ उपशमवृत्ति। उपशमरस का उनमें अभाव था। फलतः केवलज्ञान की ज्योति प्रज्वलित न हुई। लेकिन उपशम–वृत्ति का प्रादुर्भाव होते ही केवल–ज्ञान–प्रद्योत प्रकट होते विलम्ब न लगा।

स्वयंभूरमणस्पर्द्धि वर्धिष्णुसमतारसः ।
मुनिर्येनोपमयेत, कोऽपि नासौ चराचरे ॥६॥६॥

अर्थ : स्वयंभूरमण समुद्र की स्पर्धा करनेवाला और जो निरन्तर वृद्धिगत

होती समता से युक्त हैं, ऐसे मुनिश्रेष्ठ की तुलना इस चराचर जगत में किसी के साथ नहीं की जाती है ।

विवेचन : चराचर सृष्टि में ऐसा कोई जड–चेतन पदार्थ नहीं है, जिसकी तुलना समता–योगी के साथ की जा सके । समता–योगी के आत्मप्रदेश पर समतारस का जो महोदधि हिलोरे ले रहा है, वह 'स्वयंभूरमण' नामक विराट, अथाह वारिधि के साथ निरंतर स्पर्धा करता रहता है । समता–महोदधि का विस्तार अनन्त अपार है, जबकि उसकी गहराई भी असीम अथाह ! तब भला स्वयंभूरमण समुद्र उसकी तुलना में कैसा होगा ?

साथ ही, समता–महोदधि अविरत रुप से वृद्धिगत होता रहता है । इसी तरह ज्यों–ज्यों समतारस में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है, त्यों–त्यों मुनि अगम–अगोचर सुखप्रदायी कैवल्यश्री के सन्निकट गतिशील होता जाता है । वह इस पार्थिव विश्व में रहते हुए स्वच्छन्दतापूर्वक मोक्ष–सुख का आस्वाद लेता रहता है।

जो निजानन्द में आकण्ठ डूब गया, परवृत्तान्त के लिये अन्धा, बहरा और गुंगा हो गया, मद–मदन–मोह–मत्सर–रोष–लोभ और विषाद का जो विजेता बन गया, एक मात्र अव्याबाध–अनन्त सुख का अभिलाषी बन गया, ऐसे जीवात्मा को भला, इस दुनिया में क्या उपमा दी जाय ? ऐसे मुनिश्रेष्ठ के लिये यहाँ ही मोक्ष है । श्री 'प्रशमरति' में ठीक ही कहा है :

निर्जित मदमदनानां, वाक्कायमनोविकाररहितानाम् ।
विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्षः सुविदितानाम् ॥२३८॥

'जो जीवात्मा मद-मदन से अजेय है, मन-वचन-काया के विकारों से रहित है और पर की आशा से विनिवृत्त है, उसके लिये इस सृष्टि पर ही मोक्ष है ।' तात्पर्य यह है कि समतारस के स्रोत में प्लावित हो, स्वर्गीय आनन्द के आस्वाद का अनुभव करने और मद-मदन विजेता बनने के लिये घोर पुरुषार्थ करना चाहिये । मन-वचन-काया के समस्त अशुभ विकारों को तिलांजलि देनी चाहिये । साथ ही, पर–पदार्थ की स्पृहा से पूर्णरूपेण निवृत्त होना चाहिये । परिणामस्वरुप, मानव इसी जीवन में मोक्ष–सुख का अधिकारी बन सकता है !

शमसूक्तसुधासिक्तं येषां नक्तं दिनं मनः ।
कदाऽपि ते न दह्यन्ते, रागोरगविषोर्मिभिः ॥६॥७॥

अर्थ : शम के सुभाषित रूपी अमृत से जिनका मन रात-दिन सिंचित है, वे राग-रूपी सर्प की विषैली फुष्कार से दग्ध नहीं होते । (नहीं जलते)

विवेचन : शमरस से युक्त विविध शास्त्र–ग्रन्थ, धर्मकथा और सुभाषितों से जिसकी आत्मा सिंचित है, उसमें भूलकर भी कभी राग-फणिधर की विषैली लहर फैल नहीं सकती । जो नित्य प्रति उपशम से भरपूर ऐसे ग्रन्थों का अध्ययन–मनन करता हो, उसके मन में पार्थिव / भौतिक विषयों के प्रति आसक्ति, रति और स्नेह की विह्वलता उभर नहीं सकती । महामुनि स्थूलिभद्रजी के समक्ष एक ही कक्ष और एकान्त में नगरवधु कोशा सोलह सिंगार सज, नृत्य करती रही । अपने नयन–बाण और कमनीय काया की भाव–भंगिमा से रिझाती रही । लेकिन स्थूलिभद्रजी क्षणार्ध के लिये भी विचलित नहीं हुए, बल्कि अन्त तक ध्यान–योग में अटल–अचल–अडिग रहे । यह भला कैसे सम्भव हुआ ? केवल उपशमरस से युक्त शास्त्र–परिशीलन में उनकी तल्लीनता के कारण ! महीनों तक षड्रसयुक्त भोजन ग्रहण करने के उपरान्त भी उन्हें मद–मदन का एक भी बाण भेद नहीं सका । भला किस कारण ? वह इस लिए कि उनके हाथ और मुँह खाने का काम कर रहे थे, लेकिन मन–मस्तिष्क समता–योग के सागर में गोते जो लगा रहा था !

इन्द्रियाँ जब अपने–अपने विषयों में व्यापृत रहती हैं, तब उसमें मन नहीं जुड़े और उपशमरस की परिभावना में लीन रहे, तो सब काम सुलभ बन जाएगा। राग-द्वेष तुम्हारा बाल भी बाँका नहीं कर सकेंगे । अतः हमें सर्वप्रथम अपने मन को, उपशमपोषक धर्मग्रन्थो के अध्ययन–मनन ओर बार–बार उसके परिशीलन में जोड़ना चाहिए । ठीक इस बीच, इन्द्रियों को अतिप्रिय हो ऐसे विषय–विकारों से उसका सम्पर्क तोड देना चाहिए । भले फिर जोर–जबरदस्ती क्यों न करनी पड़े ! क्योंकि पीछेहट करना विनिपात को न्यौता देना होगा । जब आत्मा अलिप्त बन जाती है, तब हर बात सम्भव और सुगम होती है । इस तरह संसर्ग के टूट जाने से और उपशमपोषक ग्रन्थों के निरन्तर पठन–पाठन से उपशमरस की बाढ़

आते देर नहीं लगेगी और जीवात्मा उसमें गोते लगायेगी । तत्पश्चात् आवश्यकतानुसार जो विषय–संपर्क रखेंगे, उसमें राग-द्वेष का कुछ नहीं चलेगा, बल्कि उत्तरोत्तर उसका क्षय होता जाएगा ।

राग के खेल में भी समता का आभास मिलता है, लेकिन देखना कि उसके जाल में कहीं फँस न जाओ ! क्योंकि वह समता नहीं है, बल्कि सिर्फ समताभास है । आमतौर पर बाह्य पदार्थों की अनुकुलता में मानव शान्ति और समता समझ लेने की गंभीर भूल कर बैठता है । जबकि वह समता कृत्रिम होती है, उसे भंग होते देर नहीं लगती ।

गर्जज्ज्ञानगजोत्तुं-गरंगद्धयानतुरंगमाः ।
जयन्ति मुनिराजस्य, शमसाम्राज्यसंपदः ॥६॥८॥

अर्थ : जहाँ गर्जन करते ज्ञान रूपी गजराज और इठलाते इतराते ध्यान रूपी अश्वों की भरमार है, ऐसे मुनिरूप नरेश के शमरूप साम्राज्य में सदा–सर्वदा सुख–शान्ति और संपदा की जयपताका निरन्तर फहराती रहती है ।

विवेचन : 'मुनिराजा' ! कैसा सुन्दर नाम है ! कर्णप्रिय और परम मनोहर। उनके विशाल साम्राज्य का कभी अवलोकन / दर्शन किया है ? अरे, शम... उपशम... समता ही तो उनका नयनरम्य, परम मनोहर विशाल साम्राज्य है ! वे बड़ी सावधानी से उसका संचालन और संरक्षण करते हैं । उसकी सीमा पर ऐसी तो कडी सुरक्षा–व्यवस्था है कि राग-द्वेष जैसे महाविकराल शत्रु लाख प्रयत्नों के बावजूद भी उसे भंग नहीं कर सकते । ऐसी उनकी जबरदस्त धाक और बड़ा दबदबा है ।

जैसा उनके नाम का प्रभाव है वैसा उनका शस्त्रभण्डार और सेनायें भी जबरदस्त अतुल बलशाली हैं । उनके पास दो प्रकार की सेनायें हैं : हयदल और अश्वदल । इन पर वे पूर्ण रूप से आश्रित हैं और मुस्ताक भी । ज्ञान उनका हयदल है और ध्यान उनका अश्वदल । ज्ञान रूपी हयदल की दिगंत–व्यापी गर्जना और ध्यान रूपी अश्वदल की हिनहिनाहट के बल पर उनके सम्पूर्ण साम्राज्य में परम शान्ति, सुख–समृद्धि और संपदा की रेलपेल है । शम–साम्राज्य की

विजयपताका आकाश में उन्नत हो सदैव लहराती रहती है ।

मुनिजीवन का न जाने कैसा सुरम्य, सुन्दर चित्र परम श्रद्धेय उपाध्यायजी महाराज ने हमारे सामने प्रस्तुत किया है कि बरबस मन मुग्ध हो उठता है । मुनि का उन्होंने राजसिंहासन पर अभिषेक कर 'मुनिराजा का साम्राज्य सदा–सर्वदा विजयवन्त हो !' की ललकार लगायी है । तब स्नेहस्निग्ध भाव से दबे स्वर में उन्हें अजरामर संदेश दिया है : "मुनिराज ! अब तुम राजा बन गये हो ! अपने उपशम–साम्राज्य के एकमेव बलशाली, शक्तिशाली सम्राट ! सावधानी के साथ इसका संचालन और संरक्षण करना, इसमें जरा भी भूल न हो जाए ।" और जब मुनिराज को परेशान, उद्विग्न–मन, घबराते देखते हैं, तब अपने मुख पर मधुर मुस्कान लाकर कहते हैं : "मेरे राजा ! इस तरह घबराने से, परेशान होने से काम नहीं चलेगा । तुम्हारे पास सर्व शक्तिशाली सेनायें और अक्षय शस्त्रभण्डार है । फिर भय और उद्विग्नता किस बात की ? तुम हयदल और अश्वदल / ज्ञान और ध्यान के एकमात्र अधिपति हो, शक्तिमान संचालक ! हयदल की गगनभेदी चिंघाड से समस्त शत्रुओं के... राग-द्वेष के छक्के छूट जायेंगे और तब अभेद्य मोर्चाबन्दी को भेदकर वे एक कदम भी आगे बढ़ नहीं पायेंगे–फलतः अश्वदल के उत्तुंग अश्वों पर आरूढ हो, निश्चिन्त बन क्रीडा करते रहना ।"

समतायोग की रक्षा मुनिश्रेष्ठ ज्ञान–ध्यान के बल पर सरलता से कर सकते हैं और ज्ञान–ध्यान के माध्यम से ही योगीजन समतायोग की भूमिका निभा सकते हैं ।

• • •

७. इन्द्रिय–जय

यह एक ऐसा भयस्थान है, जहाँ जीवात्मा के लिये सदैव सावधान / सचेत रहना आवश्यक है ।

जहाँ निर्मोही–भाव शिथिल बन जाता है और क्षणार्ध के लिये शम–सरोवर में से जीवात्मा बाहर निकल आता है, वहाँ इन्द्रियाँ बरबस अपने प्रिय विषय के प्रति आकर्षित हो जाती हैं । जीव पर मोह और अज्ञान अपना मायावी जाल बिछाने लगता है ।

सावधान ! जब तक तुम शरीरधारी हो, तब तक तुम्हारी इन्द्रियाँ विषय–वासनादि विकारों के संपर्क में आती रहेंगी । ऐसी दुर्भर स्थिति में क्या तुम निर्मोही और ज्ञानी बने रह सकोगे ? शत्रु की सम्पत्ति को सम्हाल सकोगे ? उसकी रक्षा कर सकोगे ?

उसके लिये तुम्हें इस अष्टक के एक एक श्लोक पर निरंतर चिन्तन–मनन करना चाहिये । इससे तुम्हें इन्द्रिय–विजय की अमोघ शक्ति और समुचित मार्गदर्शन मिलेगा ।

बिभेषि यदि संसारान्मोक्षप्राप्तिं च काङ्क्षसि ।
तदेन्द्रियजयं कर्तुं, स्फोरय स्फारपौरुषम् ॥७॥१॥

अर्थ : यदि तू संसार से भयभीत है और मोक्ष–प्राप्ति चाहता है, तो अपनी इन्द्रियों पर विजय पाने के लिये प्रखर पराक्रम का विकास कर ।

विवेचन : वाकई तुम संसार से भयक्रान्त हो, भयभीत हो ? चार गति में होती जीव मात्र की घोर विडंबनाओं से त्रस्त हो, परेशान हो ? संसार के

नानाविध मोहसम्बन्ध करके अजीब घुटन महसूस हो रही है ? विषय विवशता और कषाय पराधीनता में तुम्हें अपना विनिपात नजर आ रहा है ? तुम ऐसे भयावने संसार से मुक्त होना चाहते हो ? लेकिन यों मुक्त होने की नीरी भावना से क्या होगा ? तुम्हारे में उसकी वासना पैदा होनी चाहिये । तब काम बनेगा । पिंजरे में बन्द सिंह की, उससे मुक्त होने की वासना तुमने देखी होगी और साथ ही उसकी तडप और प्रयत्नों की पराकाष्ठा भी ?

संसार के बन्धनों से मुक्त होकर तुम मोक्ष जाना चाहते हो ? मोक्ष की अन्तहीन स्वतंत्रता चाहते हो ? उसकी अनंत गुण–समृद्धि के अधिकारी बनना चाहते हो ? उसका अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन पाने की तीव्र लालसा तुम में है ? तब तुम्हें एक पुरुषार्थ करना होगा... महापुरुषार्थ का बिगुल बजाना होगा। भाग्य के भरोसे नहीं रह सकते । काल का बहाना करने से काम नहीं चलेगा। भावी के कल्पनालोक में खो जाने से नहीं चलेगा । बल्कि भगीरथ पुरुषार्थ और पराक्रम करने से ही सम्भव है । मन–वचन–काया से उसमें जुट जाना होगा । 'आराम हराम है'–सूक्ति को जीवन में कार्यान्वित करना होगा । तभी सम्भव है।

तुम्हें अपनी पाँच इन्द्रियों को वशीभूत करना होगा । उन पर विजय पानी होगी । शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श की लोलुप इन्द्रियों को नियंत्रित करना होगा । अमर्यादित इच्छाओं का निग्रह करना पडेगा । शब्द, रूप, रसादि की जो भी इच्छायें पैदा हों, उनकी पूर्ति न करो । उन्हें पूरी नहीं करने का मन ही मन दृढ़ संकल्प करो और यदि सब करते हुए असंख्य दुःखों का सामना करना पड़े, तो हँसते हुए सहना सीखो । दुःख–दर्द सहने की आत्म–शक्ति को विकसित करो । शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शजन्य सुखों का उपभोग करने की, उनके माध्यम से आमोद–प्रमोद प्राप्त करने की वर्षों पुरानी आदत का उच्चाटन करने की निश्चित योजना बनाकर तप–त्याग–ज्ञान–भक्ति आदि के पुरुषार्थ में लग जाओ । नये सिरे से अपने जीवन में उसका आरम्भ कर दो ।

संसार–त्याग और मोक्ष–प्राप्ति के लिये इन्द्रिय–विजय का अभियान सर्वथा अनिवार्य है ।

वृद्धास्तृष्णाजलापूर्णैरालवालैः किलेन्द्रियैः ।
मुर्च्छामतुच्छां यच्छन्ति, विकारविषपादपाः ॥७॥२॥

अर्थ : लालसा रुपी जल से लबालब भरी इन्द्रिय रुपी क्यारियों से फले–फूले विषय–विकार रुपी विषवृक्ष, जीवात्मा को तीव्र मोह–मूर्च्छा देते हैं।

विवेचन : इन्द्रियाँ खेत की क्यारियों जैसी हैं । उनमें लालसा और विषय–स्पृहा का जल लबालब भरा जाता है । साथ ही इन क्यारियों में बीज–स्वरूप पड़े विषय–विकार पनपते रहते हैं और कालान्तर से वटवृक्ष का रूप धारण कर लेते हैं । विकास–विकल्प के इन विषवृक्षों की घटाओं की लपेट में जो जीव आ जाता है, वह विवश बन उसके अभेद्य बन्धनों में फँस जाता है और मोहवश अपने होश खो बैठता है ।

जबकि क्यारी में बीज भले ही पडा हो, लेकिन अगर उसे सींचा न जाए अथवा पानी न दिया जाय, तो वह फलता–फूलता नहीं, अंकुरित नहीं होता । फिर वृक्षरूप में प्रकट होने का सवाल ही नहीं रहता । जीवात्मा पाँच इन्द्रिय और मन लेकर जन्म धारण करता है । तब से ही उसकी इन्द्रियरूपी क्यारियों में मनघट से विषय–स्पृहा का जल–सिंचन अविरत रूप से होता ही रहता है । फलतः जैसे–जैसे वह बडा होता जाता है, वैसे–वैसे इन्द्रियों की क्यारियों में विषय–वासना का पौधा अंकुरित होता रहता है और जब तक वह यौवनावस्था को पहुँचता है, तब विषय–पौधा भी घटादार वृक्ष का रूप धारण कर लेता है । जीव इसी विषय–विकार के घटादार वृक्ष की घनी छाया में सुस्ताता रहता है । मोह का गाढा जादू उस पर सवार हो जाता है । उसका चित्त भ्रमित होता जाता है और मन मायाजाल में उलझकर मुर्च्छित बन जाता है । अपने होश गँवा बैठता है, अंट–शंट बकत रहता है । उसमें मर्कट–चेष्टाओं का संचार होता है और वह पराधीन बन संसार के बाजार में इधर–उधर भटकता रहता है ।

जीव जिस अनुपात से इच्छित विषयों का खाद्य देकर अपनी इन्द्रियों का पोषण करता रहता है, उसी गति से आत्मा में दुष्ट, मलीन और निकृष्ट विकार अबाध रूप से परिपुष्ट होते रहते हैं । जीवात्मा पर मोह–मूर्च्छा का शिकंजा कस जाता है । परिणाम स्वरूप वह मन–वचन काया से विवेकभ्रष्ट बन असीम दुःख

और अपार अशान्ति का शिकार बन जाता है। तब इस दुःख और अशान्ति को दूर करने के लिए किसी जुआरी की तरह दुबारा दांव लगाता है। फिर से इन्द्रियों को खुश करने का भरसक प्रयत्न करता है। लेकिन आखिर में परिणाम शून्य ही आता है। उसकी हर कोशिश बेकार सिद्ध होती है और आन्तरिक दुःख अशान्ति घटने के बजाय उसमें उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। परिणाम यह होता है कि दारुण दुःख और घोर अशान्ति के प्रहार सहन न कर पाने के कारण मृत्यु-भाजन बन जाता है। नाना प्रकार की दुर्गतियों में फँस कर नरक के गहरे कुँए में धकेल दिया जाता है।

अतः जिसको विकारों के विष वृक्ष से अपने आप को बचाना हो, उसे विषय लालसा और विकारों को पुष्ट करने की वृत्ति पर रोक लगानी चाहिए और मन ही मन दृढ़ संकल्प धारण कर, विषय-पोषण के बजाय जीवन के लिये परम सन्जीवनीस्वरूप सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक् चारित्र को पुष्ट करने की प्रवृत्ति में दत्तचित्त होना चाहिए।

सरित्सहस्त्रदुष्पूरसमुद्रोदरसोदरः ।
तृप्तिमान्नेन्द्रियग्रामो, भव तृप्तोऽन्तरात्मना ॥७॥३॥

अर्थ : यह जानकर कि असंख्य नदियों के द्वारा भी समुद्र के उदर समान इन्द्रिय-समूह को तृप्त नहीं कर सकते, हे वत्स ! अन्तरात्मा से सम्यक् श्रद्धा का मार्ग अपनाकर अपने आप को तृप्त कर।

विवेचन : गंगा-यमुना और ब्रह्मपुत्रा जैसी असंख्य नदियाँ निरन्तर समुद्र के उदर में समाती रहती हैं, अपनी अथाह जलराशि उंडेलती हैं। फिर भी समुद्र कभी तृप्त हुआ ? उसने अनमने भाव से नदियों को क्या कह दिया कि-"बस हो गया, तुमने मुझे तृप्त कर दिया। अब तुम्हारी जरूरत नहीं है।" मतलब, वह तृप्त नहीं हुआ और ना ही अन्त समय तक होगा। क्योंकि तृप्त होना उसका मूल स्वभाव ही नहीं है। ठीक इसी तरह पाँचों इन्द्रियों के स्वभाव में भी संतुष्ट होने जैसी बात नहीं है।

इन्द्रियों का उदर भी सागर की गहराई जैसा अतल और गहरा है।

अनंतकाल से, जीव अपनी इन्द्रियों को तृप्त करने के लिये पौद्गलिक विषयों का भोग देता आया है, लेकिन उन्होंने उसे ग्रहण करने से कभी इन्कार नहीं किया। जरा वर्तमान जीवन की तरफ तो दृष्टिपात करो। अभी पिछले महीने ही उसे तृप्त करने के लिये क्या तुमने मनोहर शब्द, अनुपम रूप, स्वादिष्ट भोजन (रस) लुभावनी महक (गन्ध) और मृदु/कोमल स्पर्श का भोग नहीं चढाया ? फिर भी वह तो सदा–सर्वदा के लिये भूखी जो ठहरी ! उसका उस पर कोई असर न हुआ। इस माह दुबारा क्षुधा–शान्ति के लिये उसकी वही मांग, वही भूख और अतृप्ति। पिछले दिन, पिछले माह और पिछले वर्ष जैसी अतृप्ति थी, भूख थी, वैसी ही आज भी है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ, बल्कि विगत की तरह आज भी उनकी वही अवस्था है। इसका कारण उनका मूल स्वभाव है। तृप्त होना तो उन्होंने स्वप्न में भी नहीं सीखा। जैसे–जैसे उनको अनुकूल वातावरण मिलता जाता है, वैसे–वैसे वे अनुकूल विषयों की अधिकाधिक स्पृहा करती रहती हैं। क्षणिक तृप्ति की टेकरी / टीले में अतृप्ति का खदबदाता लावा–रस भरा हुआ रहता है।

वाकई क्या तृप्त होना है ? ऐसी तृप्ति की गरज है कि दुबारा गरम लावारस का भोग न बनना पडे ? तब तुम दृढ़ निश्चयी बन अपनी इन्द्रियों को विषय–खाद्य की पूर्ति कर तृप्त करने के बजाय, अन्तरात्मा द्वारा तृप्त करने का प्रयोग कर देखो। सम्यग् विवेक के माध्यम से अप्रशस्त विषयों से इन्द्रियों को अलग कर उन्हें देव–गुरु–धर्म की आराधना में संलग्न कर दो। देव–गुरु के दर्शन, सम्यक् ग्रन्थों का श्रवण, परमात्मपूजन और महापुरुषों के गुणानुवाद में अपनी इन्द्रियों को लगा दो, तन्मय कर दो। दीर्घकाल तक सत् कार्यों में जुड़े रहने से उनमें परिवर्तन आते देर नहीं लगेगी और तब तक एक क्षण ऐसा आएगा कि वे परम तृप्ति का अनुभव अवश्य करेंगी।

आत्मानं विषयैः पाशैर्भववासपराङ्मुखम्।
इन्द्रियाणि निबध्नन्ति, मोहराजस्य किंकराः ॥७॥४॥

अर्थ : मोह राजा की दास इन्द्रियाँ सांसारिक क्रिया–कलापों से सर्वथा उद्विग्न बने आत्मा को विषय रूपी बन्धनों में जकड़ रखती हैं।

विवेचन : इन्द्रियों को कोई सामान्य वस्तु समझने की गलती न कर बैठना। वे दिखने में भले ही सीधी–सादी, भोली लगती हों, लेकिन अपने आप में असामान्य हैं। वे तुम्हारी भक्त नहीं है, सरल नहीं हैं, बल्कि मोहराजा की अनन्य आज्ञांकित सेविकायें हैं। मोहराजा ने अपनी इन स्वामी–निष्ठ सेविकाओं के माध्यम से अनंत जीवराशि पर अपना साम्राज्य फैला रखा है !

जो जीवात्मा संसारवास से, मोहराजा के अटूट बन्धन से त्रस्त होकर धर्मराजा की ओर आगे बढ़ता है, उसे ये बीच में ही रोक लेती हैं और पुनः मोह के साम्राज्य में खींच लाती हैं। वे अपने जादुई–पाश में जीव को ऐसी तो कुशलता से गुमराह कर देती हैं कि जीव को कतई पता नहीं लगता कि वह इन्द्रियों के जादुई पाश में बुरी तरह से फँस गया है। अन्त तक वह इसी भ्रम में होता है कि 'वह धर्मराजा के साम्राज्य में है।'

विषयाभिलाष–यह इन्द्रियों का जादुई पाश है, अनोखा जाल है। इन्द्रियाँ जीव से विषयाभिलाष कराती हैं, उसे नाना तरह से समझा–बुझाकर विषयाभिलाष करने के लिये प्रेरित करती हैं। 'स्वास्थ्य अच्छा होगा, तो धर्मध्यान अच्छी तरह कर पाएगा। अतः अपने स्वास्थ्य और शरीर का बराबर खयाल कर !' पागल जीव उसकी चिकनी–चुपड़ी बातों में आ जाता है और शरीर–संवर्धन के लिये बाह्य–पदार्थों की निरन्तर स्पृहा करने लगता है। 'तुम्हारे तपस्वी होने से क्या हो जाता है ? यदि पारणे में घी, दूध, सूखामेवा, मिष्टान्नों का उपयोग नहीं करोगे तो ठीक से तपस्या नहीं कर पाओगे।' भोला मन इन्द्रियों की इस सलाह के बहकावे में आ जाता है और वह रसना का अभिलाषी बन जाता है। 'तुम ज्ञानी हो इससे क्या ? स्वच्छ वस्त्र परिधान करो। शरीर को निर्मल रखो। घोर तपस्या न करो। इससे दुनिया में तुम्हारी धाक जमेगी, सर्वत्र बोलबाला होगा।' सरल प्रकृति के जीव को इन्द्रिय की यह सलाह सहज ही पसन्द आ जाती है और वह विषयों की स्पृहा में तन्मय बन जाता है।

इस तरह जीवात्मा मोह के बन्धनों में जकड़ जाता है। फलतः बाह्य–रूप से धर्म–क्रिया में सदा तत्पर होता है, लेकिन आन्तरिक रूप से मोह–माया के जंगल में भटक जाता है। अतः संसार से मुक्ति चाहनेवाली आत्मा को हमेशा इन्द्रियों के विषय–पाश से काफी सचेत रहना चाहिये।

गिरिमृत्स्नां धनं पश्यन्, धावतीन्द्रियमोहितः ।
अनादिनिधनं ज्ञानं धनं पार्श्वे न पश्यति ॥७॥५॥

अर्थ : इन्द्रिय के विषयों में निमग्न मूर्ख जीव पर्वत की मिट्टी को भी सोना-चाँदी वगैरह समझ, अतुल संपदा स्वरूप मानता है, उसे पाने के लिये बावरा बन चारों तरफ भागता है, परन्तु अपने पास रही अनादि–अनन्त ज्ञानसंपदा को देखता नहीं है ।

विवेचन : इन्द्रियों के विषयों में आसक्त जीव न जाने कैसा मूर्ख है, पागल ! जो धन नहीं है, उसके पीछे निरन्तर भागता रहता है और वास्तव में जो धन है, उससे बिल्कुल अनजान, बेखबर है । उसे पाने की तनिक भी चेष्टा नहीं करता । वह उसके बिल्कुल पास में होते हुए भी इसका उसे जरा भी ध्यान नहीं ।

सोना–चाँदी अथवा धन–धान्यादि जो केवल पर्वत की मिट्टी के समान हैं, उसे वह सम्पत्ति मान बैठा है और उसे पाने के लिए दिन–रात अथक प्रयत्न करता रहता है । कहते हैं न–'**दूर के ढोल सुहावने ।**' दूर से जो सम्पत्ति दिखायी देती है, वाकई वह मृग–मरीचिका है । उसे पाने के लिये वह अपने चित्त की शान्ति और स्वास्थ्य को गँवा बैठता है और मिट्टी जैसी बदतर वस्तु को हथियाने के लिये, उसके संरक्षण और संवर्धन के लिये नित्य प्रति अशान्त, उद्विग्न बना रहता है ।

इससे बेहतर तो यह है कि तुम अपना रूख ज्ञान–धन जोड़ने की ओर मोड दो । इसे पाने के लिये तुम्हें कहीं बाहर नहीं जाना होगा; बल्कि वह तो अनादिकाल से तुम्हारे पास में ही है । तुम्हारी आत्मा की गहराईयों में दबा हुआ पडा है और उस पर कर्मों की अनगिनत् परतें जम गयी हैं । फलतः इन परतों को दूर कर, अक्षय खजाने को प्राप्त करने के लिये महापुरुषार्थ करना ही हितकारक है । जैसे–जैसे तुम एक के बाद एक इन परतों को हटाते जाओगे, वैसे–वैसे ज्ञान–कोष की उपलब्धि होती जायेगी और तुम्हें अपूर्व सुख–शान्ति का मन ही मन अनुभव हो जाएगा । लेकिन ऐसा महापुरुषार्थ करने के लिये तुम तभी समर्थ होंगे, जब तुम्हारे में इन्द्रिय–विषयक आसक्ति का पूर्ण रूप से अभाव होगा । तुम इन्द्रिय–पाशों से बिलकुल मुक्त हो जाओगे । सावधान !

विषयासक्ति तुम्हें ज्ञान–धन हाँसिल नहीं होने देगी । अपनी ओर से वह तुम्हारे मार्ग में हर सम्भव रोडा अटकायेगी, बाधायें पैदा करेगी और ऐसा भगीरथ पुरुषार्थ करने नहीं देगी । यह निर्विवाद सत्य है कि आज तक तुमने ज्ञान–धन पाने का पुरुषार्थ नहीं किया, उसके पीछे इन्द्रिय–परवशता ही मूल कराण है । श्रुतज्ञान (ज्ञानधन) पाने के पश्चात् भी अगर जीव इन्द्रिय–परतंत्रता का शिकार बन जाए तो प्राप्त ज्ञानधन लुप्त होते देर नहीं लगती । तभी श्री भावदेवसूरिजी ने कहा है :–

"जई चउदश पुव्वधरो, निद्दाईपमायाओ वसइ निगोए अणंतयं कालं ।" चौदह पूर्वधर महर्षि भी यदि निद्रा, विकथा, गारव में अनुरक्त / लीन हो जाए, तो वे भी अनन्तकाल तक निगोद में भटकते हैं । अर्थात् जब तक केवलज्ञान का निधान प्राप्त न हो, तब तक क्षणार्ध के लिये भी इन्द्रिय–लोलुप बनने से काम नहीं चलता । निरन्तर जागृति और ज्ञानधन की प्राप्ति हेतु सदैव पुरुषार्थ करते ही रहना है ।

पुरः पुरः स्फुरत्तृष्णा, मृगतृष्णानुकारिषु ।
इन्द्रियार्थेषु धावन्ति, त्यक्त्वा ज्ञानामृतं जडाः ॥७॥६॥

अर्थ : जिसको उत्तरोत्तर बढ़ती हुई तृष्णा है, ऐसे मूर्खजन ज्ञान रूपी अमृत रस का त्याग कर मृगजल समान इन्द्रियों के विषयों में दौड़ते हैं ।

विवेचन : हिरण को भला कौन समझाये ? न जाने वह किस खुशी में कुलांचे भरता दौडा जा रहा है ? यहाँ कहाँ पानी है ? यह तो नीरी सूर्य–किरण की जगमगाहट है ! उसे कहाँ पानी मिलनेवाला है ? मिलेगा... क्लेश, खेद और अथक थकान ! लेकिन हिरण कहाँ किसी की सुननेवाला है ? वह तो निपट मूर्ख... मतिमन्द ! लाख समझाने के बावजूद कुलांचे भरता, किलकारी मारता भागता ही रहा और जा पहुँचा रेगिस्तान में ! जहाँ देखो वहाँ रेत ही रेत ! जिसे उसने पानी से लबालब भरा जलाशय समझा, वह निकली रेत, सिर्फ धूल के जगमगाते अगणित कण ! लेकिन उत्साह कम न हुआ, जोश में ओट न आयी । क्षणार्ध के लिये रूका और दूर–सुदूर तक देखता रहा । दुबारा जलाशय के दर्शन हुए । फिर दौड लगायी । जलाशय के पास जा पहुँचा । लेकिन जलाशय कहाँ ?

वह तो सिर्फ मृगजल था, एक छलावा ! मगर हिरण को कौन समझाये कि रेगिस्तान में कहीं पानी मिला है, जो उसे मिलेगा... ?

ठीक इसी तरह संसार के रेगिस्तान में इन्द्रिय–लोलुपता के वशीभूत हो, कुलांचे भरते जीवों को कौन समझाये ? जिस वेग से जीव इन्द्रियसक्ति का दास बना भागता रहता है, उसी अनुपात में उसकी वैषयिक–तृष्णा बढ़ती ही जाती है। क्लेश, खेद, असंतोष और अशान्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है। इसके बावजूद भी वह, समझने को कतइ तैयार नहीं कि इन्द्रियजन्य सुख से उसे तृप्ति मिलनेवाली नहीं है। यही तो उसकी मानसिक जडता है, निपट मूर्खता और अव्वल दर्जे की अनभिज्ञता / अज्ञानता !

श्री उमास्वातिजी ने अपनी कृति **'प्रशमरति'** में इसे लेकर तीखा उपालंभ दिया है : येषां विषयेषु रतिर्भवति न तान् मानुषान् गणयेत्।

जिसे विषयों में तीव्र आसक्ति है, उसकी गणना मनुष्य में नहीं करनी चाहिये।' अर्थात् जो जीव मनुष्यत्व से अलंकृत है, उसे इन्द्रियों के विषयों से क्या मतलब ? उसे विषयों से लगाव क्यों, प्रेम–भाव क्यों ? यदि इन्द्रियों के व्यापार से तन्मयता साधनी है, तो इसके लिये मनुष्य–भव नहीं। मानव–जीवन में तो ज्ञानामृत का ही पान करना है। उसमें ही परम तृप्ति का अनुभव करना है। जैसे–जैसे तुम ज्ञानामृत का पान करते जाओगे, वैसे–वैसे निकृष्ट, तुच्छ, अशुचिमय और असार ऐसे वैषयिक सुखों के पीछे दौडना कम होता जायेगा। इन्द्रियों के विषयों की आसक्ति खत्म होती जाएगी।

पतङ्गभृङ्गमीनेभ–सारंगा यान्ति दुर्दशाम्।
एकैकेन्द्रिय दोषाच्चेद्, दुष्टैस्तैः किं न पंचभिः ॥७॥७॥

अर्थ : पतंगा, भ्रमर, मत्स्य, हाथी और हिरण एक–एक इन्द्रिय के दोष से मृत्यु को पाते हैं, तब दुष्ट ऐसी पाँच इन्द्रियों से क्या क्या न होगा ?

विवेचन : एक–एक इन्द्रिय की गुलामी ने जीवात्मा की कैसी दुर्दशा की है ? पतंगा दीप–शिखा के नेह में निरन्तर उसके इर्द–गिर्द चक्कर लगाता रहता है। उसे पाने के लिये प्राणों की बाजी लगा देता है। उसके रूप और

रंग को निरखकर मन ही मन सपनों के महल सजाता अबाध रूप से घूमता ही रहता है। एक पल के लिये भी रुकने का नाम नहीं लेता। चक्षुरिन्द्रिय द्वारा उत्पन्न रूप–प्रीति के वशीभूत हो, अपने आप पर से नियंत्रण खो बैठता है। वह बरबस प्रज्वलित दीपशिखा को आलिंगन कर बैठता है। लेकिन उसे क्या मिला ? आलिंगन से प्यार मिला ? उत्साह और जोस में वृद्धि हुई ? अमृतवर्षा हुई ? नहीं, कुछ भी नहीं मिला। मिली सिर्फ आग, चिंगारी की तपन और वह क्षणार्ध में जल कर खाक हो गया।

अरे, उस भावुक भ्रमर को तो तनिक देखो ! मृदु सुगन्ध का बड़ा रसिया ! जहाँ सुगन्ध आयी नहीं कि बड़े मिया भाग खड़े हुए। होश खोकर बेहोश होकर ! लेकिन सूर्यास्त के समय जब कमल–पुष्प संपुटित होता है, तब यही रसिया भ्रमर उसमें अनजाने बन्द हो जाता है। फलतः उसकी वेदना का पारावार नहीं रहता। उसकी वेदना को देखने और समझनेवाला वहाँ कोई नहीं होता और जब दूसरे दिन कमल–पुष्प पुनः खिलता है, तब उसमें से इस अभागे प्रेमी का निर्जीव शरीर धरती पर लुढक जाता है। लेकिन कमल–दल को इसकी कहाँ परवाह होती है ? 'तू नहीं और सही', सूक्ति के अनुसार वह निष्क्रिय, निष्ठुर बना रहता है। जबकि इधर पूर्व–प्रेमी का स्थान दूसरा ग्रहण कर लेता है और कमाल इस बात का है कि वह पूर्व–प्रेमी की ओर दृष्टिपात तक नहीं करता। यही तो लंपटता है, जिसकी भोग बनी जीवात्मा अपने आप को बचा नहीं सकती और दूसरे की ओर नज़र नहीं डालती।

रस में ओत–प्रोत मछली की दशा भी कोई अलग नहीं है, बल्कि वही होती है, जो भोले हिरण और भावुक भ्रमर की होती है। जब मच्छीमार कांटे में बींध, पानी से ऊपर निकालता है अथवा अपने जाल को पत्थर पर पछाडता है धारदार चाकु से छीलता है या उबलते तेल मैं तलता है, तब मछली की कैसी दुर्गति होती है ? स्पर्शेन्द्रिय के सुख मैं मत्त बने गजेन्द्र को भी मृत्यु की शरण लेने को विवश बनना पड़ता है। मधुर स्वर का प्रेमी हिरण भी शिकारी के तीक्ष्ण तीर का शिकार बन जाता है।

इन बिचारे जीवों को तो एक–एक इन्द्रिय की परवशता होती है, जबकि मनुष्य तो पाँचों इन्द्रियों के परवश होता है। उसकी दुर्दशा कैसी ?

विवेकद्वीपहर्यक्षैः, समाधिधनतस्करैः ।
इन्द्रियैर्यो न जितोऽसौ धीराणां धुरि गण्यते ॥७॥८॥

अर्थ : जो विवेक रूपी गजेन्द्र का वध करने के लिये सिंह समान और निर्विकल्प ध्यान रूपी समाधि–धन को लूटनेवाले लुटेरे रुपी इन्द्रियों से जीता नहीं गया है, वह घीर नरपुंगवों में अग्रगण्य माना जाता है ।

विवेचन : जो धीर–गंभीर में भी धीर–गंभीर और श्रेष्ठ पुरुषों में भी सर्वश्रेष्ठ । गगनभेदी गर्जना के साथ आगे बढते काल–कराल केसरी को देखकर भी जिसमें भय का संचार तक न हो, ऐसी अटूट धीरता ! साक्षात् मृत्यु सदृश बन–केसरी भी जिसके मुखमण्डल की अद्वितीय आभा निरख अपना मार्ग बदल दे–ऐसी उसकी वीरता !

एक–एक इन्द्रिय एक–एक वनकेसरी की भाँति बलशाली और शक्तिमान है, कुटिल निशाचार है । सावधान ! तुम्हारे आत्मांगण में झूलते गजेन्द्र का शिकार करने के लिये पंचेन्द्रिय के पाँच 'नरभक्षी केसरी' आत्म–महल के आसपास घात लगाये बैठे हैं । तुम्हारे आत्म–महल के कण–कण में दबे समाधि–धन को लूटने के लिये दुष्ट निशाचर मार्ग खोज रहे हैं ।

कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारी आँखों में धूल झोंक कर इन्द्रिय रूपी वनकेसरी और चोर अपना उल्लु सीधा न कर दें । अतः इन पर विजय पानी हो तो दृढ़ संकल्प कीजिए : "इन्द्रियजन्य सुख का, वैभव का मुझे उपभोग नहीं करना है ।" और फिर देखिए, क्या चमत्कार होता है । वर्ना अनेक विषय लुभावना रूप धारण कर तुम्हारे सामने उपस्थित होंगे । इन्द्रियाँ सहज ही उसके प्रति आकर्षित होंगी और मनवा होश गँवा बैठेगा । बस, तुम्हारी पराजय होते पल का भी विलम्ब नहीं होगा । तुम्हारे विवेक–ज्ञान का यहीं अन्त हो जाएगा । फलस्वरुप तुम्हारे पास अनादिकाल से दबे पड़े निर्विकल्प समाधि–निधि की चोरी होते देर नहीं लगेगी और तुम पश्चाताप के आँसू बहाते, हाथ मलते रह जाओगे । यदि चाहते हो कि ऐसा न हो, पश्चाताप करने की बारी न आये, तो अपने आप को कठोर आत्मनिग्रही बनाना होगा । जब विषय नानाविध रुप से सज–धज कर सामने आ जायें, तब तुम्हारे में उसकी ओर नज़र उठाकर देखने की भावना ही पैदा न

हो । इन्द्रियाँ उसके प्रति आकर्षित ही न हों । ऐसी स्थिति में 'न रहेगा बांस, ना बजेगी बांसुरी' । तुम विजेता बन जाओगे, स्वाश्रयी बन जाओगे । फिर भला दुनिया में किसकी ताकत है जो तुम्हें अपने संकल्प से विचलित कर सके ?

विषयादि के वियोग में जब इन्द्रियाँ आकुल–व्याकुल न हों, परमात्म–परायण बन विषयों को सदा–सर्वदा के लिए विस्मृत कर दे और चंचल मन स्थिर बन परमात्म–ध्यान की साधना में अपना सक्रिय सहयोग प्रदान कर दे, तब धीर–गंभीर पुरुषों में भी धीर–गंभीर और श्रेष्ठ में तुम्हें श्रेष्ठतम बनते तनिक भी देर नहीं होगी ।

हालांकि इस संसार में उस व्यक्ति को भी धीर–गंभीर माना जाता है, जो अनुकूल विषयों के संयोग से प्रायः परमात्म ध्यान... धर्म–ध्यान जैसी बाह्य क्रियाओं में अपने आप को जुड़ा रखता है, लेकिन विषयों की अनुकूलता समाप्त होते ही उनकी धीर–गंभीर वृत्ति हवा हो जाती है, समाप्त हो जाती है । अतः अपने आप को भव–फेरों से बचाने के लिये विषय–वासनाओं का परित्याग करते हुए इन्द्रियों को सविकल्प निर्विकल्प समाधि में लयलीन करना है ।

● ● ●

८. त्याग

तुम एकाध व्यक्ति अथवा वस्तु का परित्याग करते हो, यह महत्त्वपूर्ण नहीं है। बल्कि तुम उसे किस पद्धति से, अथवा किस दृष्टि से त्याग करते हो, यह महत्त्वपूर्ण है।

माता-पिता, पति-पत्नी, भाई–बहन और असंख्य स्नेही–स्वजनों का परित्याग करने की हमेशा प्रेरणा देनेवाले ज्ञानी महात्मा यहाँ तुम्हें अभिनव माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहन, प्रिया तथा स्नेही–स्वजनों से परिचित कराते हुए उनके साथ नये सिरे से सम्बन्ध स्थापित करने की प्रेरणा देते हैं।

इन्द्रिय–विजेता के लिये सांसारिक, स्थूल जगत के प्रिय–पात्रों का परित्याग करना सरल है। अतः नये दिव्य स्नेही–स्वजनों से परिचय कर लें।

संयतात्मा श्रये शुद्धोपयोगं पितरं निजम्।
धृतिमम्बां च पितरौ, तन्मां विसृजतं ध्रुवम् ॥८॥१॥

अर्थ : संयमाभिमुख होकर मैं शुद्ध उपयोग स्वरुप पिता एवं आत्म–रति रुप माता की शरण ग्रहण करता हूँ। "ओ माता-पिता ! मुझे अवश्य मुक्त कीजिये।"

विवेचन : किसी उत्तम पद अथवा स्थान को पाने के लिये हमें अपने पूर्व पद अथवा स्थान का परित्याग करना पड़ता है। लोकोत्तर माता-पिता की अभौतिक वात्सल्यमयी गोद में खेलने के लिये लौकिक माता-पितादि आप्तजनों का परित्याग किये बिना भला कैसे चलेगा ? हाँ, वह त्याग, राग या द्वेष पर आधारित न हो, बल्कि लोकोत्तर माता पिता के प्रति तीव्र आकर्षण, आदरभाव

को लेकर होना चाहिये। अत: ममतामय माता-पिता से प्रार्थना करें। उनके स्नेह-बन्धनों से मुक्ति हेतु उनके चरणों में गिर, नम्र निवेदन करें।

"ओ माता और पिता ! हम मानते हैं कि आपके हम पर अनन्त उपकार हैं, अपार प्रेम है और असीम ममता है। लेकिन आपके स्नेह वात्सल्य का प्रत्युत्तर स्नेह से देने में हम पूर्णतया असमर्थ हैं। हमारे हृदय-गिरि से प्रस्फुटित स्नेह-स्रोत, श्रद्धेय पिता स्वरूप शुद्ध आत्मज्ञान की दिशा में प्रवाहित हो गया है। हमारी प्रसन्नता 'आत्म-रति'-स्वरूप माता के दर्शन में, उसके उत्संग में समाविष्ट है। उनकी चरणरज माथे पर लगाने के लिये हमारा हृदय अधीर हो उठा है और मन-वचन-काया के समस्त योग उसी दिशा में निरन्तर गतिशील हैं। अत: उनके शरणागत बन कृत-कृत्य होने की अनुमति दीजिये।"

'शुद्ध-आत्मज्ञान' पिता है और 'आत्मरति' माता है। इनका आश्रय ही अभीष्ट है। इनके प्रति प्यार, स्नेह और ममता की भावना रखना महत्त्वपूर्ण है। किसी विशेष तत्त्व को माता-पिता मानना, मतलब क्या ? तनिक सोचो और निर्णय करो। उन्हें सिर्फ मान्यता देने से काम नहीं बनेगा। वस्तुत: अहर्निश उनकी सेवा-सुश्रूषा और उपासना में लगे रहना चाहिये। उनके प्रति सदा-सर्वदा एकनिष्ठ / वफादार हुए बिना सब निरुपयोगी है। अर्थात् शुद्ध आत्मज्ञान का परित्याग कर अशुद्ध अनात्मज्ञान की गोद में समा जाने की बुरी आदत को जडमूल से उखाड फेंकना है। आत्मरति / ज्ञानरति जैसी महामाता को तज कर पुद्गलरति-वेश्या के आलिंगन में आबद्ध होने की कुवृत्ति को छोडे बिना छुटकारा नहीं है।

युष्माकं संगमोऽनादिर्बन्धवोऽनियतात्मनाम् ।
ध्रुवैकरुपान् शीलादिबन्धूनित्यधुना श्रये ॥८॥२॥

अर्थ : हे बन्धुगण ! अनिश्चित आत्मपर्याय से युक्त ऐसा तुम्हारा संगम प्रवाह से अनादि है। अत: निश्चित एक स्वरुप से युक्त ऐसे शील, सत्य, शम-दमादि बन्धुओं का अब मैं आश्रय लेता हूँ।

विवेचन : जिस तरह अभिनव माता-पिता बनाये, ठीक इसी तरह नये बन्धु भी बनाने ही होंगे। बाह्य स्थूल भूमिका पर आधारित बन्धुजन से नाता तोडने

हेतु आन्तर सूक्ष्म भूमिका पर रहे हुए बन्धुओं के साथ सम्बन्ध–संपर्क बनाना ही होगा ।

तुमने देखा होगा और अनुभव किया होगा कि बाह्य जगत में बन्धुत्व का सम्बन्ध कैसा अस्थिर है ! जो आज हमारे बन्धु हैं, वे ही कल शत्रु बन जाते हैं और जो शत्रु हैं, वे बन्धु बन जाते हैं । इस संसार में किसी सम्बन्ध की कोई स्थिरता नहीं है । ऐसे सम्बन्धों से घिरे रहकर जीवात्मा ने न जाने कैसे गाढे राग-द्वेष के बीज बोये / पाप–बन्धन किये और दुर्गति की चपेट में फँस गये ? लेकिन अब तो सावधान बन प्राप्त मानवभव में ज्ञान के उज्ज्वल प्रकाश की प्रखर ज्योति में आन्तर–बन्धुओं के साथ अटूट सम्बन्ध बाँधना जरूरी है । ठीक उसी तरह अनादिकाल से चले आ रहे सम्बन्धों का विच्छेद करना भी आवश्यक है ।

"हे बन्धुगण ! अनादिकाल से मैंने तुम्हारे साथ स्नेह–सम्बन्ध रखे । लेकिन उसमें नि:स्वार्थ भावना का प्राय:अभाव ही था, ना ही उसमें पवित्र दृष्टि थी । केवल भौतिक स्वार्थ के वशीभूत होकर बार–बार उसे दोहराता रहा । लेकिन जैसे ही स्वार्थ का प्रश्न आया, तुम्हें अपना शत्रु ही माना और शत्रु की तरह ही व्यवहार करता रहा । स्वार्थ लोलुपता में अन्धा बन, तुम्हारी हत्या की, तुम्हारे घर–बार लूटे । यहाँ तक कि अपने स्वार्थवश तुम्हें रसातल में पहुँचाते, तनिक भी न हिचकिचाया । सचमुच इस जगत में मनुष्य अपने स्वार्थ के खातिर दूसरे के साथ नि:स्वार्थ स्नेह, प्रीति के सम्बन्ध बाँध नहीं सकता । अत: हे भाईयों ! अब मैंने आपके साथ के पूर्व–सम्बन्धो को तिलांजलि देकर, परम शाश्वत्, अनंत-असीम ऐसे शील, सत्य, शम–उपशम, संतोषादि गुणों को ही बन्धु के रूप में स्वीकार किया है ।

आत्मा के शील–सत्यादि गुणों के साथ बन्धुत्व का रिश्ता जोडे बिना जीवात्मा बाह्य जगत् के सम्बन्धों का विच्छेद नहीं कर सकता । बाह्य जगत का परित्याग यानी हिंसा, असत्य, चौर्य, मिथ्यात्व, परिग्रह, दुराचार, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि वृत्तियों का त्याग और वह त्याग करने के लिये अहिंसा, सत्य, अचौर्य, शील, निष्परिग्रहता, क्षमा, नम्रता, सरलता, विवेकादि गुणों का जीवन में स्वीकार ! उन्हीं को केन्द्रबिन्दु मान जीवन व्यतीत करना होगा । ऐसी स्थिति में जीवन विषयक दैनंदिन प्रश्नों को हल करने के लिये क्रोधादि कषायों का आश्रय

नहीं ले सकते । हिंसादि पाप–बन्धनों की शरण नहीं ग्रहण कर सकते ।

कान्ता मे समतैवैका, ज्ञातयो मे समक्रियाः
बाह्यवर्गमिति त्यक्त्वा, धर्मसंन्यासवान् भवेत् ॥८॥३॥

अर्थ : 'समता ही मेरी प्रिय पत्नी है और समान आचरण से युक्त साधु मेरे स्वजन–स्नेही हैं ।' इस तरह बाह्य धर्म का परित्याग कर, धर्म–संन्यास युक्त बनता है ।

विवेचन : समता ही मेरी एकमात्र प्रियतमा है । अब मैं उसके प्रति ही एकनिष्ठ रहुंगा । जीवन में कभी उससे छल–कपट नहीं करुंगा । आज तक मैं उससे बेवफाई करता आया हूँ । ऐसी परम सुशील पतिव्रता नारी को तज कर मैं ममता–वेश्या के पास चक्कर काटता रहा, बार–बार वहाँ भटकता रहा । ममता, स्पृहा, कुमति वगैरह वेश्याओं के साथ वर्षों तक आमोद–प्रमोद करता रहा और बेहोश बन, मोहमदिरा के जाम पर जाम चढ़ाता आया हूँ । वह भी इस कदर कि, उसमें डूब अपना सब कुछ खो बैठा हूँ । लेकिन समय आने पर उन्होंने मिलकर मुझे लूट लिया, मुझे बेइज्जत कर घर से खदेड दिया । फिर भी निर्लज्ज बन अब भी उनकी गलियों के चक्कर काटना भूल नहीं पाया । पुनः जरा संभलते ही दुगुने वेग से वेश्याओं के द्वार खटखटाने लगा हूँ । में उन्हें भूल नही पाया हूँ । फिर वही मोह–मदिरा के छलछलाते जाम, प्यार–दुलार भरे नखरे, अजीब बेहोशी, पुनः मूर्च्छा और पुनः उनका डण्डा लेकर पिल पड़ना । लेकिन होश कहाँ ? उनके मादक रूप, रंग और गन्ध का आकर्षण मुझे पागल जो बनाए हुए है !

"लेकिन अब बहुत हो चुका । मैंने सदा के लिये इन ममता, माया रुपी वेश्याओं को तिलांजलि दे दी है । समता को अपनी प्रियतमा बना लिया है । उसके सहवास और संगति में मुझे अपूर्व शान्ति, अपरंपार सुख और असीम प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है ।"

"इसी भाँति संसार के स्नेही–स्वजनों को भी मैंने परख लिया है, निकट से जान लिया है । अब में क्या कहूँ ? क्षण में रोष और क्षण में तोष ! सभी

स्वार्थ के सगे हैं। जहाँ देखो वहाँ स्वार्थ ! जहाँ जाओ वहाँ स्वार्थ ! बस, स्वार्थ, स्वार्थ और स्वार्थ ! अतः मैंने उन्हें स्नेही–स्वजन बना लिया है, जो हमेशा रोष–तोष से रहित हैं। उनके पासमें सिर्फ एक ही वस्तु है, सर्वजीवों के लिये मैत्री–भाव और अपार करुणा और वे हैं–निर्ग्रन्थ साधु–श्रमण ! वे ही मेरे वास्तविक स्नेही स्वजन हैं।"

इस तरह बाह्य परिवार का परित्याग कर आत्मा औदयिक भावों का त्यागी और क्षायोपशमिक भावों को प्राप्त करनेवाला बनता है। औदयिक भाव में निरन्तर डूबे रहने की वृत्ति को ही संसार कहा गया है। जहाँ तक हम इस वृत्ति का परित्याग करने में असमर्थ रहेंगे, वहाँ तक संसास–त्यागी नहीं कहलायेंगे।

धर्मास्त्याज्याः, सुसंगोत्थाः, क्षायोपशमिका अपि ।
प्राप्य चन्दनगन्धाभं, धर्मसंन्यासमुत्तमम् ॥८॥४॥

अर्थ : चन्दन की गन्ध–समान श्रेष्ठ धर्म–संन्यास की प्राप्ति कर, उसके सत्संग से उत्पन्न और क्षयोपशम से प्राप्त पवित्र धर्म भी त्याज्य है।

विवेचन : सत्संग से जीवात्मा में 'क्षायोपशमिक' धर्मों का उदय होता है। परमात्मा के अनुग्रह और सदगुरु की कृपा से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान प्रकट होता है। देशविरति और सर्वविरति की प्राप्ति होती है। दान–लाभ–भोगोपभोग और वीर्यादि श्रेष्ठ लब्धियों का आविर्भाव होता है।

न जाने प्रशस्त निमित्त–आलम्बो का जीवात्मा पर कैसा तो अद्‌भुत प्रभाव है ! पारसमणि के स्पर्श मात्र से लोहा सुवर्ण बन जाता है। उसी तरह देव–गुरु के समागम से मिथ्यात्त्व, कषाय, अज्ञान, असंयम आदि औदयिक भावों से मलीन आत्मा समकित, सम्यग्ज्ञान, संयम आदि गुणों से युक्त, स्वच्छ / सुशोभित बन जाती है। क्षायोपशमिक धर्म भी तब तक ही आवश्यक हैं, जब तक क्षायिक गुणों की प्राप्ति न हो ! क्षायिक गुण आत्मा का मूल स्वरुप है। इसके प्रकट होते ही क्षायोपशमिक गुणों की भला आवश्यकता ही क्या है ? ऊपरी मंजिल पर पहुँच जाने के बाद सीढ़ी की क्या गरज है ? औदयिक भाव के भूगर्भ से क्षायिक भाव के रंगमहल में पहुँचने के लिये क्षायोपशमिक भाव सिढ़ी समान हैं।

जिस तरह चन्दन की सौरभ उसका स्थायी भाव है, उसी तरह क्षायिक धर्म भी आत्मा का स्थायी भाव है। हर जीवात्मा में क्षायिक ज्ञान, दर्शन और चारित्र सहज स्वरूप में विद्यमान है।

क्षायोपशमिक क्षमादि गुणों के परित्याग का नाम ही धर्मसंन्यास है। उक्त तात्त्विक धर्मसंन्यास, सामर्थ्य योग का धर्म–संन्यास माना जाता है। **'द्वितीयापूर्वकरणे प्रथमस्तात्त्विको भवेत्'** 'योग दृष्टि समुच्चय' नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि क्षायोपशमिक धर्म के त्याग स्वरूप धर्म–संन्यास आठवें गुणस्थान पर द्वितीय अपूर्वकरण करते समय होता है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के पहले जिस अपूर्वकरण का अनुसरण किया जाता है, वह अतात्त्विक धर्म–संन्यास कहलाता है।

गुरुत्वं स्वस्य नोदेति, शिक्षासात्म्येन यावता।
आत्मतत्त्वप्रकाशेन, तावत् सेव्यो गुरुत्तमः ॥८॥५॥

अर्थ : जब तक शिक्षा के सम्यक् परिणाम से आत्मस्वरुप के ज्ञान से गुरुत्व प्रकट न हो, तब तक उत्तम गुरु का आश्रय लेता चाहिये (आराधना करनी चाहिये)।

विवेचन : जिस तरह सांसारिक स्नेही–स्वजनों का त्याग करना है उसी तरह अभ्यंतर–आंतरिक स्वजनों के साथ अटूट नाता जोड़ना है, सम्बन्ध प्रस्थापित करना है। यह सम्बन्ध / नाता कहीं बीच में ही टूट न जाए, विच्छेद न हो जाए, इसके लिये सदैव सदगुरु की उपासना करनी चाहिये।

जब तक धनवान न बना जाए, तब तक उसकी सेवा नहीं छोड़नी चाहिये। जब तक उत्तम स्वास्थ्य का लाभ न हो, काया निरोगी न बने, तब तक डॉक्टर अथवा वैद्य का त्याग न किया जाए। ठीक उसी भाँति जब तक संशय–विपर्यासरहित ज्ञान–प्रकाश की प्राप्ति न हो, विशुद्ध आत्म–स्वरुप की झलक न दिखे, तब तक परम संयमी और ज्ञानी गुरु का परित्याग नहीं करना है। अर्थात्, जब तक गुरूदेव के गुरूत्व का विनियोग हममें न हो, तब तक निरन्तर विनीत बन उनकी श्रद्धाभाव से आराधना / उपासना में लगे रहना चाहिये।

गुरूदेव की परम कृपा और शुभाशीर्वाद से ही हममें ज्ञान–गुरूता पैदा होनेवाली है और ज्ञान–गुरुता का उदय तभी सम्भव है, जब उनसे विनीत भाव से 'ग्रहण शिक्षा' और 'आसेवन–शिक्षा ग्रहण की जाए और उसे सम्यग् भाव से आत्मपरिणत की जाये ।

पाँच महाव्रतों का सूक्ष्म रूप अवगत करना, क्षमा, आर्जव, मार्दवादि दस यतिधर्मों की व्यापकता समझना, पृथ्वीकायादि षट्काय–जीवों का स्वरूप आत्मसात् करना, यह सब ग्रहण–शिक्षा के अन्तर्गत आता है । सद्गुरु की परम कृपा से जीवात्मा को ग्रहण–शिक्षा की उपलब्धि होती है और इसी ग्रहण–शिक्षा को स्व–जीवन में कार्यान्वित करना उसे आसेवन–शिक्षा कहा गया है । आसेवन–शिक्षा की प्राप्ति सद्गुरु के बिना असम्भव है और इसकी प्राप्ति के बिना ज्ञान–गुरुता का उदय नहीं होता । ठीक उसी तरह बिना ज्ञान–गुरुता के केवलज्ञान असम्भव है और मोक्ष–प्राप्ति भी असम्भव है ।

अतः सद्गुरु के समक्ष उपस्थित हो, मन ही मन संकल्प करें :

"गुरुदेव, आपकी परम कृपा से ही मुझ में गुरुता आ सकती है । अतः जब तक मुझ में गुरुता का प्रादुर्भाव न हो, तब तक मैं शास्त्रोक्त पद्धति का अवलम्ब करते हुए, सादर, श्रद्धापूर्वक आपकी उपासना में रत रहूँगा ।'

ज्ञानचारादयोऽपीष्टाः, शुद्धस्वस्वपदावधि ।
निर्विकल्पे पुनस्त्यागे, न विकल्पो न वा क्रिया ॥८॥६॥

अर्थ : ज्ञानाचारादि आचार भी अपने–अपने शुद्ध पद की मर्यादा तक ही इष्ट हैं । लेकिन विकल्प–विरहित त्याग की अवस्था में न तो कोई विकल्प है, ना ही कोई क्रिया ।

विवेचन : शुद्ध संकल्पपूर्वक की गयी क्रिया फलदायी सिद्ध होती है। सद्गुरू के पास 'ग्रहण' और 'आसेवन' शिक्षा प्राप्त करने की है । खास तौर से ज्ञानाचारादि आचारों का पालन करना होता है और वह भी शुद्ध संकल्पपूर्वक करना चाहिये ।

- ज्ञानाचार की आराधना तब तक करनी है, जब तक ज्ञानाचार का शुद्ध पद केवलज्ञान प्राप्त न हो जाए। हमेशा आराधना करते समय इस बात की गांठ बांध लेनी चाहिये कि, 'ज्ञानाचार के प्रसाद से केवलज्ञान अवश्य प्राप्त होगा।'
- दर्शनाचार की आराधना तब तक करनी चाहिये, जब तक हमें क्षायिक समकित की उपलब्धि न हो जाये।
- चारित्राचार की उपासना उस हद तक करनी चाहिये, जब तक 'यथाख्यात चारित्र' की प्राप्ति न हो जाये।
- तपाचार का सेवन तब तक किया जाए, जब तक 'शुक्लध्यान' की मस्ती सर्वांग रूप से आत्मा में ओत–प्रोत न हो जाये।

  वीर्याचार का पालन तब तक ही किया जाय, जब तक आत्मा में अनंत विशुद्ध वीर्य का निर्बोध संचार न हो जाये।

इस तरह का निश्चय और संकल्प शक्ति, जीवात्मा के लिये परम फलदायी और शुभ सिद्ध होती है। जबकि संकल्पविहीन क्रिया प्रायः निष्फल सिद्ध होती है। केवलज्ञान, क्षायिक दर्शन, यथाख्यात चारित्र, शुक्ल–ध्यान और अनंत विशुद्ध वीर्योल्लास की प्राप्ति का दृढ़ संकल्प रख, ज्ञानाचारादि में सदा–सर्वदा पुरुषार्थशील बनना है। ज्ञानाचारादि के लिये तब तक ही पुरुषार्थ करना चाहिये, जब तक उनके–उनके शुद्ध पद की प्राप्ति न हो जाए। जब तक हमारी अवस्था शुभोपयोगवाली है और सविकल्प है, तब तक निरन्तर ज्ञानाचारादि पंचाचार का पालन करना अति आवश्यक है।

मतलब यह कि हमें ज्ञानाचारादि का पालन पूरी लगन से करना चाहिये, जबकि अन्तिम लक्ष्य, संबन्धित पद–प्राप्ति का होना चाहिये। लेकिन निर्विकल्प अवस्था प्राप्त होते ही उसमें किसी संकल्प और क्रिया का स्थान नहीं रहता। क्योंकि निर्विकल्प योग में उच्च कक्षा के ध्येय–ध्यान–ध्याता की अभेद अवस्था होती है। जब तक यह अवस्था प्राप्त न हो जाए, जब तक ज्ञानाचारादि आचारों के आलम्बन से शुभोपयोग में दत्तचित्त हो जाना चाहिये।

योगसंन्यासतएत्यागी, योगानप्यखिलांस्त्यजेत् ।
इत्येवं निर्गुणं ब्रह्म, परोक्तमुपपद्यते ॥८॥७॥

अर्थ : योग का निरोध कर त्यागी बन, जीवात्मा सभी योगों का भी त्याग करती है । इस तरह अन्य दर्शनों की 'निर्गुण ब्रह्म' की बात घटित होती है ।

विवेचन : सर्वत्याग की पराकाष्ठा ! कैसा अपूर्व दर्शन कराने का सफल प्रयत्न किया गया है ? औदयिक भाव का परित्याग (धर्मसंन्यास) कर जीवात्मा को क्षायोपशमिक भाव में प्रतिष्ठित करना और कालान्तर में द्वितीय अपूर्वकरण साधने के लिये क्षायोपशमिक भाव का भी त्याग कर देना ! '**क्षपकश्रेणियोगिनः क्षायोपशमिकक्षान्त्यादि–धर्मनिवृत्तेः ।**' '**योगदृष्टि समुच्चय**' ग्रन्थ में ठीक ही कहा गया है–जिन महात्माओं ने क्षपक–श्रेणी पर आरोहण किया है, उनके क्षमादि क्षायोपशमिक धर्म भी अन्तर्धान हो जाते हैं और तदनन्तर जो प्रकट होते हैं, वे क्षायिक गुण होते हैं ।

लेकिन जैसे ही जीवात्मा ने चौदहवे गुणस्थानक पर आरोहण किया कि 'योगनिरोध' के माध्यम से वह सर्व योगों का भी परित्याग कर देता है । इस क्रिया को '**योग–संन्यास**' भी कहा जाता है । यह योग–संन्यास, 'आयोज्य करण' करने के पश्चात् किया जाता है । 'योग–दृष्टि–समुच्चय' ग्रन्थ में आगे कहा गया है कि 'द्वितीयो योग–संन्यास **आयोज्यकरणादूर्ध्वं जीवति**' । सयोगी केवलज्ञानी समुद्घात करने के पूर्व 'आयोज्यकरण' का आरम्भ करता है । केवलज्ञान के माध्यम से अचिन्त्य वीर्यशक्ति द्वारा भवोपग्राही कर्म (अघाती कर्म) को ऐसी स्थिति में लाकर क्षय करने की क्रिया को 'आयोज्य करण' कहा जाता है । कायादि योग के त्याग से प्रकटित शैलेशी अवस्था में 'अयोग' नामक सर्वसंन्यास–स्वरूप सर्वोत्तम योग की प्राप्ति होती है ।

इस तरह '**निर्गुण ब्रह्म**' घटित होता है । औपाधिक धर्मयोग का अभाव ही 'निर्गुणता' कहलाती है । अनादिकाल से आत्मा में अवस्थित स्वाभाविक–क्षायिक गुणों का कभी निर्मूलन नहीं होता । यदि उनका निर्मूलन हो जाए तो, गुणाभाव में गुणीजनों का भी अभाव हो जाए । लेकिन 'न भूतो

न भविष्यति' । संसार में ऐसा होना सर्वथा असम्भव है । औदयिक और क्षायोपशमिक गुणों का जब अभाव हो जाए, नाश हो जाए, तब जीवात्मा उन गुणों से रहित बन जाती है । उसीका नाम 'निर्गुण' है। इस तरह अन्यान्यय दर्शनकारों की 'निर्गुण ब्रह्म' की कल्पना यथार्थ बनती है । लेकिन उनमें क्षायिक गुण होने से 'सगुण' भी है ।

अत: हमें इसी सर्वत्याग को परिलक्षित कर निरन्तर औदयिक भावों के परित्याग के पुरुषार्थ में लग जाना चाहिये ।

वस्तुतस्तु गुणैः पूर्णमनन्तैर्भासते स्वतः ।
रूपं त्यक्तात्मनः साधोर्निरभ्रस्य विधोरिव ॥८॥८॥

अर्थ : बादल रहित चन्द्र की तरह परम त्यागी साधु / योगी स्वरूप परमार्थ समृद्ध और अनंत गुणों से देदीप्यमान होता है ।

विवेचन : कहीं बादल का नामो–निशान नहीं । स्वच्छ, निरभ्र आकाश ! पूर्णिमा की धवल रजनी और सोलह कलाओं से पूर्ण–विकसित चन्द्र ! कैसा मनोहारी दृश्य ! मानव–मन को पुलकित कर दे ! चराचर सृष्टि में नवचेतन का संचार कर दे ! निर्निमेष दृष्टि टिकी ही रह जाए । ऐसे अपूर्व सौन्दर्य–क्षणों का कभी अनुभव किया है ? सम्भव है, जाने–अनजाने कभी कर लिया हो ! फिर भी तन और मन अतृप्त ही रहा होगा ? पुनः पुनः उसी दृश्य का अवलोकन करने की तीव्र लालसा जगी होगी ? लेकिन प्रयत्नों की पराकाष्ठा के बावजूद निराशा ही हाथ लगी होगी । तो लीजिये, परम आदरणीय उपाध्यायजी यशोविजयजी महाराज हमें इसी तरह के एक अलौकिक चन्द्र का अभिनव अवलोकन कराते हैं ।

"जरा ध्यान से देखो; यहाँ एक भी कर्म रूपी बादल नहीं है । तुम्हारे सामने शुद्ध स्फटिकमय सिद्धशिला का अनन्त आकाश फैला हुआ है ! 'शुक्लपक्ष' की अनुपम, धवल रजनी सर्वत्र व्याप्त है । अनंत गुणों से युक्त आत्मा का चन्द्र पूर्ण कलाओं से विकसित है । पल–दो पल–निरन्तर–निर्निमेष नेत्रों से बस, देखते ही रहो उसका अलौकिक सौन्दर्य, रूप और रंग ।"

आत्मा के विशुद्ध स्वरूप का अनंत गुणमय स्वरूप का ध्यान, कठोर कर्मों के मर्म का छेदन कर देता है। वह तीव्र से तीव्र कर्म–बन्धनों को तोड़ने में, उसे जड़मूल से उखाड़ फेंकने में समर्थ है। जब तक हमें वास्तविक अनंत गुणमय आत्मस्वरुप की प्राप्ति न हो जाए, तब तक एकाग्र चित्त से उसका ध्यान और उसे प्राप्त करने का पुरुषार्थ निरन्तर करना चाहिये और एक बार इसकी प्राप्ति होते ही '**सच्चिदानन्द**' की प्राप्ति होते देर नहीं लगेगी। फलतः, समस्त सृष्टि, निखिल भूमण्डल पूर्ण रूप से दिखायी देगा। पूर्णता की अलौकिक सचेतन सृष्टि का दर्शन होगा। इसी पूर्णता का परम दर्शन कराने हेतु पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने आवश्यक पुरुषार्थ का वर्णन अपने आठ अष्टकों में क्रमशः इस प्रकार किया है : पूर्णतामय दृष्टि, ज्ञानानन्द में लीनता, स्वसम्पत्ति में चित्त की स्थिरता, मोहत्याग, तत्त्वज्ञता, कषायों का उपशम, इन्द्रिय–जय और सर्वस्व त्याग।

इस तरह जीवात्मा क्रमशः सर्वोच्च पद प्राप्त करती है।

• • •

९. क्रिया

"यदि धार्मिक क्रियायें सम्पन्न न की जायें तो क्या नुकसान है ?" यह प्रश्न वर्षों से किया जा रहा है । लेकिन कोई भूलकर भी यह प्रश्न नहीं करता कि 'यदि पाप–क्रियायें न करें, तो क्या हर्ज है ?' सचमुच ऐसा प्रश्न कोई नहीं उठाता और उसका भी कारण है ! क्योंकि पाप–क्रियायें सबको पसन्द हैं। यदि धर्म पसन्द है, तो धार्मिक क्रियायें भी पसन्द होनी ही चाहियें । मोक्ष इष्ट है, तो मोक्ष–प्राप्ति के लिये आवश्यक क्रियायें इष्ट होनी ही चाहियें ।

ग्रन्थकार ने यहाँ जीवन में धार्मिक–क्रियाओं की आवश्यकता और अनिवार्यता को समझाने का सफल प्रयत्न किया है । उनकी बातें कितनी सार्थक और अकाट्य हैं, यह समझने के लिये प्रस्तुत अष्टक का अभ्यास अवश्य करें।

ज्ञानी क्रियापरः शान्तो, भावितात्मा जितेन्द्रियः ।
स्वयं तीर्णो भवाम्भोधेः परांस्तारयितुं क्षमः ॥९॥१॥

अर्थ : सम्यग्ज्ञान से युक्त, क्रिया में तत्पर, उपशम युक्त, भावित और जितेन्द्रिय (जीव) संसार रुपी समुद्र से स्वयं पार लग गये हैं और अन्यों को पार लगाने में समर्थ हैं ।

विवेचन : मानव–जीवन का श्रेष्ठतम पुरुषार्थ है–भवसागर से स्वयं पार उतरना और अन्यों को पार लगाना ।

यदि गंगा–यमुना–ब्रह्मपुत्रा सदृश भौतिक नदियों को पार करने के लिये ज्ञान और क्रिया की आवश्यकता है, तब भव के भीषण, रौद्र और तूफानी समुद्र को पार करने के लिये भला ज्ञान और क्रिया की आवश्यकता क्या नहीं है ?

आवश्यकता है और सौ बार है। लेकिन उसकी आवश्यकता तभी महसूस होती है, जब भवसागर भीषण, रौद्र और तूफानी लगता हो। जब तक भवसागर प्रशान्त, सुखदायक एवं सुन्दर, अति सुन्दर दिखायी देता है, तब तक जीवात्मा को ज्ञान और क्रिया का महत्त्व समझ में नहीं आता। जीवन में उसकी आवश्यकता का यथार्थ ज्ञान नहीं होता।

भवसागर से पार लगने और अन्य जीवों को पार लगाने हेतु यहाँ निम्नांकित पाँच बातें कही गयी हैं –

(१) ज्ञानी :

जिस भवसागर को पार करना है, उसकी भीषणता की जानकारी लिये बिना पार उतरना सम्भव नहीं है। साथ ही, जिनके आधार से तिरना है, उन कृपानिधि परमात्मा और करुणामय गुरुदेव का वास्तविक परिचय प्राप्त किये बिना कैसे चलेगा ? जिसमें सवार होकर पार उतरना है, उस संयम–नौका की सम्पूर्ण जानकारी भी हाँसिल करना जरुरी है। साथ ही सागर–प्रवास के दौरान आनेवाली नानाविध बाधायें, विघ्न और संकट, उस समय अपेक्षित सावधानी, सुरक्षा–व्यवस्था और आवश्यक साधन–सामग्री का ज्ञान भी हमें होना चाहिए।

२. क्रियापर :

भवसागर पार उतरने के लिये देवाधिदेव जिनेश्वर भगवन्त ने जो क्रियायें दर्शायी हैं, उन्हें अंजाम देने के लिये सदा–सर्वदा तत्पर होना जरूरी है। तत्परता का मतलब है–काल–स्थान और भाव का औचित्य समझ, हर सम्भव क्रिया करना। उसे करते हुए तनिक भी आलस्य, बेठ, अविधि अथवा उदासीनता न हो, बल्कि सदैव अदम्य उत्साह और असीम उल्लास होना चाहिये। ज्ञान, दर्शन, तप, चारित्रादि के आचारों का यथाविधि परिपालन होना चाहिये। हालाँकि भवसागर से पार उतरनेवाली भव्यात्माओं में यह स्वाभाविक रूप से होता है।

३. शान्त :

शान्ति... समता... उपशम की तो अत्यन्त आवश्यकता है। भले ही ज्ञान हो, क्रिया हो, परन्तु उपशम का पूर्ण रूप से अभाव है, तो पार लगना असम्भव

है। क्योंकि क्रोध और रोष की भावना जगते ही ज्ञान एवं क्रिया निष्प्राण और निर्जीव हो जाती है। भवसागर में भ्रमण करती नौका वहीं रुक जाती है, ठिठक जाती है। अगला प्रवास अवरोधों के कारण भंग हो जाता है। यदि हमने क्रोध, रोष, ईर्ष्या रुपी भयंकर जलचरों को दूर नहीं किया तो वे नौका में छेद कर देंगे उसे जल–समाधि देने का हर सम्भव प्रयत्न करेंगे। नौका में छेद होने भर की देर है कि समुद्र–जल उसमें भर आएगा और परिणाम यह होगा कि वह सदा के लिये समुद्र के गर्भ में अन्तर्धान हो जायेगी। इसी तथ्य को परिलक्षित कर उपाध्यायजी महाराज ने बताया है कि भवसागर पार लगने की इच्छुक आत्मा शान्त–प्रशान्त, क्षमाशील और परम उपशमयुक्त होनी चाहिये।

४. भावितात्मा :

ज्ञान, दर्शन और चारित्र से आत्मा भावित बननी चाहिये। जिस तरह कस्तूरी से वासित बने वस्त्र में से उसकी मादक सुगन्ध वातावरण को प्रसन्न और आह्लादक बनाती है, ठीक उसी तरह ज्ञान–दर्शन–चारित्र से सुरभित बनी आत्मा में से ज्ञान–दर्शन–चारित्र की सौरभ निरन्तर प्रसारित होती रहती है। उसमें से मोह-अज्ञान की दुर्गन्ध निकलने का सवाल ही पैदा नहीं होता।

५. जितेन्द्रिय :

भवसागर से पार लगने के इच्छुक जीवात्मा को अपनी इन्द्रियाँ वश में रखनी चाहिये। अनियंत्रित बनी इन्द्रियाँ जीव को नौका में से समुद्र में फेंकते विलम्ब नहीं करती हैं।

इन पाँच बातों को जिसने अपने जीवन में पूरी निष्ठा के साथ कार्यान्वित किया है, उसे भवसागर से पार लगते देर नहीं लगेगी। अन्य जीवों को पारलगाने की योग्यता भी तभी सम्भव है, जब उक्त पाँच बातों को साध लिया हो और जिसने इसकी कतइ परवाह नहीं की हो। वह यदि किसीको पार लगाने की चेष्टा करेगा तो खुद तो डूबेगा ही, अपितु दूसरे को भी डुबोएगा।

क्रियाविरहितं हन्त, ज्ञानमात्रमनर्थकम्।
गतिं विना पथज्ञोऽपि, नाप्नोति पुरमीप्सितम् ॥९॥२॥

अर्थ : क्रियारहित मात्र ज्ञान सचमुच किसी काम का नहीं । चलने की क्रिया के प्रति उदासीन, मार्ग जाननेवाला व्यक्ति भी इच्छित नगर नहीं पहुँच सकता ।

विवेचन : दिल्ली से बंबई की दूरी तुम भलीभांति जानते हो । तुम्हें यह भी मालूम है कि दिल्ली से बंबई किस मार्ग से जाया जाता है । राजमार्ग तुम जानते हो और रेल्वे–मार्ग की जानकारी भी तुम्हें है । तुमसे यह भी छिपा नहीं है कि दिल्ली–बंबई का कितना किराया है । यह तो ठीक, हवाई–मार्ग की सही जानकारी भी तुम्हें है ।

लेकिन यदि तुम प्रवास की पूर्व तैयारी न करो, पदयात्रा आरम्भ न करो अथवा रेल्वे से प्रवास करने की क्रियारूप टिकट खरीद कर रेल में बैठने का कष्ट न करो तो भला, दिल्ली पहुँच पाओगे क्या ? नहीं पहुँचोंगे । अत: हमें गन्तव्य स्थान पर भले ही वह बंबई हो अथवा दिल्ली, क्रिया तो करनी ही होगी । सिर्फ मार्ग की जानकारी प्राप्त करने मात्र से इष्ट स्थान पर पहुँचा नहीं जाता । ज्ञान के आधार पर गति–क्रिया करनी ही होगी ।

तुमने मोक्ष–मार्ग की जानकारी हाँसिल कर ली । आत्मा पर छाये अष्ट–कर्मों को जान लिया, उन कर्मों के विच्छेदन की क्रिया भी अवगत कर ली, लेकिन अगर समुचित पुरुषार्थ, परिश्रम न करो तो जानकारी हाँसिल करने का कोई महत्त्व नहीं है । इससे समस्या हल होनेवाली नहीं है, ना ही बात बननेवाली है । इससे विपरीत अधिकाधिक हानि / नुकसान होने की ही सम्भावना है ।

मोक्ष–मार्ग के लिये आवश्यक क्रिया का त्याग कर यदि कोई जीवात्मा ज्ञान के बल पर ही मोक्ष–प्राप्ति करना चाहता हो तो यह उसका निरा भ्रम है। एक प्रकार की कपोल–कल्पना है । मोक्ष–मार्ग के अनुकूल क्रियाओं की उपेक्षा करनेवाला मनुष्य ज्ञान–बल से मिथ्याभिमानी / घमंडी बन जाता है, संसारवर्धक क्रिया–कलापों में निरन्तर ओतप्रोत रहता है और स्व आत्मा को मलिन / कलंकित बनाता भवसागर की अनन्त गहराईयों में असमय ही खो जाता है । फलत: मौत की गोद में सदा के लिये सो जाता है ।

महत्त्वपूर्ण तथ्य तो यह है कि जीवात्मा के रोम–रोम में आत्मा की सत्–

चित्–आनन्दमय अवस्था प्राप्त करने की भावना जाग्रत होनी चाहिये। यदि हो गयी है, तो उसके जीवन में ज्ञान और क्रिया का आगमन होते विलम्ब नहीं लगेगा। अनादि काल से प्रकृति का यह सनातन नियम है कि जो वस्तु पाने की तमन्ना मन में पैदा होती है, उसकी सही पहचान, पाने के उपाय और उसके लिये किया जानेवाला आवश्यक पुरुषार्थ होता ही है।

जिसके मन में अतुल संपदा पाने की आकांक्षा जगी हो, वह उसे प्राप्त करने के लिये आवश्यक ज्ञान–प्राप्ति हेतु पुरुषार्थ क्या नहीं करता ? अवश्य करता है। किसी वैज्ञानिक के मन में अद्‌भुत आविष्कार की महत्त्वाकांक्षा उदित हो जाए, तो वह उसके लिये क्या अथक परिश्रम नहीं करेगा ? करेगा ही। ठीक उसी तरह अपनी आत्मा को परम विशुद्ध बनाने की तीव्र भावना जिनमें उत्पन्न हो गयी थी उनकी, तप्त शिलाओं पर आसनस्थ होकर, घोर तपस्या करने की आख्यायिकायें क्या नहीं सुनी हैं ?

मोक्षमार्ग का ज्ञान हो जाने के उपरान्त भी अगर अनुकूल पुरुषार्थ करने में कोई जीव उदासीन रहता हो तो उसका मूल कारण प्राप्त सुखसमृद्धि में खोये रहने की कुप्रवृत्ति है, साथ ही नानाविध पाप–क्रियाओं का सहवास। जिन्हें वह छोड़ता नहीं है, उनसे अपना छुटकार पाता नहीं है।

परमात्माभक्ति, प्रतिक्रमण, सामायिक, सूत्र–स्वाध्याय, ध्यान, गुरुभक्ति, ग्लानवैयावृत्य, प्रतिलेखन, तप–त्यागादि विमल क्रियाओं को सदासर्वदा विनीत भाव से अपने जीवन में कार्यान्वित करनेवाली आत्मा, निःसन्देह आत्मविशुद्धि के प्रशस्त राजमार्ग पर चल कर उसे सिद्ध करके ही रहती है।

जो यह कहता है कि, 'क्रियाओं का रहस्य... परमार्थ समझे बिना उन्हें करना अर्थहीन है, व्यर्थ है।' यदि वह स्वयं उनका रहस्य और परमार्थ समझकर क्रियान्वित करता हो तो उसकी बात अवश्य गौर करने जैसी है। लेकिन आमतौर पर आत्म–विशुद्धि के लिये जो क्रियायें करनी पड़ती हैं, उन क्रियाओं में आनेवाली अनेक बाधायें सहने में जो सर्वथा असमर्थ और भयभीत होते हैं, वे लोग पवित्र क्रियाओं का अपलाप करते हैं और उन क्रियाओं का परित्याग कर पाप–क्रियाओं की गलियों में भटकते हुए पतन की गहरी खाई में गिर जाते हैं।

स्वानुकूलां क्रियां काले, ज्ञानपूर्णोऽप्यपेक्षते ।
प्रदीप : स्वप्रकाशोऽपि, तैलपूर्त्यादिकं यथा ॥९॥३॥

अर्थ : जिस तरह दीप स्वयं प्रकाशस्वरुप होते हुए भी उसमें (प्रज्वलित रखने के लिये) तेल–वगैरह की जरूरत होती है । ठीक उसी तरह प्रसंगोपात पूर्णज्ञानी के लिये भी स्वभाव स्वरूप कार्य के अनुकूल क्रिया की अपेक्षा होती है ।

विवेचन : जब तक सिद्धि प्राप्त न हो और साधक–दशा विद्यमान है तब तक क्रिया की आवश्यकता होती है । अलबत्त, साधना की विभिन्न अवस्थाओं में उनके लिये अनुकूल ऐसी भिन्न–भिन्न क्रियाओं की अपेक्षा होती है । अर्थात् केवलज्ञानी ऋषि–महर्षियों को भी क्रिया की आवश्यकता रहती ही है ।

स्वभाव को पुष्ट करने के लिये समान्यतः क्रिया की आवश्यकता रहती है । उचित समय में उचित क्रिया जरूरी है ।

सम्यक्त्व की भूमिका में रही विवेकी आत्मा समकित के लिये परमावश्यक ६७ प्रकार के व्यवहार का विशुद्ध पालन करती है । उसका आदर्श होता है देशविरति और सर्वविरति का ।

देशविरति रूप श्रावकजीवन की कक्षा तक पहुँचे जीव को बारह व्रत की पवित्र क्रियाओं का आचरण करना होता है । क्योंकि उसका अन्तिम लक्ष्य सर्वविरतिमय श्रमणजीवन प्राप्त कर कर्मों की पूर्ण निर्जरा करना होता है ।

सर्वविरतिमय साधुजीवन में रही साधक आत्मा को ज्ञानाचारादि आचारों का परिपालन और दशविध यतिधर्म, बाह्य–आभ्यन्तर बारह प्रकार के तपादि क्रियाओं का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है । क्षपकश्रेणी पर चढ़ते समय शुक्लध्यान की क्रिया करनी पड़ती है ।

तत्राष्टमे गुणस्थाने, शुक्लसद्धयानमादिमम् ।
ध्यातुं प्रक्रमते साधु राद्यसंहननान्वितः ॥५१॥

— गुणस्थान क्रमारोह

आठवें गुणस्थानक पर प्रथम वज्रऋषभ–नाराच संघयणवाला साधु प्रथम शुक्लध्यान करना प्रारम्भ करता है। तात्पर्य यह है कि उसे ध्यान करने की क्रिया करनी ही पड़ती है।

घाती कर्मों का क्षय कर जो आत्मा पूर्णज्ञानी बन गयी, उसेभी सर्वसंवर और पूर्णानन्दप्राप्ति के अवसर पर योगनिरोध की क्रिया करनी पड़ती है, समुद्घात की क्रिया करनी पड़ती है।

पूर्णता के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचने के लिये हर भूमिका पर आवश्यक क्रिया करनी पड़ती है। इस तथ्य से वही इन्कार कर सकता है, जिसे जैनदर्शनप्रणीत मोक्ष–मार्ग का ज्ञान न हो, जानकारी न हो।

तर्क से भी क्रिया का महत्त्व समझा जा सकता है। अनादिकाल से जीवात्मा पाप–क्रिया में आकण्ठ डूबी रहकर निरन्तर संसार–परिभ्रमण करती रही है। हमारी पाप–क्रियायें ही भव–भ्रमण की मूल कारण हैं। यदि भव–भ्रमण की क्रिया को रोकना है, तो पहले उसके कारणों का संशोधन कर उसे रोकना होगा, नष्ट करना पड़ेगा। पाप–क्रियाओं की प्रतिपक्षी धार्मिक क्रियाओं के द्वारा पाप–क्रियाओं का निवारण होता है।

जहाँ तक जीव संसार–भ्रमण करता है, उसे कुछ न कुछ कर्म अथवा कोई न कोई क्रिया करनी ही पड़ती है, फिर भले ही वह पापक्रिया हो या धार्मिक क्रिया। जिसकी दृष्टि **सत्–चित्–आनन्द** स्वरुप पूर्णता की चरम चोटी तक पहुँच गयी हो, जो आत्मा उस मंजिल तक पहुँचने के लिये प्रयत्नों की पराकाष्ठा कर रही हो, वह आत्मा उन पवित्र क्रियाओं को करने के लिये सदैव तत्पर रहती है।

घी अथवा तेल से भरा दीपक स्वयं ज्योति स्वरुप होते हुए भी यदि उसमें समय पर घी या तेल न पूरा जाय, तो क्या होगा ? मतलब वहाँ घी–तेल पूरने की क्रिया सर्वथा अपेक्षित है। बिजली खुद ही प्रकाश–स्वरुप होते हुए भी 'स्विच ऑन' करने की और पावर–हाउस से विद्युत प्रवाहित करने की क्रिया अपेक्षित ही है। संसार का भला ऐसा कौन सा क्षेत्र है, जहाँ मन–वचन–काया की क्रियायें अपेक्षित नहीं हैं ? कौन सा ऐसा कार्य है कि जो क्रिया न

करने के बावजूद भी सम्पन्न होता है ? तात्पर्य केवल इतना ही है कि प्रत्येक साधक को, निज प्रमाद, आलस्य, उदासीनता और मिथ्याभिमान को दूर कर निरंतर अपनी भूमिका के अनुकूल क्रिया करनी ही चाहिये, जो देवाधिदेव जिनेश्वर भगवन्त द्वारा निर्देशित है । क्रिया को हमें विधिपूर्वक, कालोचित और प्रीति–भक्ति के साथ कार्यान्वित करना परमावश्यक है ।

बाह्यभावं पुरस्कृत्य, ये क्रियां व्यवहारतः ।
वदने कवलक्षेपं विना ते तृप्तिकांक्षिणः ॥९॥४॥

अर्थ : जो बाह्य क्रिया के भाव को आगे कर व्यवहार से उसी क्रिया का निषेध करते हैं, वे मुँह में कौर डाले बिना ही तृप्ति की अपेक्षा रखते हैं ।

विवेचन : क्या तुम्हारी यह मान्यता है कि 'पौषध, प्रतिक्रमण, प्रभुदर्शन, पूजन–अर्चन, गुरुभक्ति, प्रतिलेखन, सेवा और तपश्चर्या आदि व्यवहार–क्रियायें सिर्फ बाह्य भाव है, इससे आत्मा का कल्याण सम्भव नहीं । क्या तुम्हारा यह मन्तव्य है कि हिंसा, असत्य, दुराचार, क्रूरता, चोरी और परिग्रह की क्रियाओं में तुम दिन–रात खोये रहो और तुम अहिंसा, सत्य, अचौर्य, सदाचार, अपरिग्रह आदि की सिद्धि प्राप्त कर लोगे ? क्या यह सम्भव है कि तुम रमणीरूप के दर्शन, मदान्ध श्रीमन्तों की सेवा, आकर्षक वेशभूषा और स्वादिष्ट भोजन की विविध क्रिया में सदैव इतराते–इठलाते रहो, केलि–क्रिड़ा करते रहो, फिर भी तुम आत्मा की शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निराकार दशा / अवस्था पा लोगे ? तो यह तुम्हारा निरा भ्रम है । अरे भाई, जरा शान्ति से सोचो । स्वस्थ मन से विचार करो । निराग्रही बुद्धि का अवलम्बन लेकर सोचो । हमारे पूर्वज, ऋषि–मुनि, महर्षियों के अनुभवसिद्ध वचनों को स्मरण कर उन्हें समझने का प्रयत्न करो ।

बाह्य भाव के दो भेद हैं : एक शुभ और दूसरा अशुभ । जिसमें सरासर आत्मा की विस्मृति है और जो सिर्फ विषयानन्द की प्राप्ति के हेत ही की जाए, वह क्रिया अशुभ बाह्यभाव कहलाती है और जिसमें आत्मा की मधुर स्मृति वास करती है, एक मात्र आत्मानन्द की प्राप्ति का लक्ष्य है, करुणासागर परमदयालु जिनेश्वर भगवान के प्रति श्रद्धाभाव है और पापक्रिया से मुक्त होने की पवित्र भावना

है, ऐसी कोई भी क्रिया शुभ बाह्य भाव है । अशुभ पाप–क्रियाओं की अनादिकालीन आदत से छुटकारा पाने के लिये धर्म–क्रियाओं का आश्रय लिये बिना और कोई चारा नहीं है । उसके बिना सब व्यर्थ है ।

अगर तुम्हारा पुत्र तुमसे कहे कि 'पिताजी, मुझे शाला में दाखिल क्यों करते हो ? विशेष प्रकार की वेशभूषा करने का आग्रह क्यों कर रहे हो ? अमुक पुस्तकों का ही मनन–पठन करने का आदेश क्यों देते हो ? अध्यापक के पास जाकर शिक्षा–ग्रहण करने का उपदेश क्यों देते हो ? क्योंकि यह सब व्यर्थ है, निरर्थक है, बल्कि किसी काम का नहीं । ज्ञान तो आत्मा का गुण है और आत्मा से ही ज्ञान का प्रगटीकरण होता है । तब नाहक शाला में जाकर विद्याध्ययन करने का कष्ट क्यों उठाना ? अत: मैं शाला में नहीं जाऊँगा, घर पर ही रहूँगा, खूब मौज–मस्ती करूँगा और टी. वी.–वीडियो देखूँगा ।' तब क्या तुम उसकी बात को मान लोगे, स्वीकार कर लोगे ? उसका शाला में जाना बन्द कर दोगे ? घर पर बिठा दोगे ?

एकाध सैनिक अपने नायक से जाकर कहे : "आप कवायद क्यों करवाते हैं ? किसलिये मीलों तक दौड़ लगवाते हैं ? नाना प्रकार की कसरत करवाते हैं ? शस्त्र–संचालन का प्रशिक्षण क्यों देते हैं ? बल और शक्ति आत्मा का गुण है और आत्मा में से ही पैदा होता है । अत: यह सब निरर्थक है, सारी क्रियायें निरी बकवास हैं ।" क्या नायक ऐसे सैनिक को पल भर के लिये भी सह लेगा ? उसे सेना में से भगा नहीं देगा ?

आत्मगुण के लिये आवश्यक क्रिया–अनुष्ठान करना ही पड़ेगा । तभी सही आत्मगुणों का प्रगटीकरण सम्भव है । अनन्त ज्ञानी जिनेश्वरदेव ने आत्म–विशुद्धि के लिये जिन कायिक, वाचिक एवं मानसिक प्रक्रियाओं को महत्त्वपूर्ण बताया है, उन्हें श्रद्धा–भाव से करना ही पड़ेगा ।

मूँह में कौर डाले बिना कहीं उदरतृप्ति हुई है ? यदि हमें परम तृप्ति का सुख चखना है तो मुँह में कौर डालने की क्रिया नि:संदिग्ध भाव से करनी ही पड़ेगी । ठीक उसी तरह यदि परम आत्म–सुख का अनुभव करना है, तो उसके लिये आवश्यक क्रियाओं को करना ही पड़ेगा ।

गुणवद्बहुमानादेर्नित्यस्मृत्या च सत्क्रिया ।
जातं न पातयेद् भावमजातं जनयेदपि ॥९॥५॥

अर्थ : अधिक गुणवन्त के बहुमानादि से तथा अंगीकृत नियमों को नियमित सम्भालने से शुभ क्रिया, प्रगट हुए शुभ भाव को न मिटाये, न नष्ट करे, साथ ही जो भाव अभी प्रगट नहीं हुए हैं, उन्हें उत्पन्न करती है ।

विवेचन : अन्तरात्मा से प्रगट शुभ... पवित्र...उन्नत... मोक्षानुकूल भाव तो हमारी अमूल्य निधि है, सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति है । इसका संरक्षण करना हमारा परम कर्तव्य है । प्रस्तुत भाव की संपदा के माध्यम से ही हम परमपद की प्राप्ति कर सकेंगे ।

भाव की भी अपनी विशेषता है । यदि प्रति समय सावधानी से उसका संरक्षण न करें, तो इसे खत्म होते देर नहीं लगती । ऐसे शुभ, लेकिन चंचल भावों का संरक्षण करने के लिये सात उपाय बताये हैं, जो सरल हैं और सुन्दर हैं । लेकिन इन उपायों का अवलम्बन तभी किया जा सकता है जब शुभ भावों का समुचित मूल्यांकन किया गया हो, बाह्य भौतिक सम्पत्ति से भी बढ़कर अनंत गुना महत्त्व उसे दिया गया हो । शुभ भावों की रक्षा के लिये कुछ भी करने की तैयारी होनी चाहिये । उसके लिये जो भोग देना आवश्यक है, देने के लिये हमें सदैव तत्पर रहना चाहिये ।

- सत्य के पवित्र भाव का संरक्षण करने हेतु राजा हरिश्चन्द्र ने अपना सब कुछ त्याग दिया था । राजसी ठाठ–बाठ, वैभव–विलास, यहाँ तककी सर्वस्व त्याग कर, चंडाल के हाथ खुद बिक जाने तक का ज्वलन्त बलिदान किया था ।
- अहिंसा के उन्नत भाव की रक्षा हेतु महाराजा कुमारपाल ने अपने पैर की चमड़ी काटकर मकोड़े को बचा लिया था ।
- सतीत्व के सर्वोत्तम भाव के जतन के लिये सीता ने लंकापति रावण की अशोक वाटिका में कष्ट सहन किये थे । पितृ–वचन की रक्षा हेतु श्री राम ने हँसते–हँसते अयोध्या का राजा–त्याग कर वनवास की राह पकडना पसन्द

किया था ।

१. व्रत का स्मरण : जब हमारे शुभ भावों पर अशुभ भावों का आक्रमण होता हैं, तब हमें अंगीकृत व्रत / प्रतिज्ञा का सतत स्मरण करना चाहिये । फलतः आत्मा में ऐसी अजेय शक्ति का प्रादुर्भाव होता है कि जिसके बल से, आधार से, अशुभ भावों को भगाने में क्षण का भी विलम्ब नहीं लगता । झांझरिया मुनि पर जब कामोन्मत्त सुन्दरी ने आक्रमण किया था, तब मुनिवर ने शान्त–चित्त से यही कहा था :

मन–वचन–काया से ग्रहित,
लिया व्रत नहीं भंग करूँ ।
अविचल रहुँ ध्रुव सा निज तप में
पुनः संसार का न मोह धरूँ ॥

२. गुणशालियों का सम्मान : गुणशाली का मतलब है शुभ भावनाओं के शस्त्रास्त्रों से सज्ज सैनिक ! इनके प्रति अगाध श्रद्धा, परम भक्ति और अपार प्रीति–भाव रखने से संकट काल में वे हमारी सहायतार्थ दौड़े आते हैं और हमारे आत्मधन की रक्षा करते हैं ।

३. पाप–जुगुप्सा : हमने जिन पापों का परित्याग कर दिया है, उनके प्रति कभी किसी प्रकार का आकर्षण पैदा न हो । मोह की सुप्त भावना उत्पन्न न हो जाए, अतः सदैव उन पापों से घृणा करनी चाहिए । उनके सम्बन्ध में हमारे मन में नफरत की चिंगारी सुलगनी चाहिए । जिस तरह ब्रह्मचारी के दिल में अब्रह्म पाप–क्रिया से नफरत होती है ।

४. परिणाम–आलोचन : पाप–क्रिया से होनेवाले परिणाम और धर्म–क्रिया के परिणाम पर हमें निरन्तर विचार करना चाहये, चिन्तन–मनन करना चाहिये । **'दुःखं पापात् सुखं धर्मात्'** सूत्र स्मृति में रहना चाहिए ।

५. तीर्थंकर भक्ति : देवाधिदेव तीर्थंकर भगवान का नामस्मरण दर्शन–पूजन और उनके अनन्त उपकारों का सतत स्मरण–चिन्तन जरूरी है । साथ ही उनके प्रति अनन्य प्रीति–भाव धारण करने से हमारे शुभ भावों में निरन्तर वृद्धि होती रहती है ।

६. सुसाधु–सेवा : मोक्षमार्ग के अनुकूल आचरण रखनेवाले साधु पुरुषों की आहार, वस्त्र, जल, पात्र, औषधादि से उत्कट सेवा और भक्ति करनी चाहिए।

७. उत्तर गुण श्रद्धा : पच्चक्खाण, गुरुवन्दन, प्रतिक्रमण, तप–त्याग, विनय–विवेक आदि विभिन्न शुभ–क्रियाओं में सदा–सर्वदा प्रवृत्तिशील रहना चाहिये।

इस तरह की प्रवृत्ति से सम्यग्ज्ञानादि, संवेग–निर्वेद आदि भाव नष्ट नहीं होते और जिनमें ये प्रगट नहीं हुए हैं, उनमें वे भाव पैदा होते हैं और अन्तिम ध्येय स्वरूप परमानन्द की प्राप्ति होती है।

क्षायोपशमिके भावे, या क्रिया क्रियते तया।
पतितस्यापि तद्भावप्रवृद्धिर्जायते पुनः ॥९॥६॥

अर्थ : क्षायोपशमिक भाव में जो तपसंयम–युक्त क्रिया की जाती है, उसके माध्यम से गिरी हुई जीवात्मा में पुनः उस भाव की वृद्धि होती है।

विवेचन : आत्मविशुद्धि की साधना यानी नगाधिराज हिमालय की ऊँची पर्वत–श्रेणियों का आरोहण ! यह कार्य अत्यन्त कठिन और दुष्कर है ! सजग आरोहक भी यदि सावधानी न बरते और सूझ–बूझ से काम न ले तो कभी–कभार फिसलते देर नहीं लगती। इसमें आश्चर्य करने जैसी कोई बात नहीं है, बल्कि आश्चर्य और अचरज तब होता है, जब गहरी खाई में गिरा आरोहक पुनः दुगुने उत्साह से और अपूर्व जोश से गिरि आरोहण करने का साहस करता है, पुरुषार्थ करता है।

ऐसे आत्मविशुद्धि के भावशिखर पर आरोहण करते हुए फिसलकर गिरे, पतन की गहरी खाई में दबे आराधक की निराशा को परमाराध्य उपाध्यायजी महाराज पूरी तरह दूर करके उसे पुनः आरोहण के लिये सन्नद्ध करते हैं। उसका स्पष्ट शब्दों में मार्ग–दर्शन करते हैं।

यदि ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अन्तराय कर्मों के क्षयोपशम से तप और संयम के अनुकूल क्रिया करने लगे, तब निःसंदेह तुम्हारे

अन्तर की गहराईयों में तप एवं संयम, ज्ञान और वैराग्य, दान और शील के भावों की वृद्धि होने लगेगी । तप और संयम के अनुकूल जो भी अनुष्ठान करो, वह निर्विवाद रूप से सुदृढ और उग्र पुरुषार्थ रुप होना चाहिए ।

यह बात उस पतित आराधक को परिलक्षित कर कही गयी है, जो साधु–वेष में है, जिसका दैनन्दिन आचरण और दिनचर्या भी साधु जैसी ही है, लेकिन जो भाव–साधुता के भाव से कोसों दूर चला गया है । जिसमें संयमभाव का अंश तक नहीं हैं । ठीक उसी तरह वेश श्रावक की है, लेकिन जिसमें श्रावकजीवन के लिये आवश्यक तप–संयम–भाव का पूर्णतया अभाव है । ऐसी विषम परिस्थिति में यदि उसे साधु / श्रावक को पुन: शुभ भाव में स्थिर होना है, अपने मूल स्वरुप को प्राप्त करना है, तो उसे दृढ़ संकल्प के साथ ज्ञान–दर्शन चारित्र के लिये पोषक क्रियायें करने का पुरुषार्थ करना चाहिये ।

मान लो, किसी साधु का मन विषय वासना से उद्दीप्त हो गया । उसका ब्रह्मचर्य का भाव भंग हो गया । तब वह सोचने लगे कि "मैं विषय–वासना से पराजित हो गया हूँ । मैं चौथे व्रत का पालन करने में पूर्ण रुप से असमर्थ हूँ । अत: अब साधुता में क्या रखा है ? क्यों न इसका (साधु–जीवन का) परित्याग कर गृहस्थ बन जाऊँ... ?" तब उसका उत्कर्ष और उत्थान प्राय: असम्भव है । पुन: वह संयम–मार्गी हर्गिज नहीं बन सकता । लेकिन इससे विपरीत, उसे यों सोचना चाहिए कि "अरे, यह मेरी कैसी दुर्बलता है ? मुझमें कैसी कमी रह गयी है कि साधुता ग्रहण करने के बावजूद भी मैं साधु–जीवन के मूलाधार ऐसे ब्रह्मचर्य व्रत के भाव से च्युत हो गया हूँ, नि:सत्त्व और पंगु बन गया हूँ, अब मेरी आत्मा का क्या होगा ? मैं परम विशुद्धि की मंजिल कैसे पा सकूंगा ? फिर एक बार मैं संसार–सागर में डूब जाऊँगा ? मेरा सत्यानाश हो जायेगा यह मुझे किसी भी कीमत पर मंजूर नहीं / स्वीकार नहीं । अत: मैं प्रयत्नों की पराकाष्ठा कर खोये हुए ब्रह्मचर्य के भाव को दुबारा पाये बिना चैन की साँस न लूँगा । मैं ब्रह्मचर्य का दृढ़ता से पालन करूँगा । उन्माद और पागलपन को छोड़ दूँगा । घोर तप करूँगा, मन को ज्ञान की शृंखला से जकड़े रखूँगा । चारित्र की हर क्रिया में अप्रमत्त बन दुष्ट आचार–विचारों को दुबारा घुसने न दूँगा । मुझे अपने संकल्प में पराजित होकर पीछे नहीं हटना है ।

ऐसे समय में पूज्य उपाध्यायजी महाराज विश्वास दिलाते हैं कि अगर इस तरह दृढ़ संकल्प से वह साधुजीवन की साधना में लग जाए, तो अल्पावधि में ही पुनः व्रत के पवित्र भाव से प्लावित होते देर नहीं लगेगी ।

शुभ क्रिया तो शुभ भाव की बाड़ है, कंटीली और मजबूत । यदि उसमें कोई छेद कर दे, तो अशुभ भाव रुपी पशुओं को घुसते देर नहीं लगेगी और शुभभाव की हरी–भरी फसल को पल भर में चट कर जायेंगे । गँवार किसान भी यह भली–भाँति जानता है कि बाड़ के बिना फसल की रक्षा नहीं हो सकती। तब भला बुद्धिमान साधक इस तथ्य और सत्य को क्या नहीं समझ सकता ? वह जरूर समझता है । लेकिन क्या करे, राह जो भटक गया है । महाव्रत / अणुव्रतादि के भाव और दर्शन–ज्ञान–चारित्र के भावों की सुरक्षा तथा संरक्षण के लिये ही अनंतज्ञानी परमात्मा जिनेश्वरदेव ने तप–संयमादि अनेकविध क्रियाओं का निरूपण किया है । अतः क्रियाओं का परित्याग कर शुभ–भाव में वृद्धि और रक्षा की बात करना सरासर मूर्खता है । यह शाश्वत् सत्य है कि अशुभ भावों की जन्मदात्री अशुभ क्रियायें ही हैं, जिसे कोई झुठला नहीं सकता । अतः इनका सदन्तर त्याग ही मोक्ष–मार्ग का सुनहरा सोपान है, जिसका आरोहण करना हर साधक का परम कर्तव्य है ।

गुणवृद्धयै ततः कुर्यात् क्रियामस्खलनाय वा ।
एकं तु संयमस्थानं, जिनानामवतिष्ठते ॥९॥७॥

अर्थ : अतः गुण की वृद्धि हेतु अथवा उसमें से स्खलन न हो जायें इसलिये क्रिया करना आवश्यक है । एक संयम स्थानक तो केवलज्ञानी को ही होता है ।

विवेचन : जीवात्मा का साधना के समय केवल एक ही लक्ष्य, एक ही ध्येय और एक ही आदर्श रहना चाहिये और वह है, 'गुणवृद्धि' । प्रत्येक शुभ/शुद्ध क्रिया का लक्ष्य / ध्येय और आदर्श एक मात्र आत्मगुणों की अभिवृद्धि ही होना चाहिये । व्यापारी दुकान के जरिये सिर्फ एक ही मकसद पूरा करने में हमेशा जुटा रहता है और वह मकसद है धनवृद्धि । धन बटोरने के लिये, सम्पत्ति इकट्ठी करने के लिये वह हर सम्भव मार्ग अपनाता है, उपाय और योजनाओं को

कार्यान्वित करता रहता है । भले ही उसका प्रयास, अपनाया हुआ मार्ग अपार कष्ट और अथक परिश्रमवाला क्यों न हो ? लेकिन वह लक्ष्य–पूर्ति के लिये सदा–सर्वदा सचेत, सजग और सन्नद्ध रहता है और जैसे–जैसे धन–वृद्धि होती जाती है, उसके पुरुषार्थ में बढ़ोतरी होती जाती है । उसका पुरुषार्थ दीर्घकालीन होता जाता है और यह सब करते हुए उसके उत्साह का ठिकाना नहीं रहता ।

ठीक उसी तरह धार्मिक क्रियात्मक साधना, गुणवृद्धि हेतु खोली गयी दुकान ही है और क्रियात्मक व्यापारी की प्रत्येक क्रिया का लक्ष्य / ध्येय गुणों की वृद्धि ही होना चाहिए । जिन–जिन क्रियाओं के माध्यम से गुणवृद्धि होने की सम्भावना है, भले ही वे क्रियायें कष्टप्रद और परिश्रम से परिपूर्ण क्यों न हों, गुणवृद्धि के अभिलाषी को हँसते–हँसते करनी चाहियें और जैसे–जैसे गुणवृद्धि होती जायेगी, वैसे–वैसे उसके पुरुषार्थ में एक प्रकार की स्थिरता और दीर्घकालीनता का आविर्भाव होता जाएगा । फलतः उक्त क्रिया का आनन्द ब्रह्मानन्द–चिदानन्द में परिवर्तित होते विलम्ब नहीं होगा ।

यहाँ हम कुछ महत्त्वपूर्ण क्रियाओं पर विचार करते हैं ।

सामायिक : इसका ध्येय / लक्ष्य समतागुण की वृद्धि होना चाहिये। जैसे–जैसे सामायिक की क्रिया कार्यान्वित होती जाये, वैसे–वैसे आत्म–कोष में समतागुण की वृद्धि होनी चाहिये और सुख–दुख के प्रसंग पर उन्माद–शोक की वृत्तियाँ मन्द होनी चाहियें । साथ ही प्रतिदिन, प्रतिमाह और प्रतिवर्ष हमें आत्मनिरीक्षण करना चाहिये कि सामायिक क्रिया के माध्यम से हमने क्या पाया ? राग-द्वेष कम हुए हैं या नहीं ? क्रोध–वृत्ति में कमी हुई है अथवा नहीं ? वैसे सामायिक की क्रिया निरन्तर गुणवृद्धि करनेवाली और समतागुण की एकमेव संरक्षण–शक्ति है ।

प्रतिक्रमण : पापजुगुप्सा, पापनिन्दा, पाप–त्याग के गुण की वृद्धि के लिये क्रिया की जाती है । इसके माध्यम से गुणवृद्धि के साथ–साथ जीवात्मा पाप–स्खलन से बच जाता है ।

तपश्चर्या : आत्मा के अनाहारीपन के गुण की वृद्धि के लिये और आहारसंज्ञा के दोष के क्षय हेतु प्रस्तुत क्रिया अनिवार्य है । इसके बिना दोष–

क्षय अथवा अनाहारीत्व गुण की वृद्धि प्रायः असम्भव है ।

गुरुसेवा : विनय, विवेक, आज्ञांकिता, लघुता, नम्रतादि, गुणों की अभिवृद्धि के लिये गुरुसेवा और गुरुभक्ति जैसी क्रियायें अनन्य साधन हैं । सावधानी के साथ यदि इसका अवलम्बन लिया जाय, तो गुण–वृद्धि दूर नहीं है । अन्यथा जो गुण हैं, उनका लोप होते देर नहीं लगती ।

तीर्थयात्रा : परमात्मा के प्रति प्रीति, भक्ति और श्रद्धाभाव प्रदर्शित करने के लिये और स्व–गुणवृद्धि हेतु तीर्थयात्रा एक महत्त्वपूर्ण आलम्बन है । विविध तीर्थों की यात्रा, जीवात्मा में परमेश्वर के प्रति अगाध भक्ति अनुपम प्रीति और अनिवर्चनीय श्रद्धाभाव पैदा करती है और गुणवृद्धि करने में सहायक सिद्ध होती है । लेकिन प्रस्तुत गुणों को विकसित करने की तमन्ना होना आवश्यक है । गुणों के बिना सारा जीवन सूना लगना चाहिये ।

इस तरह दान, शील, तप, स्वाध्याय, संलेखना, अनशन इत्यादि विविध अभिग्रह वगैरह क्रियायें नित नये गुणों के विकास और वृद्धि के लिये करनी चाहियें । इसके अभाव में गुणप्राप्ति, गुणवृद्धि और गुणरक्षा प्रायः असम्भव है। क्योंकि छद्मस्थ जीवों के संयम–स्थान, अध्यवसाय–स्थान चंचल होने के साथ–साथ लोप होने के स्वभाववाले हैं । केवलज्ञानी समस्त गुणों से युक्त होते हैं । अतः उनके लिये गुणक्षय अथवा गुणों के पतन जैसा कोई भय नहीं है । साथ ही उनका संयमस्थान अप्रतिपाती–स्थिर होता है ।

वचोऽनुष्ठानतोऽसंगाक्रियासंगतिमंगति ।
सेयं ज्ञान क्रियाऽभेदभूमिरानन्दपिच्छला ॥९॥८॥

अर्थ : वचनानुष्ठान से असंग क्रिया की योग्यता प्राप्त होती है । वह ज्ञान और क्रिया की अभेद भूमि है, साथ ही आत्मा के अभेद से आप्लावित है ।

विवेचन : जब देवाधिदेव जिनेश्वर भगवन्त की प्रीति–भक्ति में जीवात्मा पूर्णरूप से आप्लावित हो जाए, आत्मा का एक–एक प्रदेश भक्तिभाव के सुगंधित जल से अभिषिक्त हो जाता है, तब उसमें ऐसा विशुद्ध वीर्य उल्लसित

हो उठता है कि जिसके माध्यम से अपने प्रियतम परमात्मा के गहन वचनों को यथार्थ रुप में समझने में शक्तिमान बन जाता है और तदनुसार यशासम्भव पुरुषार्थ करने के लिये कटिबद्ध बनता है ।

फलतः उत्सर्ग और अपवाद, निश्चय और व्यवहार, नय और प्रमाणादि के वास्तविक ज्ञान के साथ-साथ सर्वत्र वह आत्मा के लिये अनुकूल प्रवृत्ति करने के लिये तत्पर बन जाता है । तब वह 'असंग–अनुष्ठान' की सर्वोत्तम योग्यता प्राप्त करता है । ऐसी स्थिति में ज्ञान और क्रिया के बीच रहा अन्तर / भेद अपने आप दूर हो जाता है और दोनों परस्पर एक दूसरे के भाव में समरस हो जाते हैं ।

असंग–अनुष्ठान की भूमि में भाव स्वरुप क्रिया, शुद्ध उपयोग और शुद्ध वीर्योल्लास में एकाकार हो जाती है । तीनों का स्वरुप भिन्न नहीं रहता, बल्कि सुभग–सुन्दर त्रिवेणी–संगम बन जाता है । वे अपने अलग अस्तित्व को तिलांजलि देकर परस्पर तादात्म्य साध लेते हैं । तब आत्मा स्वाभाविक आनन्द के अमृतरस में तरबतर हो जाती है । फलतः इससे परम तृप्ति का अनुभव करते हुए 'जिनकल्पी' 'परिहार विशुद्धि' साधु / महात्मा इस जीवन में परम सुख का रसास्वादन करते रहते हैं ।

ऐसी सर्वोच्च अवस्था प्राप्त करने के लिये निम्नांकित चार बातें बतायी हैं ।

१. परमात्मा जिनेश्वर देव के प्रति अनन्य प्रीति ।

२. परमात्मा जिनेश्वर देव के प्रति श्रद्धा–भक्ति ।

३. परमात्मा जिनेश्वर देव के वचनों का सर्वांगीण ज्ञान ।

४. उक्त ज्ञान के माध्यम से जिनवचनानुसार जीवन पावन करने हेतु महापुरुषार्थ ।

जब परमात्मा जिनेश्वर देव के प्रति प्रीति–भक्ति का भाव हो जाता है, तब संसार के भौतिक / पौद्गलिक पदार्थों के साथ स्नेह–सम्बन्ध नहीं रह पाता । शब्द, रूप, रस और गन्ध के बन्धन टूटने लगते हैं । मोहान्ध कामान्ध जीवों का

आदर–सत्कार करने की प्रवृत्ति बन्द हो जाती है । संसार विषयक, बातों को जानने की, समझने की, अवलोकन करने की और सुनने की वृत्ति अप्रिय लगने लगती है । जीवन में से पापमय पुरुषार्थ लुप्त होने लगता है और एक दिन ऐसा आता है, जब इन समस्त कुप्रवृत्तियों से पीछा छुड़ाकर परमात्मा के मधुर–मिलनार्थ जीवात्मा संयम–मार्ग की ओर अग्रसर होता है, दौड़ लगा देता है । उस समय उसे किसी बात की परवाह नहीं होती । भले फिर मार्ग कंटकाकीर्ण और ऊबड़–खाबड़ क्यों न हो ? मूसलाधार वर्षा और देह को कंपायमान करनेवाली सर्द रात क्यों न हो ? उसे इनका कतई अनुभव नहीं होता । अपितु उसकी कल्पना–दृष्टि में सिर्फ एक 'परमात्मा' के अतिरिक्त, कुछ नहीं होता । वह निरन्तर बढ़ता ही जाता है । गति में बाधा नहीं पडने देता और जैसे–जैसे आगे बढ़ता है, वैसे–वैसे उसके आनन्द, उत्साह और उल्लास का पार नहीं रहता है ।

तात्पर्य यह है कि जब तक गुणों की पूर्णता प्राप्त न हो तब तक जीवात्मा को चाहिये कि वह जिनेश्वर देव द्वारा निरूपित क्रियाओं को निरन्तर करता ही रहे । उन क्रियाओं की जानकारी प्राप्त कर केवल कृतकृत्य होना नहीं है । यदि क्रिया को त्याग दिया, तिलांजलि दे दी, तो ज्ञान एक तरफ धरा रह जाएगा और जीवन नानाविध पाप–क्रियाओं से सराबोर हो जाएगा । तब तुम्हारे ज्ञान का उपयोग उन्हें जडमूल से उखाड़ फेंकने के बजाय उनको पुष्ट करने के लिये होगा और तब परिणाम यह होगा कि आत्मा की उन्नति के बजाय अवनति / पतन होते पल का भी विलम्ब न होगा । आत्मा की ऐसी दुर्दशा न हो, अतः उपाध्यायजी महाराज धर्मक्रियाओं को कार्यान्वित करने में मन–वचन–काया से लग जाने की / जुट जाने की प्रेरणा देते हैं ।

• • •

१०. तृप्ति

अतृप्त मानव संसार की गलियों में भटक–भटक कर तृप्ति की परिशोध कर रहा है। उत्तरोत्तर उसकी अतृप्ति एवं तृष्णा बढ़ती ही जा रही है। अतिशय श्रम, संताप, बेचैनी और उद्विग्नता से थका–हारा वह निरूद्देश्य, जहाँ आशा की धुंधली किरण देखी, वहाँ अनायास आगे बढ़ जाता है। ऐसे तन–मन से बावरे बने मानव को यहाँ परम तृप्ति का मार्ग बताया गाया है। इस पर चलकर ऐसी तृप्ति प्राप्त कर लो कि फिर जीवन में दुबारा अतृप्ति की तड़प और बेचैनी पैदा होने का सवाल ही न उठे। अमृत–सिंचन से जीवन–बगिया पुनः महक उठेगी। जहाँ नजर डालोगे, सर्वत्र तृप्ति ही तृप्ति के दर्शन होंगे। साथ ही कभी न अनुभव किया हो, ऐसे परमानन्द की प्राप्ति होगी।

अतृप्ति की धधकती ज्वालाओं को शान्त कर जीवन को हरा–भरा बनाने हेतु प्रस्तुत अष्टक का पठन–मनन करना अत्यावश्यक है।

पीत्वा ज्ञानामृतं भुक्त्वा, क्रियासुरलताफलम्।
साम्यताम्बूलमास्वाद्य, तृप्ति याति परां मुनिः ॥१०॥१॥

अर्थ : ज्ञान रुपी अमृत का पानकर और क्रिया रुपी कल्पवृक्ष के फल खाकर समता रुपी तांबूल चखकर साधु परम तृप्ति का अनुभव करता है।

विवेचन : परम तृप्ति, जिसको पाने के बाद कभी अतृप्ति की आग प्रदीप्त न हो, वह पाने का कैसा तो सुगम / सरल और निर्भय मार्ग बताया है! हमेशा ज्ञानामृत का मधुर पान करो, क्रिया-सुरलता के फलों का रसास्वादन करो और तत्पश्चात् उत्तम मुखवास से मुँह को सुवासित करो।

ऐसे अलौकिक ज्ञानामृत को छोड़कर भला, किसलिये जगत के भौतिक पेय का पान करने के लिये ललचाना ? अपने आप में मलिन, पराधीन और क्षणार्ध में विलीन हो जानेवाले भौतिक पेय पदार्थों का पान करने से जीवात्मा का मन राग-द्वेष से मलिन बनता है। साथ ही इन पेय पदार्थों की प्राप्ति हेतु प्रायः अन्य जीवों की गुलामी, अपेक्षा और खुशामदखोरी करनी पड़ती है। अवांछित लोगों का मुँह देखना पड़ता है और यदि मिल भी जाये तो उनका सेवन क्षणिक सिद्ध होता है। पुनः इन की प्राप्ति के लिये पहले जैसी ही गुलामी और चाटुकारिता ! तब कहीं घंटे दो घंटे का आनन्द ! ऐसी परिस्थिति में संसार के विषचक्र में फंसा जीव भला, किस तरह अन्तरंग / आन्तरिक आनन्द–महोदधि में गोते लगा सकता है ? उसके लिये प्रायः यह सब असम्भव है। इसके बजाय बेहतर है कि भौतिक पेय पदार्थों का पान करने की लत को ही छोड़ दिया जाय। क्षणिक मोह को त्याग दिया जाए। मेरे आत्मदेवता ! जागो, कुम्भकर्णी नींद का त्याग करो और ज्ञान से छलकते अमृतकुम्भ की तरफ नजर करो। इसे अपनाने के लिये तत्पर बनो। प्रस्तुत अमृत–कुम्भ को निरन्तर अपने पास रखो और जब कभी तृषा लगे, तब जी भर कर इसका पान करो। यह करने से ना ही राग-द्वेष से मलिन बनोगे, ना ही स्वार्थी लोगों की खुशामद करनी पड़ेगी और ना ही इस संसार में दर–दर भटकने की बारी आएगी।

तब यह प्रश्न खड़ा होगा कि भोजन कौन सा किया जाए ? लेकिन यों घबराने से काम नहीं चलेगा। शान्ति से विचार करोगे, तो उसका मार्ग भी निकल आएगा। सर्व रसों से परिपूर्ण, अजेय शक्तिदायी और यौवन को अखंड रखनेवाला भोजन भी तुम्हारे लिये तैयार है। तुम इसे ग्रहण करने के लिये अपना भोजन–पात्र जरा खोलो। उफ, तुम्हारा पात्र तो गंदा है। उसमें न जाने कैसी गंदगी है ? दुर्गन्ध उठ रही है ! पहले अपने पात्र को स्वच्छ करो। अस्वच्छ और गंदे पात्र में भला ऐसा उत्तम और स्वादिष्ट भोजन कैसे परोसा जाये ? गंदे पात्र में ग्रहण किया गया सर्वोत्तम भोजन भी गन्दा, अस्वच्छ और दुर्गन्धमय होते देर नहीं लगती। वह असाध्य बीमारी और रोगों का मूल बन जाता है। अरे भाई, तुम्हारे सामने ऐसा सरस, स्वादिष्ट और सर्वोत्तम भोजन तैयार होने पर भी भला तुम्हें जूठे भोजन का मोह क्यों है ? क्या तुम जूठन का मोह छोड़ नहीं सकते ?

आज तक बहुत खाली जूठन ! अब तो जूठन खाने का दुराग्रह छोड़ो । क्या तुम नहीं जानते कि जूठन खा–खाकर तुम्हारा शरीर न जाने कैसी भयंकर बीमारी और असाध्य रोगों का घर बन गया है ?

श्रावक–जीवन और साधु–जीवन की पवित्र क्रियायें ही यथार्थ में कल्पवृक्ष के मधुर फल हैं, उत्तम खाद्य हैं । लेकिन भोजन करने के पूर्व आत्मा रुपी भाजन में रही पाप–क्रियाओं की जूठन को बाहर फेंक, कर भाजन को स्वच्छ करना आवश्यक है । मतलब यह है कि पापक्रियाओं का पूर्णरूप से त्याग कर धर्मक्रियाओं का आलम्बन ग्रहण किया जाए, तभी भोजन के अपूर्व स्वाद का अनुभव हो सकता है ।

भोजनोपरान्त मुखवास की भी गरज होती है न ? स्वर्गीय सुवास से युक्त समता ही मुखवास है । ज्ञान का अमृत–रस पीकर और सम्यक्–क्रिया के स्वादिष्ट भोजन का सेवन करने के पश्चात् यदि समता का मुखवास ग्रहण न किया, तो सारा मजा किरकिरा हो जाएगा । भोजन का अपूर्व आनन्द अधूरा ही रह जाएगा और तृप्ति की डकारें नहीं आयेंगी ।

गहन / गंभीर चिन्तन–मनन के पश्चात् प्राप्त पर तृप्ति के मार्ग को परिलक्षित कर, जब हृदयभाव–संचार की ओर प्रवृत्त होता है तभी मार्मिक प्रभाव का उद्‌भव होता है । यहाँ उपाध्यायजी महाराज के तर्क की कोई करामात नहीं है, बल्कि उनकी अपनी भावप्रेरित प्रतीति है । जब हमें भी इसकी प्रतीति हो जाएगी, तब हम भी सोत्साह उक्त परम तृप्ति के मार्ग पर दौड़ लगायेंगे । फलस्वरूप जगत के जड़ भोजन की और गंदे पेय पदार्थों की मोहमूर्च्छा मृतप्रायः बन जाएगी । ज्ञान–क्रिया और समता–भाव का जीवात्मा में प्रादुर्भाव होगा और तदुपरान्त मुनिजीवन की उत्कट मस्ती प्रकट होगी, पूर्णानन्द की दिशा में महाभिनिष्क्रमण होगा । वह सारे संसार के लिये एक चमत्कारपूर्ण अद्‌भुत घटना होगी । परिणाम यह होगा कि असंख्य जीव, मुनिजीवन के प्रति आकर्षित होंगे, उससे उत्कट प्रेम करने लगेंगे और उसे अपनाने के लिये उत्सुक बन कर सोत्साह आगे बढ़ेंगे ।

अतः हे जीव ! क्षणिक तृप्ति का पूर्णरूप से परित्याग कर परम / शाश्वत्

तृप्ति की प्राप्ति हेतु मंगल पुरुषार्थ का श्री गणेश करो ।

स्वगुणैरेव तृप्तिश्चेदाकालमविनश्वरी ।
ज्ञानिनो विषयैः किं तैर्यैर्भवेत् तृप्तिरित्वरी ॥१०॥२॥

अर्थ : यदि ज्ञानी को अपने ज्ञानादि गुणों से कालान्तर में कभी विनाश न हो, ऐसी पूर्ण तृप्ति का अनुभव हो तो जिन विषयों की सहायता से अल्पकालीन तृप्ति है, ऐसे विषयों का क्या प्रयोजन ?

विवेचन : पाँच इन्द्रियों के प्रिय विषयों का आकर्षण तब तक ही सम्भव है, जब तक आत्मा ने स्वयं में झांक कर नहीं देखा है, वह अन्तर्मुख नहीं हुई है । उसके ज्ञान–नयन खोल कर अपनी ओर देखने भर की देर है कि उसे ऐसे अभौतिक रूप, रंग, गन्ध, स्पर्श और रसादि के दर्शन होंगे कि उसकी अनादिकाल–पुरानी अतृप्ति क्षणार्ध में ही खत्म हो जायेगी । सदा–सर्वदा के लिये उसके पास रहनेवाली अनुपम तृप्ति की झांकी होगी ! ऐसी अद्‌भुत तृप्ति की प्राप्ति के पश्चात् भला, कौन जगत के पराधीन, विनाशी और अल्पजीवी विषयों की ओर आकर्षित होगा ?

हृदय–मन्दिर की देवी–प्राणप्रिया के मंजुल स्वरों की मृदुता और प्रीतिरस से आप्लावित भक्तगणों की मीठी बोली सुनकर जो तृप्ति होती है, मानो या न मानो वह अल्पजीवी ही है, अल्पावधि के लिये है । क्योंकि समय के साथ प्रेयसी के स्वभाव में भी परिवर्तन की सम्भावना है और तब उसके हृदय–भेदी शब्द–बाणों से तुम्हारा मन छिन्न–भिन्न होते देर नहीं लगती । ठीक वैसे ही भक्तिशून्य बने भक्तों की विषैली बातें जब तुम्हारा अपवाद फैलाती हैं, तब कहाँ जाती है वह तृप्ति ?

तब क्या मादक सौन्दर्य का दर्शन कर तृप्ति मिलती है ? नहीं, यह भी असम्भव है । भले ही स्वर्गलोक की अनुपम सुन्दरी उर्वशी–सा मादक रूप क्यों न हो ? एक–सा रूप कभी किसी का टिका है ? एक ही वस्तु या व्यास को बार–बार देखने से मन कभी भरा है ? मतलब यह कि एक ही वस्तु निरन्तर आनन्द नहीं देती सुख का अनुभव नहीं कराती । ज्ञानीजनों को इसकी सही परख

होती है । ज्ञानदृष्टि, शरीर के सौन्दर्य के नीचे रही हड्डी–मांस के अस्थि–पिंजर को भली भांति देखती है । उसकी बीभत्सता को जानती है । अतः रूप–रंग उन्हें आकर्षित नहीं कर सकते । बल्कि उन्हें तो आत्म–देवता के मन्दिर में प्रतिष्ठित परमात्मा के कमनीय बिम्ब की सुन्दरता इस कदर प्रफुल्लित कर देती है कि निर्निमेष नेत्रों से उसकी ओर देखते नहीं अघाते । उसके दर्शन में लयलीन हो जाते हैं, साथ ही इसमें ही परम–तृप्ति का अनुभव करते हैं ।

विश्व में ऐसा कौन सा रस है, जिसका वर्षों तक कई जन्म में उपभोग करने के पश्चात् भी मानव को तृप्ति हुई है ? तुमने जन्म से लेकर आज तक क्या कम रसों का अनुभव किया है ? तृप्त हो गये ? मिल गयी तृप्ति ? नहीं, कदापि नहीं और मिली भी तो क्षणिक ! पल दो पल के लिये, घंटे दो घंटे के लिये । इसी तरह दिन, मास और एकाध वर्ष के लिये । बाद में वही अतृप्ति !

अब तो तुम्हारे मन में किसी विशेष फूल की सुवास और विशेष प्रकार के इत्र की सुगन्ध की चाह नहीं रही न ? तृप्ति हो गयी ? अब तो उस सुवास और सुगन्ध के लिये कभी आकुल–व्याकुल, अधीर नहीं बनोगे न ? जब तक स्वगुण की सुवास के भ्रमर नहीं बनेंगे, तब तक जड़ पदार्थों की परिवर्तनशील सुवास के लिये इस संसार में निरुद्देश्य भटकते ही रहेंगे । यह सत्य और स्पष्ट है कि स्वगुणों में (ज्ञान–दर्शन–चारित्र) तल्लीन / तन्मय बनते ही भौतिक पदार्थों की मादक सौरभ भी तुम्हारे लिये दुर्गन्ध बन जाएगी ।

कोमल, कमनीय और मोहक काया का स्पर्श भले तुम आजीवन करते रहो । उसमें ओत–प्रोत होकर स्वर्गीय सुख निरन्तर लूटते रहो, लेकिन यह शाश्वत् सत्य है कि उससे तृप्ति मिलना असम्भव है । "अब बस हो गया । विषय–भोग बहुत कर लिये, अब तो तृप्ति मिल गयी ।" ऐसे उद्‌गार भी तुम्हारे मुख से प्रकट नहीं होंगे ।

जहाँ स्वगुण में सत्...चिद्... आनन्द की मस्ती छा गयी, वहाँ परम ब्रह्म के शब्द, परम ब्रह्म का सौन्दर्य, परम ब्रह्म का रस, परम ब्रह्म की सुगन्ध और परम ब्रह्म के स्पर्श की अनोखी, अविनाशी, अलौकिक सृष्टि में पहुँच गये, तब भला जड़ पदार्थों के शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि विषयों की क्षणिक तृप्ति

का प्रयोजन ही क्या है ?

नन्दनवन में पहुँचने के बाद पृथ्वी के बगीचे की क्या गरज है ? किन्नरियों की मादक सुरावलि की तुलना में गर्दभ–राग की क्या आवश्यकता ? अद्वितीय रूप–यौवना अप्सराओं की कमनीयता के मुकाबले भीलनियों की सुन्दरता किस काम की ? कल्पवृक्ष के मधुर फल चखने के बाद नीम के रस का क्या प्रयोजन ? देवांगनाओं के मादक स्पर्श–सुख की विसात में, हड्डी–माँस के बने मानव की संगति का क्या मोह ? ज्ञानी वही है, जिसके मन में शब्दादि विषयों की अपेक्षा न रही हो, आकर्षण खत्म हो गया हो, संग–व्यासंग की वृत्ति नष्टप्रायः हो गयी हो । क्योंकि ज्ञानी बनने के लिये भी यही उपाय सर्वश्रेष्ठ है।

या शान्तैकरसास्वादाद् भवेत् तृप्तिरतीन्द्रिया ।
सा न जिह्वेन्द्रियद्वारा षड्रसास्वादनादपि ॥१०॥३॥

अर्थ : शान्तरस के अद्वितीय अनुभव से (आत्मा को जो अतीन्द्रीय अगोचर तृप्ति होती है, वह जिह्वेन्द्रिय के माध्यम से षड्रसभोजन से भी नहीं होती ।

विवेचन : ना ही इष्ट–वियोग का दुःख, ना ही इष्ट–संयोग का सुख ! न कोई चिन्ता–सन्ताप, ना ही किसी पुद्गल–विशेष के प्रति राग-द्वेष । न कोई इच्छा–अपेक्षाएँ, ना ही कोई अभिलाषा–महत्त्वाकांक्षाएँ ! जगत के सभी भावों के प्रति समदृष्टि, वही शान्तरस कहलाता है ।

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता,
न राग-द्वेषो न च काचिदिच्छा ।
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः,
सर्वेषु भावेषु समप्रमाणः ॥ – साहित्य दर्पण

ऐसे शान्तरस का जन्म 'शम' के स्थायी भाव से होता है और यह भी सत्य है कि बिना पुरुषार्थ किये अपने आप ही शान्त रस पैदा नहीं होता । उसके लिये अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसारादि भावनाओं का सतत चिन्तन–मनन करते हुए विश्व के पदार्थों की निःसारता, निर्गुणता का ख्याल मन में दृढ़–सुदृढ़ बनाना पड़ता है । साथ ही परमात्मा–स्वरूप के संग प्रीति–भाव प्रगट करना

आवश्यक है । क्योंकि शान्तरस का यही एकमेव **'आलम्बन–विभाव'** है ।

यह सब करने के बावजूद भी 'रस' का उद्दीपन तभी और उस स्थान पर सम्भव है, जहाँ योगी पुरुषों का पुण्य–सान्निध्य हो । एकाध पवित्र, शान्त और सादा आश्रम हो । कोई रम्य और पवित्र तीर्थस्थान हो । वहाँ–हरीभरी दूब ओर चारों और हरियाली हो । जहाँ कल कल नाद की मधुर ध्वनि के साथ शीतल झरने निरन्तर प्रवाहित हों । संत–श्रमणश्रेष्ठों की शास्त्रपाठ और स्वाध्याय की धूनी रमी हो । निकटस्थ पर्वतमाला पर स्थित मनोरम मन्दिरों पर देदीप्यमान कलश हों और धर्मध्वज पूरी शान से इठलाता हुआ गगन में फहराता हो । साथ ही मधुर घंटनाद से आसपास का वातावरण आनन्द की लहरियों से भरा हो । क्योंकि शान्त रस के ये सब उद्दिपन–विभाव जो हैं ।

ऐसे मनोहारी वातावरण में 'शान्तरस' का प्रादुर्भाव होता है और तभी इसका जी भरकर आस्वादन करनेवाले मुनिराज परम सुख का / पूर्णानन्द का अनुभव करते हैं । ऐसे आह्लादक सुख की परम तृप्ति की अनुभूति तो क्या, बल्कि इसकी शतांश अनुभूति भी बेचारी इन्द्रियों को नहीं होती । षड्रस भोजन का रस भी शान्तरस की तुलना में नीरस और स्वादहीन होता है । तब भला जिह्वेन्द्रिय को ऐसे शान्तरस की अद्वितीय अनुभूति कैसे और कहाँ से सम्भव है ? मतलब, सर्वथा असम्भव है ।

इसके लिये परम पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने **'शान्तरस का आस्वाद'** शीर्षक का प्रयोग किया है । **'साहित्य दर्पण'** में शान्तरस के लिए विविध छह विशेषणों का उपयोग किया गया है :

सत्त्वोद्रेक : बाह्य विषयों से विमुख करानेवाला कोई आंतरिक धर्म अर्थात् सत्त्व । सत्त्व का उद्गम रज और तम भाव के पराभव के पश्चात् होता है और इसी में से सत्त्व के उत्कट भाव का प्रगटीकरण होता है । तथाविध अलौकिक काव्यार्थ का परिशीलन सत्त्वोद्रेक का मुख्य हेतु बनता है ।

अखंड : विभाव, अनुभाव, संचारी और स्थायी ये चारों भाव एकात्मक (ज्ञान और सुख स्वरूप) रूप धारण कर लेते हैं, जो परम आह्लादक और चमत्कारिक सिद्ध होते हैं ।

स्वप्रकाशत्व : रस स्वयं में ही ज्ञान स्वरूप स्वप्रकाशित है ।

आनन्द : रस सर्वथा आनन्द रूप है ।

चिन्मय : रस स्वयं सुखमय है ।

लोकोत्तरचमत्कारप्राण : विस्मय का प्राण ही रस है ।

'स्वाद' की परिभाषा करते हुए स्वयं 'साहित्यदर्पण'कार ने लिखा है कि **'स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः'** काव्यार्थ के परिशीलन से होनेवाले आत्मानन्द के समुद्भव का अर्थ ही स्वाद है । शान्तरस के महाकाव्यों के परिशीलन से पैदा हुआ स्वाद और उससे उत्पन्न महान् अतीन्द्रिय तृप्ति, षड्रसयुक्त मिष्टान्न–भोजन से प्राप्त क्षणिक तृप्ति से बढ़कर होती है ।

यहाँ षड्रस की तृप्ति उपमा है और ज्ञान–तृप्ति उपमेय । प्रस्तुत में **'व्यतिरेकालंकार'** रहा हुआ है । **'व्यतिरेकालंकार'** का वर्णन **'वाग्भटालंकार'** ग्रन्थ में निम्नानुसार किया गया है–

केनचिद्यत्र धर्मेण द्वयो संसिद्धसाम्ययोः ।
भवत्येकतराधिक्यं व्यतिरेकः स उच्यते ॥

किसी भी धर्म में उपमान अथवा उपमेय की विशेषता होती है, तब इस अलंकार का सृजन हो जाता है । प्रस्तुत में उपमेय 'ज्ञान–तृप्ति' में विशेषता का निरुपण किया गया है ।

ज्ञान–तृप्ति अनुभवगम्य है । यह किसी वाणी विशेष का विषय नहीं है । तृप्ति के अनुभव–हेतु आत्मा को अपने ही गुणों का अनुरागी बनना होता है ।

संसारे स्वप्नवन्मिथ्या तृप्तिः स्यादाभिमानिकी ।
तथ्या तु भ्रान्तिशून्यस्य, साऽऽत्मवीर्यविपाककृत् ॥१०॥४॥

अर्थ : सपने की तरह संसार में तृप्ति होती है, अभिमान–मान्यता से युक्त ! (लेकिन) वास्तविक तृप्ति तो मिथ्याज्ञान–रहित को होती है । वह आत्मा

के वीर्य की पुष्टि करनेवाली होती है ।

विवेचन : संसार में तुम विविध प्रकार की तृप्ति का अनुभव करते हो न ? वैषयिक सुखों में तुम्हें तृप्ति की डकार आती है न ? लेकिन यह निरा भ्रम है... हमारी भ्रान्ति ! केवल मृगजल, जो वास्तविकता से परिपूर्ण नहीं । यह भलीभाँति समझ लो कि सांसारिक तृप्ति असार है, मिथ्या है और मात्र भ्रम है।

सपने में षड्रसयुक्त मिष्टान्नों का भर–पेट भोजन कर लिया, सुवासित शर्बत का पान कर लिया और ऊपर से तांबूल–पान का सेवन ! बस, तृप्त हो गये ! इसीमें जीव ने अलौकिक तृप्ति का अनुभव कर लिया । लेकिन स्वप्न–भंग होते ही, निद्रा–त्याग करते ही, तृप्ति का कहीं अता–पता नहीं ।

सुरा–सुन्दरी और स्वर्ण के स्वप्नलोक में निरन्तर विचरण करनेवाली जीवात्मा, जिसे तृप्ति समझने की गल्ती कर बैठी है, वह तो सिर्फ कल्पनालोक में भरी एक उडान है जो वास्तविकता से परे और परमतृप्ति से कोसों दूर है । उससे जरूर क्षणिक मनोरंजन और मौज–मस्ती का अनुभव होगा, लेकिन स्थायित्व बिल्कुल नहीं । संसार के एशो–आराम और भोग–विलास की धधकती ज्वालाओं को पल, दो पल शान्त करने के पीछे भटकता जीव यह नहीं समझ पाता कि पल–दो पल के बाद ज्वाला शान्त होते ही, जो अकथ्य वेदना, असह्य यातना, ठंडे निश्वास, दीनता, हीनता और उदासीनता उसके जीवन में छा जाती है, वह हमेशा के लिये बेचैन, निर्जीव, उद्विग्न बनकर अशान्ति के गहरे सागर में डूब जाता है ।

पाँच इन्द्रियों के भोग्य विषयों का ऐश्वर्य प्राप्त करने और विलासिता में स्वच्छन्दतापूर्वक केलि–क्रीडा करने के लिये जीवात्मा न जाने कैसा पामर... दीन... निःसत्त्व और दुर्बल बन जाता है कि पूछो मत ! 'स'पर शान्त चित्त से विचार करना परमावश्यक है । उद्दीप्त वासनाओं के नग्न नृत्य में ही परमानन्द की कल्पना कर आकण्ठ डूबे मानव को काल और कर्म के क्रूर थपेडें में फँसकर कैसा करूणा रूदन, आक्रन्दन करना पड़ता है ! उसकी कल्पना मात्र से रोम–रोम सिहर उठता है ! इसकी वास्तविकता और संदर्भ को जानना हर जीव के लिये जरूरी है !

तभी भ्रम का जाल फटेगा ओर भ्रांति दूर होगी, तभी वास्तविक तृप्ति का मार्ग सुखद बनेगा । मिथ्या तृप्ति के अनादि आकर्षण का वेग कम होता जाएगा ।

इस तरह आत्मा के निर्भ्रान्त होते ही समकित को दिव्य दृष्टि प्राप्त होगी। इससे आत्मा, महात्मा और परमात्मा के मनोरम स्वरूप का दर्शन होगा, वास्तविक दर्शन होगा और तब स्वाभिमुख बनी आत्मा को सही आत्मगुणों का अनुभव होता है । इसी अनुभव की परम तृप्ति आत्मा के अनन्त वीर्य को पुष्ट करती है । इस प्रकार जब वीर्य–पुष्टि होने लगे, तब समझ लेना चाहिये कि परम तृप्ति की मंजिल मिल गयी है । क्योंकि परम तृप्ति का लक्षण ही वीर्य–पुष्टि है ।

अध्यात्ममार्ग के योगी श्रीमद् देवचन्द्रजी ने निर्भ्रान्त बन, आत्मानुभव की परम तृप्ति करने के लिये आवश्यक तीन उपाय बताये हैं–

गुरु–चरण का शरण,

जिन–वचन का श्रवण,

सम्यक् तत्त्व का ग्रहण

इन शरण, श्रवण और ग्रहण में जितना पुरुषार्थ होता है, उतना ही जीवात्मा अनादि भ्रांति से मुक्त होता है । आत्मतत्त्व के प्रति प्रीति–भाव उत्पन्न होता है। अनुत्तर धर्म–श्रद्धा जागृत होती है । अनन्तानुबन्धी कषायादि विकारों का क्षयोपशम होता है, गाढ कर्म–बन्धन कम होते हैं । देवों एवं सांसारिक काम–लिप्सा और भोगोपभोग के प्रति अनासक्ति पैदा होती है । आरम्भ–समारम्भ का त्याग करता है। संसार–मार्ग का विच्छेद होता रहता है और मोक्ष–मार्ग के प्रयाण की गति में स्वयं स्फूर्त बन, गतिमान होता जाता है ।

इस तरह गृहस्थाश्रम का परित्याग कर अणगार–धर्म अंगीकार करता है और कालान्तर से शारीरिक, मानसिक अपरंपार दुःखों का क्षय कर अजरामर, अक्षय पद को प्राप्त करता है । परन्तु परमपद की प्राप्ति के लिये मूलभूत मिथ्या तृप्ति के अभिमान को छोड़ना परमावश्यक है । सांसारिक पदार्थों की वास्तविकता से परिचित हो, उसमें से तृप्ति प्राप्त करने की प्रवृत्ति को तिलांजलि देना है ।

तभी भविष्य का विकास और पूर्णानन्द–परम पद सम्भव है ।

पुद्गलैः पुद्गलास्तृप्तिं, यान्त्यात्मा पुनरात्मना ।
परतृप्तिसमारोपो, ज्ञानिनस्तन्न युज्यते ॥१०॥५॥

अर्थ : पुद्गलों के माध्यम से पुद्गल, पुद्गल के उपचयरूप तृप्ति प्राप्त करते हैं । आत्मा के गुणों के कारण आत्मा तृप्ती पाती है । अतः सम्यग्ज्ञानी को पुद्गल की तृप्ति में आत्मा का उपचार करना अनुचित है ।

विवेचन : किस से भला, किसको तृप्ति मिलती है ? जड पुद्गल द्रव्यों से भला चेतना आत्मा को क्या तृप्ति मिलती है ? किसी द्रव्य के धर्म का आरोपण किसी अन्य द्रव्य में कैसे कर सकते हैं ? जड़ वस्तु के गुणधर्म अलग होते हैं, जबकि चेतन के अलग । जड़ के गुणधर्म से चेतन की तृप्ति सर्वथा असम्भव है । आत्मा अपने गुणों से ही तृप्ति पाती है ।

सुन्दर स्वादिष्ट भोजन से क्या आत्मा को तृप्ति मिलती है ? नहीं, शरीर के जड़ पुद्गलों का उपचय होता है । जीवात्मा उस तृप्ति का आरोप स्वयं में कर रहा है । लेकिन यह उसका भ्रम है, निरी भ्रान्ति और वह मिथ्यात्व के प्रभाव के कारण दृढ़ से दृढ़तम बन गयी है । पौद्गलिक तृप्ति में आत्मा की तृप्ति मानने की भयंकर भूल के कारण जीवात्मा पुद्गलप्रेमी बन गया है । पौद्गलिक गुण–दोषों को देख, राग-द्वेष में खो गया है । राग-द्वेष के कारण मोहनीयादि कर्मों के नित नये कर्म–बन्धनों का शिकार बन, चार गति में भटक रही है । अपार दुःख, नारकीय यातना और भीषण दर्द का यही तो मूलभूत कारण है । जीव की इस भूल का उन्मूलन करने हेतु पूज्य उपाध्यायजी महाराज 'निश्चय नय' की दृष्टि का अंजन लगाकर उसके माध्यम से पुद्गल एवं आत्मा का मूल्यांकन करने का विधान करते हैं ।

"मधुर शब्द–रूप–रंग–रस–गन्ध और स्पर्श कितने ही सुखद, मोहक, मधुर क्यों न हों, लेकिन हैं तो जड़ ही । इनके उपभोग से मेरी ज्ञान–दर्शन–चारित्रमय आत्मा की परमतृप्ति होना असम्भव है । तो फिर उन शब्दादि परिभोग का प्रयोजन ही क्या है ? ऐसी काल्पनिक मिथ्या तृप्ति के पीछे पागल बन,

पुद्गल–प्रेम के प्रति प्रोत्साहित हो, मैं अपनी आत्मा की कदर्थना (दुर्दशा) क्यों करुं ? इसके बजाय में अपनी आत्मतृप्ति हेतु श्रेष्ठ पुरुषार्थ करुंगा ।"

यह है ज्ञानी पुरुष की ज्ञान–दृष्टि और ज्ञान–वाणी । इसी दृष्टि को जीवन में अपनाकर जड़ पदार्थों के प्रति रही आसक्ति का मूलोच्छेदन करने का उद्यम करना चाहिये ।

लेकिन सावधान ! कहीं तुमसे भूल न हो जाए... और अर्थ का अनर्थ न हो जाय ! तुम असली मार्ग से भटक न जाओ । "जड़ जड़ का उपभोग करता है, इससे भला आत्मा का क्या सम्बन्ध ? उससे आत्मा को क्या लेना–देना ?" इस तरह का विचार कर यदि मति भ्रम हो गया और जड़ पदार्थों के उपभोग में खो गये तो यह तुम्हारी सबसे बड़ी भूल होगी, भयंकर भूल–निरी आत्मवंचना। फलतः पुनः एकबार तुम उसी चक्र में फँस जाओगे । क्योंकि इससे जड़ पुद्गलों की तृप्ति में आत्म–तृप्ति मानने की अनादिकाल से चली आ रही मिथ्या मान्यता दुबारा दृढ़ बन जायेगी । भोगासक्ति का भाव गाढ़ बन जाएगा । "जड़ जड़ का उपभोग करता है, मेरी आत्मा भला कहाँ उपभोग करती है ?" आदि विचार यदि तुम्हें जड़–पदार्थों के उपभोग के लिये उकसायें, पुद्गल की सगति करने के लिये प्रेरित करें, तो समझ लो कि तुम अभी जिनेश्वर भगवन्त के वचनों से कोंसो दूर हो, बल्कि जिनवचनों को कतई समझ नहीं पाये हो । तुम्हारे लिये सम्यग्ज्ञान की मंजिल अभी काफी दूर है, तुम सम्यग्दर्शन पाने में सर्वथा असमर्थ सिद्ध हुए हो ।

वास्तव में तो तुम्हें अहर्निश इस बात का विचार करना चाहिये कि 'यदि जड़ पुद्गलों के परिभोग से मेरी आत्मा को चिरंतन तृप्ति का लाभ नहीं मिलता तो भला, जड़ पुद्गलों के उपभोग से क्या लाभ ? उनका प्रयोजन किस लिये ? इसके बजाय उसका परित्याग ही क्यों न कर लूँ ? न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी। फिर ज्ञान–ध्यान में लग जाऊँ । आत्मगुणों की प्राप्ति, वृद्धि और संरक्षण के लिये पुरुषार्थ करूँ ।' इस तरह का दृढ़ संकल्प कर आत्मा के आन्तरिक उत्साह को उल्लसित करना चाहिये । ठीक वैसे ही विविध प्रकार की तपश्चर्या, व्रतनियमादि को अंगीकार कर कामलिप्सा एवं भोगविलास के विविध प्रसंगों का परित्याग कर पुद्गलों से तृप्त होने की आदत को सदा–सर्वदा के लिये भुला देना चाहये।

हमेशा याद रहे कि अनादि काल से जिसके साथ स्नेह–सम्बन्ध और प्रीति–भाव के बन्धन अटूट हैं, वे तभी टूट सकते हैं, खत्म हो सकते हैं, जब हम उसकी संगति, सहवास और उपभोग लेना सदा के लिये बन्द कर दें । पुद्गल–प्रीति के स्नेह–रज्जुओं को तोड़ने के लिये पुद्गलोपभोग से मुंह मोड़े बिना कोई चारा नहीं है । इसी तथ्य को दृष्टिगत कर, ज्ञानी महापुरुषों ने तप–त्याग का मार्ग बताया है ।

आत्मगुणों के अनुभव से प्राप्त तृप्ति चिरस्थायी होती है । उसमें निर्भयता और मुक्ति का सुभग संगम है । जबकि जड़ पदार्थों के उपभोग से मिली तृप्ति क्षणभंगुर है । उसमें भय और गुलामी की बदबू है । अतः ज्ञानी महापुरुषों को आत्मगुणों के अनुभव से प्राप्त तृप्ति के लिये ही सदा–सर्वदा प्रयत्नशील रहना चाहिये, जो लाभप्रद है और हितकारक भी ।

मधुराज्यमहाशाका ग्राह्ये बाह्ये च गोरसात् ।
परब्रह्मणि तृप्तिर्या जानास्तां जानतेऽपि न ॥१०॥६॥

अर्थ : जिनको मनोहर राज्य में उत्कट आशा और अपेक्षा है, वैसे पुरुषों से, प्राप्त न हो ऐसी वाणी से अगोचर परमात्मा के सम्बन्ध में जो उत्कट तृप्ति मिलती है, उसको सामान्य जनता नहीं जानती है ।

विवेचन : परम ब्रह्मानन्दस्वरूप अतल उदधि की अगाधता को स्पर्श करने की कल्पना तक उन पामर/नाचीज जीवों के लिये स्वप्नवत् है, जो मनोहर और निरंकुश राजसत्ता की अनन्त आशा, अपेक्षा और महत्त्वाकांक्षा अपने हृदय में संजोये, संसार में दर–दर की ठोकरें खाते भटक रहे हैं । सत्ता और शासन के लाल कसूँबल मदिरा के पात्र में ही जिसने तृप्ति की मिथ्या कल्पना कर रखी हो, उसे भला, परम ब्रह्म की तृप्ति का एहसास कैसे हो सकता है ?

ठीक वैसे ही मृदु वाणी के मंजुल स्वरों में भी परम ब्रह्म की तृप्ति का अनुभव असम्भव है । क्योंकि वह तृप्ति तो अगम अगोचर है, पूर्णतया कल्पनातीत है । वह वचनातीत है, आन्तरिक है और मन के अनुभवों से अलग–थलग है । इसे प्राप्त करने के लिये चंचल मन और विषयासक्त इन्द्रियों को निराश होकर

लौट जाना पड़ता है ।

'तब भला, परम ब्रह्म की तृप्ति कैसी है ? इसका' प्रत्युत्तर किसी पद से देना असम्भव है । '**अपयस्स पयं नत्थि**' पदविरहित आत्मा के स्वरुप का, किसी पद–वचन से वर्णन करना सम्भव नहीं और तो क्या, स्वयं बृहस्पति अथवा केवलज्ञानी महापुरुष भी उसका वर्णन करने में असमर्थ हैं । क्योंकि वह कथन की सीमा से सर्वथा परे जो है । इसका केवल अनुभव किया जा सकता है । यदि कोई पूछे, 'शक्कर का स्वाद कैसा ?' इसका क्या जवाब हो सकता है ? क्योंकि शक्कर का स्वाद वर्णनातीत होकर अनुभव लेने की बात है ।

वैसे जगत के सामान्य जीव भोजनतृप्ति से भलीभाँति परिचित हैं । क्योंकि उसका अनुभव मधुर घी, मेवा–मिठाई और स्वादिष्ट सब्जियों के सेवन से प्राप्त होता है । उसमें गोरस (दूध–दही), मीठे फल, चटपटी चटनी, अचार, मुरब्बों का समावेश होता है । ऐसे उत्तमोत्तम भोजन से तृप्ति का अनुभव करनेवाले सांसारिक जीव परम तृप्ति का अनुभव तो क्या, बल्कि उसे ठीक से समझने में भी सर्वथा असमर्थ हैं । परम ब्रह्म की तृप्ति का वास्तविक स्वरूप जानने और समझने के लिये घोर तपश्चर्या करनी पड़ती है । जबकि परम ब्रह्म में तृप्त बनी आत्मा इस तृप्ति में ऐसी खो जाती है कि जगत के अन्यान्येय पदार्थ उसे अपनी ओर आकर्षित नहीं करते, रिझा नहीं सकते ।

कोटिशिला पर श्री रामचन्द्रजी ने क्षपक–श्रेणी की समाधि लगा दी । आत्मानन्द... पूर्णानन्द के साथ तादात्म्य साध लिया । इसकी जानकारी बारहवें देवलोक के इन्द्र सीतेन्द्र को प्राप्त हुई, तब वह विह्वल हो उठा । क्योंकि पूर्वभव का अद्‌भुत स्नेहभाव उसके रोम–रोम में अब भी व्याप्त था । फलस्वरूप उसने श्री रामचन्द्रजी की समाधि को भंग करने के लिये नानाविध उपसर्ग आरम्भ कर उन्हें ध्यानयोग से विचलित करने का मन ही मन संकल्प किया । रामचन्द्रजी का मोक्षगमन सीतेन्द्र को तनिक भी न भाया । उसे तो उनके सहवास की भूख थी और थी तीव्र चाह । आनन–फानन में वह देवलोक से नीचे उतर आया ।

उसने अपनी दैवी शक्ति से रमणीय उद्यान, कलकल नाद करते स्रोत, हरियाली से युक्त प्रदेश... यहाँ तक कि साक्षात् वसंत–ऋतु को धरती पर उतार

दिया । कोयल की मनभावन कूक, मलयाचल की मंथर गति से बहती हवा, क्रीडारसिक भ्रमरराज का मृदु गुंजन आदि मनोहारी दृश्यों की बाढ़ आ गयी । सर्वत्र कामोत्तेजक वातावरण का समा बन्ध गया और तब इन्द्र स्वयं नवोढा सीता बन गया । साथ ही असंख्य सखियों के साथ गीत–संगीत की धुनें जगा दीं । वह विनीत भाव से रामचन्द्रजी के सामने खड़ा हो गया । नतमस्तक हो सौन्दर्य का अनन्य प्रतीक बन, उसने गद्‌गद् कण्ठ से कहा–"नाथ ! हमारा स्वीकार कर दिव्य सुख का उपभोग कीजिये और परम तृप्ति पाईये । मेरे साथ रही मेरी इन असंख्य विद्याधर युवतियों के उन्मत्त यौवन का रसास्वादन कर हमें कृतकृत्य कीजिये ।" नूपुर के मंजुल स्वर के साथ स्मरदेव केलि–क्रीडा में खो गये ।

लेकिन सीतेन्द्र के मृदु वचन, दिव्य सौन्दर्य की प्रतीक असंख्य विद्याधर युवती अद्‌भुत गीत–संगीत और कामोत्तेजक वातावरण से महामुनि रामचन्द्रजी तनिक भी विचलित न हुए, ना ही चंचल बने । क्योंकि वे तो पहले से ही परम ब्रह्म के रसास्वादन में परम तृप्ति का अनुभव कर रहे थे । फिर तो क्या, अल्पावधि में ही उन्हें केवलज्ञान हुआ । फलतः विवश हो, सीतेन्द्र ने अपने माया–जाल को समेट लिया । उसने भक्तिभाव से श्री रामचन्द्रजी की वन्दना, उनकी स्तुति की और केवलज्ञान का महोत्सव आरम्भ कर भक्तिभाव में लीन हो गया ।

विषयोर्मिविषोद्‌गारः स्याददृप्तस्य पुद्‌गलैः ।
ज्ञानतृप्तस्य तु ध्यानसुधोद्‌गास्–परम्परा ॥१०॥७॥

अर्थ : जो पुद्‌गलों से तृप्त नहीं हैं, उन्हें विषयों के तरंगरूप जहर की डकार आती है । ठीक उसी तरह जो ज्ञान से तृप्त हैं, उन्हें ध्यान रूप अमृत की डकारों की परंपरा होती है ।

विवेचन : पुद्‌गल के परिभोग में तृप्ति ? एक नहीं, सौ बार असम्भव बात है । तुम चाहे लाख पुद्‌गलों का परिभोग करो, उसमें लिप्त रहो, अतृप्ति की ज्वाला प्रज्वलित ही रहेगी । वह बुझने / शान्त होने का नाम नहीं लेगी । पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने '**अध्यात्म सार**' ग्रन्थ में कैसी युक्तिपूर्ण बात कही है ।

विषयैः क्षीयते कामो नेन्धनैरिव पावकः ।
प्रत्युत प्रोल्लसच्छक्ति–र्भूयः एवोपवर्धते ।

'आग में इन्धन डालने से आग शान्त होने के बजाय अधिकाधिक भड़क उठती है और उसमें से स्फोट ही होता है । ठीक उसी तरह सांसारिक पुद्गलों के भोगोपभोग से तृप्ति तो दूर रही, बल्कि अतृप्ति की ज्वालायें आकाश को छूने लगती हैं: जिसका अन्त सर्वनाश में होता है ।'

इसी तरह पुद्गलों के अति सेवन से, (जो पुद्गलभोजन विषभोजन है) ऐसा अजीर्ण होता है कि उसके असंख्य विकल्प स्वरूप डकारों की परंपरा निरन्तर चलती रहती है वह, बन्द नहीं होती ।

कंडरिक ने पुद्गलसेवन की अति लालसा के वशीभूत होकर साधु जीवन का परित्याग किया । वह भागता हुआ राजमहल पहुँचा और अधीर बन उसने मनभावन स्वादिष्ट भोजन का सेवन किया । पेट भर कर खाया । तत्पश्चात् मखमली, मुलायम गद्दों पर गिरकर लोटने लगा । बेचैनी से करवटें बदलने लगा । राज कर्मचारी एवं सेवकगण असंतोष से विषभोजी कंडरिक को हेय–दृष्टि से देखने लगे । मारे अजीर्ण के वह बावरा बन गया । उसे भयंकर हिंसक विचारों के डकार पर डकार आने लगे ।

परिणाम यह हुआ कि विषभोजन से उसे अपने प्राणों से हाथ धोना पडा और वह सातवीं नरक में चला गया ।

'विषयेषु प्रवृत्तानां वैराग्यः खलु दुर्लभम्', जो पुद्गलपरिभोग में लिप्त हैं, उनमें वैराग्य दुर्लभ होता है और जब वैराग्य ही नहीं, तब सम्यग् ज्ञानी कैसा ? सम्यग् ज्ञान के अभाव में ज्ञानानन्द की तृप्ति कैसी ? और ज्ञानानन्द में तृप्ति मिले बिना ध्यान–अमृत की डकारें कैसे सम्भव हैं ? जबकि ज्ञानतृप्त आत्मा को निरन्तर ध्यानामृत की डकार आती ही रहती हैं । आत्मानुभव में तादात्म्य साधने के पश्चात् आत्मगुणों में तन्मयता रूपी ध्यान चलता ही रहता है । परिणामस्वरूप ऐसे दिव्य आनन्द कि अनुभूति होती है कि वह संसार के जड–चेतन, किसी भी पदार्थ के प्रति आकर्षित नहीं होता ।

निर्मम भाव से चले जा रहे खंधकमुनि ज्ञानामृत का पान कर परितृप्त

थे। ध्यान की साधना का आवेग उनके रोम-रोम में संचारित था। सहसा राजसैनिकों ने उन्हें दबोच लिया। उनकी चामड़ी उधेड़ने पर उतारू हो गये। खून की प्यासी छुरी लेकर तैयार हो गये। खंधक मुनि तनिक भी विचलित न हुए। टस से मस न हुए। वे ध्यानसुधा की डकारें खा रहे थे। उनका प्रशान्त मुखमण्डल पूर्ववत् ज्ञान-साधना से देदीप्यमान था। नयनों में शान्ति और समता के भाव थे। सैनिकों ने चमड़ी उधेड़ना आरम्भ किया। रक्तधारा प्रवाहित हो उठी। जमीन रुधिराभिषेक से सन गयी। मांस के कतरे इधर-उधर उड़ने लगे। फिर भी यह सब महामुनि की ज्ञानसुधा की डकारों की परम्परा को नहीं तोड़ सका। वे पूर्ववत् ज्ञान-समाधि लगाये स्थितप्रज्ञ बने रहे। उनकी अविचलता ने, उच्चकोटि की ध्यान-साधना ने उन्हें धर्मध्यान से शुक्लध्यान मंजिल की और गतिमान कर दिया। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अन्तराय-इन घाती कर्मों का क्षय करके वे केवलज्ञान के अधिकारी बन गये। उनके सारे कर्मबन्धन टूट गये और भव-भवान्तर के फेरे खत्म हो गये।

तात्पर्य यह है कि ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् ज्ञानी के मन में उसके मूलभूत गुण, तत्त्व अविरत संचारित रहने चाहिये। उसे उसका बार-बार अवगाहन करते रहना चाहिये। तभी ज्ञान-अमृत में परिवर्तित होता है और उसका सही अनुभव मिलता है। तत्पश्चात् सांसारिक सुख, भोगोपभोग अप्रिय लगते हैं, उनके प्रति घृणा की भावना अपने आप पैदा हो जाती है। शास्त्रार्जन और शास्त्र-परिशीलन से आत्मा ऐसी भावित बन जाती है कि उसके लिये ज्ञान-ज्ञानी का भेद नहीं रहता। ऐसी स्थिति प्राप्त करने के लिये प्रस्तुत अष्टक में बताये गये उपायों का जीवन में क्रमशः प्रयोग करना जरुरी है।

सुखिनो विषयातृप्ता, नेन्द्रोपेन्द्रादयोऽप्यहो।
भिक्षुरेकः सुखी लोके, ज्ञानतृप्तो निरंजनः ॥१०॥८॥

अर्थ : यह आश्चर्य है कि विषयों से अतृप्त देवराज इन्द्र एवं कृष्ण भी सुखी नहीं हैं। संसार में रहा, ज्ञान से तृप्त एवं कर्ममल रहित साधु, श्रमण ही सुखी है।

विवेचन : *संसार में कोई सुखी नहीं है। विषयवासना के विष प्याले*

गटगटानेवाला इन्द्र अथवा महेन्द्र, कोई सुखी नहीं है। निरंतर अतृप्ति की ज्वाला में प्रज्वलित राजा–महाराजा अथवा सेठ–साहुकार कोई सुखी नहीं है। भले तुम उन्हें सुखी मान लो। लेकिन तुम्हारी कल्पना कितनी गलत है, यह तो जब किसी सेठ–साहूकार से जाकर पूछोगे, तभी ज्ञात होगा।

विश्वविख्यात धनी व्यक्ति **हेनरी फोर्ड** से एक बार किसी पत्रकार ने पूछा था... "संसार में सभी दृष्टि से आप सुखी और सम्पन्न व्यक्ति हैं, लेकिन ऐसी कोई चीज है, जो आप पाना चाहते हैं फिर भी पा नहीं सके हैं ?"

"आप का कथन सत्य है। मेरे पास धन है, कीर्ति है और अपार वैभव है। फिर भी मानसिक शान्ति का अभाव है। लाख खोजने पर भी ऐसा कोई संगी–साथी नहीं मिला, जिसके कारण मुझे शान्ति और मानसिक स्वस्थता मिले।" हेनरी ने गंभीर बन, प्रत्युत्तर में कहा।

विश्व के धनाढ्य और सम्पन्न व्यक्तियों को देखकर ऐसा कभी न मानो कि 'वे कितने सुखी और सम्पन्न हैं !' भौतिक पदार्थों के संयोग से शान्ति नहीं मिलती। भले इन्द्रियजन्य सुख से तुम प्रसन्न होंगे, लेकिन कदापि न भूलो कि वे सुख क्षणभंगुर हैं और दुःखप्रद हैं। जब तुम उनकी अन्तर्वेदना की कहानी सुनोगे, तब तुम्हें अपनी घास–फूस की छोटी झोंपडी / कुटिया लाख दर्जे अच्छी लगेगी, बजाय उनके विशाल बंगले और वैभवशाली भव्य रंगमहल के। उनकी धनिकता के बजाय तुम्हें अपनी दरिद्रता सौगुनी बेहतर महसूस होगी। धन, कीर्ति, वैभव, धिक्कार के पात्र लगेंगे।

तब क्या इस संसार में कोई सुखी नहीं है ? नहीं भाई, यह भी गलत है। इस संसार में सुखी भी हैं और वे हैं–मुनि। "**भिक्षुरेकः सुखी लोके**" एकमात्र भिक्षुक / अणगार / मुनि संसार में सर्वाधिक सुखी और सम्पन्न व्यक्ति हैं। लेकन जानते हो उनके सुख का रहस्य क्या है ? क्या उन्हें द्रव्यार्जन करना नहीं पड़ता, अतः सुखी हैं ? नहीं, यह बात नहीं है। जिस विषय–तृष्णा के पोषण हेतु तुम्हें द्रव्यार्जन करना पड़ता है, वह (विषय–तृष्णा) उनमें नहीं है। अतः वे परम सुखी हैं।

श्री उमास्वातिजी ने उन्हें '**नित्य सुखी**' संज्ञा से संबोधित किया है।

निर्जितमदमदनानां, वाक्कायमनोविकाररहितानाम् ।
विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्षः सुविहितानाम् ॥२३८॥

स्वशरीरेऽपि न रज्यति शत्रावपि न प्रदोषमुपयाति ।
रोगजरामरणभयैरव्यथितो यः स नित्यसुखी ॥२४०॥

ऐसे महात्माओं के लिये यहीं इसी धरती पर साक्षात् मोक्ष है, जिन्होंने प्रचंड मद और कामदेवता–मदन को पराजित किया है । जिनके मन–वचन–काया में से विकारों का विष नष्ट हो गया है । जिनकी पर–पुद्गल–विषयक आशा और अपेक्षायें नामशेष हो गयी हैं और जो स्वयं परम त्यागी व संयमी हैं। ऐसे महापुरुष शब्दादि विषयों के दारुण परिणाम को सोच, उसकी अनित्यता एवं दुःखद फल को अन्तर की गहराई से समझ और सांसारिक राग-द्वेषमय भयंकर विनाशलीला का खयाल कर, अपने शरीर के प्रति राग नहीं करते, शत्रु पर रोष नहीं करते, असाध्य रोगों से व्यथित नहीं होते, वृद्धावस्था की दुर्दशा से उद्विग्न नहीं बनते और मृत्यु से भयभीत नहीं होते । वे सदा–सर्वदा 'नित्य सुखी' हैं, परम तृप्त हैं ।

परमाराध्य उपाध्यायजी ने इन सब बातों का समावेश केवल दो शर्तों में कर दिया है । **ज्ञानतृप्त और निरंजन महात्मा सदा सुखी हैं** । महा सुखी बनने के लिये उपाध्यायजी द्वारा अनिवार्य शर्तें बतायी गयी हैं । इन दो शर्तों को जीवन में क्रियात्मक स्वरूप प्रदान करने के लिये श्री उमास्वातिजी भगवन्त का मार्गदर्शन शत–प्रतिशत वास्तविक है ।

• • •

११. निर्लेपता

जीव का निर्लेप होना जरुरी है । हृदय को निर्लिप्त–अलिप्त रखना आवश्यक है । राग और द्वेष से लिप्त हृदय की व्यथा और वेदना कहाँ तक रहेगी ? निर्लिप्त हृदय संसार में रहकर भी मुक्ति का परमानन्द उठा सकता है।

और अलिप्तता का एकमात्र उपाय है–भावनाज्ञान प्रस्तुत अष्टक में तुम्हें भावनाज्ञान की पगदण्डी मिल जाएगी । विलम्ब न करो, किसी की प्रतीक्षा किये बिना इस पगदण्डी पर आगे बढ़ो । राग-द्वेष से हृदय को लिप्त न होने दो । इसके लिये आवश्यक उपाय और मार्ग तुम्हें इस अष्टक में से मिल जायेंगे । अतः इसका एकचित्त हो, अध्ययन–मनन और चिन्तन करो ।

संसारे निवसन् स्वार्थसज्जः कज्जलवेश्मनि ।
लिप्यते निखिलो लोकः ज्ञानसिद्धो न लिप्यते ॥११॥१॥

अर्थ : कज्जलगृह समान संसार में रहता, स्वार्थ में तत्पर (जीव) समस्त लोक, कर्म से लिप्त रहता है, जबकि ज्ञान से परिपूर्ण जीव कभी भी लिप्त नहीं होता है ।

विवेचन : संसार यानी कज्जल गृह । उसकी दीवारें काजल से पुती हुई हैं; छत काजल से सनी हुई है और उसका भू–भाग भी काजल से लिप्त है । जहाँ स्पर्श करो, वहाँ काजल । पाँव भी काजल से सन जाते हैं और हाथ भी । सीना भी काजल से काला और पीठ भी काली हो जाती है । जहाँ देखो, वहाँ काजल ही काजल ! मतलब, जब तक उसमें रहोगे, तब तक काले बनकर ही रहना होगा ।

सम्भवतः तुम यह कहोगे कि यदि उसमें सावधानी से सतर्क बनकर रहा जाए तो काला बनने का सवाल ही कहाँ उठता है ? लेकिन कैसी सावधानी का आधार लोगे ? जबकि कज्जल–गृह में वास करनेवाला हर जीव अपने स्वार्थ के प्रति ही जागरूक है, सावधान है। क्योंकि स्वार्थ–सिद्धि के नशे में धुत्त उन्हें कहाँ पता है कि वे पहले से ही भूत जैसे काले बन गये हैं ! उन्हें तभी ज्ञान होगा, जब वे दर्पण में अपना रूप निहारेंगे और तब तो वे अनायास चीख उठेंगे : 'अरे, यह मैं नही हूँ, कोई दूसरा है !' लेकिन दर्पण में अपना रूप देखने तक के लिये भी उन्हें समय कहाँ है ? वे तो निरन्तर दूसरों का रूप–रंग और सौन्दर्य देखने के लिये पागल कुत्ते की तरह घिघिया रहे हैं और वह भी स्वार्थान्ध बन कर। यदि परमार्थ–दृष्टि से किसी का सौन्दर्य, रूप रंग देखेंगे तो तत्क्षण घबरा उठेंगे। उनकी संगत छोड़ देंगे और कज्जल–गृह के दरवाजे तोड़ कर बाहर निकल आयेंगे।

संसार में ऐसा कौन सा क्षेत्र है, जहाँ जीवात्मा कर्म–काजल से लिप्त नहीं होता ? जहाँ मृदु–मधुर स्वरों का पान करने जाता है... लिप्त हो जाता है। मनोहर रुप–रंग और कमनीय सौन्दर्य का अवलोकन करने के लिये आकर्षित होता है... लिप्त हो जाता है। गन्ध–सुगन्ध का सुख लूटने के लिये आगे बढ़ता है... लिप्त हो जाता है। स्वादिष्ट भोजन की तृप्ति हेतु ललक उठती है... लिप्त हो जाता है। कोमल काया का उपभोग करने के लिये उत्तेजित होता है, लिप्त हो जाता है। फिर भले ही उसे शब्द, रुप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि के सुख के पीछे दर–दर भटकते समय यह भान न हो कि वह कर्म–काजल से पुता जा रहा है। लेकिन यह निर्विवाद है कि वह पुता अवश्य जाता है और यह प्रक्रिया ज्ञानी–पुरुषों से अज्ञात नहीं है। वे सब जानते हैं। जीव ज्ञनावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, नाम, गोत्र और वेदनीय, इन सात कर्मों से लिप्त बनता रहता है। यह काजल–लेप चर्मचक्षु देख नहीं पाते। इसे देखने के लिये जरुरत है–ज्ञानदृष्टि की, केवलज्ञान की दृष्टि की।

तब क्या चतुर्गतिमय संसार में रहेंगे तब तक कर्म–काजल से लिप्त ही रहना होगा ? ऐसा कोई उपाय नहीं है कि संसार में रहते हुए भी इससे अलिप्त रह सकें ? क्यों नहीं ? इसका भी उपाय है। पूज्य उपाध्यायजी महाराज फरमाते

है : '**ज्ञानसिद्धो न लिप्यते**', ज्ञानसिद्ध आत्मा, कज्जल–गृह समान इस संसार में रहते हुए भी निरन्तर अलिप्त रहती है। यदि आत्मा के अंग–प्रत्यंग को ज्ञान–रसायन के लेप से पोत दिया जाय, तो फिर कर्म रुपी काजल उसे स्पर्श करने में पूर्णतया असमर्थ हैं। ऐसी आत्मा कर्म–काजल से पोती नहीं जा सकती। जिस तरह कमल–दल पर जल–बिन्दु टिक नहीं सकते, जल–बिन्दुओं से कमल–पत्र लीपा नहीं जाता, ठीक उसी तरह कर्म–काजल से आत्मा भी लिप्त नहीं होती। लेकिन यह अत्यन्त आवश्यक है कि ऐसी स्थिति में आत्मा को ज्ञान–रसायन से भावित कर देना चाहिये। ज्ञान–रसायन से आत्मा में ऐसा अद्‌भुत परिवर्तन आ जाता है कि कर्म काजल लाख चाहने पर भी उसे लेप नहीं सकता।

ज्ञान–रसायन सिद्ध करना परमावश्यक है और इसके लिये एकाध वैज्ञानिक की तरह अनुसन्धान में लग जाना चाहिये। भले इसके अन्वेषण में, प्रयोग में कुछ वर्ष क्यों न लग जाएँ! क्योंकि भयंकर संसार में ज्ञान–रसायन के आधार की अत्यन्त आवश्यकता है। इसे सिद्ध करने के लिये इस ग्रन्थ में विविध प्रयोग सुझाये गये हैं। हमें उन प्रयोगों को आजमाना है और आजमा कर प्रयोग सिद्ध करना है। फिर भय नाम की वस्तु नहीं रहेगी। ज्ञान–रसायन सिद्ध होते ही निर्भयता का आगमन होगा और परमानन्द पाने में क्षणार्ध का भी विलम्ब नहीं होगा।

नाहं पुद्‌गलभावानां, कर्ता कारयिताऽपि च।
नानुमन्ताऽपि चेत्यात्मज्ञानवान् लिप्यते कथम्? ॥११॥२॥

अर्थ : मैं पौद्‌गलिक भावों का कर्ता, प्रेरक और अनुमोदक नही हूँ, ऐसे विचारवाला आत्मज्ञानी लिप्त हो सकता है?

विवेचन : ज्ञान–रसायन की सिद्धि का प्रयोग बताया जाता है। "मैं पौद्‌गलिक भावों का कर्ता नहीं हूँ, प्रेरक नहीं हूँ। साथ ही पौद्‌गलिक भावों का अनुमोदक भी नहीं हूँ।" इसी विचार से आत्मतत्त्व को सदा सराबोर रखना होगा। एक बार नहीं, बल्कि बार–बार। एक ही विचार और एक ही चिन्तन!

निरन्तर पौद्‌गलिक–भाव में अनुरक्त जीवात्मा उसके रूप–रंग और कमनीयता में खोकर, पौद्‌गलिक भाव द्वारा सर्जित हृदय–विदारक व्यथा–वेदना

और नारकीय यातनाओं को भूल जाता है, विस्मरण कर देता है । वास्तव में पौद्‌गलिक सुख तो दुःख पर आच्छादित क्षणजीवी महीन पर्त जो है और क्रूर कर्मों के आक्रमण के सामने वह कतई टिक नहीं सकती । क्षणार्ध में ही चीरते, फटते देर नहीं लगती और जीवात्मा रुधिर बरसता करुण क्रन्दन करने लगता है । पौद्‌गलिक सुख के सपनों में खोया जीवात्मा भले ही ऐश्वर्य और विलासिता से उन्मत्त हो फूला न समाता हो, लेकिन हलाहल से भी अधिक घातक ऐश्वर्य और विलासिता का जहर जब उसके अंग–प्रत्यंग में व्याप्त हो जाएगा, तब उसका करुण क्रन्दन सुननेवाला इस धरती पर कोई नही होगा । वह फूट–फूट कर रोयेगा और उसे शान्त करनेवाले का कहीं अता-पता न होगा ।

"मैं खाता हूँ... मैं कमाता हूँ... मैं भोगोपभोग करता हूँ... मैं मकान बनाता हूँ ।" आदि कर्तृत्व का मिथ्याभिमान, जीवात्मा को पुद्‌गल–प्रेमी बनाता है । पुद्‌गलप्रेम ही कर्म–बन्धन का अनन्य कारण है । पुद्‌गल–प्रेमी जीव अनादि से कर्म–काजल से लिप्त होता आया है । फलतः अपरम्पार दुःख और वेदनाओं का पहाड़ उस पर टूट पड़ता है । वह व्यथाओं की बेड़ियों में हमेशा जकड़ा जाता है। यदि उस दारुण दुःख के आधार को ही जड़–मूल से उखाड़कर फेंक दिया जाये, तो कितना सुभग और सुन्दर कार्य हो जाय ? और यह मत भूलो कि इस प्रकार की विषमता का मूल है – पुद्‌गलभाव के पीछे रही दुष्ट–बुद्धि उसको परिवर्तित करने के लिये जीव को विचार करना पड़ेगा कि 'मैं पौद्‌गलिक भाव का कर्ता, प्रेरक और अनुमोदक नहीं हूँ ।'

दूसरी वासना है – पुद्‌गलभावों के प्रेरकत्व की । "मैंने दान दिलाया, मैंने घर दिलवाया, मैंने दुकान करवायी ।" इस तरह की भावना अपने मन में निरन्तर संजोकर जीव स्वयं को पुद्‌गलभाव का प्रेरक मान कर मिथ्याभिमानी बनता है । फलस्वरूप वह कर्म–कीचड़ में धँसता ही जाता है । अतः "मैं पुद्‌गलभाव का प्रेरक नहीं हूँ," इस भावना को दृढ़–सुदृढ़ बनाना चाहिये । इसी भांति तीसरी वासना है पुद्‌गलभाव की अनुमोदना ! पुद्‌गलभाव का अनुमोदन मतलब आन्तरिक और वाचिक रूप से उसकी प्रशंसा करना । "यह भवन सुन्दर है ! यह रूप/सौंदर्य अनुपम है ! यह शब्द मधुर, मंजुल है ! यह रस मीठा है ! यह स्पर्श सुखद है ।" आदि चिन्तन से जीव पुद्‌गलभाव का अनुमोदक बन, कर्मलेप

से लिप्त होता रहता है और असह्य यातना का शिकार बनता है । अतः "मैं पुद्गल–भाव का अनुमोदक नहीं ।" इस भाव के वशीभूत हो, भावना–ज्ञान की शरण लेनी चाहिये । प्रस्तुत भावना को हजार नहीं लाख बार अपने मन में स्थिर कर उसका रसायन बनाना चाहिये । तभी भावना–ज्ञान की परिणति सिद्ध–रसायन में होगी । फलतः कैसा भी शक्तिशाली कर्म–लेप आत्मा को लग नही सकेगा।

आत्मा स्वयं अपने मूल स्वरूप में स्वगुणों की कर्ता और भोक्ता है । पुद्गलभाव का कर्तृत्व–भोक्तृत्व आत्मा के विशुद्ध स्वरूप में है ही नहीं । 'तब भला, जीव पुद्गल–भाव में क्यों कर कर्तृत्व का अभिमान करता है ?' इस प्रश्न के प्रत्युत्तर में यों कह सकते हैं कि जीव और कर्म का अनादि संबन्ध है । कर्मों से प्रभावित होकर जीव पुद्गलभाव के साथ अन्त काल से कर्तृत्व–भोक्तृत्व आदि भाव धारण करता रहा है । आत्मा के शुद्ध स्वरुप के अनुराग से कर्मों का प्रभाव उत्तरोत्तर क्षीण होता जाता है । परिणामस्वरुप पुद्गलभाव के प्रति रही कर्तृत्व भोक्तृत्वादि मिथ्या भ्रान्ति भी क्षीण होती जाती है । ज्यों–ज्यों आत्मा के शुद्ध स्वरूप का राग वृद्धिगत होता जाता है, त्यों – त्यों जड़ पुद्गल–भाव के प्रति वैराग्य वृत्ति का उदय होता जाता है और जीव त्याग–मार्ग की ओर गतिमान होता रहता है ।

लिप्यते पुद्गलस्कन्धो, न लिप्ये पुद्गलैरहम् ।
चित्रव्योमांजनेनैव, ध्यायन्निति न लिप्यते ॥११॥३॥

अर्थ : 'पुद्गलों का स्कान्ध पुद्गलों के द्वारा ही लिप्त होता है, ना कि मैं । जिस तरह अंजन द्वारा विचित्र आकाश ।' इस प्रकार ध्यान करती हुई आत्मा लिप्त नहीं होती ।

विवेचन : आत्मा की निर्लिप्तावस्था का ध्यान भी न जाने कैसा असरकारक / प्रभावशाली होता है ! ध्यान करो ! जब तक ध्यान की धारा अविरत रूप से प्रवाहित है, तब तक आत्मा कर्म–मलिन नहीं बन सकती ।

यदि यह दृढ़ प्रणिधान कर दिया जाए कि 'मुझे कर्म–कीचड़ में फँसना ही नहीं है, तभी कर्म से निर्लिप्त रहने की प्रवृत्ति होगी । तुम्हारा प्रणिधान जितना मजबूत और दृढ़ होगा, प्रवृत्ति उसी अनुपात में वेगवती और प्रबल होगी । अतः

जीव का प्रथम कार्य है–प्रणिधान को दृढ़–सुदृढ़ बनाना और उसके लिये कर्म के चित्र–विचित्र विपाकों का चिन्तन करना ।

कर्मों से मुक्त होने की चाह पैदा होते ही कर्मजन्य सुख–सुविधाओं के प्रति नफरत / घृणा पैदा होगी । अति आवश्यक सुख–सुविधा में भी अनासक्तिभाव होना जरूरी है और उसी अनासक्ति–भाव को स्वाभाविक रूप देने के लिये पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने 'पुद्गल–विज्ञान' का चिन्तन–मनन करने का प्रभावशाली उपाय सुझाया है ।

'जिस तरह अंजन से विविध वर्ण युक्त आकाश लिप्त नहीं होता, ठीक उसी तरह पुद्गलसमुदाय से चैतन्य लिप्त नहीं बनता ।"

यदि जीव अति आवश्यक पुद्गल–परिभोग के समय यह चिन्तन अविरत करता रहे तो पुद्गल–परिभोग की क्रिया के बावजूद भी वह लिप्त नहीं बनता । साथ ही पुद्गल-परिभोग में सुखगृद्धि अथवा रसगृद्धि पैदा नहीं होती और यदि सुख–गृद्धि या रस–गृद्धि पैदा होती हो तो समझ लेना चाहिये कि ध्यान प्रबल नहीं है, ना ही ध्यान की पूर्व भूमिका में प्रणिधान दृढ़ है । ऐसी परिस्थिति में जीव कभी भटक जाता है, अपना निर्दिष्ट मार्ग छोड़ देता है और मान बैठता है कि 'पुद्गलों से पुद्गल उपचय पाता है, बल्कि मेरी आत्मा उसमें लिप्त नहीं होती । फलतः पूर्ववत् मनमौजी बन पुद्गलपरिभोग में आकण्ठ डूब जाता है । उसमें ही निर्भयता का अनुभव करता है । यह एक प्रकार की भयंकर आत्मवंचना ही है ।

इस विचार से कि 'पुद्गलों से पुद्गल बँधता है ।' जीव में रहा यह अज्ञान कि 'पुद्गलों से मुझे लाभ होता है... पुद्गलों से में तृप्त होता हूँ', सर्वथा नष्ट हो जाता है और फिर पुद्गल के प्रति रहा हुआ आकर्षण तथा परिभोग–वृत्ति शनैः शनैः क्षीण होती जाती है ।

एक पुद्गल दूसरे पुद्गल से कैसे आबद्ध होता है, जुड़ता है, इसका वर्णन श्री जिनागमों में सूक्ष्मतापूर्वक किया गया है । पुद्गल में स्निग्धता एवं रुक्षता दोनों गुणों का समावेश है । स्निग्ध परिणामवाले और रुक्ष परिणामवाले पुद्गलों का आपस में बन्ध होता है, वे परस्पर जुड़ते हैं । लेकिन इसमें भी अपवाद है ।

जघन्य गुणधारक स्निग्ध पुद्गल और जघन्य गुणधारक रुक्ष पुद्गलों का परस्पर बन्ध नहीं होता। वे आपस में नहीं जुड़ पाते। जब गुण की विषमता होती है, तब सजातीय पुद्गलों का भी परस्पर बन्ध होता है। अर्थात् समान गुणवाले स्निग्ध पुद्गलों का, ठीक वैसे ही तुल्य गुणवाले रुक्ष पुद्गलों का सम–धर्मी पुद्गलों के साथ आपस में बन्ध नहीं होता।

आत्मा के साथ पुद्गलों का जो संबन्ध है, वह **'तादात्म्य संबन्ध' नहीं'** बल्कि **'संयोग–संबन्ध'** है। आत्मा और पुद्गल के गुणधर्म परस्पर विरोधी, एक–दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। अतः ये दोनों एकरूप नहीं बन सकते। ठीक इसी तरह पुद्गल और आत्मा का भेदज्ञान परिपक्व हो जाने के पश्चात् कर्मपुद्गलों से लिप्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता। भेदज्ञान को परिपक्व करने के लिये निम्नांकित पंक्तियों को आत्मसात् करना परमावश्यक है।

लिप्त होते पुद्गल सभी, पुद्गलों से मैं नहीं।
अंजन स्पर्शे न आकाश, है शाश्वत सत्य यही॥

लिप्ता ज्ञान संपात–प्रतिघाताय केवलम्।
निर्ले-पज्ञानमग्नस्य, क्रिया सर्वोपयुज्यते ॥११॥४॥

अर्थ : "आत्मा निर्लिप्त है" ऐसे निर्लेप भाव के ज्ञान में मग्न बने जीव को आवश्यकादि सभी क्रियायें, केवल 'आत्मा कर्मबद्ध है, ऐसे लिप्तता के ज्ञानागमन को रोकने के लिये उपयोगी होती हैं।

विवेचन : जिस के आत्म–प्रदेश पर 'मैं निर्लिप्त हूँ, ऐसे निर्लेपता ज्ञान की धारा अस्खलित गति से प्रवाहित होती हो, ऐसे योगी महापुरुष के लिये आवश्यक प्रतिलेखनादि क्रियाओं का कोई प्रयोजन नहीं रहता। क्योंकि आवश्यकादि क्रियाओं का प्रयोजन तो सिर्फ विभावदशा में यानी लिप्तता–ज्ञान में गमन करती चित्तवृत्तियों को अवरुद्ध करने के लिये है।

इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा जब तक अविरत रूप से प्रमाद–केन्द्रों की तरफ आकर्षित होती है, तब तक आवश्यकादि क्रियायें जीव के लिये महान उपकारक और हितकारी हैं। इन क्रियाओं के माध्यम से जीव विषय–कषायादि

प्रमादों से बाल–बाल बच जाता है । प्रस्तुत प्रमाद–अवस्था छठे गुणस्थानक★ तक ही सीमित है । जबकि 'प्रमत्त–संयत्त' गुणस्थान तक प्रतिक्रमण–प्रतिलेखनादि बाह्य धर्मक्रियायें करने का विधान है । जब तक जीव प्रमादसंयुक्त होगा, तब तक निरालम्ब (आलम्बन–रहित) धर्म–ध्यान टिक नहीं सकता । उक्त तथ्य का उल्लेख 'गुणस्थान–क्रमारोह में किया गया है :

यावत् प्रमादसंयुक्तस्तावत्तस्य न तिष्ठति ।
धर्मध्यानं निरालम्बमित्यूचुर्जिनभास्कराः ॥ – गुणस्थान क्रमारोहे

अर्थात् जब तक विषय–कषायादि प्रमाद का जोर है, तब तक निर्लेप–ज्ञान में तल्लीन होने की वृत्ति पैदा नहीं होती । ऐसी परिस्थिति में यदि आवश्यकादि को तजकर निश्चल ध्यान की शरण ले लें, तो '**अतो भ्रष्टः ततो भ्रष्टः**' सदृश भयंकर स्थिति पैदा होते विलम्ब नहीं लगता । कुछ लोग प्रतिक्रमणादि क्रियाओं से ऊबकर निश्चल ध्यान की ओर आकर्षित होते हैं, लेकिन इस तरह करने से न तो उनकी विषय–कषायादि की वृत्ति–प्रवृत्ति क्षीण बनती है, ना ही वे अगले गुणस्थान पर आरूढ हो सकते हैं । ऐसे लोग जैन दर्शन की सूक्ष्मता समझने में पूर्णतया असमर्थ हैं, ऐसा कहें तो अतिशयोक्ति न होगी । वे कपोल–कल्पनाओं के आग्रही बन वास्तविक आत्मोन्नति के मार्ग से हमेशा के लिये विमुख बन जाते हैं । फलस्वरूप, जब तक अप्रमत्त दशा प्राप्त न हो तब तक अविरत रूप से आवश्यकादि क्रियाओं को करते रहना चाहिये । इन क्रियाओं के आलम्बन से आत्मा प्रमाद की गहरी खाई में गिरने से बच जाती है । विभावदशा के प्रति रहा अज्ञान उसके मनोमन्दिर में प्रवेश नहीं कर सकता । 'श्री गुणस्थान क्रमारोह' में कहा है :

तस्मादावश्यकैः कुर्यात् प्राप्तदोषनिकृन्तनम् ।
यावन्नाप्नोति सद्ध्यानमप्रमत्तगुणाश्रितम् ॥३१॥

सातवें गुणस्थान के सम्यग् ध्यान में यानी निर्लेप–ज्ञान में जब तक तल्लीनता का अभाव हो, तब तक आवश्यकादि क्रियाओं के माध्यम से विषय–कषायों की बाढ़ को बीच में ही अवरूद्ध करके हमेशा के लिये उसका नामोनिशान मिटा दो ।

★ गुणस्थानक के स्वरुप को जानने के लिये परिशिष्ट देखिये ।

लिप्तता–ज्ञान अर्थात् विभाव दशा । कर्मजन्य भावों के प्रति मोहित होने की अवस्था । उसी लिप्तता–ज्ञान को नष्टप्रायः बनाने हेतु परमाराध्य उपाध्यायजी महाराज ने आवश्यक क्रियाओं का एकमेव उपाय बताया है । 'बाह्य क्रियाकांड़ से कभी आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं होती ।' कहनेवाले महानुभाव जरा अपनी बुद्धि की मार्मिकता को कसौटी पर परखकर तो देखें । वे पायेंगे कि उत्साही वृत्ति से विषय–कषायों से युक्त सांसारिक क्रियायें सम्पन्न कर, अनात्मज्ञान को किस कदर दृढ़–सुदृढ़ कर दिया है ? क्या उसी ढंग से पाप–निंदागर्भित, प्रभु-भक्तियुक्त, अभिनव गुणों की प्राप्तिस्वरूप आवश्यकादि क्रियायें करते हुए आत्मज्ञान दृढ़–प्रबल नहीं हो सकता ? अवश्य हो सकता है । यह असम्भव नहीं, बल्कि सौ बार सम्भव है ! जिन्हों ने तर्क और विविध युक्तियों से मंडित अनेकविध उत्तमोत्तम ग्रन्थों के अध्ययन–मनन–चिन्तन और परिशीलन में समस्त जीवन व्यतीत कर दिया था, ऐसे महापुरुष, तार्किक–शिरोमणि उपाध्यायजी महाराज के धीर–गंभीर वचन पर गंभीरता से विचार करना चाहिये । ठीक उसी तरह आवश्यकादि क्रियाओं के महत्त्व को समझना भी परमावश्यक है । वर्ना प्रमाद–वृत्ति उन्मत्त बनते देर नहीं लगेगी ।

तपः श्रुतादिना मत्तः क्रियावानपि लिप्यते ।
भावनाज्ञानसम्पन्नो, निष्क्रियोऽपि न लिप्यते ॥११॥५॥

अर्थ : श्रुत और तपादि के अभिमान से युक्त, क्रियाशील होने पर भी कर्म–लिप्त बनता है, जबकि क्रियाविरहित जीव यदि भावना–ज्ञानी हो तो वह लिप्त नहीं होता ।

विवेचन : प्रतिक्रमण–प्रतिलेखनादि विविध क्रियाओं में रात–दिन खोया, तप–जप और ज्ञान–ध्यान का अभिलाषी हो, फिर भी अपनी क्रिया का अभिमान करता हो तो उसे कर्म–लिप्त हुआ ही समझो । 'मैं तपस्वी... मैं विद्वान्... मैं विद्यावान्...मैं बुद्धिमान... मैं क्रियावान हूँ–' इस तरह अपने उत्कर्ष का खयाल अथवा अभिप्राय, मिथ्याभिमान है । एक तरफ तप–त्याग और शास्त्राध्ययन चलता रहे और दूसरी तरह अपनी क्रिया के लिये मन में अभिमान की धारा जोरों से प्रवाहित रखता हो । यह निहायत अनिच्छनीय बात है । साधक को अभिमान की परिधि से बाहर आना चाहिये । मिथ्याभिमान के घेरे को तोड़ देना चाहिये ।

अपना उत्कर्ष और दूसरे का अपकर्ष करते हुए जीव, आत्मा के शुद्ध–विशुद्ध अध्यवसायों को मटियामेट कर देते हैं । परिणामस्वरूप आत्मा विशुद्ध अध्यवसायों का स्मशान बनकर रह जाता है । जिस स्मशान में क्रोध, अभिमान, मोह, माया, लोभ, लालच के भूत पिशाच निर्बाध रूप से तांडव नृत्य करने लगते हैं और आहार, भय, मैथुन एवं परिग्रह की डाकिनियां निरन्तर अट्टहास करती नज़र आती हैं । साथ ही सर्वत्र विषय–विकार के गिद्ध बेबाक उड़ते रहते हैं ।

पूज्य उमास्वातिजी **'प्रशमरति'** में साधक–आत्मा से प्रश्न करते हैं– **'लब्ध्वा सर्व मदहरं तेनैव मदः कथं कार्यः ?'**

तप–त्याग–ज्ञानादि के आलम्बन से जहाँ मदहरण होता है, वहाँ उन्हीं की सहायता से भला अभिमान कैसे किया जाये ?

याद रखो और जीवन में आत्मसात् कर लो कि अभिमान करना बुरी बात है और उसके दुष्परिणाम प्रायः भयंकर होते हैं ।

'केवलमुन्मादः स्वहृदयस्य संसारवृद्धिश्च ।'

मद से दो तरह का नुकसान होता है–हृदय का उन्माद और संसार–परिभ्रमण में वृद्धि । इससे तुम्हें कोई नहीं बचा सकता ।

तप, त्याग और श्रुतज्ञान के माध्यम से **'भावनाज्ञान'** की भूमिका तक पहुँचना है । समस्त सत्क्रियाओं के द्वारा आत्मा को भावनाज्ञान से भावित करना है और यदि एक बार भावनाज्ञान से भावित हो जाओगे, तो दुनिया की कोई ताकत, किसी प्रकार की कोई क्रिया न करने पर भी तुम्हें कर्मलिप्त नहीं कर सकती।

श्रुतज्ञान और **चिन्ताज्ञान** के पश्चात् **भावनाज्ञान** की कक्षा प्राप्त होती है । तब ध्याता, ध्येय और ध्यान में किसी प्रकार का भेद नहीं रह पाता । बल्कि वहाँ सदा–सर्वदा होती है ध्याता, ध्येय और ध्यान के अभेद की अद्‌भुत मस्ती ! लेकिन उसकी अवधि केवल अन्तर्मुहूर्त की होती है । उस समय बाह्य धर्म–क्रिया की आवश्यकता नहीं होती । फिर भी वह कर्म–लिप्त नहीं होता ।

लेकिन जिसके श्रुतज्ञान का कोई ठौर–ठिकाना नहीं है, ऐसा जीव यदि आवश्यकादि क्रियाओं को सदन्तर त्याग दे और मनमाने धर्मध्यान का आश्रय

ग्रहण कर निरन्तर उसमें आकण्ठ डूबा रहे तो वह कर्म–बन्धन से बच नहीं सकता। ठीक उसी तरह श्रुतज्ञानप्राप्ति के पश्चात् किसी प्रकार के प्रमाद अथवा मिथ्याभिमान का शिकार बन जाए तो भावनाज्ञान की मंजिल तक पहुँच नहीं पाता।

अतः तप और ज्ञान रूपी अक्षयनिधि प्राप्त करने के पश्चात् उससे पदच्युत न होने पाये, इसीलिये निम्नांकित भावनाओं से भावित होना नितान्त आवश्यक है ।

पूर्व पुरुषसिंहों के अपूर्वज्ञान की तुलना में मैं तुच्छ / पामर जीव मात्र हूँ... भला किस बात का अभिमान करूँ ?

जिस तप और ज्ञान के सहारे मुझे भवसागर से तिरना है, उसीके सहयोग से मुझे अपनी जीवन–नौका को डूबाना नहीं है ।

श्रुतज्ञान के बाद चिन्ताज्ञान और भावनाज्ञान की मंजिल तक पहुँचना है, अतः मैं मिथ्याभिमान से कोसों दूर रहूँगा ।

भावनाज्ञान तक पहुँचने के लिये आवश्यकादि क्रियाओं का सम्मानसहित आदर करूँगा ।

अलिप्तो निश्चयेनात्मा, लिप्तश्च व्यवहारतः ।
शुद्धयत्यलिप्तया ज्ञानी, क्रियावान् लिप्तया दशा ॥११॥६॥

अर्थ : निश्चयनय के अनुसार जीव कर्म–बन्धनों से जकडा हुआ नहीं है, लेकिन व्यवहार नय के अनुसार वह जकडा हुआ है । ज्ञानीजन निर्लिप्त दृष्टि से शुद्ध होते हैं और क्रियाशील लिप्त दृष्टि से ।

विवेचन : "मैं अपने शुद्ध स्वभाव में अज्ञानी नहीं... पूर्णरूपेण ज्ञानी हूँ... पूर्णदर्शी हूँ... अक्रोधी हूँ... निरभिमानी हूँ... मायारहित हूँ... निर्लोभी हूँ... निर्मोही हूँ... अनंत वीर्यशाली हूँ... अनामी और अगुरुलघु हूँ । अनाहारी और अवेदी हूँ । मेरे स्वभाव में न तो निद्रा है ना ही विकथा, ना रूप है, ना रंग । मेरा स्वरूप सच्चिदानन्दमय है ।" आत्मा की इसी स्वभाव दशा के चिन्तन–मनन से ज्ञानीजन शुद्ध–विशुद्ध बनते हैं । 'निश्चयनय,★ नयकी यही मान्यता है।

★ निश्चयनय का विस्तृत स्वरुप परिशिष्ट में देखिए ।

निश्चयनय के अनुसार आत्मा अलिप्त है ।

जबकि लिप्तता 'व्यवहार नय'★ के अनुसार है । "मैं जघन्य / अशुद्ध प्रवृत्तियों के कारण कर्म–बन्धनों से जकडा हुआ हूँ । कर्म–लिप्त हूँ । लेकिन अब सत्प्रवृत्तियों को अपने जीवन में अपनाकर कर्म–बन्धनों को तोड़ने का, उससे मुक्त होने का यथेष्ट प्रयास करूँगा । साथ ही ऐसा कोई कार्य नहीं करूँगा कि जिससे नये सिरे से कर्म–बन्धन होने की जरा भी सम्भावना हो । इस सद्भावना और सत्–प्रवृत्ति के माध्यम से मैं अपनी आत्मा को शुद्ध बनाऊँगा ।" इस तरह के विचारों के साथ यह लिप्त–दृष्टि से आवश्यकादि क्रियाओं को जीवन में आत्मसात् करता हुआ आत्मा को शुद्ध बनाता है ।

शुद्ध बनने के लिये ज्ञानीजनों को, योगी पुरुषों को 'निश्चय नय' का मार्ग ही अपनाना है । जबकि रात–दिन अहर्निश पापी दुनिया में खोये जीवात्मा के लिये 'व्यवहारनय' का क्रियामार्ग ही सभी दृष्टि से उचित है । उसे अपनी कर्ममलिन अशुद्ध अवस्था का खयाल कर उसकी सर्वांगीण शुद्धि हेतु जिनोक्त सम्यक्–क्रिया का सम्मान करते हुए आत्मशुद्धिकरण का प्रयोग करना चाहिये । ज्यों–ज्यों पाप–क्रियाओं से मुक्त होते जाओगे, त्यों–त्यों निश्चयनय की अलिप्त दृष्टि का अवलम्बन लेकर शुद्ध–ध्यान की तरफ निरन्तर प्रगति करते रहोगे ।

ज्ञान–क्रियासमावेशः सदैवोन्मीलने द्वयोः ।
भूमिकाभेदतस्त्वत्र, भवेदेकैक–मुख्यता ॥११॥७॥

अर्थ : दोनों दृष्टियों के साथ खुलने से ज्ञान–क्रिया की एकता होती है । यहाँ ज्ञान–क्रिया में गुणस्थानक–स्वरूप अवस्था के भेद से प्रत्येक की महत्ता होती है ।

विवेचन : शुद्धि के लिये दो दृष्टियाँ खुलनी चाहियें । लिप्त दृष्टि और अलिप्त दृष्टि । जब दोनों दृष्टियाँ एक साथ खुलती हैं, तब ज्ञान और क्रिया की एकात्मता सधती है । गुणस्थानक की भूमिका के अनुसार ज्ञान–क्रिया का प्राधान्य रहता है ।

★ व्यवहारनय की जानकारी के लिए परिशिष्ट देखिए ।

इसमें भी सर्व प्रथम बात है शुद्धि की । मन में शुद्धिकरण की भावना पैदा होनी चाहिये ।

एक बार एक मनुष्य किसी योगी के पास गया । उन्हें प्रणिपात वन्दन कर विनयभाव से कहा । "गुरुदेव, मैं परमात्मा के दर्शन करना चाहता हूँ । आप करायेंगे तो बड़ी मेहरबानी होगी ।"

योगीराज ने नजर उठाकर उसे देखा । क्षण दो क्षण उसे निर्निमेष दृष्टि से देखते रहे । तब उसका हाथ अपने हाथ में लेकर चल पड़े । गाँव के बाहर बड़ा तालाब था । योगीराज ने उसके साथ शीतल जल में प्रवेश किया । जैसे–जैसे वे आगे बढते गये, जल का स्तर बढता गया । वे दोनों कमर से ऊपर तक गहरे जल में चले गये । फिर भी आगे बढ़ते रहे । पानी सीने तक पहुँच गया। लेकिन रुके नहीं । दाढ़ी तक पहुँच गया, फिर भी आगे बढ़ते रहे और जब नाक तक पहुँच गया, तब योगीराज ने विद्युत वेग से अविलम्ब उसे पानी के भीतर पूरी ताकत के साथ दबोच लिया । वह छटपटाने लगा । तड़पने लगा । ऊपर आने के लिये हाथ पाँव मारने लगा । लेकिन योगीराज ने उसे दबोचे ही रखा। उसने लाख कोशिश की बाहर निकलने की, लेकिन वह अपने प्रयत्न में कारगार न हुआ । इस तरह पाँच–दस सेकण्ड़ व्यतीत हो गये । तब योगीराज ने उसे ऊपर उठाया और तालाब से बाहर निकल आये । योगीराज की क्रिया से हैरान–परेशान वह सकते में आकर उनका मुँह ताकने लगा ।

वातावरण में नीरव शान्ति छा गयी । एक–दूसरे की धड़कनें साफ सुनायी दे रहीं थीं । पानी में रहने के कारण मनुष्य अधमरा हो गया था फिर भी कुछ नहीं बोला । तब शान्ति भंग करते हुए योगीराज ने गंभीर स्वर में प्रश्न किया :" मैंने जब तुम्हें पानी में डूबा दिया था, तब तुम किसलिये छटपटा रहे थे ?"

"हवा के लिये ।"

"और छटपटाहट कैसी थी ?"

"यदि ज्यादा समय लगता तो मेरे प्राण–पंखेरू उड़ जाते । मैं मर जाता ।"

"क्या ऐसी छटपटाहट परमात्मा के दर्शन की है ? जिस पल ऐसी छटपटाहट, तड़प का अनुभव होगा, उसी पल परमात्मा के दर्शन हो जायेंगे ।"

शुद्धिकरण हेतु ऐसी तीव्र लालसा पैदा होते ही, खुद जिस भूमिका पर हैं, उसीके अनुरुप वह ज्ञान अथवा क्रिया पर भार दें और शुद्ध होने के पुरुषार्थ में लग जायें ।

दोनों में से किसीको भी भूमिका के अनुसार प्राधान्य देना चाहिये । ज्ञान को प्राधान्य दो अथवा क्रिया को, दोनों ही बराबर हैं । छठे गुणस्थानक तक (प्रमत्तयति का गुणस्थानक) क्रिया को ही प्राधान्य देना चाहिये । लेकिन उसमें भी ज्ञान की सापेक्षता होना परमावश्यक है । ज्ञान की सापेक्षता का मतलब है, जो भी क्रिया की जाए, उसके पीछे ज्ञान-दृष्टि होनी चाहिये । ज्ञान की उपेक्षा अथवा अवज्ञा नहीं होनी चाहिये । जबकि व्यवहारदशा में क्रिया का ही प्राधान्य होता है, लेकिन यदि जीव एकान्त क्रिया-जड़ बन जाए, तो आत्मशुद्धि असम्भव है । अत: उसमें भी ज्ञान-दृष्टि की आवश्यकता है । ठीक इसी प्रकार ध्यानावस्था में ज्ञान का प्राधान्य रहे, लेकिन भूलकर भी यदि जीव एकान्त ज्ञानजड़ बन जाए, तो आत्मशुद्धि नहीं होती । अत: वहाँ आवश्यक क्रियाओं के प्रति सजगता और समादर होना चाहिये ।

व्यवहार से तीर्थ (प्रवचन) की रक्षा होती है, जबकि निश्चय से सत्यरक्षा। जिनमत का रथ, निश्चय और व्यवहार के दो पहियों पर अवस्थित है । अत: जिनमत द्वारा आत्मविशुद्धि का प्रयोग करनेवाले साधक को हमेशा व्यवहार और निश्चय के प्रति सापेक्ष दृष्टि रखनी चाहिये । सापेक्ष दृष्टि एक प्रकार से सम्यग् दृष्टि ही है जबकि निरपेक्षदृष्टि मिथ्यादृष्टि है ।

सापेक्षदृष्टि उद्घाटित होते ही जीवात्मा में ज्ञान-क्रिया का अद्भुत संगम होता है । फलस्वरूप आत्मा निरन्तर विशुद्ध बनती जाती है और उसकी गुण-समृद्धि प्रकट होती है । सापेक्ष दृष्टि के मेघ से बरसता आनन्द-अमृत आत्मा को अजरामर-अक्षय बनाने के लिये पूर्ण रूप से समर्थ होता है । जबकि निरपेक्ष दृष्टि से रिसता रहता है क्लेश, अशान्ति और असंतोष का जहर !

सज्ञानं यदनुष्ठानं, न लिप्तं दोषपंकतः ।
शुद्धबुद्धस्वभावाय, तस्मै भगवतें नमः ॥११॥८॥

अर्थ : जिनका ज्ञानसहित क्रियारूप अनुष्ठान दोषरूपी मैल से लिप्त नहीं है और जो शुद्ध-बुद्ध ज्ञान स्वरूप स्वभाव के धारक हैं, ऐसे भगवान को मेरा नमस्कार हो ।

विवेचन : जो भी क्रिया हो, ज्ञानसहित होनी चाहिये । ठीक उसी तरह ज्ञानयुक्त क्रियानुष्ठान दोष के कीचड़ से सना हुआ न हो ।

ज्ञानयुक्त (सज्ञान) क्रियानुष्ठान क्या होता है और किसे कहा जाता है ? मतलब, जो भी क्रिया हम करते हों, उसका स्वरूप, विधि और फल की जानकारी हमें होनी चाहिये । सिर्फ आत्मशुद्धि के एकमेव पवित्र फल की आकांक्षा से हमें प्रत्येक क्रियानुष्ठान करना चाहिये । यह आदर्श सदा-सर्वदा हमारे आचार-विचार से प्रकट होना चाहिये कि 'मुझे अपनी आत्मा की शुद्ध-बुद्ध अवस्था को प्राप्त करना है ।' क्रिया में प्रवृत्त होते ही उसकी विधि जान लेनी चाहिये और विधिपूर्वक क्रियानुष्ठान करना चाहिये । क्रियानुष्ठान के विधि-निषेध के साथ-साथ जिनमतप्रणीत मोक्षमार्ग का यथार्थ ज्ञान मुमुक्षु आत्मा को होना निहायत जरूरी है ।

क्रियानुष्ठान करते समय इस बात से सतर्क रहना चाहिये कि वह अतिचारों से दूषित न हो जाये । मोह, अज्ञान, रस, ऋद्धि और शाता गारव, कषाय, उपसर्ग-भीरुता, विषयों का आकर्षणादि से अनुष्ठान दूषित नहीं होना चाहिये । इसकी प्रतिपल सावधानी बरतनी चाहिये । इस तरह दोष-रहित सम्यग् ज्ञानयुक्त, क्रियानुष्ठान के कर्ता और शुद्ध-बुद्ध स्वभाव के धनी भगवान को मेरा नमस्कार हो । कहने का तात्पर्य सिर्फ इतना है कि दोष-रहित क्रियानुष्ठान करने से आत्मा का शुद्ध-बुद्ध स्वरूप अपने आप ही प्रकट होता है । जबकि दोषयुक्त और ज्ञानविहीन क्रियायें करते रहने से आत्मा का शुद्ध-बुद्ध सहज स्वरूप प्रकट नहीं होता । लेकिन उससे विपरीत मिथ्याभिमान का ही पोषण होता है । फलतः भवचक्र के फेरों में दिन-दुगुनी रात चौगुन वृद्धि हो जाती है । कर्म-निर्लेप होने के लिये ज्ञान-क्रिया का विवेकपूर्ण तादात्म्य साधना जरूरी है ।

१२. निःस्पृहता

स्पृहाएँ कामनाएँ और असंख्य अभिलाषाओं के बन्धन से अब तो मुक्त बनोगे ? बिना इनसे मुक्त हुए, बन्धन काटे, तुम निर्लेप नही बन सकते ! प्रिय आत्मन् ! जरा तो अपना और अपने भविष्य का ख्याल करो ! आज तक तुमने स्पृहाओं की धूं–धूं प्रज्वलित अग्निशिखाओं की असह्य जलन में न जाने कितनी यातनाएँ सही हैं ? युगयुगान्तर से स्पृहा के विष का प्याला गले में ऊँडेलते रहे हो, पीते रहे हो । क्या अब भी तृप्त नहीं हुए ? और भी पीना बाकी है ? नहीं, नहीं, अब तो निःस्पृह बनना ही श्रेयस्कर है ! मन की गहरायी में दबी स्पृहाओं को जड़मूल से उखेड कर फेंकदे और फिर देख, जीवन में क्या परिवर्तन आता है ? अकल्पित सुख, शान्ति और समृद्धि का तू धनी बन जाएगा ! साथ ही आज तक अनुभव नहीं किया हो ऐसे दिव्यानन्द से तेरी आत्मा आकण्ठ भर जायेगी ! तू परिपूर्ण बन जायेगा ।

स्वभावलाभात् किमपि प्राप्तव्यं नावशिष्यते ।
इत्यात्मश्वयसम्पन्नो निःस्पृहो जायते मुनिः ॥१२॥१॥

अर्थ : आत्मस्वभाव की प्राप्ति के पश्चात् पाने योग्य कुछ भी शेष नहीं रहता है ! इस तरह आत्मा के ऐश्वर्य से युक्त साधु स्पृहारहित बनता है ।

विवेचन : हे आत्मन् ! तुम्हें क्या चाहिये ? किस चीज की चाह है तेरे मन में ? किन अरमान और उमंगो के आधीन होकर तू रात–दिन भटकता रहता है, दौड़–धूप करता रहता है ? कैसी झंखनाएँ तेरे हृदय को विदीर्ण कर रहीं हैं ? क्या तुम्हें सोने–चाँदी और मोती–मुक्ताओं की चाह है ? क्या तुम्हें गगनचुम्बी महल और आलिशान भवनों की अभिलाषा है ? क्या तुम्हें रुप–रस

की अम्बार देवांगनाओं सी वृन्द में खो जाना है ? क्या तुम्हें यश–कीर्ति की उत्तुँग चोटियां सर करनी है ? अरे भाई, जरा सोच, समझ और ये सब अरमान छोड़ दे ! इस में खुश होने जैसी कोई बात नहीं है । न तो शान्ति है, ना ही स्वस्थता !

मान लो की तुम्हें यह सब मिल गया, तुम्हारी सारी अभिलाषाएँ पूरी हो गयीं ! लेकिन आकांक्षापूर्ति हो जाने के पश्चात् भी क्या तुम सुखी हो जाओगे ? तुम्हें परम शान्ति और दिव्यानन्द मिल जाएगा ? साथ ही, एक बार मिल जाने पर भी वह सब सदैव तुम्हारे पास ही रहनेवाला है ? तुम उसे दीर्घावधि तक भोग सकोगे ? यह तुम्हारा मिथ्या भ्रम है, जिसके धोखे में कभी न आना ! अरे पागल, यह सब तो क्षणिक, चंचल और अस्थिर है । भूतकाल में कई बार इसे पाया है... फिर भी हमेशा दरिद्र ही रहा है, भिखारी का भिखारी । अब तो कुछ ऐसा पाने का भगीरथ पुरुषार्थ कर कि एक बार मिल जाने के बाद कभी जाएँ नहीं ! जो अविनाशी है, अक्षय है, अचल है उसे प्राप्त कर ! यही स्वभाव है, आत्मा का स्वभाव !

मन ही मन तुम दृढ़ संकल्प करलो कि 'मुझे आत्म–स्वभाव की प्राप्ति करना है और करके ही रहूँगा ! इसके अलावा मुझे और कुछ नहीं चाहिए ! विश्व–साम्राज्य का ऐश्वर्य नहीं चाहिए, ना ही आकाश से बातें करती आलिशान अट्टालिकाओं की गरज है ! अगर किसी की आवश्यकता है तो सिर्फ आत्मस्वभाव के ऐश्वर्य की और परमानन्द की ! मुनिराज इस तरह का दृढ़ निश्चय कर नि:स्पृह बने । नि:स्पृहता की शक्ति से वह विश्वविजेता बनता है ! फलत: संसार का कोइ ऐश्वर्य अथवा सौन्दर्य उसे आकर्षित करने में असफल रहेगा, उसे लुभा नहीं सकेगा । दिन–रात एक ही तमन्ना होनी चाहिए : मुझे तो आत्मस्वभाव चाहिए, उसके अलावा कुछ नहीं !" जिसमें आत्मस्वभाव के अतिरिक्त दूसरी कोई स्पृहा नहीं है, उसका ऐश्वर्य अद्वितीय और अनूठा होता है !

श्रेष्ठिवर्य धनावह ने महाश्रमण वज्रस्वामी के चरणों में स्वर्णमुद्राओं का कोष रख दिया ! उसकी पुत्री रुप–रंभा रूक्मिणी ने अपना रूप–यौवन समर्पित कर दिया ! लेकिन वज्रस्वामी जरा भी विचलित न हुए ! वे तो आत्म–स्वभाव के आकांक्षी थे ! उन्हें सुवर्णमुद्रा और मोती–मुक्ताओं की स्पृहा न थी, ना ही

रुप–यौवन की कामना ! धनावह और रूक्मिणी उनके अन्तःकरण को अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सके ! लेकिन महाश्रमण ने आत्मस्वभाव के ऐश्वर्य का ऐसा तो रूक्मिणी को रंग दिखाया कि रूक्मिणी मायावी–ऐश्वर्य से ही अलिप्त बन गयी, विरक्त हो गई ! आत्म–स्वभाव के अनूठे ऐश्वर्य की प्राप्ति हेतु पुरुषार्थशील हो गई !

आत्मस्वभाव का ऐश्वर्य जिस मुनिराज को आकर्षित करने में असमर्थ है, वे (मुनिराज) ही पुद्गलजन्य अधम ऐश्वर्य की ओर आकर्षित हो जाते हैं और अपने श्रमणत्व, साधुता को कलंकित कर बैठते हैं । दीनता की दर्दनाक चीख–पुकार, आत्मपतन के विध्वंसकारी आघात और वैषयिक–भोगोपभोग के प्रहारों से लुढ़क जाते हैं, क्षत-विक्षत हो जाते हैं ! नटी के पीछे पागल अषाढाभूति की विवशता, अरणिक मुनि का नवयौवना के कारण उद्दीप्त वासना नृत्य, सिंह-गुफावासी मुनी की कोशा गणिका के मोह में संयम–विस्मृति... यह सब क्या ध्वनित करता है ? सिर्फ आत्मस्वभाव के ऐश्वर्य की सरासर विस्मृति और भौतिक पार्थिव ऐश्वर्य पाने की उत्कट महत्त्वाकांक्षा ! वैषयिक–ऐश्वर्य की अगणित वासनाएँ और विलासी–वृत्ति ने उन्हें अशक्त कर दिया । अशक्त होकर वे दर–दर की ठोकरें खाने के लिए विश्व के गुलाम बन गये ! कालान्तर से उन्हें दुबारा आत्मस्वभाव के ऐश्वर्य का भान हुआ और निःस्पृहता की दीप–ज्योति पुनः उनमें प्रज्वलित हो उठी ! दिव्यशक्ति का अपने आप संचार हुआ ! फलस्वरूप उन्होंने आनन–फानन में स्पृहा की बेड़ियाँ तोड़ दीं और पामर से महान् बन गये, निर्बल से सबल बन गये !

परस्पृहा महादुःखं, निःस्पृहत्वं महासुखम् ।
एतदुक्तं समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥

पुद्गल की स्पृहा करना संसार का महादुःख है, जबकि निःस्पृहता में सुख की अक्षय–निधि छिपी हुई है ! श्रमण जितना निःस्पृह होगा उतना ही सुखी होगा ।

संयोजितकरैः के के प्रार्थ्यन्ते न स्पृहावहैः ।
अमात्रज्ञानपात्रस्य निःस्पृहस्य तृणं जगत् ॥१२॥२॥

अर्थ : जो करबद्ध हैं, नतमस्तक हैं, ऐसे मनुष्य भला, किस किस की प्रार्थना नहीं करते ? जबकि अपरिमित ज्ञान के पात्र ऐसे नि:स्पृह मुनिवर के लिये तो समस्त विश्व तृण–तुल्य है !

विवेचन : स्पृहा के साथ दीनता की सगाई है ! जहाँ किसी पुद्गलजन्य स्पृहा मन में जगी नहीं कि दीनता ने उसके पीछे–पीछे दबे पाँव प्रवेश किया नहीं ! स्पृहा और दीनता, अनंत शक्तिशाली आत्मा की तेजस्विता हर लेती हैं और उसे भवोभव की सूनी–निर्जन सड़कों पर भटकते भोगोपभोग का भिखारी बना देती हैं !

महापराक्रमी रावण के मन में परस्त्री की स्पृहा अंकुरित हो गई थी ! सीता के पास जाकर क्या कम दीनता की थी उसने ? करबद्ध हो, दीन–वाणी में गिड़गिड़ाते हुए सीता से भोग की भीख मांगी थी । दीर्घकाल तक सीता की स्पृहा में वह छटपटाता रहा, तड़पता रहा और अन्त में अपने परिवार, पुत्र, निष्ठावान् साथी और राजसिंहासन से हाथ धो बैठा ! अपने हाथों ही अपना सत्यानाश कर दिया ! स्पृहा का यह मूल स्वभाव है : जीव के पास दीनता का प्रदर्शन कराना ! गिड़गिड़ाने के लिये जीव को विवश करना और प्रार्थना याचना करवाना ! अत: मुनि को चाहिये कि वह भूलकर भी कभी पर पदार्थ की स्पृहा के पीछे दीवाना न हो जाए और यह तथ्य किसी से छिपा नहीं है कि जो–जो लोग उसके शिकार बने, उन्हें सर्वस्व का भोग देकर दीन–हीन याचक बनना पड़ा है ! महीन वस्त्र, उत्तम पात्र, उपधि, मान–सम्मान, खान–पान, स्तुति–स्वागत किसी की भी स्पृहा नहीं करनी चाहिए ! स्पृहा की तीव्रता होते ही भले भले अपना स्थान–भूमिका और आचार–विचार को तिलांजलि दे देते हैं ! "मैं कौन ? मैं भला ऐसी याचना करूँ... ? ...करबद्ध और नतमस्तक हो दीन–स्वर में भीख माँगु ? यह सर्वथा उचित नहीं है !"

नि:स्पृह मुनिराज ही अनंतज्ञान के, केवलज्ञान के पात्र हैं ? जो अनंतज्ञान का अधिकारी है वह भूले भटके भी कभी पुद्गलों की स्पृहा नहीं करेगा ! सोना और चाँदी उसके लिए मिट्टी समान है ! गगनचुम्बी इमारतें ईँट–पत्थर से अधिक कीमत नहीं रखती और रुप–सौन्दर्य का समूह केवल अस्थिपंजर है ! सारे संसार को तृणवत् समझ, नि:स्पृह बना रहनेवाला योगी / मुनि परमब्रह्म का आनन्द

अनुभव करता है ! असीम आत्मस्वातंत्र्य की मस्ती में खोया रहता है ! ऐसी उत्कट नि:स्पृह–वृत्ति पाने के लिए जीवन में निम्नांकित उपायों का अवलम्बन करना चाहिए !

- "मेरे पास सब कुछ है । मेरी आत्मा सुख और शान्ति से परिपूर्ण है । मुझे किसी बात की कमी नहीं । मेरी आत्मा में जो सर्वोत्तम सुख भरा हुआ है, दुनिया में ऐसा सुख कहीं नहीं । तब भला, मैं इसकी स्पहा क्यों करूँ ? ऐसी भावना से निज आत्मा को भावित रखनी चाहिए ।

- "मैं जिस पदार्थ की स्पृहा करता हूँ, जिसके पीछे दीवाना बन, रात–दिन भटकता रहता हूँ, जिसकी वजह से परमात्मा–ध्यान अथवा शास्त्र–स्वाध्याय में मन नहीं लगता, वह मिलना सर्वथा पुण्याधीन है ! पुण्योदय न होगा तो नहीं मिलेगा ! जबकि उसकी निरंतर स्पृहा करने से मन मलिन बनता है ! पाप का बन्धन और अधिक कसता जाता है ! अत: ऐसी परपदार्थ की स्पृहा से क्यों न मुख मोड़ लूँ ?" ऐसे विचारों का चिंतन–मनन करते हुए, जीवन की दिशा को ही बदल देना चाहिए ।

- "यदि मैं परपदार्थों की स्पृहा करूँगा तो नि:संदेह जिनके पास ये हैं, उनकी मुझे गुलामी करनी पड़ेगी, दीर्घकाल तब उसका गुलाम बन कर रहना होगा ! उसके आगे दीन बन याचना करनी पड़ेगी । यदि याचना के बावजूद भी नहीं मिले वे पदार्थ तो रोष अथवा रूदन का आधार लेना पड़ेगा ! प्राप्त हो गये तो राग और रति होगी ! परिणामस्वरूप दु:ख ही दु:ख मिलेगा ! साथ ही यह सब करते हुए आत्मा–परमात्मा की विस्मृति होते देर नहीं लगेगी । संयम–आराधना में शिथिलता आ जाएगी और फिर पुन:–पुन: भव चक्कर में फँसना होगा !" इस तरह जीवन में होनेवाले अगणित नुकसान का खयालकर स्पृहा के भावों का निर्मूलन करना होगा !

जैसे भी सम्भव हो, जीवन में परपदार्थों की आवश्यकता को कम करना चाहिए ! पर-पदार्थों की विपुलता के बल पर अपनी महत्ता अथवा मूल्यांकन नहीं करना चाहिए, बल्कि उनकी अल्पता में ही अपना महत्त्व समझना चाहिए !

- सदा–सर्वदा नि:स्पृह आत्माओं से परिचय बढाकर उसे अधिकाधिक दृढ़

करना चाहिए ! निःस्पृह महापुरुषों के जीवन–चरित्रों का पुनः पुनः परिशीलन करना चाहिए !

- आवश्यक पदार्थों (गौचरी, पानी, पात्र, उपधि, वस्त्रादि) की भी कभी इतनी स्पृहा न करें कि जिसके कारण किसी के आगे दीन बनना पड़े, हाथ जोड़ना पड़े और गिड़गिड़ाना पड़े ! समय पर कोई पदार्थ न भी मिले तो उसके बिना काम चलाने की वृत्ति होनी चाहिए । तपोबल और सहनशक्ति प्राप्त करनी चाहिये !

छिन्दन्ति ज्ञानदात्रेण स्पृहाविषलतां बुधाः !
मुखशोषं च मूर्च्छा च दैन्यं यच्छति यत्फलम् ॥१२॥३॥

अर्थ : अध्यात्म–ज्ञानी पण्डित पुरुष स्पृहा रूपी विष-लता को ज्ञानरूपी हँसिये से काटते हैं, जो स्पृहा विष-लता के फलरुप, मुख का सूखना, मूर्च्छा पाना और दीनता प्रदान करते हैं ।

विवेचन : यहाँ स्पृहा को विष–वल्लरी की उपमा दी गयी है ! स्पृहा यानि विष–वल्लरी ! यह विषवल्लरी अनादिकाल से–आत्मभूमि पर निर्बाध रुप से फलती–फूलती और विकसित होती रही है ! आत्मभूमि के हर प्रदेश में वह विभिन्न रूप–रंग से छायी हुई है । उस पर भिन्न–भिन्न स्वाद और रंग–बिरंगे फल–फूल लगते हैं ! लेकिन उन फलों की खासियत यह है कि उनका प्रभाव हर कहीं, किसी भी मौसम में एक सा होता है !

हमें यहाँ पौद्‌गलिक–स्पृहा अभिप्रेत है ! जब अनुकूल पदार्थों की स्पृहा जग पड़े तब समझ लेना चाहिए कि विष–वल्लरी पूर–बहार में प्रस्फुटित हो उठी है ! इसके तीव्र होते ही मनुष्य मूर्च्छित हो जाता है, उसका चेहरा निस्तेज पड़ता है, मुख सूख जाता है और एक प्रकार का पीलापन तन–बदन पर छा जाता है ! उसकी वाणी में दीनता होती है और जीवन का आंतरिक प्रसन्न संवेदन लुप्त होता दृष्टिगोचर होता है !

स्पृहा ! अरे भाई, स्पृहा की भी कोई मर्यादा है, सीमा है ? नहीं, उसकी कोई मर्यादा, सीमा नहीं है ! स्पृहा का विष आत्मा के प्रदेश–प्रदेश में व्याप्त

हो गया है ! ऊपर से नीचे तक आत्मा जहरीली बन गयी है ! उसने विकराल सर्प का रुप धारण कर लिया है ! मानवदेहधारी जहरीले सर्पों का विष निखिल भूमण्डल को, विश्व को मूर्च्छित, निःसत्व और पामर बना रहा है । धन–धान्य की स्पृहा, गन्ध–सुगन्ध की स्पृहा, रंग–रूप की स्पृहा, कमनीय षोडसी रमणियों की स्पृहा, मान–सन्मान और आदर–प्रतिष्ठा की स्पृहा ! न जाने किस–किस की स्पृहा के विष के फुहारे निरंतर उड़ते रहते हैं ! तब भला, स्वस्थता, सात्विकता और शौर्य कहाँ से प्रकट होगा ? फिर भी मानव पागलपन दोहराता हुआ दिन–रात स्पृहा करता ही रहता है ! दुःख, कष्ट, कलह, खेद, अशान्ति आदि असंख्य बुराइयों के बावजूद भी वह स्पृहा करता नहीं थकता ! मान लो, उसने समझ लिया है कि 'स्पृहा किये बिना जी ही नहीं सकते; जिंदगी बसर करने के लिए स्पृहा का सहारा लिये बिना कोई चारा नहीं !' सम्भव है कि अमुक अंश में यह बात सच हो !

लेकिन क्या स्पृहा की कोई मर्यादा निर्धारित नहीं हो सकती ? तीव्र स्पृहा के बन्धन से क्या जीव मुक्त नहीं हो सकता ? अवश्य मुक्त हो सकता है, यदि ज्ञान का मार्ग अपनाये तो ! उसके बल पर वह विषय–वासना की लालसा को नियंत्रित कर सकता है ! ज्ञान–मार्ग का सहयोग लेना मतलब जड़ और चेतन के भेद का यथार्थ ज्ञान होना ! स्पृहाजन्य अशान्ति की अकुलाहट होना और स्पृहा की पूर्ति से प्राप्त सुख के प्रति मन में पूर्णरूपेण उदासीनता होना !

"मैं आत्मा हूँ... चैतन्यस्वरूप हूँ... सुख से परिपूर्ण हूँ ! जड़ पौद्‌गलिक पदार्थों के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है ! फिर भला, मुझे उसकी स्पृहा क्यों करनी चाहिये ?"

'जड़–पदार्थों की स्पृहा करने से चित्त अशान्त होता है ! स्वभाव में से परभाव में गमन होता है और स्पृहा करने के उपरान्त भी इच्छित पदार्थों की प्राप्ति नहीं होती, तब हिंसा, असत्य, चोरी आदि पापों के माध्यम से उसे पूरा करने का अध्यवसाय पैदा होता है ! अशान्ति... असुख में तीव्रता आ जाती है ! अतः ऐसे जड़ पदार्थों की स्पृहा से दूर ही भले !

यदि स्पृहा पूर्ण हो जाए तो प्राप्त पदार्थों के प्रति आसक्ति बढ़ जाती

है; उसकी सुरक्षा कि चिंता पैदा होती है... आत्मा के ज्ञानादि गुणों को संरक्षित रखने की विस्मृति हो जाती है ! तब नोबत यहाँ तक आ जाती है कि व्यवहार के लिए आवश्यक ऐसे न्याय–नीति, सदाचार, उदारतादि गुण भी लुप्त हो जाते हैं ! साथ ही, एक स्पृहा पूरी होते ही दूसरी अनेक स्पृहाओं का पुनर्जन्म होता है और उन्हें पूरी करने के लिए प्रयत्न करते समय प्राप्त सुख–शान्ति का अनुभव नहीं पा सकते ! इस तरह नित्य कई स्पृहा का जन्म होता रहे और उसे पूर्ण करने के भगीरथ प्रयास निरंतर चलते रहते हैं ! फलतः जीवन में शान्ति, प्रसन्नता का सवाल ही नहीं उठता । ऐसे समय यदि हमारी ज्ञानदृष्टि खुल जाय तो स्पृहा की विष–वल्लरी सूखते देर नहीं लगेगी ! इसीलिए कहा गया है कि ज्ञान रूपी हँसिये से स्पृहा रूपी विष–वल्लरिओं को काट दो ।

निष्कासनीया विदुषा स्पृहा चित्तगृहाद् बहिः ।
अनात्मरतिचाण्डाली संगमङ्गीकरोति या ॥१२॥४॥

अर्थ : विद्वान के लिए अपने मन–घर से तृष्णा को बाहर निकाल देना ही योग्य है, जो तृष्णा आत्मा से भिन्न पुद्गल में रति–रूप चांडालनी का संग स्वीकार करती है ।

विवेचन : स्पृहा और अनात्म–रति गाढ़ सम्बन्ध है ! दोनों एक–दूसरे से घुल–मिलकर रहती हैं ! स्पृहा अनात्म–रति के बिना रह नहीं सकती और अनात्म–रति स्पृहा के सिवाय नहीं रहती ! यहाँ पूज्य उपाध्यायजी महाराज तृष्णा को घर से बाहर करने की सलाह देते हुए कहते हैं कि स्पृहा अनात्म–रति की संगत करती रहती है । अर्थात् उसे घर-बाहर कर देना चाहिए ! क्योंकि वह अनात्म-रति का संग करती रहती है !

स्पृहा कहती है : 'मेरा ऐसा कौन सा अपराध है कि मुझे घर बाहर करने के लिए तत्पर हैं ?

उपाध्यायजी : तुम अनात्म-रति की संगत जो करती हो ।

स्पृहा : ''इससे भला, आपका क्या नुकसान होता है ?''

उपाध्यायजी : 'बहुत बड़ा नुकसान, जिसकी पूर्ति करना प्रायः असम्भव

है ! तुम दोनों साथ में मिलकर हमारी गृहलक्ष्मी जैसी 'आत्मरति' को ही हैरान–परेशान और निरंतर व्यथित करती हो ! जबकि वह हमारे घर की सुशील रानी है और हमारे घर की एक मात्र आधारस्तंभ है ! उसका अस्तित्व ही मटियामेट करने के लिए तुम दोनों तुली हुई हो ! यदि तुम महाभयंकर अनात्म–रति का साथ छोड़कर सुंदर, सुभग, कमनीय ऐसी आत्म–रति का हाथ पकड लो तो हम प्रसन्नतापूर्वक तुम्हें हमारे मन–मन्दिर में रहने की अनुमति दे सकते हैं ! बशर्ते कि तुम्हें उस चांडालिनी (अनात्म–रति) का साथ छोड़ देना होगा !

तब सवाल यह उठता है कि 'अनात्म–रति' क्या है, जिसे छोड़ने का उपाध्यायजी महाराज ने बार–बार आग्रह किया है ! अनात्म–रति मतलब जड़रति... पुद्गलानन्द ! जड़ पदार्थो के प्रति एक बार आकर्षण हो जाने पर उससे जिस सुख की कल्पना की जाती है और उस कल्पना के जरिये जो विविध प्रकार की मृदुता–मधुरता का आभास होता है, उसेही अनात्म–रति कहा गया है ! यदि अनात्म–रति को समय रहते सद्विचार, तत्त्वचिंतन और अध्यवसाय से रोका न जाए, उसका मार्ग अवरुद्ध न किया जाय तो वह जिन पदार्थों को लेकर जागृत होती है, उन्हीं पदार्थों के पीछे स्पृहा उतावली बन दौड़ने लगती है और उसकी गति इतनी तो तीव्र वेगवती होती है कि कालान्तर से वही स्पृहा का रूप धारण कर लेती है ! ऐसी स्थिति में स्पृहा आत्म–प्रदेश में विस्फोट कर देती है !

लेकिन उपाध्यायजी महाराज सर्वथा उसका निषेध नहीं करते, बल्कि उसका गौरवपूर्ण उल्लेख भी करते हैं ! वे स्पृहा की एकांत हेयता का इन्कार कर उसकी उपादेयता का भी वर्णन करते नहीं अघाते ! वे कहते हैं : **अनात्म–रति से स्फुरित स्पृहा हेय होती है, जबकि आत्म–रति से स्फुरित स्पृहा उपादेय होती है !**

व्यक्ति के जीवन में अनेक प्रकार की स्पृहाओं के द्वन्द्व निरंतर चलते रहते हैं ! जब उसके मन में आत्मोत्थान की अभिलाषा जगती है तब उसे सद्गुण की स्पृहा होती है, सम्यग्ज्ञान की स्पृहा होती है, संयम के लिए आवश्यक उपकरणों की स्पृहा होती है और होती है संयम में सहायक साधु / संतों की कामना... ! ... शासनसंरक्षण की तीव्र इच्छा, समग्र जीवों की कल्याण–भावना ! साथ ही मोक्षप्राप्ति की उत्कट चाहना होती है ! प्रस्तुत सभी स्पृहाएँ उपादेय मानी

जाती हैं ! क्योंकि इन सब आकांक्षाओं के मूल में 'आत्मरति' जो होती है !

ऐसी स्पृहाएँ, कामनाएँ, अभिलाषाएँ कि जिनके मूल में अनात्मरति है, वह दिखावे में भले ही तप, त्याग और संयममय हो, ज्ञान और ध्यान की हो, भक्ति और सेवाभाव की हो, लेकिन सभी हेय हैं, सर्वथा त्याज्य हैं ! "मैं तपाराधना करूँगा तो मान–सन्मान मिलेगा ! मैं ज्ञानी–ध्यानी बनूँगा तो सर्वत्र मेरा पूजा–सत्कार होगा ! मैं भक्ति–सेवाव्रती हूँगा तो लोक में वाह–वाह होगी !" इन स्पृहाओं के मूल में 'अनात्मरति' कार्यशील हैं ! अतः ऐसी स्पृहाओं को पास भी आने नहीं देना चाहिए ! बल्कि उन्हें हमेशा के लिये निकाल बाहर करना चाहिए ! फलस्वरूप, किसी भी प्रकार की स्पृहा पैदा होते ही साधकवर्ग को विचार करना चाहिए कि उक्त स्पृहाओं से कहीं अनात्मरति का पोषण तो नहीं हो रहा है ? अन्तर्मुख होकर इसके बारे में सभी दृष्टि से विचार करना परमावश्यक है ! जब तब इसके सम्बन्ध में अन्तर की गहराई से विचार नहीं होगा, तब तक अनात्म–रति से युक्त स्पृहाएँ, हमारे आत्म–गृह को भग्नावशेष में परिवर्तित करते विलम्ब नहीं करेंगी ! भूलो भूमत, भूतकाल में भी इसी के कारण हमारा सत्यानाश हुआ है ।

ऐसे अवसर पर तुम्हारी विद्वत्ता, आराधकता और साधकता का दारो–मदार इस बात पर अवलम्बित है कि तुम अनात्म–रति समेत स्पृहा को अपने आत्म–गृह से निकाल बाहर करते हो अथवा नहीं ! यदि उन्हें निकाल बाहर करते हो तब तो तुम सही अर्थ में साधक, आराधक और विद्वान् हो, वर्ना कतई नहीं !

स्पृहावन्तो विलोक्यंते, लघवस्तृणतूलवत् !
महाश्चर्यं तथाप्येते, मज्जन्ति भववारिधौ ॥१२॥५॥

अर्थ : स्पृहावाले तिनके और आक के कपास के रोएँ की तरह हलके दिखते हैं, फिर भी वे संसार–समुद्र में डूब जाते हैं ! यह आश्चर्य की बात है !

विवेचन : याचना और भीख, मनुष्य का नैतिक पतन करती है ! किसी एक विषय की स्पृहा जगते ही उसकी प्राप्ति के लिए याचना करना, भीख माँगना और चापलूसी करना साधनासम्पन्न मुनिराज के लिए किसी भी रूप में उचित

नहीं है ! साधु को भूलकर भी कभी स्पृहावन्त नहीं बनना चाहिए !

महा सामर्थ्यशाली स्थूलिभद्रजी की स्पर्धा करने के लिए कोशा गणिका के आवास में जानेवाले सिंहगुफावासी मुनिवर की कलंक–कथा क्या तुम्हें विदित नहीं है ? 'मगध–नृत्यांगना कोशा की चित्रशाला मैं भी चातुर्मास करूँगा,' ऐसे मिथ्या आत्मविश्वास और संकल्प के साथ वे उसके द्वार पर गये और कोशा की कमनीय काया के प्रथम दर्शन से और उसके मधुर स्वर से प्रस्फुरित शब्दों का श्रवण करते ही सिंह–गुफावासी मुनिवर का सिंहत्व क्षणार्ध में हिरन हो गया ! वे गलितगात्र हो गये ! अनात्म–रति पुरजोर से जग पड़ी ! स्पृहा ने उसको सक्रिय साथ दिया ! फलतः सिंहगुफवासी मुनिवर नृत्यांगना कोशा के सुकोमल काया की स्पृहा के विष से व्याप्त हो गए ! प्रगाढ अरण्य, घने जंगल और असंख्य वनचर पशु–पक्षियों पर अधिपत्य रखनेवाले वनराजों के बीच चार–चार माह तक एकाग्रचित्त ध्यानस्थ रहनेवाले महान सात्त्विक और मेरू सदृश निष्प्रकम्प बनकर, चातुर्मास करनेवाले महा पुरुषार्थी, महातपस्वी मुनिवर कोशा के सामने तिनके से भी हलके दुर्बल बन गए ! आक की रूई से भी तुच्छ बन गए ! कोशा गणिका की बाँकी भंगिमा, नेत्र–कटाक्ष की झपट से वे नेपाल जा पहुँचे ! कोशा के कटाक्ष का वायु उन्हें नेपाल उडा ले गया ! क्योंकि वैषयिक स्पृहा ने उनमें रही संयमदृढता, संकल्पशक्ति की दृढता को क्षणार्ध में छिन्न–भिन्न कर मुनिवर को एकाध तिनका और आक की रूई की भाँति हलका जो कर दिया था !

आषाढाभूति के पतन में भी स्पृहा की करूण करामत काम कर गयी ! 'मोदक' की स्पृहा ! जिह्वेन्द्रिय के विषय की स्पृहा... यही स्पृहा उन्हें बार–बार अभिनेता के घर खींच गयी... अभिनेत्रियों के गाढ़ परिचय में आने की हिकमत लड़ा गयी... । स्पृहा ने अपने कार्य–क्षेत्र का विस्तार किया... मोदक की स्पृहा का विस्तार हुआ... मदनाक्षी मानिनियों की स्पृहा रंग जमा गयी... स्पृहा की तूफानी हवा जोर शोर से आत्म–प्रदेश पर सर्वत्र छा गयी । चारों दिशाओं में तहलका मच गया । स्पृहा से हलका बना आषाढाभूति का पामर जीव उस चक्रवात / आँधी में उडा और सौन्दर्यमयी नारियों / अभिनेत्रियों के प्रांगण में जा गिरा ! एकाध तिनके की तरह तुच्छ बन वह स्पृहा की आंधी का शिकार बन गया !

जिस तरह वेगवान तूफान और तेज आंधी मेरूपर्वत को प्रकम्पित नहीं

कर सकती, हिला नहीं सकती, हिमाद्रि की उत्तुंग चोटियों को अपनी गरिमा और अस्मिता से चलित नहीं कर सकती, ठीक उसी तरह योगीश्वर / महापुरुषों की आत्मा मेरूपर्वत की तरह अटल–अचल होती है ! स्पृहा का तूफान उसे विचलित नहीं कर सकता, ना ही अस्थिर कर सकता है ! अरे, स्पृहा उसके अन्तःस्थल में प्रवेश करने में ही असमर्थ है ! लेकिन यदि स्पृहा प्रवेश करने में समर्थ बन जाए तो सम्भव है कि उसमें रही लोह–शक्ति सदृश आत्मपरिणति नष्ट होते विलम्ब नहीं लगता ! जहाँ वह शक्ति नष्ट हो जाती है, वहाँ वायु के वेगवान प्रहार उसे तोड़–फोड़कर भूमिशायी बना देते हैं ।

प्रायः देखा गया है कि स्पृहावन्त व्यक्ति हलका बन जाता है और वह संसार–समुद्र में डूब जाता है । जबकि वास्तविकता है कि हलका (वजन में कम) व्यक्ति समुद्र तैर कर पार कर लेता है ! साथ ही हलकी वस्तु को हवा का झोंका उड़ा ले जाता है, जब स्पृहावन्त को वह अपने स्थान से हिला तक नहीं सकता ! क्योंकी स्पृहावन्त व्यक्ति वजन में हलका नहीं बनता, बल्कि स्व–व्यक्तित्व से हलका बनता है ! तब भला स्पृहावन्त को वायु क्यों उडा ले जाएगा ? वायु भी सोचता है !"

"यदि इस भिखारी को ले जाऊँगा तो बार–बार यह भीख माँगेगा और विविध पदार्थों की याचना करेगा !' अतः वह भी उसे ले जाने में उत्सुक नहीं रहता !

यह कभी न भूलो कि स्पृहा करने से तुम दुनिया की नजर में हलके बनते हो । तुम्हारी गणना तुच्छ और ओछे लोगों में होती है ! साथ ही तुम्हें भव–सागर की उत्ताल तरंगो का भोग बनते पल की देर नहीं लगेगी !

गौरवं पौरवन्द्यत्वात् प्रकृष्टत्वं प्रतिष्ठया !
ख्यातिं जातिगुणात् स्वस्यप्रादुष्कुर्यान्न निस्पृहः ॥१२॥६॥

अर्थ : स्पृहारहित मुनि, नगरजनों द्वारा वंदन करने योग्य होने के कारण अपने बड़प्पन को, प्रतिष्ठा से प्राप्त सर्वोत्तमता को, अपने उत्तम जातिगुण से प्राप्त प्रसिद्धि को प्रकट नहीं करता है ।

विवेचन : जीवन में व्याप्त अनात्मरति / पुद्गलरति को जिस श्रमण ने तिलांजलि दे दी है, वह भला पौद्गलिक भावों पर आधारित गौरव, प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा की क्या लालसा करेगा ? वह खुद होकर क्या उसका भोंड़ा प्रदर्शन करेगा ? नगरजनों द्वारा किये गये भावभीने अभिनन्दन...राजा-महाराजादि सत्ताधीश और सज्जनों द्वारा दी गयी व्यापक मान्यता.... उच्चकुल... महान् जाति और विशाल परिवार द्वारा प्रकट प्रसिद्धि... आदि सब महामना मुनि की दृष्टि में कोई मोल/महत्त्व नहीं रखते ! ब्रह्मोन्मत्त महात्मा की दृष्टि–नजर इन सबके प्रति निर्मम और निःस्पृह होती है ।

नागरिकों के द्वारा की गयी प्रशंसा–स्तवना और अर्चन–पूजन के माध्यम से मुनि अपना गौरव नहीं मानता । उसके मन पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता । राजा–महाराजा और सर्वसत्ताधीश व्यक्तियों द्वारा दुनिया में गायी जानेवाली यशकथा के बल कर निःस्पृह योगी अपनी उच्चता, सर्वोपरिता की कल्पना नहीं करता । देश–परदेश में आबाल–वृद्ध के मुखपर रहे अपने नाम से उसके हृदय को खुशी नहीं होती । उसके मन में यह सब 'परभाव–पुद्गलभाव' होता है ! जब पुद्गल पर से उसका जी पहले ही उचट गया है, तब भला वह आनन्द कैसे मानेगा ?

अरे, इतना ही नहीं बल्कि निखिल विश्व में फैली उसकी कीर्ति, यश, प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा का वह जाने–अनजाने स्वसुख, स्वसंरक्षण के लिए भूलकर भी कभी उपयोग नहीं करेगा ! क्योंकि वह शरीर और शारीरिक सुख से सर्वथा निःस्पृह होता है ! जब कंचनपुर–नरेश क्रोधित हो, नंगी तलवार लिये, उत्तेजित बन झाँझरिया मुनि की हत्या करने झपट पड़ा, जानते हो, तब मुनिवर ने क्या किया ? उन्होंने क्या यह बताया कि 'राजन् ! तुम किसकी हत्या करने आये हो ? क्या तुम मुझे जानते हो ? प्रतिष्ठानपुर के मदनब्रह्मकुमार को तुम नहीं जानते ? क्या तुम्हें नहीं मालूम कि कुमार ने राजपद का परित्याग कर श्रमण–जीवन स्वीकार कर लिया है ? शायद आप नहीं जानते कि मैं आपका साला हूँ ?

यदि वह अपना राजकुल, अपनी त्याग–तपस्या, राज–परिवार के साथ रहे सम्बन्ध आदि का प्रदर्शन करते, साफ–साफ शब्दों में बता देते तब सम्भव था कि राजा शस्त्र त्याग कर और क्रोध को थूक कर महामुनि के चरणों में झुक

जाता ! नतमस्तक होते पल का भी विलम्ब न लगता ! लेकिन वे तो पूर्णतया निःस्पृह, त्यागी और तपस्वी थे ! अतः उन्होंने अपना परिचय परपुद्गलभाव के वशीभूत हो कर देना पसंद न किया ! बल्कि उनके लिए खोदे गये गड्ढे में शान्त भाव से ध्यानस्थ हो, राजा के शस्त्र–प्रहार को झेलना अधिक पसंद किया और सिद्धि–पद प्राप्त कर लिया !

अपने ही मुख से अपने बड़प्पन की डिंग हांकना, खुद हो कर अपना गौरव–गान गाना, अपनी जबान से खुद की सामाजिक प्रतिष्ठा के किस्से गढ़कर सुनाना और अपने कुल, वंश, पांडित्य तथा वरिष्ठता की स्तवना करना... यह निःस्पृह मुनि के लिये सर्वथा अनुचित एवं अयोग्य है। यदि मुनि स्वप्रशंसा करता है तो समझ लेना चाहिए कि मुनि–जीवन में रही निःस्पृहता नाम की वस्तु सदा–सर्वदा के लिए नष्ट हो गयी है ! उसमें उसका नामोनिशान तक नहीं बचा है ! प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि की स्पृहा साधक को आत्मभाव की प्राप्ति नहीं होने देती ! तब साधक नाममात्र के लिए ही रह जाता है, बल्कि असल में वह आत्मसाधक नहीं रहता ! उसकी साधकता लुप्त हो जाती है और पीछे रहते हैं सिर्फ उसके भग्नावशेष ! यह शाश्वत् सत्य है कि प्रतिष्ठा–प्रसिद्धि की स्पृहा कभी तृप्त नहीं होती, बल्कि समय के साथ वह बढ़ती ही जाती है और जिन्दगी की आखिरी साँस तक उसे पूरा करने की कोशिश अबाध रूप से जारी रहती है ! परिणामस्वरूप अनात्म–रति दृढ़ बनती है और आत्मा, अनात्मरति की वासना को मन में संजोये परलोक सिधार जाती है !

अतः इसके लिए अच्छा उपाय यही है कि निःस्पृह बनने के लिए, मुनि अपने मुख से स्व–प्रतिष्ठा और आत्मगौरव की प्रस्तावना ही नहीं करे।

भूशय्या भैक्षमशनं जीर्णं वासो गृहं वनम् ।
तथाऽपि निःस्पृहस्याऽहो चक्रिणोऽप्यधिकं सुखम् ॥१२॥७॥

अर्थ : आश्चर्य इस बात का है कि स्पृहारहित मुनि के लिए पृथ्वी रूपी शय्या है, भिक्षा से मिला भोजन है, जीर्ण–शीर्ण वस्त्र हैं और अरण्य स्वरूप घर है, फिर भी वह चक्रवर्ती से अधिक सुखी है !

विवेचन : नि:स्पृह महात्मा इस संसार में सर्वाधिक सुखी है ! फिर भले ही वह भूमि पर शयन करता हो, भिक्षावृत्ति का अवलम्बन कर भोजन पाता हो, जीर्णशीर्ण जर्जरित वस्त्र धारण करता हो और अरण्य में निवास करता हो ! वह उन लोगों से अधिक भाग्यशाली और महान् सुखी है, जो सुवर्णमंडित पलंग पर बिछे मखमल के गद्दों पर शयन करते हैं, प्रतिदिन स्वादिष्ट षड्रस का भोजन करते हैं, नित्य नये वस्त्र परिधान करते हैं और आधुनिक साधन–सुविधाओं से सज्ज गगनचुम्बी महलों में निवास करते हैं ।

नि:स्पृह योगी प्राय : ऐसा जीवन पसंद करते हैं, जिसमें उन्हें कम से कम पर–पदार्थों की आवश्यकता रहती हो !' पर–पदार्थों की स्पृहा जितनी कम उतना ही सुख अधिक ! सोने के लिए पत्थर की शिला, खाने के लिए रुखा–सूखा भोजन, शरीर ढंकने के लिए कपड़े का एकाध टुकड़ा और रहने के लिए खुले आकाश के तले बिछावन ! यही सिद्ध योगी की धन–संपदा है । यदि उनमें स्पृहा है तो सिर्फ इतनी और दु:ख क्लेश का प्रसंग कभी आ भी जाए तो इतनी स्पृहा की वजह से ही ! इससे अधिक कुछ भी नहीं !

बिचारे चक्रवर्ती का तो कहना ही क्या ? मूढ और पागल दुनिया भले ही उसे विश्व का सर्वाधिक सुखी करार दे दे, लेकिन स्पृहा की धधकती ज्वालाओं से दग्ध चक्रवर्ती अन्तरात्मा के सुख से प्राय: कोसों दूर होता है ! उसके नसीब में सुख है कहाँ ? अगर किसी सुख ऐश्वर्य की गरज है तो उसे किसी न किसी का गरजमंद होना ही पड़ता है । जैसे भोजन के लिए पाकशास्त्री का, वस्त्राभूषण के लिये नौकर–चाकर का, मनोरंजन के लिए नृत्यांगनाओं का अथवा कलाकारों का और भोगपभोग के लिए रानी-महारानियों का मुँह ताकना पड़ता है । उनकी खुशीपर निर्भर रहना पड़ता है । नहीं तो पुण्यकर्म के आधीन तो सही !

परनिरपेक्ष सुख का अनुभव ही वास्तविक सुखानुभव है । जबकि पर-सापेक्ष सुख का अनुभव भ्रामक सुखानुभव है ! क्योंकि पर-सापेक्ष सुख जब चाहों तब मिलता नहीं और मिल जाए तो टिकता नहीं ! हमारे मन में सुख-त्याग की इच्छा लाख न हो, फिर भी समय आने पर जब चला जाता है तब जीव को अपार दु:ख और वेदनाएँ होती हैं और उसकी पुन:प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने

में वह कोई कसर नहीं रखता । साथ ही जब पराधीन सुख की स्पृहा जग पड़ती है तब पाप-पुण्य के भेद को भी वह भूल जाते हैं । इसकी प्राप्ति हेतु वह घोर पापाचरण करते नहीं अघाते ! सीता का संभोगसुख पाने की तीव्र स्पृहा महाबली रावण के मन में पैदा होते ही सीता-हरण की दुर्घटना घटित हुई और उसी स्पृहा की भयंकर आग में लंका का पतन हुआ ! असंख्य लोगों को प्राणोत्सर्ग करना पड़ा ! रावण-राज्य की महत्ता, सुन्दरता और समृद्धि मटियामेट हो गयी और महापराक्रमी रावण को नरक में जाना पड़ा !

मालवपति मुंज को हाथी के पैरों तले कुलचवाया गया, रौंदा गया, किस लिए ? सिर्फ एक नारी मृणालिनी के लिए ! इस संसार में मनुष्य जो भी अनुचित कर रहा है, दिन-रात पापाचरण में डूबा हुआ है, उसके मूल में पर पदार्थ की स्पृहा ही काम कर रही है ! जब जीवात्मा पराधीन-सुख की स्पृहा से ऊपर उठेगा तब ही उसके दु:ख-दर्द और अशान्ति का निर्मूलन होगा । ठीक वैसे ही प्राप्त पौद्‌गलिक सुख भी पराधीन ही है, स्वाधीन नहीं । अत: उसके प्रति भी मन में इस कदर ममत्व नहीं होना चाहिए कि जिस के काफूर होते ही मनुष्य विलाप कर उठे, आक्रंदन करने लगे ।

इसीलिए नि:स्पृह महात्मा महान सुखी माने गये हैं । क्योंकि पराधीन सुखों की स्पृहा से ऊपर उठ चूके होते है । जैसे कीचड़ बीच कमल ! यदि कोई उन्हें भोगोपभोग का आग्रह करे तब भी वे स्वीकार नहीं करते । ठीक उसी उनके पास रहे अति अल्प पराधीन पदार्थों के प्रति भी वे ममत्व नहीं रखते । भले ही वे (पराधीनपदार्थ) चले जाएँ, शरीर का भी विसर्जन हो जाये, योगी पुरुषों को उसकी तनिक भी परवाह नहीं होती, अत: वे सुखी हैं !

परस्पृहा महादु:खं नि:स्पृहत्वं महासुखम् ।
एतदुक्तं समासेन लक्षणं सुखदु:खयो: ॥१२॥८॥

अर्थ : परायी आशा–लालसा रखना महादु:ख है, जबकि नि:स्पृहत्व महान् सुख है ! संक्षेप में दु:ख और सुख का यही लक्षण बताया है ।

विवेचन : यदि सुख और दु:ख की वास्तविक परिभाषा करने में भूल

हो जाए तो मनुष्य सुख को दु:ख और दु:ख को सुख मान लेता है ! फलत: अशान्ति, कलह और संताप से दु:खी बन जाता है ! सामान्य तौर पर मनुष्य बाह्य पदार्थों के संयोग–वियोग को सुख–दु:ख मान लेता है ! ठीक वैसे ही बाह्य दुनिया के जड़–चेतन पदार्थ को वह सुख–दु:ख का दाता मान लेता है ! अत: उसका कभी समाधान नहीं होता ।

जबकि सुख–दु:ख तो मन की कोइ धारणा, कल्पना मात्र हैं । बाह्य दुनिया के किसी पदार्थ की प्राप्ति न हुई हो, फिर भी उसकी स्पृहा पैदा हो जाएँ तो दु:खारंभ हो जाता है ! **जहाँ 'जहाँ पर–स्पृहा वहाँ–वहाँ दु:ख' जहाँ पर–स्पृहा का अभाव वहाँ दु:ख का नामोनिशान नहीं !'** प्रस्तुत सिद्धान्त में न तो अतिव्याप्ति है, न अव्याप्ति है और ना ही असम्भव दोष है ! हर व्यक्ति को अपने जीवन पर दृष्टिपात करना चाहिए ! यदि उसके जीवन में कहीं कोई दु:ख है तो निरीक्षण करना चाहिए कि वह कहाँ से उत्पन्न हुआ और किस कारण हुआ ? तब उसे ज्ञात होते विलम्ब न लगेगा कि किसी जड़–चेतन पदार्थ की स्पृहा वहाँ विद्यमान है, जिसके कारण उसके जीवन में दु:ख का प्रादुर्भाव हुआ है ! भोगी हो या योगी, पर–पदार्थ की स्पृहा पैदा होते ही वह दु:ख का शिकार बन जाता है । जबकि पर-पदार्थ की स्पृहा दूर होते ही अनायास सुख का आगमन होता है ! जब तक राजकुल का भोजन प्रिय, स्वादिष्ट न लगा तब तक कंडरिक मुनि परम सुखी था ! लेकिन राजकुल का भोजन इष्ट लगते ही स्पृहा जग पड़ी ! परिणामत: शीघ्र ही वे दु:खी बन गये । उन्होंने साधु–जीवन की मर्यादाओं का उल्लंघन क्रिया, श्रमण–जीवन का त्याग किया और अपनी स्पृहा को पूरी करने के प्रयास में कालकवलित हो गये ! सातवी नरक के महादु:ख के भँवर में फँस गये !

जीवन में जाने–अनजाने कही पर–पदार्थ की स्पृहा जाग न पड़े, अत: पर–पदार्थों से जहाँ तक हो सके कम परिचय करना चाहिए ! पर–पदार्थों के माध्यम से प्राप्त सुख की कामना का परित्याग करना चाहिए ! क्योंकि यही वह स्थान है, जहाँ जीव को फिसलते देर नहीं लगती ! 'पर–पदार्थ सुख का द्योतक है,' यह कल्पना मानवजीवन में इतनी तो रूढ हो गयी है कि जीव निरंतर उसकी झंखना करता रहता है और जैसे जैसे पर पदार्थों की प्राप्ति होती जाती है, वैसे–

वैसे लालसा, स्पृहा, आशातीत बढ़ती ही जाती है । उसी अनुपात से दु:ख भी बढ़ता जाता है ! फिर भी समय रहते वह समझ नहीं पाता कि उसके दु:ख का मूल कारण पर–पदार्थ की स्पृहा ही है ! वह तो यही मान बैठा है कि 'मुझे इच्छित पदार्थ नहीं मिलते इसलिए मैं दु:खी हूँ उसकी यह कल्पना उसे मनपसंद पदार्थ की प्राप्ति हेतु, पुरुषार्थ करने के लिए प्रेरित करती है ! फलस्वरूप उसका दु:ख दूर होना तो दूर रहा, बल्कि अपना जीवन पूरा कर वह अनंत विश्व की जीव–सृष्टि में खो जाता है !

पूज्य उपाध्यायजी की '**नि:स्पृहत्वं महासुखम्**' सूक्ति के साथ भक्तपरिज्ञा पयन्ना' सूत्र का **निरवेक्खो तरइ दुत्तरभवोऽयं,** वचन भी जोड़ दें । 'निरपेक्ष आत्मा प्राय: दुष्कर दुस्तर भव–समुद्र से तैर जाती है ।' हमेशा नि:स्पृहता से प्राप्त महासुख का अनुभव करनेवाली आत्मा दु:खमय भवोदधि को पार कर परम सुख... अनंत सुख की अधिकारी बनती है ! नि:स्पृहता की यह अंतिम सिद्धि है ! अथवा यों कहे तो अतिशयोक्ति न होगी की अंतिम सिद्धि का प्रशस्त राजमार्ग नि:स्पृहता है !

'निरंतर स्पृहा के वशीभूत हो, प्राप्त सुख के बजाय उस स्पृहा के त्याग से प्राप्त किया हुआ सुख चिरस्थायी, अनुपम और निर्विकार है !' प्रस्तुत तथ्य में आस्था रखकर नि:स्पृहता के महामार्ग पर जीव को गतिमान होना चाहिए ।

● ● ●

१३. मौन

मौन धारण कर ! नि:स्पृह बनते ही अपने आप मौन का आगमन हो जाएगा ! मौन धारण करने से अनेकविध स्पृहाएँ शान्त हो जायेंगी !

मौन की वास्तविक परिभाषा यहाँ ग्रन्थकार ने आलेखित की है ! व्यक्ति को ऐसा ही मौन धारण करना चाहिए !

हे श्रमणश्रेष्ठ ! तुम्हारा चारित्र ही एक तरह से मौन है ! मौन–रहित भला चारित्र कैसा ? पुद्गलभाव में मन का मौन धारण कर ! यहाँ तक कि पौद्गलिक विचारों को भी तिलांजलि दे देनी चाहिए ! उत्तमोत्तम मानसिक स्थिति का सृजन करने में प्रस्तुत अष्टक स्पष्ट रुप से हमारा मार्गदर्शन करेगा ।

मन्यते यो जगत् तत्त्वं स मुनिः परिकीर्तितः ।
सम्यक्त्वमेव तन्मौनं मौनं सम्यक्त्वमेव वा ॥१३॥१॥

अर्थ : जो जगत् के स्वरुप का ज्ञाता है, उसे मुनि कहा गया है ! अतः सम्यक्त्व ही श्रमणत्व है और श्रमणत्व ही सम्यक्त्व है !

विवेचन : मौक्षमार्ग की आराधना का अर्थ ही है मुनि–जीवन की आराधना । अतः मोक्षमार्ग के अभिलाषी आराधकों को प्रायः श्रमण–जीवन की आराधना करनी चाहिए ! साथ ही आराधना करने के पूर्व श्रमण–जीवन की वास्तविकता को यथार्थ स्वरूप में आत्मसात् करना चाहिए, समझना चाहिए । जिसका दिग्दर्शन / विवेचन सर्वज्ञ–सर्वदर्शी परमात्मा ने किया है ! श्रमणत्व के यथार्थ स्वरूप को जानकर श्रद्धाभाव से उसका आचरण करना चाहिए !

यहाँ मुनि–जीवन का स्वरूप 'एवंभूत' नयदृष्टि* से बताया गया है, विश्व में रहा प्रत्येक जड़–चेतन पदार्थ अनंत धर्मात्मक होता है, अर्थात् एक वस्तु में अनेक धर्मों का समावेश होता है ! हर वस्तु का अपना अलग विशिष्ट धर्म होता है ! मतलब, एक–एक धर्म, वस्तु का एक–एक स्वरूप है ! वस्तु भले ही एक हो, लेकिन उसका स्वरूप अनंत है, विविध है ! जबकि वस्तु की पूर्णता उसके अनंत स्वरूप के समूहरूप में होती है ! वस्तु के किसी एक स्वरूप को लेकर जब विचार किया जाता है, तब उसे 'नयविचार' कहते हैं ! प्रस्तुत में 'मुनि' जो स्वयं में एक चेतन पदार्थ है, उसके अनंत स्वरूपों में से किसी एक स्वरूप का विचार किया जाता है ! अतः यह विचार 'एवंभूत' नय का विचार है !

'एवंभूत' नय शब्द और अर्थ दोनों का विशिष्ट स्वरूप बताता है ! उदाहरण के लिये हम 'घड़ा' शब्द को ही लें ! यहाँ 'घड़ा' शब्द और 'घड़ा' पदार्थ–दोनों के सम्बन्ध में 'एवंभूत' नय की विशेष दृष्टि है ! शब्दशास्त्र के नियमानुसार शब्द की जो व्युत्पत्ति होती है, वह व्युत्पत्ति–संदर्शित पदार्थ ही वास्तविक पदार्थ माना गया है ! साथ ही शब्द भी वह तात्त्विक है, जो उसकी नियत क्रिया में पदार्थ को स्थापित करता है ! इस तरह नयदृष्टि से घड़े को तभी घड़ा माना जाता है, जब वह किसी नारी अथवा अन्य के सिर पर हो और उसका उपयोग पानी लाने–ले जाने के लिये किया जाता हो ! एक स्थान से दूसरे स्थान पर पानी लाने–ले जाने की क्रिया के स्वरूप में 'एवंभूत' नय घड़े को देखता है और वह प्रसिद्ध क्रिया में रहे हुए घड़े का बोध करानेवाले रूप में 'घड़ा' शब्द, इस नय को सहमत है !

'मुनि' शब्द की व्युत्पत्ति है : **'मन्यते जगत्तत्वं सो मुनिः ।'** अर्थात् जो जगत् के तत्त्व का ज्ञाता है, वह मुनि कहलाता है। ऐसे ही मुनि के अनंत स्वरूपों में एक स्वरूप का 'एवंभूत' नयदृष्टि से विचार किया गया है ! जगत्–तत्त्व को जानने के स्वभाव–स्वरूप मुनि का उल्लेख किया गया है ! मतलब, जगत्–तत्त्व का परिज्ञान ही मुनि–स्वरुप का माध्यम बना है ।

जिस स्वरूप में जगत् का अस्तित्व है उसी स्वरूप में जानना यही

★ देखिए परिशिष्ट

श्रमणत्व है... और वही सम्यकत्व है ! क्योंकि जगत्–स्वरूप का यथार्थ ज्ञान ही समकित है ।

जगत्–तत्त्व का ज्ञान = सम्यक्त्व

सम्यक्त्व = श्रमणत्व

जगत्–तत्त्व का ज्ञान = श्रमणत्व

मुणी मोणं समायाए धूणे कम्मसरीरगं ।
पंतं लूहं च सेवन्ति वीश समत्तदंसिणो ॥

उत्तराध्ययने

ऐसी साधुता को अंगीकार कर श्रमण, कार्मण शरीर को समाप्त करता है, अर्थात् आठों कर्मों का विध्वंस करता है, क्षय करता है । जब जगत् तत्त्व के ज्ञानरूप श्रमणत्व का प्रादुर्भाव होता है, तब वह सम्यक्त्वदर्शी नर–पुंगव रूखे–सूखे भोजन का सेवन करता है ! क्योंकि इष्ट, मिष्ट और पुष्ट भोजन के सम्बन्ध में उसके मन में कोई ममत्व नहीं होता, स्पृहा नहीं होती ।

जगत्–तत्त्व का ज्ञान, द्रव्यार्थिक–पर्यायार्थिक नयदृष्टि से, द्रव्य–गुण★ एवं पर्याय की शैली से तथा निमित्त–उपादान की पद्धति से तथा उत्सर्ग–अपवाद के नियमों से होना चाहिए ।

आत्माऽऽत्मन्येव यच्छुद्धं जानात्यात्मानमात्मना ।
सेयं रत्नत्रये ज्ञप्तिरुच्याचारैकता मुनेः ॥१३॥२॥

अर्थ : आत्मा के विषय में ही आत्मा सिर्फ कर्मरहित आत्मा को आत्मा से जानती है ! वह ज्ञान, दर्शन, एवं चारित्र रूपी तीन रत्नों में ज्ञान, श्रद्धा और आचार की अभेद परिणति मुनि में होती है ।

विवेचन : आत्मसुख की स्वाभाविक संवेदना हेतु ज्ञान, श्रद्धा एवं आचार की '**अभेद परिणति**' होना आवश्यक है । इस 'अभेद परिणति' संबंधित

★ देखिए परिशिष्ट

उपाय एवं उसका स्वरूप यहाँ बताया गया है ।

आत्मा*
आत्मा में ही
आत्मा द्वारा
विशुद्ध आत्मा को जानें !

जाननेवाली आत्मा, आत्मा में जाने, आत्मा द्वारा विशुद्ध आत्मा को जाने। ऐसी स्थिति में ज्ञान, श्रद्धा और आचार एक रूप हो जाते हैं ! आत्मा सहज / स्वाभाविक आनन्द से सराबोर हो जाती है ! परपुद्गल से बिल्कुल अलग हो... निर्लेप ! निरपेक्ष बनकर आत्मा को जानने की क्रिया करनी पड़ती है और आत्मा को ही जानना है ! तब सहज ही मनमें प्रश्न उठता है : 'कैसी आत्मा को जानना है ?' हमें कर्मों के काजल से मुक्त आत्मा को जानना है । ऐसी आत्मा को, जिस पर ज्ञानावरणीय–दर्शनावरणीय–मोहनीय अन्तराय, नाम, गोत्र, वेदनीय और आयुष्य–इन आठ कर्मों का बिलकुल प्रभाव न हो, बल्कि इन सब कर्म–बन्धनों से वह पूर्णतया निर्लिप्त हो । हमें एक स्वतंत्र आत्मा को जानना है । उसका दर्शन करना है । प्रस्तुत तथ्य को जानने के लिए यदि किसी की सहायता की आवश्यकता हो तो आत्मा की ही सहायता लेनी चाहिए ! आत्मगुणों का सहयोग प्राप्त करना चाहिए !

हाँ एक बात है और वह यह कि जानने की क्रिया करते समय दो बातों की ओर ध्यान देना ज़रुरी है : **ज्ञपरिज्ञा** और **प्रत्याख्यान परिज्ञा०** इन दो परिज्ञाओं से हमें आत्मा को जानना है, पहचानना है । आम तौर पर ज्ञपरिज्ञा आत्मा का स्वरुप दर्शाती है और प्रत्याख्यान–परिज्ञा उसके अनुरुप पुरुषार्थ कराती है !

आत्मा को जानने के लिए कहीं और भटकने की आवश्यकता नहीं है, आत्मा में ही जानना है ! अनंत गुणयुक्त और पर्याययुक्त आत्मा में ही विशुद्ध आत्मा की खोज करनी है, जानना है । लेकिन जानने की अभिलाषा रखनेवाली आत्मा को मोह का त्याग करना होगा; तभी वह इसे सही स्वरूप में जान सकेगी ।

★ देखिए परिशिष्ट

आत्मानमात्मना वेत्ति मोहत्यागाद् यदात्मनि ।
तदेव तस्य चारित्रं तज्ज्ञानं तच्च दर्शनम् ॥

न जाने कैसी रोचक / आकर्षक दिल–लुभावनी बात कही है ! मोह का त्याग करो और आत्मा में ही आत्मा को देखो ! सचमुच यही ज्ञान है, श्रद्धा है और चारित्र है और इसका होना निहायत जरूरी है ! फलतः श्रुतज्ञान द्वारा जहाँ आत्मा ने आत्मा को पहचान लिया वहाँ 'अभेदनय' के अनुसार श्रुतकेवलज्ञानी बन गया ! क्योंकि आत्मा स्वयं में ही सर्वज्ञानमय है ।

★ आत्मा (मोहत्याग कर)

★ आत्मा को (सर्वज्ञानमय)

★ आत्मा द्वारा (श्रुतज्ञान)

★ आत्मा में (सर्वगुण–पर्यायमय जाने)

जो हि सुण्णाभिगच्छइ अप्पाणमणं तु केवलं शुद्धं ।
तं सुअकेवलिमिसिणो भणंति लोगप्पदीवयरा ॥ – समयप्राभृते

"जिस श्रुतज्ञान के द्वारा केवल शुद्ध आत्मा को जानते हैं, उन्हें लोकालोक में प्रखर ज्योति फैलानेवाले श्रुतकेवली कहते हैं !"

जब ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाय कि आत्मा अनादि–अनंत, केवलज्ञान–दर्शनमय है, कर्मों से अलिप्त और अमूर्त है,' तब 'मैं साध्य–साधक और सिद्धस्वरूप हूँ ! ज्ञान–दर्शन और चारित्रादि गुणों से युक्त हूँ, ऐसी ज्ञान–दृष्टि अपने आप प्रकट हो जाती है। वह रत्नत्रयी की अभेद परिणति है। उसमें ही आतमसुख की अनुपम संवेदना का यथार्थ अनुभव होता है ।

चारित्रमात्मचरणाद् ज्ञानं वा दर्शनं मुनेः ।
शुद्धज्ञाननये साध्यं क्रियालाभात् क्रियानये ॥१३॥३॥

अर्थ : आत्मो के सम्बन्ध में चलना चारित्र है और ज्ञाननय की दृष्टि से मुनि के लिए ज्ञान और दर्शन साध्य है। जबकि क्रियानय के अनुसार ज्ञान के फलस्वरूप क्रिया के लाभ से साध्यरुप है ।

विवेचन : आत्मा के सम्बन्ध में अनुगमन करना मतलब चारित्र ! मुनि का ध्येय... साध्य यही चारित्र है !

इसी चारित्र का स्वरूप शुद्ध ज्ञाननय एवं क्रियानय के माध्यम से यहाँ तोला गया है ।

शुद्धज्ञान–नय (ज्ञानाद्वैत) का कहना है कि 'चारित्र बोधस्वरूप है । आत्म–स्वरूप का अवबोध ही चारित्र है । उसका विश्लेषण निम्नानुसार है !

चारित्र :

= आत्मा में अनुगमन करना ।

= पौद्गलिक भावों से निवृत्त होना ।

= आत्म–स्वरुप में रमणता करना ।

= आत्मा, जो कि अनंतज्ञानरुप है, उसमें आकण्ठ डूब जाना ।

= आत्मा के ज्ञानस्वरूप में रमणता ।

तात्पर्य यही है कि आत्मज्ञान में स्थिरता यही चारित्र है और चारित्र का मतलब आत्म–ज्ञान में रमणता ! ज्ञान और चारित्र में अभेद है !

ज्ञाननय (ज्ञानाद्वैत) आत्मा के दो गुण मानता है : ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग ! चारित्र ज्ञानोपयोगरूप और दर्शनोपयोगरूप है ! उसका अभेद है । इस व्यापार के भेद से ज्ञान त्रिरुप भी है ! जब तक विषयप्रतिभास का व्यापार होता हो तब तक ज्ञान है और जब आत्म–परिणाम का व्यापार हो तब सम्यक्त्व है ! जब आश्रव–निरोध होता है तब तत्त्वज्ञान में व्यापार होता है, तब वही ज्ञान और वही चारित्र !

क्रियानय का मंतव्य है कि सिर्फ आत्मस्वरूप का ज्ञान ही चारित्र और साध्य है, ऐसा नहीं है ! जीव को आत्मा का ज्ञान होने के बाद तदनुरूप क्रिया उसके जीवन में घुल-मिल जानी चाहिए !

ज्ञानस्य फलं विरतिः
विरतिफलं आस्त्रवनिरोधः
संवरफलं तपोबलम्
तपसो निर्जराफल दृष्टम् ।'

श्रमण के लिए जो चारित्र साध्य है, वह ज्ञानस्वरुप नहीं, बल्कि ज्ञान के फलस्वरूप है। ज्ञान का फल है विरतिरुप क्रिया, आश्रव–निरोधात्मक क्रिया, तपश्चर्या की क्रिया और निर्जरा की क्रिया। यह क्रिया की प्राप्ति के फलस्वरुप चारित्र मुनि को साध्य होता है। ऐसे साध्य को सिद्ध करने के लिए कठोर पुरुषार्थ की आवश्यकता है। इस तरह पुरुषार्थ करते हुए आत्मतत्त्व निरावरण–कर्मरहित प्रकट होता है, तब आत्मा ज्ञाननय से साध्य बनती है।

"जो भी करना है आत्मा के लिए कर। हे जीव, मन–वचन और काया का विनियोग आत्मा में ही कर दे। तुम अपनी आत्मा को केन्द्र में रख उसके विशुद्ध आत्मस्वरूप को परिलक्षित कर, वाणी, विचार और व्यवहार को रख," इसीको चारित्र कहते हैं। साथ ही ज्ञाननय / ज्ञानाद्वैत को मान्य ऐसे आत्मज्ञान को घर में बसा कर विशुद्ध आत्मज्ञान के प्रकटीकरण हेतु निरन्तर पुरुषार्थ करते रहना चाहिए। यही तो दोनों नयों का उपदेश है।

पौद्गलिक भाव के नियंत्रण को छिन्न–भिन्न करने के लिए आत्मभाव की रमणता अविरत रूप से वृद्धिगत होती रहे, उसी रमणता के लिए ज्ञान–दर्शन और चारित्र की आराधना मुनि के लिए साध्य है।

यतः प्रवृत्तिर्न मणौ, लभ्यते वा न तत्फलम् ।
अतात्विकी मणिज्ञप्ति–र्मणिश्रद्धा च सा यथा ॥१३॥४॥

तथा यतो न शुद्धात्मस्वभावाऽऽचरणं भवेत् ।
फलं दोषनिवृत्तिर्वा, न तद् ज्ञानं न दर्शनम् ॥१३॥५॥

अर्थ : जिस तरह मणि (रत्न) के सम्बन्ध में कोई प्रवृत्ति न की जाय अथवा उक्त प्रवृत्ति का फल निष्पन्न न हो, वह मणि का ज्ञान और मणि की श्रद्धा अवास्तविक (कृत्रिम) है,

ठीक वैसे ही शुद्ध आत्म–स्वभाव का आचरण अथवा दोष की निवृत्ति–स्वरुप कोई फल प्राप्त न हो, वह ज्ञान नहीं और ना ही श्रद्धा है ।

विवेचन : वास्तव में जो मणि नहीं है, बल्कि निरा कांच का टुकडा है, उसे अपनी कल्पना के बल पर रत्न मानकर, 'वह रत्न है, कहने से, क्या हमारा माना हुआ रत्न, असली रत्न की प्रवृत्ति करेगा ? वास्तविक रत्न का काम देगा क्या ? साथ ही, असली मणि–मुक्ता से प्राप्त होनेवाला फल उक्त कल्पित वस्तु से प्राप्त हो जाएगा क्या ? अर्थात् जिसमें मणि–मुक्ता के गुणों का सर्वथा अभाव है, उससे कोई फल मिलनेवाला नहीं है । उसके प्रति 'यह रत्न है, कह कर श्रद्धा रखना अतात्विक है, असत्य है । वास्तविक मणि भयंकर से भयंकर विषधर का विष उतारने का सर्वोत्तम कार्य करती है । तब क्या कांच का टुकड़ा (कृत्रिम मणि) विष उतारने का कार्य करेगा ? असली मणि यदि किसी जौहरी के हाथ बेचा जाए तो लाखों की सम्पत्ति देगा, लेकिन कांच के टुकड़े के लाख रूपये प्राप्त होंगे क्या ?

ठीक उसी तरह जिससे आत्मस्वभाव में किसी प्रकार की कोई प्रवृत्ति न हो और शुद्ध आत्मा का फल–'दोषनिवृत्ति' का भी प्राप्त न होता हो, ऐसा ज्ञान, ज्ञान नहीं और ना ही ऐसी श्रद्धा श्रद्धा है ।

ज्ञान और श्रद्धा को नापने का न जाने कैसा अद्‌भुत यंत्र यहाँ बताया गया है ! क्या शुद्ध आत्मस्वभाव की निकटता साधनेवाला... आत्मा स्वभाव का सही अनुसरण करनेवाला आचरण है ? क्या तुम्हारे भीतर वर्षों से घर कर गए राग-द्वेष और मोह, समय के साथ कम होते जा रहे हैं ? यदि इन प्रश्नों का उत्तर हकार में है तो तुम्हारा आत्मज्ञान और तुम्हारी आत्मश्रद्धा शत–प्रतिशत यथार्थ है । तुम्हारे आचरण में विशुद्ध आत्मा की ओजस्विता होनी चाहए, कर्मों के कलंक–पंक की गहरी कालिमा नहीं, ना ही कर्मों के विचित्र प्रभाव !

जीवात्मा का आत्मज्ञान एवं आत्मश्रद्धा प्रायः मानसिक, वाचिक और कायिक आचरण को प्रभावित करती है । 'मैं विशुद्ध आत्मा हूँ... सच्चिदानन्दस्वरुप हूँ ।' परिणामस्वरुप उसके मनोरथ कल्पनाएँ, स्पृहाएँ कामनाएँ और अनंत अभिलाषाएँ पौद्‌गलिक भावों से पराङ्‌मुख बन आत्मभावों के प्रति

अभिमुख हो जाती हैं । उसकी वाणी विभवों की निंदा–प्रशंसा से निवृत्त हो, आत्मभाव की अगम–अगोचर रहस्य वार्ताओं को प्रकट करने का सर्वोत्तम साधन बन जाती हैं। उसका इन्द्रिय व्यापार शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के सुख–दुःख से निवृत्त हो आत्माभिव्यक्ति के पुरुषार्थ में लीन हो जाता है ।

ऐसे किसी ज्ञान अथवा श्रद्धा के सहारे हाथ पर हाथ धरे बैठे न रहना चाहिए कि जिस ज्ञान–श्रद्धा द्वारा विशुद्ध आत्मस्वरुप प्रकट करने का पुरुषार्थ न होता हो । आत्मा के ज्ञानादि गुणो में रमणता न होती हो । पौद्गलिक प्रेम की धारा अविरत रूप से प्रवाहित हो, दारूण द्वेष की ज्वाला तन–बदन को झुलसा रही हो और मोह–माया का घना अन्धेरा आत्मा पर आच्छादित होता हो। ज्ञान के तीक्ष्ण शस्त्र से पुद्गल–प्रेम की विष–वल्लरी का छेदन करना चाहिए। ज्ञान के शीतल जल से दारुण द्वेष की ज्वाला को बुझाना / शान्त करना चाहिए। ज्ञान की दिव्य–ज्योति से मोह–माया के अन्धकार को दूर भगाना चाहिए। यही तो ज्ञान–श्रद्धा का परिणाम है, फल है ।

हृदय की पवित्र वृत्ति और वचन–काया के विशुद्ध कार्य–कलाप, दोनों की विशुद्धि दिन दुगुनी रात चौगुनी वृद्धिगत होनी चाहिए । फलस्वरूप आत्मा आन्तरिक सुख का अनुभव करती जाती है। मधुरतम शान्ति और अद्भुत आनन्द में खो जाती है । तात्पर्य यही कि हमें ऐसे ज्ञान और श्रद्धा को आत्मसात् करना चाहिए कि जिससे वृत्ति एवं प्रवृत्ति दोनों आत्माभिमुख बन जाएँ । फलतः दोष क्षीण होते जायेंगे और गुणों का विकास होता जाएगा ।

यथा शोफस्य पुष्टत्वं यथा वा वध्यमण्डनम् ।
तथा जानन्भवोन्मादमात्मतृप्तो मुनिर्भवेत् ॥१३॥६॥

अर्थ : जिस तरह नित्य बढ़ते सूजन अथवा वध करने योग्य पुरुष (बलि) को कर्ण–पुष्पों (करन–फूल) की माला पहना कर सुशोभित करते है, ठीक उसी तरह संसार के उन्माद को जाननेवाला मुनि–श्रमण स्व–आत्मा को लेकर ही संतुष्ट होता है ।

विवेचन : एक अदना–सा इन्सान । सामान्य देहयष्टि, दुबला पतला,

कमजोर तिनके जैसा । फूंक मारे तो उड़ जाए ! वह अपने तन–बदन को पुष्ट–शक्तिशाली बनाने की इच्छा करता है ! तभी एक दिन सूजन के मारे हाथ पाँव, गाल, चेहरा फूल गया !

एक बार किसी परिचित से भेंट हो गयी । कई दिनों की जान पहचान थी । उसने उसे गौर से देखा और तपाक से कह दिया :

"दोस्त, क्या बात है ? बड़े तन्दुरूस्त नजर आ रहे हो !"

अब आप ही कहिए, वह अपने दोस्त को क्या जवाब दे ?

क्या वह दोस्त के कहने से सूजे हुए शरीर को तन्दुरुस्त मान लेगा ? अपने को पुष्ट मान लेगा ? वास्तव में देखा जाए तो वह निरोगी तो नहीं, रोग से परिपूर्ण मानता है और उसे ऐसी कृत्रिम पुष्टता की कतई चाह नहीं है ।

ठीक इसी तरह कर्मोदय से, पुण्यकर्म के उदय से प्राप्त भौतिक सम्पत्ति के प्रति मुनि का यह रूख होता है ! कर्मजन्य सौंदर्य, रूप, रंग, आरोग्य, सुडौलता, परिपुष्टतादि पौद्‌गलिक भावों के प्रति मुनि की यह दृष्टि होती है कि 'यह वास्तविक पुष्टता नहीं है, बल्कि कर्मजन्य भयंकर व्याधि है !' जैसे शरीर के प्रति ममत्व रखनेवाले को 'सूजन' रोग लगता है, ठीक उसी तरह जिसे आत्मा पर ममत्व है उसके लिए पूरा शरीर ही रोग प्रतीत होता है । शारीरिक पुष्टता को वास्तविक पुष्टता नहीं मानता ।

प्राचीनकाल में ऐसी परम्परा थी कि जिसका वध करना हो, बलि चढ़ानी हो, बलिदान के पूर्व उसका शृंगार किया जाता था ! नये वस्त्र और पुष्प-मालाएँ पहनायी जाती थी । ढोल, तुरही और जयघोष के बीच उसकी शोभा यात्रा निकाली जाती ! ऐसे समय वद्यस्तम्भ की ओर ले जाये जानेवाले मनुष्य को शृंगार और वाद्य–वृन्द क्या आह्लादक लगते ? क्या वह जय जयकार और शृंगार से प्रसन्न होता ? नहीं, बिल्कुल नहीं । शृंगार, जय जयकार और तुरही घोष उसके लिए मृत्युघोष से कम नहीं होता । वह आकुल–व्याकुल और अधीर होता है ।

बहुमूल्य वस्त्रालंकार और मान–सन्मानादि पौद्‌गलिक भावों के प्रति मुनि प्रायः उदासीन होता है । मृत्यु की निर्धारित सजा भुगतने के लिए निरंतर आगे

बढ़ता मनुष्य, क्या पौद्गलिक भाव में कभी सुख का अनुभव कर सकता है ? यदि वह पौद्गलिक भाव के वास्तविक रूप से परिचित है तो उसके लिए संसार की पौद्गलिक भाव में रमणता एकाध उन्माद से ज्यादा कुछ नहीं है ।

ऐसे समय उसका एक मात्र लक्ष्य निर्मल, निष्कलंक... परम चैतन्य स्वरूप... निरंजन... निराकार ऐसा आत्मद्रव्य होता है ! मन–मन्दिर में प्रस्थापित अनंतज्ञानी परमात्मा का योगीपुरुष निरंतर ध्यान धरते हैं, उसके आगे नतमस्तक होते हैं और उसकी स्तुति करते हैं । साथ ही उक्त ध्यान, वंदन और स्तवन में वे ऐसे अलौकिक आनन्द का रसास्वादन करते हैं कि उसकी तुलना में पुद्गलद्रव्य का उपभोग उनके लिए तुच्छ और नीरस होता है ।

आत्म–ध्यान में हमेशा संतुष्टि का पुट होना चाहिए । क्योंकि बिना संतुष्टि के पौद्गलिक भावों की रमणता नष्ट नहीं होगी । मन संतुष्टि चाहता है और यह उसका मूलभूत स्वभाव है । यदि आत्मभाव में संतुष्टि नहीं मिली तो पुद्गलभाव में तृप्ति प्राप्त करने के लिए वह खूंटे से छुटे सांड की तरह भाग खड़ा होगा। बालक को यदि पौष्टिक आहार न दिया जाए तो वह मिट्टी खाए बिना चैन नहीं लेगा ।

'आत्मतृप्तो मुनिर्भवेत्' मुनि को स्व–आत्मा में ही तृप्त होना चाहिए और वह भी इस हद तक की, उसमें पुद्गलभाव के प्रति कोई आस्था, स्पृहा अथवा आकर्षण नहीं रहना चाहिए । दीक्षित होने के पश्चात् श्री रामचन्द्रजी आत्मभाव में इस कदर तृप्त हो गये थे कि सीतेन्द्र ने उनके आगे दिव्य–गीत / संगीत की दुनिया रचा दी ! नृत्य–नाटक की महफिल सजा दी । फिर भी वे उन्हें अतृप्त न कर सकी । इतना ही नहीं बल्कि घाती–कर्मों का क्षय कर रामचन्द्रजी वहीं केवलज्ञान के अधिकारी बन गये !

सुलभं वागनुच्चारं मौनमेकेन्द्रियेष्वपि ।
पुद्गलेषु अप्रवृत्तिस्तु योगीनां मौनमुत्तमम् ॥१३॥७॥

अर्थ : वाणी का अनुच्चार रूप मौन एकेंद्रिय जीवों में भी आसानी से प्राप्त कर सके । वैसा है, लेकिन पुद्गलों में मन, वचन, काया की कोई प्रवृत्ति

न हो, यही योगी पुरुषों का सर्वश्रेष्ठ मौन है !

विवेचन : मौन की परिभाषा सिर्फ यहाँ तक ही सीमित अथवा पर्याप्त नहीं है, कि मुँह से बोलना नहीं, शब्दोच्चार भी नहीं करना । प्रायः 'मौन' शब्द इस अर्थ में प्रचलित है । लोग समझते हैं कि मुँह से न बोलना मतलब मौन और आमतौर से लोग ऐसा ही मौन धारण करते दिखायी देते हैं । लेकिन यहाँ पर ऐसे मौन की महत्ता नहीं बतायी गई है । सर्व साधारण तौर पर मनुष्य की भूमिका को परिलक्षित कर, मौन की सर्वांगसुन्दर और महत्त्वपूर्ण परिभाष की गयी है ।

मुँह से शब्दोच्चार नहीं करने जैसा मौन तो पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय जैसे एकेन्द्रिय जीवों में भी पाया जाता है, दिखाई पड़ता है । लेकिन प्रश्न यह है कि क्या ऐसा मौन मोक्षमार्ग की आराधना का अनन्य साधन / अंग बन सकता है ? क्या ऐसे मौन से एकेन्द्रिय जीव कर्ममुक्त अवस्था की निकटता साधने में सफल बनते हैं ? सिर्फ 'शब्दोच्चार नहीं करना', इसको ही मौन मानकर यदि मनुष्य मौन धारण करता हो और ऐसे मौन को मुक्ति का सोपान समझकर प्रवृत्तिशील हो, तो यह उसका भ्रम है ।

★ **मन का मौन :** मानसिक मौन

★ **वचन का मौन :** वाचिक मौन

★ **काया का मौन :** कायिक मौन

आत्मा से भिन्न ऐसे अनात्मभावपोषक पदार्थों का चिंतन–मनन नहीं करना । स्वप्न में भी उसका विचार नहीं करना । इसे मन का मौन अर्थात् मानसिक मौन कहा जाता है । हिंसा, चोरी, झूठ, दुराचार, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभादि अशुभ पापविचारों का परित्याग करने की प्रवृत्ति रखना ही मन का मौन है । प्रिय पदार्थ का मिलन हो और अप्रिय का वियोग हो, प्रिय का कभी विरह न हो और अप्रिय का मिलन... !' ऐसे संकल्प–विकल्पों के माध्यम से उत्पन्न विचारों के त्याग का ही दूसरा नाम मन का मौन है ।

मिथ्या वचन न बोलें, अप्रिय और अहितकारी शब्दोचार न करें, कड़वे और दिल को आहत करनेवाली वाणी का जीवन में कभी अवलम्बन न लें ।

क्रोधजन्य, अभिमानजन्य, कामजन्य, मायाजन्य, मोहजन्य और लोभजन्य बात जबान पर न लाना, यानी वचन का मौन। वाचिक मौन कहा जाता है। पौद्गलिक भाव की निंदा और प्रशंसा न करना वाचिक मौन है !

काया से पुद्गल–भावपोषक प्रवृत्ति का परित्याग करना, यह काया का मौन कहलाता है ! इस तरह मन, वचन, काया के मौन को ही यथार्थ मौन की संज्ञा दी गई है। जिस तरह मौन का यह निषेधात्मक स्वरूप है, उसी तरह विधेयात्मक स्वरूप भी है :

निरंतर अपने मन में आत्मभावपोषक विचारों का संचार कर क्षमा, नम्रता, विनय, विवेक, सरलता एवं निर्लोभता के भावों में सदा–सर्वदा खोये रहना। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के मनोरथ रचाना ! आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ध्यान धरना आदि क्रियाएँ मानसिक मौन ही हैं। इसी तरह वाणी से आत्मभावपोषक कथा करना... शास्त्राभ्यास और शास्त्र–परिशीलन करना, परमात्म–स्तुति में सतत लगे रहना... जैसे कार्य वाचिक मौन के ही द्योतक हैं। वचन का मौन कहलाता है। जबकि काया के माध्यम से आत्मभाव की ओर प्रेरित और प्रोत्साहित करती प्रवृत्तियाँ करना, कायिक मौन है।

मन, वचन, काया के योगों की पुद्गलभावों से निवृत्ति और आत्मभाव में प्रवृत्ति, यह मुनि का मौन कहलाता है। ऐसे मौन को धारण कर मुनि मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ता जाता है। इस तरह के मौन से आत्मा को पूर्णानन्द की अनुभूति होती है। इसी मौन के कारण आत्मा की अनादिकालीन अशुभ वृत्ति–प्रवृत्तिओं का अन्त आता है और वह शुद्ध एवं शुभ प्रवृत्तिओं की ओर गतिमान होती है। ऐसे मौन का आदर किया जाए, ऐसे मौन को जीवन में आत्मसात् कर के मोक्षमार्ग का अनुगामी बना जाए, ऐसा अनुरोध पूजनीय उपाध्यायजी महाराज करते हैं !

ज्योतिर्मयीव दीपस्य क्रिया सर्वाऽपि चिन्मयी।
यस्यानन्यस्वभावस्य तस्य मौनमनुत्तरम् ॥१३॥८॥

अर्थ : जिस तरह दीपक की समस्त क्रियाएँ (ज्योति का ऊँचा–नीचा होना वक्र होना और कम–ज्यादा होना) प्रकाशमय होती हैं, ठीक उसी तरह आत्मा

की सभी क्रियाएँ ज्ञानमय होती हैं—उस अनन्य स्वभाववाले मुनि का मौन अनुत्तर होता है ।

विवेचन : मौन की सर्वोत्कृष्ट अवस्था बताते हुए दीपक की ज्योति का उदाहरण दिया गया है । जिस तरह दीपक की ज्योति ऊँची—नीची वक्र अथवा कम—ज्यादा होते हुए भी दीपक प्रकाशमय होता है, ठीक उसी तरह योगी पुरुषों के योग पुद्गल—भाव से निवृत्त होते हैं । उसके आँतर—बाह्य सारे व्यवहार ज्ञान से परिपूर्ण होते हैं । उनकी आहार—क्रिया, परोपदेश-क्रिया, सभी ज्ञानमय होती है ।

आश्रव क्रिया को भी ज्ञानदृष्टि निर्जरा-क्रिया में परिवर्तित कर देती है। वह प्रत्येक क्रिया में चैतन्य का संचार करती है । कुरगडु मुनि आहार-ग्रहण की क्रिया कर रहे था उस पर ज्ञानदृष्टि का पूरा प्रभाव था । फलतः क्रिया चैतन्यमयी हो गयी । परिणाम स्वरूप आहार ग्रहण करते हुए वे केवलज्ञानी बन गये । गुणसागर विवाह मंडप में परिणय की वेदी पर बैठे थे । विवाह की रस्म पूरी कर रहे थे, कि सहसा क्रिया में चैतन्य का संचार हो गया और वह परिणय की क्रिया करते हुए वीतराग, निर्मोही बन गये । आषाढाभूति रंगभूमि पर अभिन्य क्रिया. परोपदेश-क्रिया, में खोये हुए थे । उनकी क्रिया ज्ञानदृष्टि से प्रभावित हो गई और फलतः भरत का अभिनय करनेवाले आषाढाभूति की आत्मा केवलज्ञान की अधिकारी बन गयी ।

यहाँ हमें ज्ञानदृष्टि के अजीबोगरीब चमत्कारों की दुनिया में परिभ्रमण कर उक्त चमत्कारों का वैज्ञानिक मूल्याँकन और महत्त्व समझने का प्रयत्न करने की आवश्यकता है । ज्ञानदृष्टि के यथार्थ स्वरूप को आत्मसात् कर ज्ञानदृष्टि प्राप्त करने की जरूरत है ।

ज्ञान होना अलग बात है और ज्ञानदृष्टि होना अलग ! सम्भव है ज्ञान हो और ज्ञानदृष्टि का अभाव हो ! लेकिन ज्ञानदृष्टिवाले में ज्ञान अवश्य होता है । आज हम ज्ञानप्राप्ति के लिए जरुर प्रयत्न करते हैं, लेकिन ज्ञानदृष्टि के मामले में पूर्णतया अनभिज्ञ हैं । ज्ञानी का पतन सम्भव है, लेकिन ज्ञानदृष्टिवाले का नहीं । वस्तुतः ज्ञानदृष्टि खुळी होनी चाहिए ।

जब तक सिर्फ इतना ज्ञान कि 'में शुद्ध आत्म द्रव्य हूँ... पर–पुद्गलों से सर्वथा भिन्न हूँ' तब तक पुरपुद्गलों का आकर्षण, ग्रहण और उपभोग आदि पुद्गलभाव की क्रिया जीवन में निरन्तर होती है । पुद्गल–निमित्तक राग-द्वेष और मोह के कीड़े अबाध रुप से दिल को कचोटते रहते हैं । लेकिन ज्ञानदृष्टि का द्वार खुलने भर की देर है कि पुद्गल के मनपसन्द रुप रंग, गन्ध–स्पर्शादि का व्यापार आत्मा में राग-द्वेष और मोह–माया को पैदा करने में असमर्थ होते हैं ! साथ ही राग के स्थान पर विराग, द्वेष के बदले करुणा और मोह के स्थान पर यथार्थदर्शिता का उद्भव होता है ।

ज्ञानदृष्टि का द्वार बन्द रहने पर पुद्गलभाव जीवन में राग-द्वेष पैदा करते थे, लेकिन ज्ञानदृष्टि का द्वार खुलते ही वह पुद्गलभाव होते हुए भी राग-द्वेष और मोह पैदा करने में सर्वथा असमर्थ बनते हैं ! यह ज्ञानदृष्टि के द्वार खुलने का निशान है, संकेत है ! ज्ञानदृष्टि से युक्त आत्मा में विषयों का आकर्षण और कषायों का उन्माद नहीं होगा ! उनकी प्रत्येक क्रिया एक ही प्रकार की होती है, लेकिन मोहदृष्टि का प्रभाव उसे विनिपात की और खिंच जाता है ! जबकि ज्ञानदृष्टि का प्रभाव उसे भवविसर्जन की और ले जाता है । ज्ञानदृष्टि से युक्त और पुद्गल–परान्मुख स्वभाववाली आत्मा का मौन अनुत्तर होता है ।

● ● ●

१४. विद्या

अविद्या के प्रभाव से प्रभावित जीव "विद्या" के परम तत्त्व को समझ भी पाएँगे ?

भवभवान्तर से अविद्या की वासना से युक्त जीवात्मा न जाने कैसे दारूण दुःखों का अनुभव लेती है !

ऐसी स्थिति में करुणासागर परम दयालु ग्रन्थकार, पौद्गलिक सुख के साधनों के प्रति अभिनव दृष्टि से देखने की, अवलोकन करने की प्रेरणा उन्हें प्रदान करते हैं । साथ ही आत्मा का यथार्थ दर्शन करने की अनोखी सूझ देते हैं !

'विद्या' प्राप्त करो और अविद्या से दूर रहो ।

नित्यशुच्यात्मताख्यातिरनित्याशुच्यनात्मसु ।
अविद्या तत्त्वधीर्विद्या, योगाचार्यैः प्रकीर्तिता ॥१४॥१॥

अर्थ : योगाचार्यों ने बताया है कि अनित्य, अशुचि और आत्मा से भिन्न पुद्गलादि में नित्यत्व, शुचित्व और आत्मत्व (ममत्व) की बुद्धि अविद्या कहलाती है । तात्त्विक बुद्धि विद्या कहलाती है ।

विवेचन : जो पुद्गल अनित्य हैं, अशुचि–अपवित्र हैं और आत्मतत्त्व से भिन्न हैं, उन्हें तुम नित्य, पवित्र और आत्मतत्त्व से अभिन्न मान रहे हो, तब समझ लेना चाहिए कि तुम पर 'अविद्या' का प्रबल प्रभाव है और जब तक पुद्गल–द्रव्यों को नित्य पवित्र एवं आत्मतत्त्व से अभिन्न मानते रहोगे तब तक तुम तत्त्वज्ञानी नहीं, आत्मज्ञानी नहीं, बल्कि अविद्या से आवृत्त अज्ञान से अभिभूत,

साथ ही विवेकभ्रष्ट ऐसी एक पामर जीवात्मा हो । न जाने पामर जीवात्मा की यह कैसी दुर्दशा–करूणाजनक स्थिति है ?

परसंयोग को नित्य समझता है !

अपवित्र शरीर को पवित्र समझता है !

जड–पुद्‌गल द्रव्यों को अपना समझता है !

यही अहंबुद्धि और ममबुद्धि अविद्या कहलाती है ! मौन में यही अविद्या बाधक है । साधुता की साधना में अविद्या एक विघ्न है । जब तक तुम इस पर विजय प्राप्त नहीं करोगे, तब तक साधुता की सिद्धि असम्भव है । युग–युगान्तर से जो कर्मों का सितम और नारकीय यंत्रणाएं सहन करनी पड़ी हैं, इसका मूल यही अविद्या है । अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र और भिन्न को अभिन्न मानने की वृत्ति अनादिकाल से चली आ रही है । उस वृत्ति का विनाश करना, उसे नष्ट–भ्रष्ट करना सरल काम नहीं है, ठीक वैसे दृढ़ संकल्प हो तो असम्भव भी नहीं है ।

आत्मा को हमेशा नित्य समझो,

आत्मा को पवित्र समझो,

आत्म में ही 'अहं' बुद्धि का प्रादुर्भाव करो ।

इसी तत्त्वबुद्धि से यानी विद्या से अविद्या का विनाश सम्भव है । परसंयोग को नित्य मानकर उसमें रात–दिन खोया रहनेवाला रागी जीव उसका वियोग होते ही न जाने कैसा चित्कार / विलाप करता है ? यह तथ्य समझ में न आता हो तो श्री रामचन्द्रजी के विरह में व्याकुल सीता की ओर दृष्टिपात करो । समझते देर नहीं लगेगी ! गंदगी और असाध्य रोगों के घर में ऐसे शरीर को पवित्र / शुद्ध मानकर उस पर बेहद प्रेम, प्यार और ममता रखनेवाले मनुष्य को जब उसके असलियत का पता चलता है, तब वह कैसा दिग्मूढ / सम्भ्रान्त बन जाता है ? क्षणार्ध में ही उसकी सिट्टी पिट्टी गुम हो जाती है । यदि इस तथ्य पर विश्वास न हो तो सनत्कुमार चक्रवर्ती की ऐतिहासिक जीवनगाथा का अवगाहन अवश्य करें । जड़–चेतन में रहे भेद को न समझनेवाले मनुष्य की उलझन का मूर्तिमंत उदाहरण तुम स्वयं ही हो । जड़ पुद्‌गल के बिगड़ने या सुधरने पर तुम स्वयं

ही कितने राग-द्वेष ग्रस्त हो जाते हो ? न जाने कितनी चिंताएँ अनायास तुम्हें सताने लगती हैं ?

"जड से मैं अलग हूँ, भिन्न हूँ। जड से मेरा क्या नाता ? वह बिगड़े या सुधरे, उससे मुझे कोई सरोकार नहीं"। प्रस्तुत वृत्ति राग-द्वेष की भयंकर समस्या को सुलझा सकती है और आत्मा समभाव में रह सकती है।

"पुद्गल का संयोग अनित्य है। उसके बल पर में सुख का भवन खड़ा नहीं करुंगा... सुहाने सपने नहीं सजाऊँगा। ऐसे संयोग को भूलकर भी कभी नित्य नहीं मानूँगा, बल्कि मेरी अपनी आत्मा ही नित्य है।" इस तत्त्व–वृत्ति के अंगीकार करने पर संयोग–वियोग के विकल्प से उत्पन्न विकलता / विह्वलता को दूर किया जा सकता है और फलस्वरूप आत्मा प्रशम–सुख का अनुभव कर सकती है।

"सिर्फ मेरी आत्मा ही पवित्र है। वह पूर्णतया शुद्ध / विशुद्ध और सच्चिदानन्द से युक्त है।" ऐसा यथार्थ दर्शन होते ही अपने शरीर को पवित्र एवं निरोगी बनाये रखने का पुरुषार्थ रूक जाएगा। साथ ही पुरुषार्थ करते हुए प्राप्त निष्फलता / असफलता के कारण उत्पन्न अशान्ति दूर हो जाएगी। तब परिणाम यह होगा कि शरीर साध्य नहीं लगेगा, बल्कि साधन प्रतीत होगा। उसके साथ का व्यवहार केवल एक साधन रुप में रह जाएगा। फलतः शरीर–संबंधित अनेकविध पापों से सदा के लिए बच जाओगे, मुक्त हो जाओगे।

अतः अविद्या के गाढ़ आवरण को छिन्न–भिन्न / विदीर्ण करने का भगीरथ पुरुषार्थ प्रणिधानपूर्वक शुरु कर देना चाहिए। यह सब करते हुए यदि कोई बाधा अथवा रुकावट आये तो उसे दूर कर सिद्धि प्राप्त करनी चाहिए।

यः पश्येद् नित्यमात्मानमनित्यं परसंगमम्।
छलं लब्धुं न शक्नोति तस्य मोहमलिम्लुचः ॥१४॥२॥

अर्थ : जो आत्मा को सदा–अविनाशी देखता है और परपदार्थ के सम्बन्ध को विनश्वर समझता है, उसके छिद्र पाने में मोह रुपी चोर कभी समर्थ नहीं होता।

विवेचन : जो मुनि अपनी आत्मा को अविनाशी मानता है और पर पदार्थ के सम्बन्ध को विनाशी देखता है, उसके आत्मप्रदेश में घुसने के लिए मोह रूपी चोर को कोई राह नहीं मिलती ! उसकी स्खलना देखने के लिए उसे कोई जगह उपलब्ध नहीं होती ।

यहाँ निम्नांकित तीन बातों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करने का प्रयास किया गया है :

आत्मा का अविनाशीरूप में दर्शन ।

परपुद्गल–संयोग का विनाशी रूप में दर्शन ।

आत्मप्रदेश में मोह का प्रवेश–निषेध ।

यदि मारक मोह की असह्य विड़म्बनाओं से मन उद्विग्न हो गया हो और उससे मुक्त होने की कामना तीव्र रूप से उत्पन्न हो गयी हो, तो ये तीन उपाय इस कामना को सफल बनाने में पूर्णतया समर्थ हैं । लेकिन इसके पूर्व मोह को आत्मप्रदेश पर पाँव न रखने देने का दृढ़ संकल्प अवश्य होना चाहिए । मोह के सहारे आमोद–प्रमोद और भौगविलास करने की वृत्तियों का असाधारण दमन होना चाहिए । तभी आत्मा की ओर देखने की प्रवृत्ति पैदा होगी और आत्मा का अविनाशी स्वरुप अवलोकन करने की आनन्दानुभूति होगी । फलतः पर–पुद्गलों का संयोग व्यर्थ प्रतीत होगा ।

हमें आत्मा के अविनाशी स्वरुप का दर्शन केवल एकाध पल, घंटा, माह अथवा वर्ष के लिए नहीं करना है, अपितु जब–जब स्व–आत्मा अथवा अन्य आत्मा की ओर दृष्टिपात करें तब–तब 'आत्मा अविनाशी है,' का संवेदन होना चाहिए । अविनाशी आत्मा का दर्शन जब सुखद संवेदन पैदा करेगा तब नश्वर शरीर और भौतिक संपदा के दर्शन / अनुभव के प्रति नीरसता एवं अनाकर्षण–वृत्ति का जन्म होगा । अविनाशी आत्मा के साथ स्नेह–सम्बन्ध जुड़ते ही 'परपुद्गल–संयोग अनित्य है और जो अनित्य हैं उनके समागम से मेरा क्या वास्ता ?' इस दिव्यदृष्टि का आविर्भाव होता है । पर–संयोग की अनित्यता का दर्शन मन पर ऐसा प्रभाव डालता है कि पर–संयोग करने–कराने और उसका सुखद अनुभव करने में या उसके विरह–वियोग में... न आनन्द... न प्रमोद और

ना ही किसी प्रकार का विषाद !

परसंयोग की अवस्था में मोह को आत्मप्रदेश में प्रवेश करने का मार्ग मिल जाता है । इसे मत भूलो कि जहाँ पर–संयोग से सुख सुविधा पाने की कल्पना की नहीं कि मोह–महाराजा का दबे पांव बिना किसी आहट के, आत्म–भूमि में प्रवेश हुआ समझो । अतः पर–संयोग में सुख की कल्पना का उच्छेदन करने हेतु 'पर–संयोग अनित्य है,' ऐसी ज्ञानदृष्टि अपलक खुली रखने का आदेश दिया गया है ।

आत्मा ने स्वयं सुख की कल्पना नहीं की है । अनादि काल से उसने स्वयं में सुख का दर्शन नहीं किया है ! अतः आत्मा को स्वयं में सुख का दर्शन हो, इसलिए "मैं नित्य, अविनाशी, अविनश्वर हूँ", ऐसी तत्त्वदृष्टि दी गयी है ! जब तक ये दोनों दृष्टियाँ खुल नहीं जाती तब तक मोह आत्म–भूमि में प्रवेश पाने में सफल बन जाता है और भयंकर विनाश करता है । अलबत्ता, बर्बादी के साथ वह मोह आत्मभूमि के मालिक को कुछ सुख–सुविधाएँ अवश्य प्रदान करता है । ताकि सुख–सुविधाओं का चाहक लालची मालिक उसके खिलाफ बगावत न कर दे । जेहाद का नारा बुलन्द न कर दे ! जिस तरह अंग्रेजों द्वारा प्रदत्त आंशिक मान–सन्मान और सर्वोच्च पदों के इनाम–इकराम के लालची कुछ भारतीय लोग भारत–भूमि पर उनके राज्य–शासन की आखिरी दम तक देशद्रोही हिमायत करते रहे ! ठीक उसी तरह जब तक हम मोह–महाराज द्वारा प्रदत्त आंशिक सुख–सुविधाएँ भोगते रहेंगे तब तक आत्म–द्रोह करते नहीं अघाएंगे । बल्कि समय पड़ने पर अपनी इस कलुषित वृत्ति को नष्ट करने के बजाय बढाते ही जाएँगे ! क्या ऐसे घृणित आत्मद्रोही बने रहकर, हम अपनी आत्मभूमि पर मोह–महाराज का राज्य–शासन चिरकाल तक बना रहे, इसमें खुश हैं ?

तरंगतरलां लक्ष्मीमायुर्वायुवदस्थिरम् ।
अदभ्रधीरनुध्यायेदभ्रवद् भंगुरं वपुः ॥१४॥३॥

अर्थ : निपुण व्यक्ति लक्ष्मी को समुद्र–तरंग की तरह चपल, आयुष्य को वायु के झोंके की तरह अस्थिर और शरीर को बादल की तरह विनश्वर मानता है !

विवेचन : – लक्ष्मी आयुष्य शरीर

इन तीन तत्त्वों के प्रति जीवात्मा का जो अनादि–अनंतकाल से दृष्टिकोण रहा है, उसको मिटाकर एक नया लेकिन यथार्थ दृष्टिकोण अपनाने का आग्रह पूज्य उपाध्यायजी कर रहे हैं और 'अविद्या' के आवरण को छिन्न–भिन्न, तार–तार करने के लिए ऐसे नव्य दृष्टिकोण की नितान्त आवश्यकता है–यह बात समझने के लिए 'अदभ्रबुद्धि, निपुण–बुद्धि का आधार लेने की सूचना दी है।

लक्ष्मी की लालसा, जीवन की चाहना और शरीर की स्पृहा ने जीवात्मा की बुद्धि को कुंठित कर दिया है, दिशाहीन बना दिया है। साथ ही साथ उसकी विचारशक्ति को सीमित बना दिया है ! जीव की अन्तः चेतना को मिट्टी के ढेर के नीचे दबा दिया है ! वस्तुतः लक्ष्मी, जीवन और शरीर के 'त्रिकोण' के व्यामोह पर समग्र संसार का बृहद् उपन्यास रचा गया है ! इस उपन्यास का कोई भी पन्ना खोलकर पढो, यह त्रिकोण दिखायी देगा ! राग और द्वेष, हर्ष और विषाद, पुण्य और पाप, स्थिति और गति, आनन्द और उद्वेग... आदि असंख्य द्वंद्वों के मूल में लक्ष्मी, जीवन और शरीर का त्रिकोण ही कार्यरत है ! आशा की मीनारें और निराशाओं के कब्रस्तान इसी त्रिकोण पर खड़े हैं। यदि यों कहें तो अतिशयोक्ति न होगी की पवित्र, उदात्त, आत्मानुलक्षी एवं सर्वोच्च भावनाओं का स्मशान एक मात्र यही त्रिकोण है ! उक्त 'अविद्या त्रिकोण' को उसके वास्तविक स्वरूप में देखने के लिए यथार्थदर्शी दृष्टिकोण की आवश्यकता है। इसके बिना आत्मा की पूर्णता की ओर प्रयाण असम्भव है। साथ ही पूर्णानन्द की अनुभूति भी अशक्य है।

इसको जानने परखने के यथार्थ दृष्टिकोण ये हैं :

लक्ष्मी समुद्र–तरंग जैसी चपल है।

जीवन वायु के झोंके की तरह अस्थिर है !

शरीर बादल की भाँति क्षणभंगुर है !

पूर्णिमा की सुहानी रात्रि में किसी समुद्र के शान्त किनारे आसन जमाकर सागर की केलि–क्रीड़ा करती उत्ताल तरंगों में लक्ष्मी की चपलता के दर्शन कर उसकी लालसा को सदा के लिए तिलांजलि दे देना ! किसी पर्वतमाला की

ऊँची चोटी पर चढकर दृष्टि अनंत आकाश की ओर स्थिरकर, सनसनाते वायु के झोंकों में जीवन की अस्थिरता का करूण संगीत श्रवण करना... और तब जीवन की चाहना से निवृत्त होने का दृढ़ संकल्प कर लेना। वर्षाऋतु के मनोहर मौसम में वन–निकुंज में अड्डा जमा कर अकाश में आंखमिचौली खेलते बादलों मे काया की क्षणभंगुरता की गंभीर ध्वनि सुन लेना और काया की स्पृहा को तजने का मन ही मन निर्णय कर लेना ! परिणाम यह होगा कि अविद्या का अनादि आवरण विदीर्ण हो जाएगा और 'विद्या' का देदीप्यमान सौन्दर्य सोलह कलाओं से विकसित हो जायेगा। तब तुम इस दुष्ट 'त्रिकोण' से मुक्त हो जाओगे ! परिणाम यह होगा कि तुम सहज / स्वाधीन ज्ञानादि लक्ष्मी, आत्मा का स्वतंत्र अनंत जीवन और अक्षय आत्मद्रव्य की अगम / अगोचर सृष्टि में पहुँच जाओगे। जहाँ पूर्णानन्द और सच्चिदानन्द की सुखद अनुभूति होती है।

लक्ष्मी, जीवन और शरीर–विषयक यह नूतन विचार–प्रणालि कैसी आह्लादक, अनुपम और अन्तःस्पर्शी है ! कैसा मृदु आत्मसंवेदन और रोम–रोम को विकस्वर करनेवाला मोहक स्पंदन पैदा होता है ! जीर्ण–शीर्ण प्राचीन–अनादिकालीन विचारधारा की विक्षुब्धता विवशता और विवेक–विकलता का तनिक मात्र स्पर्श नहीं ! कैसी सुखद परमानन्दमय अवस्था... !

शुचीन्यप्यशुचीकर्तुं समर्थेऽशुचीसम्भवे ।
देहे जलादिना शौचभ्रमो मूढस्य दारुणः ॥१४॥४॥

अर्थ : पवित्र पदार्थ को भी अपवित्र करने में समर्थ और अपवित्र पदार्थ से उत्पन्न हुए इस शरीर को पानी वगैरह से पवित्र करने की कल्पना दारुण भ्रम है।

विवेचन : शरीरशुद्धि की तरफ झुके हुए मनुष्य को तनिक तो सोचना चाहिए कि शरीर की उत्पत्ति कैसे हुई है, वह कहाँ से उत्पन्न हुआ है और उसका मूल स्वभाव कैसा है।

सुक्कं पिउणो माउए सोणियं तदुभयं पि संसट्ठं ।
तप्पढ़माए जीवो आहारइ तत्थ उत्पन्नो ॥ –भवभावना

पिता का शुक्र और माता का रूधिर, इन दोनों के संसर्ग से शरीर की उत्पत्ति होती है। जीवात्मा वहाँ प्रवेश कर प्रथम बार शुक्र–रुधिर के पुद्गलों का आहार ग्रहण कर, शरीर का निर्माण करता है। यह हुई उसकी उत्पत्ति की बात।

भला, उस शरीर का स्वभाव कैसा है ? पवित्र को अपवित्र करने का, शुद्ध को अशुद्ध बनाने का, सुगन्ध को दुर्गंध में बदलने का और सुडौल को बेढ़ंगा बनाने का। तुम लाख कपूर, कस्तुरी और चंदन का विलेपन करो, शरीर उस विलेपन को अल्पावधि में ही अशुद्ध, अपवित्र और दुर्गंधमय बना देगा। गर्म / शीतल पर फव्वारे के नीचे बैठकर सुगंधित साबुन मल–मलकर लाख स्नान कर लो, ऊँचे इत्र का उपयोग कर भले महका दो... लेकिन दो तीन घंटे बीते न बीते, शरीर अपने मूल स्वभाव पर गये बिना नहीं रहेगा। पसीने से तर–बतर, मल से गंदा और नानाविध रोग–व्याधि से ग्रस्त बन जाते देर नहीं लगेगी। इस तरह शरीर को जल और मिट्टी से पवित्र बनाने में जीव की कल्पना न जाने कैसी भ्रामक और असंगत है ? शारीरिक पवित्रता को ही अपनी पवित्रता मानने की मान्यता कैसी हानिकारक है ? यह सोचना चाहिए।

अत: शरीर को साध्य मानकर उसके साथ जो व्यवहार किया जाता है उसमें आमूल परिवर्तन होना जरुरी है। लेकिन प्रवृत्ति के परिवर्तन में वृत्ति का परिवर्तन पहले होना चाहिए। शरीर तो साधन है, ना कि साध्य। अत: शरीर के साथ सम्बन्ध सिर्फ एक साधन के रूप में ही होना चाहिए। ठीक वैसे व्यवहार भी साधन के रुप में ही होना चाहिए।

मानव–शरीर मोक्षमार्ग की आराधना का सर्वोत्तम साधन है। अत: शरीर की एक–एक धातु, एक–एक इन्द्रिय और एक–एक स्पंदन का उपयोग मोक्षमार्ग की आराधना के लिए करना चाहिए। शरीर के माध्यम से आत्मा को पवित्र, शुद्ध और उज्ज्वल बनाना है। लेकिन खेद और आश्चर्य की बात तो यह है कि भ्रान्त मनुष्य आत्मा को ही साधन बनाकर शरीर को शुद्ध और पवित्र बनाने की चेष्टा करता है। उसे पवित्र बनाने हेतु वह ऐसे अजीबोगरीब उपायों का अवलम्बन करता है कि जिससे आत्मा अधिकाधिक कर्म–मलिन होती जाती है। साधन / साध्य का निर्णय करने में गफलत कर साध्य को साधन और साधन

को साध्य मान लेता है ।

यह कभी न भूलें कि आत्मा साध्य है । अतः साध्य को जरा भी क्षति न पहुँचे इस तरह साधन के साथ व्यवहार रखना चाहिए । लेकिन अविद्या यह करने नहीं देती ! अविद्या के प्रभाव में रहा जीवात्मा शरीर के लिये एक प्रकार का ममत्व धारण कर लेता है । उसका सारा ध्यान, पूरा लक्ष शरीर ही होता है। वह हमेशा शरीर को पानी से नहलाएगा । उस पर जरा भी धब्बा न रह जाए इसकी खबरदारी बरतेगा । वह गंदा न हो जाए इसकी सावधानी रखेगा । यह सब करते हुए वह आत्मा को साफ करना तो भूल ही जाता है । उसे उसका (आत्मा का) तनिक भी खयाल नहीं रहता !

अरे भाई, कोयले को हजार बार दूध अथवा पानी से धोया जाए तो भी क्या वह सफेद होगा ? ठीक उसी तरह काया, जो पूर्णरूप से अपवित्र तत्त्वों से बनी है और दूसरे को अपवित्र बनाना ही जिस का मूल स्वभाव है, उसे तुम स्वच्छ, शुद्ध और पवित्र बनाने की लाख कोशिश करो... तुम्हारा हर प्रयत्न निष्फल होगा ।

यः स्नात्वा समताकुण्डे हित्वा कश्मलजं मलम् ।
पुनर्न याति मालिन्यं सोऽन्तरात्मा परः शुचिः ॥१४॥५॥

अर्थ : जो समता रूपी कुंड़ में स्नान कर पाप से उत्पन्न मल को दूर करती है, दुबारा मलिन नहीं बनती, ऐसी अन्तरात्मा विश्व में अत्यन्त पवित्र है।

विवेचन : तो क्या तुम्हें स्नान करना ही है ? पवित्र बनना ही है ? आओ, तुम्हें स्नान करने का सुरम्य स्थान बताता हूँ, स्नान के लिए उपयुक्त जल बताता हूँ... । एकबार स्नान किया नहीं कि पुनः स्नान करने की इच्छा कभी नहीं होगी । इसकी आवश्यकता भी नहीं लगेगी । तुम ऐसे पवित्र बन जाओगे कि वह पवित्रता कालान्तर तक चिरस्थायी बन जाएगी ।

लो यह रहा समता का कुंड ! यह उपशम के अथाह जल से भरा पडा है । इसमें प्रवेश कर तुम सर्वांगीण स्नान करो । स्वच्छंद बनकर इसकी उत्ताल तरंगों के साथ जी भरकर केलि–क्रीडा करो । तुम्हारी आत्मा पर लगा हुआ पाप–पंक धुल जाएगा और आत्मा पवित्र बन जाते विलम्ब नहीं लगेगा । साथ ही

समकित की परम पवित्रता प्राप्त होगी ।

एकबार जिस आत्मा ने सम्यग्दर्शन की अमोघ शक्ति पा ली, वह आत्मा कर्म के समरांगण में कभी पराजित नहीं होगी । ऐसी समकिती आत्मा कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति नहीं बाँधती है ।

अन्तः कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति से ज्यादा स्थिति नहीं बांधती है । यह उसकी सहज पवित्रता है ।

मनुष्य को समता का स्नान करते रहना चाहिए । समता से समकित की उज्ज्वलता मिलती है, जो स्वयं में ही आत्मा की उज्ज्वलता और पवित्रता है । समतारस में निमज्जित आत्मा के तीन प्रकार के मल का नाश होता है ।

दृशां स्मरविषं शुष्येत्, क्रोधतापः क्षयं व्रजेत् ।
औद्धत्यमलनाशः स्यात् समतामृतमज्जनात् ॥ –अध्यात्मसार

दृष्टि में से विषय–वासना का जहर दूर होता है, क्रोध का आतप शान्त हो जाता है और स्वच्छन्दता की गन्दगी धुल जाती है । बस, समता–कुण्ड में स्नान करने भर की देरी है ।

समता–कुंड की महिमा तुम क्या जानो ? वह कैसा चमत्कारिक और अलौकिक है ! तुम कैसी भी असाध्य व्याधि से ग्रस्त हो, भयंकर रोग से पीडित हो, उसमें स्नान कर लो । क्षणार्ध में सब व्याधि और रोग दूर हो जायेंगे । तुम्हारा शरीर कंचन सा निरोगी बन जाएगा । जीवन में कैसे भी आंतरिक दोष हों, समता–कुंड़ में स्नान कर लो ! दोष कहीं नजर नहीं आयेंगे । जानते हो भरत चक्रवर्ती ने अपने जीवन में कौन सा दुष्कर तप किया था ? कौन सा बड़ा त्याग किया था ? किन महाव्रतों का पालन किया था ? कुछ भी नहीं ! फिर भी उन्होंने आत्मा के अनंत दोष क्षणार्ध में दूर कर दिये । जड–मूल से उखाड दिये । किस तरह ? सिर्फ समता–कुंड़ में स्नान करके ! पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने स्वरचित ग्रन्थ **'अध्यात्मसार'** में इसका रहस्य अनूठी शैली में आलेखित किया है ।

आश्रित्य समतामेकां निवृत्ता भरतादयः ।
न हि कष्टमनुष्ठानमभूत्तेषां तु किंचन ॥

बाह्य शरीर को पानी और मिट्टी से पवित्र करने का पागलपन दूर कर और समता–जल से आत्मा को पवित्र बनाने का मार्गदर्शन कर, पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने न जाने कैसा महान् उपकार किया है ! समता द्वारा समकित की प्राप्ति होते ही समझ लेना चाहिए कि 'मैं पवित्र हो गया... मैं पवित्र हूँ ।' यदि यह भावना अहर्निश बनी रहे तो फिर शरीरादि को पवित्र करने का विचार ही नहीं आएगा । जब हमारे मन में : 'मैं अपवित्र हूँ... गंदा हूँ !' भावना काम करती है, तब पवित्र बनने की प्रवृत्ति पैदा होती है !

समता को स्थिर बनाये रखने के लिए भूल कर भी कभी जीवों में कर्म–निर्मित वैविध्य का दर्शन नहीं करना चाहिए । जैसे–जैसे विशुद्ध आत्म–दर्शन दृढ़ होता जाता है, तैसे–तैसे समता की नींव दृढ़ और स्थिर बनती जाती है । समता का अनुपम सुख और आनन्द का अनुभव वही ले सकता है, जिसने उसे अपने जीवन में आत्मसात् की हो । शरीरादि पुद्गलों में अविरत आसक्त जीवात्मा भला, उसका वचनातीत सुख का क्या अनुभव कर सकेगा ? जिसके सिर पर शरीर को पवित्र बनाने की धुन सवार हो, वह भूलकर भी कभी समता के कुंड़ में निमज्जित हो कर अनुपम पवित्रता प्राप्त नहीं कर सकता ।

आत्मबोधो नवः पाशो, देहगेहधनादिषु ।
यःक्षिप्तोऽनात्मना तेषु स्वस्य बन्धाय जायते ॥१४॥६॥

अर्थ : शरीर, घर और धनादि में आत्मबुद्धि, यानी एक नये पाश का बन्धन ! आत्मा द्वारा शरीरादि पर फेंका गया पाश, शरीर के लिए नहीं बल्कि आत्मबन्धन के लिए होता है !

विवेचन : शरीर घर धन

इन सब में आत्मबुद्धि यानी एक अभिनव... अलौकिक पाश ! भले ही आत्मा, शरीर, धन, घर आदि पर पाश फेंकती है, लेकिन उस पाश से खुद (आत्मा) ही बन्धन में बन्धती है । जबकि वास्तविकता यह है कि जिस पर पाश डाला जाए वहीं बन्धन में आना चाहिए । लेकिन यहाँ ठीक उसके विपरीत घटना घटित होती है । पाश डालनेवाला स्वयं ही उसमें बन्धता है । इसीलिए वह अलौकिक और अभिनव पाश है ।

'मैं और मेरा'–इसी अविद्या से आत्मा बन्धनयुक्त बनती है । इसे परिलक्षित कर पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने संसार के तीन तत्त्वों की ओर निर्देश किया है ।

शरीर में 'मैं' !

घर और धन में 'मेरा' !

यही 'मैं और मेरा'–का अनादिकालीन अहंकार और ममकार (अविद्या), जीव को संसार की भूलभुलैया में भटका रहा है । कर्म के बन्धनों में जकड़ रहा है । नरक–निगोद के दुःखों में सड़ा रहा है । दुःख–सुख के द्वंद्व में झुला रहा है ।

शरीर के प्रति मैं–पने की बुद्धि बहिरात्मभाव है । '**कायादि बहिरात्मा**'– शरीर में आत्मीयता की बुद्धि बहिरात्म–दशा है । ऐसी अवस्था में प्रायः विषयलोलुपता और कषायों का कदाग्रह स्वच्छंदता से पनपता है । उक्त अवस्था के लक्षण हैं : तत्त्व के प्रति अश्रद्धा और गुणों में प्रद्वेष । आत्मत्व का अज्ञान बहिरात्मभाव का द्योतक है । तभी पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने '**अध्यात्मसार**' में कहा है :

विषयकषायावेशः तत्त्वाश्रद्धा गुणेषु द्वेषः ।
आत्माऽज्ञानं च यदा बाह्यात्मा स्यात् तथा व्यक्तः ॥

इस तरह शरीर में अहंत्व की बुद्धि रखनेवाला विषय–कषाय के आवेशवश अपनी ही आत्मा को कर्म–बन्धन में आबद्ध करता है । तत्त्व के प्रति अश्रद्धा और गुणों में द्वेषभाव बनाये रखती आत्मा को कर्मलिप्त करता है, जो खुद के दुःख के लिए ही होता है ।

खुद कर्म–बन्धन में जकड़ता जाता है । फिर भी उसे होश नहीं रहता कि 'मैं बन्धन में फँस रहा हूँ ।' यही तो आश्चर्यचकित करनेवाली बात है । जब तक इसका अहसास न होगा, तब तक कर्म–बन्धन असह्य नहीं लगेंगे । जब तक कर्म–बन्धन–प्रेरित त्रास और सीत का अनुभव न हो, तब तक कर्मबन्धनों को तोड़ने का पुरुषार्थ नहीं होता । पुरुषार्थ में उत्साह, वेग और विजय का लक्ष

नहीं होता। मोहमदिरा के जाम पर जाम चढ़ाकर नशे में धुत्त बहिरात्मा के सामने दर्पण धर दिया जाता है : "तू अपने आपको पहचान !"

यदि उस दर्पण में ध्यानपूर्वक देखा जाए तो हम खुद को कैसे लगेंगे ? अनन्तानंत कर्म–बन्धनों से जकड़े, श्रमित, निस्तेज, पराधीन, परतंत्र और सर्वस्व गँवाकर हारे हुए दर–दर के भिखारी से।

घर और धन के प्रति ममता की बुद्धि, पराधीनता और परतन्त्रता में वृद्धि करती है। ज्ञानादि स्व–सम्पत्ति को देखने नहीं देती और बाह्यभाव के रंगमंच पर नानाविध नाच नचाती है। 'अहं' और 'मम' के मार्ग पर गतिमान जीव की न जाने कैसी दुर्दशा होती है, इसे जानने के लिए भूतकालीन पुरुषों की ओर दृष्टिपात करना जरूरी है। सुभूम चक्रवर्ती और ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के दिल दहलानेवाले वृत्तान्तों को जानना आवस्यक है। मगधसम्राट कोणिक और वर्तमान में जर्मनी के भूतपूर्व तानाशाह हिटलर के करूण अन्त का इतिहास जानना परमावश्यक है ! 'सेंट हेलो' द्वीप पर जीवन–संध्या की अन्तिम किरणों में सांस लेते महाबली नेपोलियन की कहानी का जरा अवगाहन करो।

अहंकार और ममकार के महा भयंकर पाश की पाशविकता और क्रूरता को जानकर, उस पाश से मुक्त होने का महान् पुरुषार्थ करना चाहिए।

मिथोयुक्तपदार्थानामसंक्रमचमत्क्रिया ।
चिन्मात्रपरिणामेन विदुषैवाऽनुभूयते ॥१४॥७॥

अर्थ : आपस में परस्पर मिश्रित जीव–पुद्गलादि पदार्थों का भिन्नतारुप चमत्कार, ज्ञानमात्र परिणाम के द्वारा विद्वान पुरुष अनुभव करते हैं।

विवेचन : जड–चेतन तत्त्वों का यह अनादि–अनंत विश्व है ! हर जड–चेतन तत्त्व का अस्तित्व स्वतंत्र है। उसका स्वरुप भी स्वतंत्र है। लेकिन जड़ चेतन क्षीर–नीर की तरह एक–दूसरे मे घुल–मिलकर रहे हुए हैं। उक्त तत्त्वों की भिन्नता को मात्र ज्ञान–प्रकाश से देख सकते हैं।

प्रधानतया पाँच द्रव्य (जड–चेतन) इस विश्व में विद्यमान हैं :

१. धर्मास्तिकाय, २. अधर्मास्तिकाय, ३. आकाशास्तिकाय, ४.

पुद्गलास्तिकाय और ५. जीवास्तिकाय★ ।

इनमें आकाश द्रव्य आधार है और शेष चार द्रव्य आधेय हैं, यानी आकाश में स्थित हैं । फिर भी हर एक का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है, स्वरुप है और कार्य है । एक द्रव्य का अस्तित्व भूल कर भी दूसरे में विलीन नहीं होता । ठीक वैसे ही एक द्रव्य का कार्य दूसरा द्रव्य कभी नहीं करता । भिन्नता का यह चमत्कार, मनुष्य बिना ज्ञान के देख नहीं पाता ।

प्रत्येक द्रव्य अपना अस्तित्व बनाये रखता है, अपने स्वरुप को निराबाध / अबाध रखता है और अपने–अपने कार्य में सदा मग्न रहना है । **धर्मास्तिकाय**–द्रव्य अरुपी है । उसका अस्तित्व अनादि–अनंतकाल है और उसका कार्य है जीव को गति करने में सहायता करने का । अर्थात् प्रत्येक जीव गति कर सकता है, उसके पीछे अदृश्य सहयोग / मदद 'धर्मास्तिकाय' नामक अरूपी, विश्वव्यापी और जड ऐसे द्रव्य की होती है । '**अधर्मास्तिकाय**' स्थिति में सहायता देता है। अर्थात् जीव किसी एक स्थान पर स्थिर बैठ सकता है, खड़ा रह सकता है और शयन कर सकता है, इसके पीछे अरुपी विश्वव्यापी और जड़ ऐसे 'अधर्मास्तिकाय' की मदद होती है ! '**आकाशास्तिकाय**' का काम है अवकाश–स्थान देने का । जबकि '**पुद्गलास्तस्तिकाय**' का कार्य तो सर्वविदित ही है । जो कुछ हमें दिखता है वह सब पुद्गलमय है । इन पाँच द्रव्यों में सिर्फ पुद्गल ही रुपी है । हानि, वृद्धि और निरंतर परिवर्तन–यही पुद्गल का स्वरुप है । '**जीवास्तिकाय**' का स्वरुप है चैतन्य । ज्ञानादि स्वपर्याय में रमणता उसका कार्य है । पुद्गल द्रव्य में आत्मगुणों का प्रवेश नहीं होता है । आत्मा में पुद्गल–गुणों का प्रवेश नहीं होता । अर्थात् आत्मा के ज्ञानादि गुण पुद्गल के गुण कभी नहीं होते ! पुद्गल का स्वभाव आत्मा का स्वभाव नहीं बन सकता ! इसी तरह हर द्रव्य के पर्याय भी स्वधर्म के परिणामस्वरुप भिन्न–भिन्न हैं । हालाँकि वे परस्पर इतने ओत–प्रोत होते हैं कि उनका भेद करना, वर्गीकरण करना अशक्य है । लेकिन ज्ञानी पुरुष अपने श्रुतज्ञान के माध्यम से उन्हें भली–भांति जानते हैं और परख सकते हैं ।

सिद्धसेन दिवाकरजी ने अपने ग्रन्थ '**सम्मतितर्क**' में कहा है :

★ देखिए परिशिष्ट 'पञ्चास्तिकाय'

अन्नोन्नाणुरायाणं इमं तं च त्ति विभयणमसक्कं ।
जह दूद्धपाणियाणं जावंत विसेसपज्जाया ॥

'दूध और पानी की तरह आपस में ओत–प्रोत, समरस बने जीव और पुद्‌गल के विशेष पर्याय में 'यह जीव है और यह पुद्‌गल है,' ऐसा वर्गीकरण करना असम्भव है। अत: उन दोनों के अविभक्त पर्यायों को समझना चाहिए !' इस तरह श्रुत–ज्ञान के माध्यम से जीव और पुद्‌गल का भेद–ज्ञान ही 'विद्या' है।

अविद्यातिमिरध्वंसे दृशा विद्याञ्जनस्पृशा ।
पश्यन्ति परमात्मानं आत्मान्येव हि योगिनः ॥१४॥८॥

अर्थ : योगीपुरुष, अज्ञान रूपी अन्धकार का नाश होते ही विद्या–अंजन को स्पर्श करनेवाली दृष्टि से आत्मा में ही परमात्मा को देखते हैं !

विवेचन : अनादिकाल से चला आ रहा अविद्या का अन्धकार नष्ट होते ही योगीजनों की दृष्टि में तत्त्वज्ञान के अंजन का दर्शन होता है। इस अंजन–अंचित दृष्टि से वह अन्तरात्मा में दृष्टिपात करता है। तब उन्हें वहाँ किसके दर्शन होते हैं ? सच्चिदानन्दमय परमपिता परमेश्वर के ! फलस्वरूप महायोगी सच्चिदानन्द की पूर्ण मस्ती में डोल उठता है और जन्म–जन्मांतर के दुष्कर संघर्ष के पश्चात् प्राप्त अपूर्व, अद्‌भुत और कल्पनातीत सफलता से अभिभूत हो, उनका हृदय पूर्णानन्द से भर जाता है। वे पूर्णानन्दी बन जाते हैं।

अविद्या का नाश !
तत्त्वदृष्टि का अंजन !
अन्तरात्मा में परमात्म–दर्शन !

परमात्म–दर्शन की पार्श्वभूमि में दो प्रमुख बातें रही हुई हैं, जिनका प्रस्तुत अष्टक में समग्र–दृष्टि से विवेचन किया गया है। वह है, अविद्या का नाश और तत्त्वबुद्धि का अंजन !

अब हम गुणस्थानक★ के माध्यम से प्रस्तुत विकासक्रम का विचार करें ! अविद्या का अन्धकार प्रथम गुणस्थानक पर होता है ! अन्धकार से आवृत्त जीवात्मा

★ देखिए परिशिष्ट में : गुणस्थानक का स्वरूप

'बाह्यात्मा' कहलाती है। चतुर्थ गुणस्थानक पर अविद्या के अन्धकार का नाश होता है और 'तत्त्वबुद्धि' (विद्या) का उदय ! बारहवें गुणस्थानक तक तत्त्वबुद्धि विकसित होती रहती है ! ऐसे तत्त्वबुद्धि–धारक जीवात्मा को 'अन्तरात्मा' कही गयी है। जबकि यही 'अन्तरात्मा' तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानक पर पहुँचकर परमात्मा का रुप धारण कर लेती है, परमात्मा बन जाती है। तब यह प्रश्न उपस्थित होगा कि भला, हम कैसे जान सकते हैं कि हम बाह्यात्मा हैं ? अन्तरात्मा हैं ? अथवा परमात्मा हैं ? इसका उत्तर है। हम स्पष्ट रूप में जान सकते हैं कि हम क्या हैं। उसे जानने की पद्धति निम्नानुसार है।

यदि हममें विषय और कषायों की प्रचुरता है, तत्त्वों के प्रति अश्रद्धा है, गुणों के प्रति द्वेष है और आत्मज्ञान नहीं है, तो समझ लेना चाहिए कि हम 'बाह्यात्मा' हैं।

यदि हम में तत्त्वश्रद्धा जगी है, अणुव्रत–महाव्रतों से जीवन संयमित है, कम–ज्यादा प्रमाण में मोह पर विजयश्री प्राप्त की है, विजयश्री पाने का पुरुषार्थ चालू है, तब समझ लेना चाहिए कि हम 'अन्तरात्मा हैं और चतुर्थ गुणस्थानक से लेकर बारहवें गुणस्थानक तक कहीं न कहीं अवश्य है।

केवलज्ञान प्राप्त हो गया हो, यौगिनिरोध कर दिया हो, समग्र कर्मों का क्षय हो गया हो, सिद्धशिला पर आरुढ़ हो गये हों, तब समझ लेना चाहिए कि हम 'परमात्मा' हैं। तेरहवें या चौदहवें गुणस्थानक पर अधिष्ठित हो गये हैं।

मानसिक शान्ति के बिना यानी शोक, मद, मदन, मत्सर, कलह, कदाग्रह, विषाद और वैरवृत्ति शान्त हुए बिना अविद्या भस्मीभूत नहीं होती। मोहान्धता दूर नहीं होती। अतः मन को शान्त करना चाहिए, तभी परमात्मदर्शन सम्भव है।

परमात्मऽनुध्येयः सन्निहितो ध्यानतो भवति' ! – अध्यात्मसार

संसार के सभी आल–पंपाल को छोड़छाड़ कर, मन को शुभ आलम्बन में स्थिर कर, यदि ध्यान धरा जाय तो मन शान्त होता है। शोकादि विकार उपशान्त हो जाते हैं। तब आत्मा की ज्योति सहज प्रकाशित हो उठेगी।

'शान्ते मनसि ज्योतिः प्रकाशते शान्तमात्मनः सहजम्'–आध्यात्मसारे

• • •

१५. विवेक

यहाँ संसार के व्यवहार में उपयोगी "विवेक" की बात नहीं है, बल्कि भेद–ज्ञान के विवेक की बात है। कर्म और जीव की जुदाई / भिन्नता का ज्ञान कराए वह विवेक।

अनादिकाल से अविवेक के प्रागढ़ अन्धकार में खोये जीव को यदि विवेक का प्रकाश प्राप्त हो जाए तो उसका काम बन जाए!

परम विशुद्ध आत्मा में अशुद्धियाँ निहारना यह भी एक प्रकार से अविवेक ही है।

विवेक के प्रखर प्रकाश में तो सिर्फ आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था का ही दर्शन होता है। इसके अपूर्व आनन्द का अनुभव करने के लिए प्रस्तुत अष्टक को ध्यानपूर्वक दो–तीन बार अवश्य पढ़ना चाहिए और उसका चिंतन–मनन करना चाहिए।

कर्म जीवं च संश्लिष्टं सर्वदा क्षीरनीरवत्।
विभिन्नीकुरूते योऽसौ मुनिहंसो विवेकवान् ॥१५॥१॥

अर्थ : दूध और पानी की तरह ओत-प्रोत बने जीव और कर्म को जो मुनि रूपी राजहंस सदैव अलग करता है, वह विवेकवन्त है।

विवेचन : जीव और अजीव का जो भेद–ज्ञान, वह है विवेक।

कर्म और जीव एक दूसरे में इस तरह ओत–प्रोत हैं, जिस तरह दूध और पानी! आज ही नहीं बल्कि अनादिकाल से परस्पर ओत–प्रोत हैं। उन्हें

उनके लक्षण द्वारा भिन्न समझने का अर्थ ही विवेक है। क्योंकि अनादिकाल से आत्मा कर्म और जीव को अभिन्न मानती आयी है और उसी के फलस्वरूप अनंतकाल से संसार में भटकती रही है। उसका भव–भ्रमण तभी मिट सकता है जब वह जीव और अजीव का विवेक पा ले।

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसण–णाणमइओ सदाख्वी ।
णवि अत्थि मज्झ किञ्चि विअण्णं परमाणुमित्तंवि ॥३८॥–समयसार

अविद्या से मुक्त आत्मा अपने आपको पुद्गल से भिन्न समझते हुए : 'वास्तव में एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन–ज्ञानमय हूँ और निराकार हूँ! दूसरा कोई परमाणु भी मेरा नहीं है।' ऐसा सोचता है।

जिस तरह किसी मनुष्य की मुट्ठी में सोने का सिक्का हो... लेकिन वह भूल गया हो कि उसकी मुट्ठी में सोने का सिक्का है और याद आते ही अचानक महसूस करता है कि उसकी मुट्ठी में सोने का सिक्का है। ठीक उसी तरह मनुष्य अनादिकालीन मोहरूपी अज्ञान की उन्मत्तता के वशीभूत होकर अपने परमेश्वर स्वरूप आत्मा को भूल गया था! लेकिन उसे भव–विरक्त सद्गुरु का समागम होते ही और उनके निरंतर उपदेश से सहसा अनुभव हुआ कि 'मैं तो चैतन्य–स्वरुप परम ज्योतिर्मय आत्मा हूँ... मेरे अपने अनुभव से मुझे लगता है कि मैं चिन्मात्र आकार की वजह से समस्त क्रम एवं अक्रम स्वरुप प्रवर्तमान व्यवहारिक भावों से भिन्न नहीं हूँ! अतः मैं एक हूँ–अकेला हूँ! नर–नारकादि जीव के विशेष पर्याय अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव–संवर, निर्जरा बन्ध और मोक्ष, इन व्यवहारिक नौ तत्त्वों के ज्ञायक–स्वभावरुप भाव के कारण अत्यन्त भिन्न हूँ। इसीलिए मैं पूर्णतया विशुद्ध हूँ। मैं चिन्मात्र हूँ! सामान्य–विशेषात्मकता का अतिक्रमण नहीं करता। अतः दर्शन–ज्ञानमय हूँ! स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से मैं भिन्न होने की वजह से परमार्थ से सदा अरुपी हूँ।

आत्मा के असाधारण लक्षणों से सर्वथा अज्ञात / अपरिचित अत्यन्त विमूढ मनुष्य तात्त्विक आत्मा को समझ नहीं पाता और पर को ही आत्मा मान बैठता है! कर्म को आत्मा मानता है! कर्म–संयोग को आत्मा मान लेता है! कर्म–जन्य अध्यवसायों को आत्मा मानता है! तब कर्मविपाक को ही आत्मा

मान लेता है ! लेकिन यह सत्य भूल जाता है कि प्रस्तुत सभी भाव पुद्गल–द्रव्य के परिणाम से निष्पन्न हैं, अतः उसे जीव कैसे कहा जाए ? श्री जिनेश्वर भगवान ने कहा है कि उक्त आठ प्रकार के कर्म पुद्गलमय हैं !

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा बिंति' । –समयसार

कर्म और कर्मजनित प्रभावों से आत्मा की भिन्नता जानने के लिए मुनि को हंसवृत्ति का अनुसरण करना चाहिए । जिस तरह हंस दूध–पानी के मिश्रण में से सिर्फ दूध को ग्रहण कर पानी को छोड़ देता है, ठीक उसी तरह मुनि को भी कर्म–जीव के मिश्रण में से जीव को ग्रहण कर कर्म को छोड़ देना चाहिए । उसके लिए यह आवश्यक है कि, जीव के असाधारण लक्षणों को वह भली–भांति जान लें, अवगत कर लें और तदनुसार जीव का श्रद्धान करें ।

इस तरह का विवेक जब मुनि में पनपता है, जागृत होता है, तब वह अपने आप में पूर्णानन्द का अनुभव करता है ! उसके रागादि दोषों का उपशम हो जाता है और चित्त प्रसन्न / प्रफुल्लित हो जाता है ।

देहात्माधविवेकोऽयं सर्वदा सुलभो भवे ।
भवकोट्यापि तद्भेद–विवेकस्त्वति दुर्लभः ॥१५॥२॥

अर्थ : संसार में प्रायः शरीर और आत्मा वगैरह का अविवेक आसानी से प्राप्त हो सके वैसा है । लेकिन करोड़ों जन्मों के उपरान्त भी उसका भेदज्ञान अत्यन्त दुर्लभ है ।

विवेचन : इस संसार में रहे जीव, शरीर और आत्मा के अभेद की वासना से वासित हैं और अभेद–वासना का अविवेक दुर्लभ नहीं, बल्कि सुलभ है । यदि कोई दुर्लभ है तो सिर्फ भेद–परिज्ञान ! लाखों–करोड़ों जन्मों के बावजूद भी भेद–ज्ञानरूपी विवेक सर्वथा दुर्लभ है !

सांसारिक जीव इस शाश्वत् सत्य से पूर्णतया अनभिज्ञ हैं कि शरीर से भिन्न ऐसा 'आत्मतत्त्व' नामक कोई तत्त्व भी है । वे तो आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व तक को नहीं जानते, तब आत्मा का शुद्ध ज्ञानमय स्वरुप जानने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ? हर एक के लिए आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व समझना और उसके

प्रति पूरी श्रद्धा रखना कि 'मन से भिन्न, वचन से भिन्न और काया से भिन्न ऐसी चैतन्य–स्वरूप आत्मा है !' सुलभ नहीं है ! कोई महात्मा ही ऐसे भेद–ज्ञान के ज्ञाता हो सकते हैं ।

सुदपरिचिताणुभूता, सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा ।
एगत्तस्सुवलंभो णवरिण सूलभो विभत्तस्स ॥४॥ –समयसार

"काम भोग की कथा किसने नहीं सुनी ? कौन उससे परिचित नहीं है ? किसके अनुभव में वह नहीं आयी ? मतलब, काम–भोग की कथा सबने सुनी है, सब उससे परिचित हैं और सबने उसका अनुभव किया है ! क्योंकि वह सर्वथा सुलभ है । जबकि शरीरादि से भिन्न आत्मा की एकता सुनने में नहीं आयी, उससे कोई परिचित नहीं है और ना ही उसका किसी ने अनुभव किया है, क्योंकि वह दुर्लभ है ।

असलियत यह है कि काम–भोग की कथा तो असंख्य बार सुनी है, हृदय में संजोकर जीवन में उसका जी भर कर अनुभव किया है । विश्व विजेता सम्राट मोह के राज्य में यही सुलभ और सम्भव था, जबकि दुर्लभ था सिर्फ भेद–ज्ञान ! विशुद्ध आत्मा के एकत्व का संगीत वहाँ कहीं सुनायी नहीं पड़ रहा था !

भेद–ज्ञान के रहस्यों को जानने के लिए अन्तरात्मदशा प्राप्त करना जरुरी है । उसके लिए पंचेन्द्रिय के विषयों के प्रति विरक्ति, उपेक्षाभाव और तत्संबंधित विषयों का त्याग करते रहना चाहिए । उसके प्रति त्यागवृत्ति का अवलम्बन करते रहना आवश्यक है । जब तक हमारे में विषयों के प्रति अनुराग रहेगा, तब तक हमारा मन बाह्य भावों से ओत–प्रोत रहेगा, वह आत्मा की ओर कभी उन्मुख नहीं होगा । विषयों के त्याग के साथ ही कषायों का उपशम करना भी उतना ही अनिवार्य है । कषायों से संतप्त मन जड–चेतन का भेद समझने और अनुभव करने में पूर्णतया समर्थ नहीं होता । कषायों का आवेग जिस गति से क्षीण होता जाएगा, उसी गति से उसका (कषाय) ताप कम होता जाता है । कषाय–बन्ध शिथिल होते ही सहज ही तत्त्व की ओर आकर्षण बढ़ता है और श्रद्धा पैदा होती है । जीव–अजीवादि नौ तत्त्वों में निष्ठा और श्रद्धा बढ़ते ही विशेष रूप से जीवात्मा के स्वरूप के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है । परिणाम स्वरूप, जीव के क्षमादि

गुणों के बारे में द्वेष भावना नहीं रहती और उससे जीवन उज्ज्वल बनाने की तमन्ना पैदा होती है ! फलस्वरूप, अणुव्रत एवं महाव्रतों को अंगीकार करने की तथा आसेवन करने की वृत्ति और प्रवृत्ति का आविर्भाव होता है। यह वृत्ति और प्रवृत्ति ज्यों–ज्यों बढती जाती है त्यों–त्यों मोह–वासना नष्ट प्रायः होती जाती है ! फलतः मोहजन्य प्रमाद की वृत्ति–प्रवृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं।

ऐसा वातावरण निर्माण होने पर 'भेद–ज्ञान' करने की योग्यता प्राप्त होती है। भेद–ज्ञान की कथा प्रिय लगती है। भेद–ज्ञान की प्रेरणा और निरूपण करनेवाले सद्गुरूओं का समागम करने को जी चाहता है ! जो भेद–ज्ञानी नहीं हैं, उनके प्रति अद्वेष रहता है। इस तरह, उसे जब भेद–ज्ञान का अनुभव करने का प्रसंग आता है, तब उसे एक अलभ्य वस्तु की प्राप्ति का अन्तरंग आनन्द होता है।

अतः भेद–ज्ञान की वासना से वासित होने की जरूरत है। इससे मन के कई क्लेश और विक्षेप मिट जाएँगे। जीवन की अगणित समस्याएँ क्षणार्ध में हल हो जाएँगी और अपूर्व आनन्द का अनुभव होगा।

शुद्धेऽपि व्योम्नि तिमिराद् रेखाभिर्मिश्रता यथा।
विकारैर्मिश्रता भाति तथाऽत्मन्यविवेकतः ॥१५॥३॥

अर्थ : जिस तरह स्वच्छ आकाश में भी तिमिर–रोग से नील पीतादि रेखाओं के कारण संमिश्रता दृष्टिगोचर होती हैं, ठीक उसी तरह आत्मा में अविवेक से विकारों के कारण संमिश्रता प्रतीत होती है। (आभासित होती है)

विवेचन : आकाश स्वच्छ और सुंदर है। लेकिन उसको देखनेवाले की आँखे तिमिर–रोग से ग्रसित होने के कारण उसे आकाश में लाल–पीली विविध प्रकार की रेखाएँ दिखायी पड़ती हैं और वह बोल उठता है : "आकाश कैसा चित्र–विचित्र लगता है।"

'निश्चयनय' से आत्मा निर्विकार, निर्मोह, वीतराग और चैतन्य स्वरूप है ! लेकिन उसे देखनेवाले की दृष्टि में क्रोधादि विकारों का रोग है। अतः क्रोधादि विकारों से युक्त अविवेकी दृष्टि के कारण उसे काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह,

मत्सरादि रेखाएँ दिखायी देती हैं और वह चीख पड़ता है, "देखो, जरा दृष्टिपात करो। आत्मा तो क्रोधी, कामी, विकारी और विषय–वासनाग्रस्त लगती है।'

इस तरह निश्चयनय हमें अपने मूलस्वरूप का वास्तविक दर्शन कराते हुए अनादिकाल से घर कर बैठी अपनी ही हीन भावना को उखाड़ फेंकने के लिए प्रेरित करता है। वाकई में हमने अपने आपको दीन–हीन, अपंग–अपाहिज और पराश्रित–पराजित समझ लिया है। जिस तरह किसी परदेशी–शासन के नृशंस अत्याचार और दमनचक्र से प्रताड़ित, कुचली गयी देहाती जनता में दीनता, हीनता और पराधीनभाव देखने में आते हैं। मानों वे उसी स्थिति में जिंदगी बसर करने में ही पूरा संतोष मानते हैं। लेकिन जब एकाध क्रांतिकारी उनमें पहुँचता है और उन्हें उनकी दारूण अवस्था का सही ज्ञान देता हुआ उत्तेजित स्वर में कहता है : "अरे कैसे तुम लोग हो ? तुम यह न समझो कि यही तुम्हारी वास्तविक जिन्दगी है और तुम्हारे कर्मों में ऐसा जीवन बिताने का लिखा है ! तुम्हें भी एक नागरिक के रूप में पूरे अधिकार हैं। तुम भी आज़ाद बनकर अपनी जिंदगी बसर करने के पूरे हकदार हो और वही तुम्हारा वास्तविक जीवन है। यह परदेशी शासन / राजसत्ता द्वारा तुम पर लादा गया जीवन है। अतः उसे उखाड़ फेंको और खुशहाल जीवन जीने के लिए तत्पर बनो... ।"

कर्मो की जुल्मी सत्ता के तले दबे–कुचले जानेवाले जीव, उनके द्वारा लादे गये स्वरूप को ही अपना वास्तविक स्वरूप समझ बैठे हैं। कर्मानुशासन को अपना अनुशासन मान लिया है। फलतः दीनता, हीनता और पराधीनता की भावना उसके रोम–रोम में बस गयी है। ऐसे में परम क्रांतिकारी परमात्मा जिनेश्वर भगवन्त आह्वान करते हैं !

"जीवात्माओं, यह तुम्हारा वास्तविक जीवन नहीं है। पूर्ण स्वतंत्र, स्वाधीन जीवन जीने का तुम्हारा पूरा अधिकार है। तुम अपने आप में शुद्ध हो, बुद्ध हो, निरंजन–निराकार हो। अक्षय और अव्यय हो, अजरामर हो... । तुम अपने मूल स्वरुप को समझो। कर्माधीनता के कारण उत्पन्न दीनता, हीनता और न्यूनता के बन्धन तोड़ दो। तुम्हें पदपद पर जो रोग, शोक, जरा और मृत्यु का दर्शन होता है, वह तो कर्म द्वारा तुम्हारी दृष्टि में किये गये विकास–अंजन के कारण होता है। तुम्हारी मृत्यु नहीं, तुम्हारा जन्म नहीं, तुम रोग–ग्रस्त नहीं, नाही कोई

दु:ख है । तुम अज्ञानी नहीं, मोहान्ध भी नहीं, साथ ही शरीरधारी नहीं ।" ऐसा आत्मज्ञान प्राप्त होते ही मुक्ति की मंजिल शनैः शनैः निकट आती जाती है ।

आत्मज्ञानफलं ध्यानमात्मज्ञानं च मुक्तिदम् ।
आत्मज्ञानाय तन्नित्यं यत्नः कार्यो महात्मना ॥ – अध्यात्मसार

आत्मज्ञान हेतु निरंतर प्रयत्नशील रहना चाहिए । सिर्फ आत्मा को जान लो । शेष कुछ जानने की आवश्यकता नहीं है । आत्मज्ञान के लिए ही नौ तत्त्वों का ज्ञान हाँसिल करना जरूरी है । जो आत्मा को न जान पाया, वह कुछ भी न जान पाया । कर्मजन्य विकृति को आत्मा में आरोपित कर ही अज्ञानी जीव भवसागर में प्रायः भटकते रहते हैं । अतः भेद–ज्ञान, आत्म–ज्ञान प्राप्त करना परमावश्यक है ।

यथा योधैः कृतं युद्धं स्वामिन्येवोपचर्यते ।
शुद्धात्मन्यविवेकेन कर्मस्कन्धोर्जितं तथा ॥१५॥४॥

अर्थ : जिस तरह योद्धाओं द्वारा खेले गये युद्ध का श्रेय राजा को मिलता है, ठीक उसी तरह अविवेक के कारण कर्मस्कन्ध का पुण्य–पाप रुप फल, शुद्ध आत्मा में आरोपित है ।

विवेचन : सैनिक युद्ध करते हैं और सैनिक ही जय–पराजय पाते हैं । लेकिन प्रजा यही कहती है : "राजा की जय हुई अथवा पराजय हुई" अर्थात् सैनिकों द्वारा प्राप्त विजय का श्रेय उनके राजा को मिलता है । उसी तरह सेना की पराजय भी राजा की पराजय कही जाती है ।

इसी तरह कर्म–पुद्गल रुप पाप–पुण्य का उपचय–अपचय अविवेक करता है, फिर भी उसका उपचार शुद्ध आत्मा में किया जाता है । अर्थात् 'आत्मा ने पुण्य किया और आत्मा ने पाप किया ।'

कर्म–जन्य भावों का कर्ता आत्मा नहीं बल्कि आत्मा तो स्वभाव का कर्ता है । लेकिन आत्मा और कर्म परस्पर इस तरह ओत–प्रोत हो गये हैं कि कर्मजन्य भावों का कर्तृत्व आत्मा में भासित होता है । यही हमारी अज्ञानावस्था है, जो जीव के भवभ्रमण का कारण है ।

जन्मादिकोऽपि नियतः परिणामो हि कर्मणाम् ।
न च कर्म कृतो भेदः स्यादात्मन्यविकारिणि ॥१५॥

आरोप्य केवलं कर्म–कृतां विकृतिमात्मनि ।
भ्रमन्ति भ्रष्टविज्ञाना भीमे संसारसागरे ॥१६॥

उपाधिभेदजं भेदं वेत्यज्ञः स्फटिके यथा ।
तथा कर्मकृतं भेद–मात्मन्येवाभिमन्यते ॥१७॥

–अध्यात्मसारे–आत्मनश्चयाधिकारे

"जन्म जरा मृत्यु आदि सब कर्मों का परिणाम है । वे कर्म जन्य भाव अविकारी आत्मा के नहीं हैं, फिर भी अविकारी आत्मा में कर्मजन्य विकृति को आरोपित करनेवाले ज्ञानभ्रष्ट जीव भवन में भटकते रहते हैं । इस तरह कर्मजन्य विकृति को अविकारी आत्मा में आरोपित करनेवाले लोग स्फटिक रत्न को लाल–पीला समझनेवालों की तरह अज्ञानी हैं । वे इस तथ्य से सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं कि जिस स्फटिक को वे लाल–पीला समझते हैं वह तो उसके पीछे रहे लाल–पीले वस्त्र के कारण दिखायी पड़ता है । उसी तरह आत्मा में जो जन्मादि विकृति के दर्शन होते हैं, वह कर्मजन्य हैं, कर्मकृत है, ना कि आत्मा के है, लेकिन अज्ञानदशा इस तथ्य को समझने नहीं देती, बल्कि वह तो मिथ्या आरोप करके ही रहती है ।

आत्मा और कर्म भले ही एक आकाशक्षेत्र में रहते हों, लेकिन कर्म के गुण आत्मा में संक्रमण नहीं कर पाते । आत्मा अपने भव्य स्वभाव के कारण सदैव शुद्ध–विशुद्ध है । जिस तरह धर्मास्तिकाय है । अर्थात् धर्मास्तिकाय भी आकाशक्षेत्र में ही है, फिर भी कर्मजन्य विकृति धर्मास्तिकाय में संक्रमण नहीं कर पाती ! धर्मास्तिकाय अपने शुद्ध स्वरूप में निर्बाध रहता है, उसी तरह आत्मा भी शुद्ध–विशुद्ध स्वरूप में रही हुई है ।

कर्मजन्य विकृतिओं को आत्मा में आरोपित कर ही जीव राग-द्वेष में सड़–गल रहा है, नारकीय यंत्रणाएँ सह रहा है । दुःख में वह चीखता चिल्लाता है, विलाप करता है । सुख में आनंदित हो, नृत्य कर उठता है । तदुपरांत भी अपने को ज्ञानी और विवेकशील होने का मिथ्याडम्बर रचाता है । उसी तरह अन्य

जीवों के प्रति भी वह इसी अज्ञान–दृष्टि का अवलम्बन करता है । कर्मजन्य विकृति को आत्मा की विकृति मानता है । अपनी इसी समझ और मान्यता के आधार पर प्रायः वह आचरण करता है । फलतः उसका व्यवहार भी मलिन हो गया है ।

आजतक वह, कर्मजन्य विकृतिओं को आत्मा में आरोपित कर निरंतर मिथ्यात्व को दृढ़ करता रहा है । लेकिन अब उसी मिथ्यात्व को नेस्त–नाबूद करने के लिए भेद–ज्ञान की राह चलने की आवश्यकता है । आत्म–ज्ञान प्राप्त करने की अत्यन्त आवश्यकता है । तभी हृदय शुद्ध होगा, दृष्टि पवित्र होगी और मोक्ष–मार्ग सुगम बन जाएगा । सदा–सर्वदा अपने हृदय में निश्चयनय की दृष्टि को अखंड ज्योति की तरह ज्योतिर्मय रखने की नितान्त आवश्यकता है । प्रस्तुत उपदेश को हृदयस्थ कर तदनुसार कदम उठाना जरूरी है ।

इष्टकाद्यपि हि स्वर्णं पीतोन्मतो यथेक्षते ।
आत्माऽभेदभ्रमस्तद्वद् देहादावविवेकिनः ॥१५।५॥

अर्थ : जिस तरह जिसने धतूरे का रस पिया हो वह इँट–पत्थर वगैरह को सोना देखता है, ठीक उसी तरह अविवेकी–जड़मति को भी शरीरादि में आत्मा का भ्रम होता है ।

विवेचन : धतूरे का पेय मनुष्य की दृष्टि में विपर्यास पैदा करता है। जो भी वह देखता है, उसे सर्वत्र सोना ही सोना दिखता है । अविद्या अविवेक का प्रभाव धतूरे के पेय से कम नहीं होता । शरीर इन्द्रिय... मन... आदि में वह आत्मा का अभेद मानता है... और उसे ही आत्मा समझ लेता है ।

पुनः पुनः जड़ तत्त्वों से आत्मा की भिन्नता समझाने के लिए अनेकविध दृष्टाँतों का आधार लिया जाता है, आत्मा के गुण अलग हैं और जड़–पुद्गल के अलग । जड़–पुद्गल मूर्त हैं, रूपी हैं जबकि आत्मा पूर्णतया अरुपी / निराकारी है । व्यवहारनय भले ही शरीर के साथ आत्मा के एकत्व को मान्य करता हो, लेकिन निश्चयनय को यह मान्य नहीं है । वह शरीर के साथ आत्मा की एकता मान्य नहीं करता ।

तन्निश्चयो न सहते यद्मूर्तो न मूर्तताम् ।
अंशेनाप्यवगाहेत पावकः शीतातामिव ॥३५॥

उष्णस्याग्नेर्यथा योगाद् धृतमुष्णमिति भ्रमः ।
तथा मूर्ताङ्गसंबन्धादात्मा मूर्त इति भ्रमः ॥३६॥

न रुपं न रसो गन्धो न स्पर्शो न चाकृतिः ।
यस्य धर्मो न शब्दो वा तस्य का नाम मूर्तता ॥३७॥

अमूर्त आत्मा क्या अमुक अंश में भी मूर्तता धारण करता है ? क्या अग्नि अंशमात्र भी शीतलता धारण करती है ? आत्मा में मूर्तता की निरी भ्रमणा है। जिस तरह उष्ण अग्नि के कारण 'घी उष्ण है' का भ्रम होता है, ठीक उसी तरह मूर्त शरीर के संयोग से 'आत्मा मूर्त है' का भ्रम मात्र होता है। जिसका धर्म रूप नहीं, रस नहीं, गन्ध नहीं, स्पर्श नहीं, आकृति नहीं, ना ही शब्द है...'ऐसी आत्मा भला, मूर्त कैसी और किस तरह ? रुप, रस, गन्ध, स्पर्श, आकृति और शब्द ये सब जड़ के गुणधर्म हैं, ना कि आत्मा के। तब भला, शरीरादि पुद्गल में आत्मा की एकता कैसे मान लें ?

वास्तव में आत्मा तो सच्चिदानन्द स्वरूप है। उसे मूर्तता स्पर्श तक नहीं कर सकती ।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसोऽपि परा बुद्धिर्यो बुद्धः परतस्तु सः ॥

"इन्द्रियों" को 'पर–अन्य' कहा जाता है, इन्द्रियों से मन 'पर' है, मन से बुद्धि "पर" है और बुद्धि से आत्मा 'पर' है। ऐसी अमूर्त आत्मा में मूर्तता आरोपित कर, अज्ञानी मनुष्य भव–भ्रमण में भटक जाता है।

- पुद्गल द्रव्य का धर्म मूर्तता है और आत्मा का गुण ज्ञान है। अतः पुद्गलों से आत्म–द्रव्य भिन्न है ।
- धर्मास्तिकाय का धर्म गतिहेतुता है और आत्मा का गुण ज्ञान है, अतः धर्मास्तिकाय से आत्मद्रव्य भिन्न है ।
- अधर्मास्तिकाय का धर्म स्थितिहेतुता है और आत्मा का गुण ज्ञान है। अतः

अधर्मास्तिकाय से आत्म–द्रव्य भिन्न है ।

आकाशास्तिकाय का धर्म 'अवकाश' है और आत्मा का गुण ज्ञान है। अतः आकाशास्तिकाय से भी आत्म–द्रव्य भिन्न है ।

इन्द्रिय, बल, श्वासोश्वास, आयुष्यादि द्रव्य–प्राण पुद्गल के ही पर्याय हैं और आत्मा से बिलकुल भिन्न हैं । अतः द्रव्य–प्राण में आत्मा की भ्रांति वर्जनीय है । आत्मा द्रव्य–प्राण के बिना भी जिंदा है जीवित है ।

जीवो जीवति न प्राणैर्विना तैरेव जीवति ।

इस तरह शरीरादि पुदगल–द्रव्यों में आत्मा की भेदबुद्धि विवेकशील को होनी चाहिए, यही परमार्थ है ।

इच्छन् न परमान् भावान् विवेकाद्रेः पतत्यधः ।
परमं भावमन्विच्छन् नाविवेके निमज्जति ॥१५॥६॥

अर्थ : परमोच्च भावों की इच्छा न रखनेवाला जीव विवेक रूपी पर्वत से नीचे गिर जाता है और परम भाव को खोजनेवाला अविवेक में कभी निमग्न नहीं होता ।

विवेचन : शुद्ध चैतन्यभाव सर्व विशुद्ध आत्मभाव का अन्वेषण जीव को विवेक की सर्वोच्च यो ही पर पहुँचा देता है । जबकि शुद्ध चैतन्यभाव की उपेक्षा, विवेक के हिमगिरि पर से जीव को गहरी खाई में पटक देती है । जहाँ विवेकरूपी पशुओं के राक्षसी जबड़े में चबा जाता है ।

विवेक– गिरिराज का शिखर है अप्रमत्तभाव । गिरिराज के शिखर पर अप्रमत्त आत्मा को दुर्लभ सिद्धियों की, लब्धियों की प्राप्ति होती है, लेकिन विशुद्ध आत्मभावयुक्त जीव उन सिद्धियों और लब्धियों के प्रति उदासीन होता है । वह पूर्णतया अनासक्त होता है ।

वाचकवर श्री उमास्वातिजी ने कहा है :

सातर्द्धिरसेष्वगुरूः प्राव्यर्द्धिविभूतिमसुलभामन्यै ।

सक्तः प्रशमरतिसुखे न भजति तस्यां मुनिः संगम् ॥२५६॥

या सर्वसुखर्द्धिः विस्मयनीयापि सात्वनगारर्द्धेः ।
नाधंति सहस्त्रभार्ग कोटिशतसहस्त्रगुणिताऽपि ॥२५७॥–प्रशमरति

"विश्व में अन्य जीवों को दुर्लभ वैसी ऋद्धि–लब्धि की विभूति पाकर और रस–ऋद्धि–शाता–गारव–रहित अणगार भूलकर भी कभी उक्त लब्धि के सुख में आसक्तिभाव नहीं रखता । वह तो प्रशमरति के सुख में निमग्न होता है ।"

"समस्त देवताओं की अद्‌भुत समृद्धि की गणना असंख्य बार की जाय फिर भी उसकी तुलना मुनि की आध्यात्मिक–सम्पत्ति के हजारवें भाग के साथ भी नहीं की जा सकती ।"

विवेक–भेदज्ञान की गरिमामय पर्वतमालाओं पर अनुपम सुख बिखरा पड़ा है और अनुत्तर आत्म–समृद्धि के अक्षय भण्डार भरे पड़े हैं । लेकिन इस पर्वतमाला पर आरोहण करने के पूर्व जीव को कतिपय महत्त्व की बातें ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है ।

१. धर्म–ध्यान में निमग्नता
२. भवोद्वेग
३. क्षमाप्रधानता
४. निरभिमान,
५. मायारहित निर्मलता
६. तृष्णाविजय
७. शत्रु–मित्र के प्रति समभाव
८. आत्माराम
९. तृण–मणि के प्रति समदृष्टि
१०. स्वाध्याय–ध्यानपरायणता
११. दृढ़ अप्रमत्तता
१२. अध्यवसाय विशुद्धि
१३. वृद्धिगत विशुद्धि

१४. श्रेष्ठ चारित्रशुद्धि

१५. लेश्या–विशुद्धि

तभी 'अपूर्वकरण' रूपी शिखर पर पहुँचा जा सकता है। मन में किया गया ऐसा दृढ़ संकल्प कि 'मुझे विवेक–गिरिराज पर आरोहण करना है' उपर्युक्त पन्द्रह बातों को आत्मसात् करने की अनन्य शक्ति प्रदान करता है। साथ ही शिखर पर पहुँचने के पश्चात् भी भेद–ज्ञान के अप्रमत्त भाव को जागृत रखना होता है। यदि वहाँ प्रमाद का अवरोध उपस्थित हो जाए, शुद्ध चैतन्यभाव से तनिक भी विचलित हो जाए, तब पतन हुए बिना नहीं रहेगा।

भेद–ज्ञान की इसी सर्वोत्कृष्ट भूमिका पर विपुल प्रमाण में कर्मक्षय होता है। आत्मा स्व–स्वभाव में अपूर्व सत्चिदानन्द का अनुभव करती है, साथ ही प्रशम–रति में केलि–क्रीड़ा करती है।

आत्मन्येवात्मनः कुर्यात् यः षटकारकसंगतिम्।
क्वाविवेकज्वरस्यास्य, वैषम्यं जडमज्जनात् ॥१५॥७॥

अर्थ : जो आत्मा आत्मा में ही छह कारक का सम्बन्ध प्रस्थापित करती है, उसे भला जड़–पुद्गल में निमग्न होने से उत्पन्न अविवेक रुपी ज्वर की विषमता कैसे सम्भव है ?

विवेचन : व्याकरण की दृष्टि से कारक के छह प्रकार होते हैं :

(१) कर्ता
(२) कर्म
(३) करण
(४) संप्रदान
(५) अपादान
(६) आधार–अधिकरण

जगत में विद्यमान सब सम्बन्धों का समावेश प्रायः इन छह कारकों में हो जाता है। उक्त छह कारकों का सम्बन्ध आत्मा के साथ जोड़ देने से एक

आत्माद्वैत की दुनिया का सर्जन होता है। जिसमें आत्मा कर्ता है और कर्म भी आत्मा ही है। कारण रूप से आत्मा का दर्शन होता है और संप्रदान के रूप में भी आत्मा का ही दर्शन होता है ! अपादान में भी आत्मा निहित है और अधिकरण में भी आत्मा ! इस तरह आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी का प्रतिभास नहीं होता। जहाँ देखो वहाँ आत्मा ! तब कैसी आत्मानन्द से परिपूर्ण अवस्था होती है ? पुद्गलों के साथ रहे सम्बन्धों से अविवेक पैदा होता है, जो आत्मा में एक प्रकार की विषमता का सर्जन करता है। लेकिन **'मूलं नास्ति कुतः शाखा ?'** पुद्गल के साथ रहा सम्बन्ध ही तोड़ दिया जाए, तब अविवेक का प्रश्न ही नहीं उठता और विषमता पैदा होने का अवसर ही नहीं आता।

- आत्मा स्वतंत्र रूप से ज्ञान-दर्शन में केलि-क्रीड़ा करती है ! जानने-समझने और देखने-परखने का काम करती है ! अतः स्वयं आत्मा **'कर्ता'** है।
- ज्ञानसहित परिणाम का आत्मा आश्रय-स्थान है। अतः आत्मा **'कर्म'** है।
- उपभोग के माध्यम से ज्ञप्तिक्रिया (जानने की क्रिया) में उपकारक होती है ! अतः आत्मा ही **'करण'** है।
- आत्मा स्वयं ही शुभ परिणाम का दानपात्र है ! अतः आत्मा **'संप्रदान'** है। वही ज्ञानादि पर्यायों में पूर्व पर्यायों के विनष्ट होने से और आत्मा से उसका वियोग हो जाने के कारण, आत्मा ही **'अपादान'** है।

समस्त गुण-पर्यायों के आश्रयभूत आत्मा के असंख्य प्रदेश रूपी क्षेत्र होने की वजह से आत्मा ही **'अधिकरण'** है।

आत्मचिंतन की ऐसी अनमोल दृष्टि खोल दी गयी है, कि जिसमें आत्मा आत्मा के ही प्रदेश में निश्चिंत होकर परिभ्रमण करती रहे। जड़-पुद्गलों के साथ का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाए और आत्मा के साथ अटूट बन्धन में जुड जाए। कर्तृत्व आत्मपरिणाम का दिखायी दे और कार्य आत्म-गुणों की निष्पत्ति का ! सहायक भी आत्मा और संयोग-वियोग भी आत्मा के पर्यायों में दिखायी दे। साथ ही सबका आधार भी आत्मा ही लगे ! बस, इसका ही नाम है विवेक।

जब तक इस विवेक का अभाव होता है तब तक जड़–पुद्गलों के कर्ता के रुप में आत्मा का भास होता है। कार्यरुप जड़–पुद्गल दिखायी देते हैं। करुणरुप जड़–इन्द्रियाँ और मन, एवं संप्रदान, अपादान, अधिकरण के रूप में भी जड–पुद्गल ही दिखायी देते हैं। आत्मा और पुद्गलों के अभेद की कल्पना पर ही समस्त सम्बन्ध कायम किए जाते हैं। अतः सारी दुनिया विषमताओं से परिपूर्ण नजर आती है। विषमताओं से परिपूर्ण विश्व को देखनेवाला भी विषमता से घिर जाता है। जड़–चेतन के अभेद का अविवेक अनन्त यातनाओं से युक्त संसार में जीव को गुमराह और भटकते रहने के लिए प्रेरित कर देता है।

तात्पर्य यह है कि जगत में जो नाते–रिश्ते होते हैं, उन सबका आत्मा के साथ विनियोग कर देना चाहिए। आत्मा, आत्मगुण और आत्मा के पर्यायों की सृष्टि में, उनमें परस्पर रहे सम्बन्ध और रिश्तों को भली–भाँति समझना चाहिये! तभी भेद–ज्ञान अधिकाधिक दृढ़ होता है।

संयमास्त्रं विवेकेन शाणोनोत्तेजितं मुनेः।
धृतिधारोल्बणं कर्मशत्रुच्छेदक्षमं भवेत् ॥१५॥८॥

अर्थ : विवेकरूपी सान पर अत्यन्त तीक्ष्ण किया हुआ और संतोष रूपी धार से उग्र, मुनि का संयमरूपी शस्त्र, कर्मरूपी शत्रु का नाश करने में समर्थ होता है।

विवेचन : कर्म–शत्रु के उच्छेदन हेतु शस्त्र चाहिए ना ? वह शस्त्र तीक्ष्ण / नुकीला होना चाहिए। शस्त्र की धार को तीक्ष्ण करने के लिए सान भी जरुरी है। यहाँ शस्त्र और सान, दोनों बताए गए हैं।

संयम के शस्त्र की संतोषरुपी धार को विवेकरुपी सान पर तीक्ष्ण करो। तीक्ष्ण धारवाले शस्त्रास्त्रों से सज्ज होकर शत्रु पर टूट पड़ो और उसका उच्छेदन कर विजयश्री हाँसिल कर लो। कर्म–क्षय करने हेतु यहाँ तीन बातों का निर्देश किया गया है :

★ संयम ★ संतोष ★ विवेक

यदि संयम के शस्त्र को भेद–ज्ञान से तीक्ष्ण बनाया जाय तो कर्मशत्रु का विनाश करने में वह समर्थ सिद्ध होगा । परम संयमी महात्मा खंधक मुनि के समक्ष जब चमड़ी छिलवाने का प्रसंग आया, तब मुनिराज ने अपूर्व धैर्य धारण कर संयमशास्त्र की धृतिधार को विवेक रुपी सान पर चढ़ा दिया । राजसेवक बड़ी क्रूरता से मुनि की चमडी छिलने लगे और इधर वे मुनि स्वयं संयम–शस्त्र से कर्म की खाल उतारने में तल्लीन हो गए । अर्थात् शरीर और आत्मा के भेदज्ञान की परिणति ने मरणांत उपसर्ग में भी धृति को बराबर टिकाये रख, संयम–वृत्ति को अभंग रखा । फलतः क्षणार्ध में ही अनंत कर्मो का क्षय हो गया और आत्मा पुद्गल–नियंत्रणों से मुक्त हो गयी ।

शरीर पर की चमड़ी उतरती हो, असह्य वेदना और कष्ट होता हो, खून के फव्वारे फूट रहे हों, फिर भी जरा सी हलचल नहीं, कतई असंयम नहीं, तनिक भी अधृति की भावना नहीं ! यह कैसे सम्भव है ? इतनी सहनशीलता, धैर्य और दृढ़ मन ! इसके पीछे कैसी अद्भुत शक्ति काम कर रही होगी ? कौन सा रहस्य छिपा होगा ? यह प्रश्न उठना स्वाभिवक है । जानते हो वह अद्भुत शक्ति और रहस्य क्या था ? वह था भेदज्ञान ! अपूर्व विवेक–शक्ति ।

शरीर से आत्मा की भिन्नता इस तरह समझ में आ जानी चाहिये और फलस्वरुप उसकी वासना इस तरह बन जानी चाहिए कि शरीर की वेदना, पीड़ा, व्याधि, रोगादि विकृतियाँ हमारे धृति–भाव को विचलित करने में समर्थ न हों ! हमें संयमभाव से जरा भी चलित न कर सकें । भले ही फिर हम पर तलवार का वार हो या छूरे का प्रहार हो । चाहे कोई 'स्टेनगन' की गोलियों से शरीर को छलनी–छलनी कर दें । शरीर... आत्मा के भेद–ज्ञान की भावना अगर जागृत हो गयी है तो फिर हम में अधृति और असंयम की भावना कतई पैदा नहीं होगी ।

झांझरिया मुनिवर पर तलवार का प्रहार किया गया, खंधकसूरिजी के पाँच सौ शिष्यों को कोल्हू में पीला गया, गजसुकुमाल मुनि के सिर पर अंगारों से भरा मिट्टी का पात्र रखा गया, अरे ! अयवन्ती–सुकुमार मुनिवर के शरीर को सियारनी ने फाड़ खाया, फिर भी इन महात्माओं ने इसका किंचित् भी विरोध या प्रतिकार न किया, बल्कि अद्भुत धैर्य, स्थिरता, अप्रमत्तता का परिचय देते हुए, धर्मध्यान और शुक्लध्यान में लीन रहे, मोक्ष–मार्ग की अंतिम मंजिल पार

कर गये । इन सब घटनाओं के पीछे कोई अदृश्य शक्ति अथवा रहस्य है, तो वही भेद–ज्ञान और विवेक है ।

यदि भेदज्ञान का अभ्यास, चिंतन, मनन और प्रयोग जीवन में निरंतर चालु रहेगा, तभी मृत्यु के समय वह (भेदज्ञान) हमारी रक्षा करेगा ! भेदज्ञान केवल बातों में न हो, व्यवहार में भी होना आवश्यक है । सतत चिंतन और मनन द्वारा उसे आत्मसात् करना चाहिये । फलस्वरुप, जीवन के विविध प्रसंगों में शारीरिक–आर्थिक–पारिवारिक संकट काल में वह हमारी सुरक्षा करेगा । हमारी धृति और संयम को तीक्ष्ण शस्त्र का रुप प्रदान कर अनन्तानंत कर्मों का क्षय करेगा ।

जीव मात्र को ऐसे भेद–ज्ञान का शाश्वत विवेक प्राप्त हो... ।

• • •

१६. मध्यस्थता

तुम किसी एक विचारधारा के आग्रही मत बनो। बल्कि मध्यस्थ बनो कुतर्क और कुविचारों का सर्वथा त्याग करो। यह तभी सम्भव है, जब तुम्हारी राग-द्वेषयुक्त वृत्ति शिथिल हो गयी हो और तुम अन्तरात्म–भाव में आकण्ठ डूब गये हो, पूरी तरह निमग्न हो गये हो।

'विभिन्ना अपि पन्थानः समुद्रं सरितामिव'

ग्रन्थकार महर्षि ने कैसी उत्कृष्ट बात कही है! नदियाँ भले ही विविध मार्गों से, प्रदेशों से प्रवाहित होती हों, लेकिन अन्त में समुद्र में ही जाकर मिलती हैं। ठीक उसी तरह, संसार में रहे मध्यस्थ पुरुषों के मार्ग भले ही अलग–अलग हों, लेकिन आखिरकार वह सब अक्षय परमात्म–स्वरूप में विलीन हो जाते हैं।

मध्यस्थ–भाव को पाने के लिए इन आठ श्लोकों का बार–बार मंथन करना आवश्यक है।

स्थीयतामनुपालम्भं मध्यस्थेनान्तरात्मना।
कुतर्ककर्करक्षपैस्त्यज्यतां बालचापलम् ॥१६॥१॥

अर्थ : शुद्ध आन्तरिक परिणाम से मध्यस्थ हो कर, उपालंभ नहीं आये इस तरह रहो। कुतर्करूप कंकर फेकनेरूप बाल्यावस्था की चंचलता का त्याग करो।

विवेचन : आत्मस्वभाव में निमग्न रहना, न किसी के प्रति राग, ना हि द्वेष, यही मध्यस्थता है। इस तरह मध्यस्थता की अधिकारी हमारी अन्तरात्मा बने, यह पूर्ण सौभाग्य की बात है। सचमुच, जीवन का वास्तविक आनन्द

हर्षोल्लास इसी मध्यस्थ–दृष्टि में समाया हुआ है। जड़–चेतन द्रव्यों के प्रति राग-द्वेष करने से और विकृत आनन्द से मन बहिर्मुख बनता है, भवाभिनन्दी बनता है। तदुपरान्त राग-द्वेषयुक्त बाह्यात्मा अपने कुत्सित कार्यों को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए बालसुलभ क्रीड़ा की तरह कुतर्क का आधार लेता है। फलस्वरूप ऐसे जीवों को नानाविध उलाहनाओं का सामना करना पड़ता है। लोक निंदा का भोग बनना बड़ता है... ।

मध्यस्थता को सिद्ध करने के लिए निम्नांकित बातों का पालन करना पड़ता है :

राग और द्वेष का त्याग,

अन्तरात्म–भाव की साधना,

कुतर्क का त्याग

इन तीन बातों को जीवन में आत्मसात् करनी चाहिए ! राग-द्वेष के परित्याग हेतु हमें उनकी पूर्वभूमिका का समुचित मूल्यांकन कर विचार करना चाहिए।

प्राकृत मनुष्य में राग-द्वेष की जो प्रचुरता दिखायी देती है, उसके पीछे दो तत्त्व काम कर रहे हैं : सुखासक्ति और भोगोपभोग की प्रवृत्ति। जब उसे सुख मिलता है और वासना–पूर्ति यथेष्ट मात्रा में होती है, तब वह रागी बनता है। लेकिन जब सुख नहीं मिलता और वासनापूर्ति नहीं होती तब वह द्वेषी बनता है। ऐसी हालत में जड़–चेतन दोनों के प्रति उसके मन में असीम राग और अनहद द्वेष निरंतर उफनता रहता है। इस तरह रागी और द्वेषी ऐसा प्राकृत मनुष्य सुख संपदा और काम–वासना का पक्षपाती बनता है और उसके वशीभूत होकर नाना प्रकार के निंदनीय कार्य करता भटकता रहता है !

तटस्थ पुरुष इन्द्रिय–जन्य सुखों के प्रति विरक्त और भोगोपभोग वृत्ति से विमुख होता है। वह सुख–भोग का कभी पक्षधर नहीं होता ! फलतः वह सुख–भोगजन्य राग-द्वेष से सर्वथा पर होता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वह पूर्णरूप से राग-द्वेष से मुक्त हो जाता है। विरक्त बन जाने के बावजूद भी उसमें रहे असत् तत्त्वों के प्रति अनुराग और सत् तत्त्वों के प्रति द्वेष, उसे

तटस्थ नहीं होने देते । अतः असत् तत्त्व को सत् और सत् तत्त्व को असत् सिद्ध करने के लिए रात–दिन प्रयत्न करता रहता है । इसके लिए वह कुतर्क और दलीलों का आश्रय लेता है । तब फिर तटस्थता कैसी ?

क्या जमालि में सुख के प्रति विरक्ति और काम–वासना के प्रति उदासीनता नहीं थी ? अवश्य थी, लेकिन फिर भी वह राग-द्वेष से अलिप्त न रह सका । क्योंकि वह असत् तत्त्वों के प्रति राग और सत् तत्त्वों के प्रति द्वेष से ऊपर न उठ सका । उसे न जाने कितने लोगों के उपालम्भ और लोक–निंदा का भोग बनना पड़ा ! खुद भगवान महावीर का उलाहना भी उसको सुनना पड़ा। जीवन–संगिनी आर्या प्रियदर्शना ने उसका त्याग किया । हजारों शिष्यों ने उसे छोड दिया ! अरे, उसे सरे–आम अपमान, घृणा और बदनामी झेलनी पड़ी ! फिर भी वह तटस्थ न बन सका सो न बन सका ! असत् तत्त्व को सत् सिद्ध करने के लिए उसने असंख्य कंकर उछाले, यहाँ तक कि उसकी वर्षा ही कर दी और दीर्घ काल तक असत् तत्त्वों का कट्टर पक्षधर बना रहा !

जबकि कुम्भकार–श्रावक ढक के कारण आर्या प्रियदर्शना तटस्थता प्राप्त कर गयी ! उसने कुतर्क का त्याग किया ! महावीर देव के पास पहुँच गयी और संयमाराधना करती हुई, राग-द्वेष से मुक्त हो परम मध्यस्थ भाव में स्थिर हो गयी !

इसीलिए कहा गया है कि जब तक कर्मजन्य भावों के प्रति तीव्र आसक्ति है, तब तक तटस्थता कोसों दूर है । अपनी आत्मा के स्वाभाविक गुणों में रमणता / निमग्नता यही वास्तविक मध्यस्थता है । स्वभाव का परित्याग यही सब से बडा उपालम्भ ! उलाहना है । इन सब बातों का तात्पर्य यह है कि राग-द्वेष से परे रहने के लिए कुतर्क का त्याग करना चाहिए !

मनोवत्सो युक्तिगवीं मध्यस्थस्यानुधावति !
तामाकर्षति पुच्छेन तुच्छाग्रहमनः कपिः ॥१६॥२॥

अर्थ : मध्यस्थ पुरुष का मन रुपी बछड़ा युक्तिरुपी गाय के पीछे दौडता है, जबकि दीन–हीन वृत्तिवाले पुरुष का मनरूपी बंदर युक्ति रुपी गाय की पूंछ पकड कर पीछे खिंचता है !

विवेचन : मध्यस्थ पुरुष का मन बछड़ा है और युक्ति गाय है ! बछड़ा गाय के पीछे दौडता है ।

मिथ्याग्रही पुरुष का मन बंदर जैसा है । वह हमेशा युक्तिरूपी गाय की पूँछ पकड कर उसे पीछे खींचता है ।

मध्यस्थ–वृत्तिवाला व्यक्ति नित्यप्रति युक्ति की और आकर्षित होता है, जबकि दुराग्रही उसे (युक्ति को) अपनी ओर खिंचता है । अपनी मान्यता, विचार–धारा की ओर युक्ति को जोड़–तोड़ कर मोड़ देता है । श्री हारिभद्री–अष्टक में कहा गया है :

'आग्रही बत निनीषति युक्तिं तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा ।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्' ॥

"आग्रही पुरुष की जैसी अपनी समझ, बुद्धि (मति) होती है, वह युक्ति को उसी ओर मोड़ लेता है । यह उसका लक्षण है, जबकि पक्षपातरहित व्यक्ति जहाँ युक्ति होगी, उस ओर बुद्धि को मोड़ता है ! क्योंकि पक्ष, गुट, संप्रदाय, गच्छ अथवा पंथविशेष का आग्रह–पक्षपात दिमाग में किसी युक्ति को प्रवेश ही नहीं करने देता ! युक्तिहीन स्वपक्ष की बातों का दुराग्रह मनुष्य को लाख चाहने पर भी मध्यस्थ नहीं होने देता । अरे वह तो यहाँ तक सोचता रहता है कि 'यदि मैं अन्य पंथ संप्रदाय, या गच्छ की सयुक्तिक बातें सुनूँगा और मुझे जँच गयी तो मेरा समकित चला जाएगा, फलतः में समकितविहीन बन जाऊँगा ।'

किसी भी युक्ति की यथार्थता का परिक्षण करने की समझ हम में अवश्य होनी चाहिए । तर्क दो प्रकार के होते हैं : सुतर्क और कुतर्क ! सुतर्क किसे कहा जाए और कुतर्क किसे, यह समझने की सूक्ष्म बुद्धि हममें होना जरूरी है।

इस भूतल पर जो जो मत, पंथ, संप्रदाय अथवा गच्छों का प्रादुर्भाव हुआ है, वह किसी न किसी तर्क के सहारे हुआ है । अपने किसी विचार या मान्यता के पोषक ऐसे तर्क और उदाहरण मिल जाने पर एकाध पंथ अथवा संप्रदाय का जन्म होता है और उस युक्ति और उदाहरणों की यथार्थता–अयथार्थता का सही

मूल्यांकन करने में असमर्थ जीव उस पंथ या मत में शामिल हो जाता है। लेकिन सिर्फ कुतर्क के आधार पर स्थित कपोल कल्पित मत–मतांतर, पंथ और संप्रदाय वर्षा ऋतु में जन्मे कुकुरमुत्ते की तरह अल्प जीवी सिद्ध होते हैं ! अथवा अज्ञान और मतिमंद जीवों के क्षेत्र में वह पंथ या संप्रदाय फल–फूल कर वृक्ष का रूप धारण कर लेता है !

सीधा–सादा जीव, कुतर्क को ही सुतर्क समझकर नादानी में उसकी ओर आकर्षित हो जाता है। जबकि कभी–कभी सुतर्क को कुतर्क समझ उससे कोसों दूर निकल जाता है। सुतर्क को सुतर्क और कुतर्क को कुतर्क समझने की क्षमता रखनेवाला मनुष्य ही मध्यस्थ–दृष्टि प्राप्त कर सकता है।

यथार्थ वस्तु–स्वरूप की जानकारी हासिल करने हेतु युक्ति का आधार लेना अत्यन्त आवश्यक है। ठीक उसी तरह युक्ति को यथार्थ रूप में समझने के लिए उसकी परिभाषा को समझना जरूरी है। वर्ना मिथ्या भ्रम की भूल भुलैया में भटकते देर नहीं लगती। जानते हो, शिवभूति की कैसी दुर्दशा हुई ? रथवीर- पुर नामक नगर में स्थित आचार्यश्री आर्यकृष्ण का परम भक्त और अनन्य शिष्य शिवभूति, मतिभ्रष्ट हो गया। आचार्यश्री द्वारा विवेचित 'जिनकल्प' के शास्त्रीय विवेचन को वह अपनी कल्पना की उड़ान पर उड़ा ले गया। आचार्य श्री ने अपने शिष्य को भ्रम के चक्रव्यूह में फँसने से बचाने हेतु 'जिनकल्प' का यथार्थ विवेचन करने के लाख प्रयत्न किये ! अकाट्य तर्क देकर उसे समझाने का प्रयत्न किया। लेकिन सब व्यर्थ गया ! शिवभूति के मनःकपि ने युक्ति रूप गाय की पूंछ पकड, हरबार अपनी और खींचने का प्रयत्न किया ! यहाँ तक कि स्वयं वस्त्र–त्याग कर दिया ! वस्त्रहीन नगर में सरे आम निकल पड़ा और जो भी तर्क उसको अपने मत के पोषक प्रतीत हूए, अनुकूल लगे, उन्हें ग्रहण कर एकांगी बन गया। यह सब करते हुए उसने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का विचार नहीं किया। उसने उत्सर्ग और अपवाद का विचार नहीं किया। वह अपने मत का ऐसा दुराग्रही बन गया कि सापेक्षवाद का भी विचार नहीं किया। 'वस्त्रधारी मोक्ष नहीं पा सकता,' इसी एक हठाग्रह के कारण वह यथार्थ वस्तु स्वरूप के बोध से सर्वथा वंचित रह गया। मतलब, हमेशा

युक्ति को परख कर उसका अनुसरण करते रहो ।

***नयेषु स्वार्थसत्येषु मोघेषु परचालने ।**
समशीलं मनोयस्य स मध्यस्थो महामुनिः ॥१६॥३॥

अर्थ : अपने–अपने अभिप्राय में सच्चे और अन्य नयों के वक्तव्य का निराकरण करने में सर्वथा निष्फल नयों में जिनका मन सम–स्वभावी है, ऐसे मुनिवर बाकई में मध्यस्थ हैं ।

विवेचन : प्रत्येक नय अपने–आप में सत्य होता है, वास्तविक होता है, लेकिन जब वह एक–दूसरे के दृष्टिबिन्दु का खण्डन करते हैं तब असत्य होते हैं ।

'स्वाभिप्रेतेनैव धर्मेणावधारणपूर्वकं वस्तु परिच्छेत्तुमभिप्रैति स नयः ।

जिसका अभिप्राय, अपने अभिलषित धर्म के निर्णयपूर्वक वस्तु का ज्ञान पाने का है, उसे नय कहा जाता है ।

जब एक नय किसी वस्तु के सामान्य अंश का प्रतिपादन कर, वस्तु को उस स्वरुप में देखने / समझने का आग्रह रखता है और दूसरा नय वस्तु के विशेष अंश का प्रतिपादन कर उसे उस स्वरूप में जानने की चेष्टा करता है, तब जो मनुष्य मध्यस्थ नहीं है, वह किसी एक नय की युक्ति को सत्य मान, दूसरे नय के वक्तव्य को असत्य करार दे बैठता है । फलतः वह एक नय का पक्षधर बन जाता है । लेकिन मध्यस्थ–वृत्तिवाला, समभाववाला मुनि सभी नयों को सापेक्ष मानता है । मतलब यह कि वह प्रत्येक नय के वक्तव्य का सापेक्ष–दृष्टि से मूल्यांकन करता है । अतः वह भूलकर भी कभी ऐसा विधान नहीं करता कि 'यह नय सत्य है और वह नय असत्य है ।'

नियनियवयणिज्जसच्चा, सव्व नया परवियालगे मोहा ।
ते पूण ण दिट्ठसमश्रो विभयइ सच्चे व अलिए वा' ॥२८॥
– सम्मतितर्क

★ नयवाद : परिशिष्ट देखिए

सर्व नय अपने–अपने वक्तव्य में सत्य हैं, सही हैं । परन्तु दूसरे नय के वक्तव्य का खण्डन करते समय गलत हैं । मिथ्या हैं । अनेकान्त-सिद्धान्त के ज्ञाता पुरुष, उक्त नयों का कभी 'यह नय सत्य है और वह नय असत्य है, ऐसा विभाग नहीं करते ।'

यदि हम पारमार्थिक दृष्टि से विचार करें तो जो नय, नयान्तर सापेक्ष होता है, वह वस्तु के एकाध अंश को नहीं, अपितु सम्पूर्ण वस्तु को ही ग्रहण करता है । अतः वह "नय" नहीं बल्कि "प्रमाण" बन जाता है । नय वह है जो नयान्तर–निरपेक्ष होता है । अर्थात् अन्य नयों के वक्तव्य से निरपेक्ष अपने अभिप्राय का वक्तव्य करनेवाला 'नय' कहलाता है और इसीलिए नय मिथ्यादृष्टि ही होता है । तभी शास्त्रों में कहा गया है, '**सव्वे नया मिच्छावाइणो**' सभी नय मिथ्यावादी हैं । श्री मलयगिरिसूरीश्वरजी ने '**श्री आवश्यकसूत्र**' में कहा है :

'नयवाद मिथ्यावाद है । अतः जिनप्रवचन का रहस्य जाननेवाले विवेकशील पुरुष मिथ्यावाद का परिहार करने हेतु जो भी बोलें उसमें '**स्यात्**' पद का प्रयोग करते हुए बोलें । अनजान में भी कभी स्यात्कार रहित न बोलें। हालांकि आम तौर से देखा गया है कि लोकव्यवहार में सर्वत्र सर्वदा प्रत्यक्ष रूप में '**स्यात्**' पद का प्रयोग नहीं किया जाता । फिर भी परोक्षरुप में उसके प्रयोग को मन ही मन समझ लेना चाहिए ।

मध्यस्थ वृत्तिवाले महामुनि, प्रत्येक नय में निहित उसके वास्तविक अभिप्राय को भली–भांति समझते हैं और तभी वे उसे उस रुप में सत्य मानते हैं । 'प्रस्तुत अभिप्राय के कारण इस नय का वक्तव्य सत्य है ।' इस तरह वे किसी नय के वक्तव्य को मिथ्या नहीं मानते !

वस्तु एक है, लेकिन प्रत्येक नय इसका विवेचन / वक्तव्य अपने अपने ढ़ंग से करता है । उदाहरणार्थ हाथी और सात अन्धे ! एक कहता है "हाथी खंभे जैसा है ।" दूसरा कहता है हाथी सूपड़े जैसा है ।" तीसरा कहता है हाथी रस्से जैसा है । चौथा कहता है "हाथी ढोल जैसा है" पाँचवा कहता है "हाथी अजगर जैसा है ।" छठा कहता है "हाथी लकड़ी जैसा है" और सातवां सबको झूठा करार दे, कहता है "हाथी घड़े जैसा है ।"

सातों अन्धों की बात और परस्पर हो रहे वाद–विवाद को समीप ही खड़ा एक सज्जन चुपचाप सुन रहा है। क्या वह किसी के प्रति पक्षपात करेगा / किसी का पक्षधर बन कर क्या यों कहेगा : "अमुक सही कह रहा है और अमुक झूठ बोल रहा है ?" तनिक सोचिए, अपने दिमाग को कसिए, क्या वह यों कह सकेगा ? नहीं, हर्गिज नहीं कहेगा। अपितु मध्यस्थ भाव से कहेगा तो यह कहेगा : "भाइयों, तुम सब अपने–अपने विचार, मत के अनुसार सच कह रहे हो। क्योंकि तुम्हारे हाथ में हाथी का जो अवयव आया, उसीका तुम अपने–अपने हिसाब से वर्णन कर रहे हो ! लेकिन तुम सभी के कथन का सामूहिक रुप है हाथी !'

स्वस्वकर्मकृतावेशः स्वस्वकर्मभुजो नराः ।
न रागं नापि च द्वेषं मध्यस्थस्तेषु गच्छति ॥१६॥४॥

अर्थ : जिन्होंने अपने–अपने कर्मों का आग्रह किया है, वैसे अपने अपने कर्मो को भोगनेवाले मनुष्य हैं ! इसमें मध्यस्थ पुरुष राग नहीं करता है ।

विवेचन : राग-द्वेष की शिथिलता–स्वरुप मध्यस्थ दृष्टि प्राप्त करने के लिए जगत् के जड़–चेतन द्रव्यों को और उनके पर्यायों को सही रुप में देखना चाहिए । यदि प्रत्येक परिस्थिति को, हर एक प्रसंग को और एक एक कार्य को यथार्थ स्वरूप में देखा जाए, यानी उसके कार्य–कारण भाव को समझा जाए तो निःसंदेह राग-द्वेष की उत्पत्ति नहीं होगी ।

इस दृष्टि से केवलज्ञान के साथ वीतरागता का सम्बन्ध यथार्थ है । केवलज्ञान में विश्व के प्रत्येक द्रव्य... पर्याय, संयोग, परिस्थिति और हर कार्य, यथार्थ स्वरुप में वास्तविक कार्य–कारणभाव के रुप में दिखायी देता है। फलतः, राग-द्वेष का प्रश्न ही नहीं उठता । तात्पर्य यही है कि जैसे–जैसे विश्व के पदार्थों का यथार्थ–दर्शन होता जायेगा, वैसे–वैसे राग-द्वेष क्षीण होते जाएँगे । राग-द्वेष की तीव्रता में यथार्थ–दर्शन होना अशक्य है । वास्तव में राग-द्वेष की उत्पत्ति विश्व के अस्पष्ट एवं औंधे दर्शन से होती है ।

यहाँ पर संसारी जीवों के प्रति देखने का एक ऐसा यथार्थ दृष्टिकोण अपनाया गया है कि राग-द्वेष नष्ट हुए बिना कोइ चारा नहीं । जिस जीव के प्रति

जिन–जिन कार्य, संयोग और परिस्थिति के सन्दर्भ में राग द्वेष उत्पन्न होते हैं, वह कार्य, संयोग और परिस्थिति वगैरह, उस जीव के पूर्वकृत कर्मों के कारण होते हैं। कर्मों को उपार्जित करनेवाला वह जीव है और उनको रोते–हँसते, चीखते भोगनेवाला भी वह खुद है।

जब हम अन्य जीवों की ऐसी किसी प्रवृत्ति के साथ अपने आपको जोड़ देते हैं, तब राग-द्वेष का जन्म होता है। अन्य जीवों के समग्र जीवन और व्यक्तित्व के पीछे उसके कर्म ही कारण हैं। उपादान कारण उसकी आत्मा है और निमित्त कारण उसके अपने ही कर्म हैं। यदि यह वास्तविकता हमारे गले उतर जाए तब राग-द्वेष पैदा होने का कोइ प्रयोजन ही नहीं रहता।

किसी एक नय के आग्रही मनुष्य के प्रति भी हमें यही दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। 'मिथ्यात्व–मोहनीय' कर्म का फल यह बिचारा भोग रहा है। कर्मबन्धन खुद करता है और खुद ही उसे भोगता है। अतः हमें भला क्यों कर राग-द्वेष करना चाहिए ?

अधमाधम व्यक्ति के प्रति भी सदा यही दृष्टि अपनानी चाहिए कि 'बेचारा न जाने किन जन्मों का पाप भोग रहा है ? यह संसार ही ऐसा है। पूज्यपाद उपाध्यायजी महाराज ने 'अध्यात्मसार' में कहा है।

'निन्द्यो न कोऽपि लोके पापिष्ठेष्वपि भवस्थितिश्चिन्त्या।'

"विश्व में किसी की निंदा न करो। पापी व्यक्ति भी निंदनीय नहीं है। भवस्थिति का हमेशा विचार करो।"

पूज्यपाद श्री का 'भवस्थिति' चिंतन का आदेश सचमुच सुन्दर है। भवस्थिति का चिंतन अर्थात् चतुर्गतियुक्त संसार में निरंतर चल रहे प्रत्येक जड़–चेतन द्रव्य के पर्यायों के परिवर्तन का यथार्थ–चिंतन। साथ ही विशुद्ध आत्म–द्रव्य का भी सतत चिंतन करना चाहिए।

'स्तुत्या स्मयो न कार्यः कोपोऽपि च निन्दया जनैः।

यदि कोइ हमारी स्तुति करता है तो स्वयं अपने कर्म से प्रेरित होकर करता है। हम भला उसमें अनुराग क्यों करें ? ठीक उसी तरह, अगर कोई निंदा

करता है, तो वह भी अपने कर्म से प्रेरित होकर। उसके प्रति द्वेष क्यों रखें ? हमें तो सिर्फ यह तत्त्वज्ञान प्राप्त करना चाहिए कि जीवों पर किन कर्मों का कैसा प्रभाव पड़ता है, किस–किस कार्य के पीछे कौन से कर्म कार्यरत हैं ?' इससे मध्यस्थ दृष्टि का विकास अवश्य होता है। लेकिन प्रस्तुत दृष्टिकोण तो अन्य जड़–चेतन द्रव्यों की तरफ अपनाना है।

मनः स्याद् व्यापृतं यावत् परदोषगुणग्रहे ।
कार्य व्यग्रं वरं तावन् मध्यस्थेनात्मभावने ॥१६॥५॥

अर्थ : जब तक मन पराये दोष और गुणग्रहण करने में प्रवर्तित है, तब तक मध्यस्थ पुरुष को अपना मन आत्म–ध्यान में अनुरक्त करना श्रेष्ठ है।

विवेचन : पर–द्रव्य के गुण–दोषों का विचार करने की आवश्यकता ही क्या है ? ऐसे गुण–दोष के विचार से ही मन रागी और द्वेषी होता है। रागी–द्वेषी मन समभाव का आस्वाद नहीं ले सकता। किसी भी हालत में अपने मन को पर–द्रव्य की ओर आकर्षित ही नहीं होने देना चाहिए। मन को आत्म–स्वरूप में निमग्न करने से वह भूल कर भी पर–द्रव्य की ओर नहीं भटकता!

हमें आत्म–स्वरूप में अनुरक्तता का व्यवहारिक मार्ग खोज निकालना चाहिए। जिसे साधक आत्मा प्रयोग में ला सकें और आत्मानुभव का आंशिक स्वाद भी चख सकें।

सदागमों का अध्ययन–चिंतन, परिशीलन, अनित्यादि भावनाओं का मनन (भावन), आत्मा के स्वाभाविक–वैभाविक स्वरुप का चिंतन, नय–निक्षेप और स्याद्वादशैली का पठन–पाठन, आवरणरहित आत्मा के स्वरुप का ध्यान, आत्मभाव में तल्लीन साधुओं का समागम–सेवा और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति, अनुभव ज्ञान की प्राप्ति, स्व–कर्तव्यों के प्रति निष्ठा और सर्वत्र औचित्य का पालन, ये हैं आत्मभाव में तल्लीन होने के विविध उपाय। इनका अवलम्बन लेकर मन को समाधिस्थ किया जा सकता है! अनवरत अभ्यास के कारण समाधि में तन्मयता सिद्ध हो सकती है। फिर भी कभी–कभार मन पर–द्रव्य के प्रति आकर्षित होने की सम्भावना है। ऐसे प्रसंग पर पर–पदार्थों को देखने की विशिष्ट दृष्टि का आधार

लेना चाहिए । जीवों के प्रति मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थ दृष्टि रखना परमावश्यक है । जबकि जड़–पदार्थ के सम्बन्ध में अनित्यादि भावों का आश्रय लेना चाहिए । इस तरह मध्यस्थता को बरकरार रखी जाए, तभी मन प्रशम का सुखानुभव कर सकता है ।

पराये गुण–दोष देखने की बेचैनी का अनुभव किए बिना ऐसी गंदी आदत से मुक्त होना सरल नहीं है । पराये गुण–देखने की गंदी आदत पड़ गयी है, जिससे दृष्टि मध्यस्थ हो ही नहीं सकती । फल–स्वरूप निष्कारण ही मन किसी का पक्षपाती और किसी का कट्टर दुश्मन बनकर रह जाता है । किसी का अनुरागी तो किसी का द्वेषी ! इससे मन को दुःख होता है सो बात नहीं, बल्कि इसमें भी उसे एक प्रकार का अनोखा आनन्द मिलता है ! वह अपना कर्तव्य समझ बैठता है और खासियत यह है कि इसके बावजूद भी वह अपने आपको मुनिधर्म का अनन्य आराधक समझता है !

प्रायः प्रत्येक जीव में चेतन–द्रव्य के दोष और जड़–द्रव्य के गुण देखने की आदत होती है । वह चेतन (जीव) के दोष देख उसके प्रति द्वेष रखता है और जड़ के गुण देख उसका अनुराग करता है । जड़ माध्यम से जीव के प्रति भी वह राग-द्वेष से ग्रस्त बनता है तदुपरांत भी यह नहीं समझ पाता कि वह कोई गंभीर भूल कर रहा है । वह तो सिर्फ गुण–द्वेष देखने के हठाग्रह को मन में संजोये रखता है और विविध युक्तियों से उसे पुष्ट करता रहता है ।

इस तरह असत् तत्त्वों का आग्रह भी दूसरों के गुणदोष देखने के लिए निरन्तर प्रेरित करता है । अपनी स्थूल बुद्धि की समझ में न आने के कारण वह मोक्षमार्ग को भी गुण–दोष की दृष्टि से देखता है ! फलतः राग-द्वेष से ग्रसित हो जाता है । इन सभी विषमताओं से मुक्त होने का राजमार्ग है : 'सदा सर्वदा आत्मभाव में तन्मय होना और परायी पंचायत को तिलांजलि देना ।' 'स्व' के प्रति एकाग्रचित होना । जब तक 'पर' का विचार दिलो–दिमाग में राग-द्वेष की होली सुलगाता हो तबतक 'स्व' में लीन होना सभी दृष्टि से श्रेयस्कर है ।

'जब तक 'पर' का विचार मुझे रागी–द्वेषी और पक्षपाती बनाता है, तब तक में अपनी आत्म–साधना... आत्मभाव में तल्लीन रहूँगा ।' ऐसा मन ही मन

दृढ़ संकल्प कर, जीवन जीने का प्रयास किया जाए तो नि:संदेह मध्यस्थदृष्टि के पट खुल जाएँगे और समभाव का मनभावन संवेदन पा सकेंगे ।

विभिन्ना अपि पन्थानः समुद्रं सरितामिव !
मध्यस्थानां परं ब्रह्म प्राप्नुवन्त्येकमक्षयम् ॥१६॥६॥

अर्थ : मध्यस्थों (तटस्थ) के विभिन्न भी मार्ग, एक ही अक्षय, उत्कृष्ट परमात्म–स्वरुप में मिलते हैं ! जिस तरह नदियों के अलग–अलग प्रवाह समुद्र में मिलते हैं !

विवेचन : नदियों के प्रवाह भिन्न–भिन्न होते हैं । नदियाँ अलग–अलग मार्गों से प्रवाहित होती हैं, लेकिन आखिरकार उसके विभिन्न प्रवाह एक ही समुद्र में आ मिलते हैं, वह समुद्र से एकाकार हो जाते हैं ।

यह एक ऐसा उदाहरण है कि यदि इसके रहस्य को समझा जाए, गहरायी से इस पर विचार किया जाए तो सभी जीवों के प्रति अटूट मित्रता एवं सद्‌भाव प्रस्थापित होते देर नहीं लगती ।

कोई नदी उत्तर में बहती है, तो कोई नदी दक्षिणांचल को अपने प्रवाह से फलद्रुप बनाती है, तो कोई पूर्वांचल को सिंचते हुए उपजाऊ भूप्रदेश के रूप में परिवर्तित करती है । तो किसी नदी का प्रवाह पश्चिम किनारे को हरियाली और घनी वनराशि से सुशोभित करता, समुद्र की ओर बढता रहता है । इस तरह भिन्न–भिन्न मार्ग और विविध प्रदेशों में नदियाँ प्रवाहित होते हुए भी उनकी गति समुद्र की ओर होती है । सम्भव है, किसी नदी का पट विशाल होता है तो किसी का सीमित, किसीकी गहरायी विशेष होती है, तो किसीकी सामान्य ! किसी का प्रवाह तीव्र होता है तो किसीका मंद ! लेकिन उन सबकी मंजिल एक होती है और वह है अतल, अथाह समुद्र की मनभावन गोद ! वे अपने अस्तित्व को भुला कर समुद्र में पूर्णरूप से एकाकार हो जाती हैं ।

ठीक उसी तरह समस्त साधनाओं में, आराधनाओं में, उनकी पद्धति में भले ही विभिन्नता हों, लेकिन आखिरकार वे सभी मोक्ष–मार्ग की ओर जीव को गतिशील बनाती हैं । फिर भले ही वह अपुन–बंधक, मार्गाभिमुख, समकितधारी,

देशविरति अथवा सर्वविरति क्यों न हों । क्योंकि वे सब परमब्रह्म की ओर गतिशील हैं । फलस्वरूप, किसी के प्रति राग-द्वेष की भावना रखने का प्रश्न ही नहीं उठता । जो मध्यस्थ दृष्टिवाले होते हैं, उनकी मध्यस्थता उन्हें परम ब्रह्म–स्वरूप महोदधि में मिला देती है । तब अनायास ही आत्मा और परमात्मा का संगम हो जाता है ।

जो जीव तीव्र भाव से पाप नहीं करता, वह क्षुद्रता, लाभरति, दीनता, हीनता, तुच्छता, भय, शठता, अज्ञान, निष्फल आरम्भ आदि भवाभिनन्दी के दोषों से रहित होता है । शुक्ल–पक्ष के चन्द्र की तरह सतत तेजस्वी और वृद्धिगत ऐसे गुणों का स्वामी होता है । एक 'पुद्गल–परावर्त' काल से अधिक जिसका भव–भ्रमण नहीं है, ऐसे जीव को शास्त्रों में 'अपुनर्बंधक, कहा गया है । ठीक उसी तरह, मार्गपतित और 'मार्गाभिमुख' इसी अपुनर्बंधक, की ही अवस्थाएँ हैं। मार्ग का अर्थ है चित्त का सरल प्रवर्तन । मतलब, विशिष्ट गुणस्थानक की प्राप्ति हेतु योग्य स्वाभाविक क्षयोपशम । क्षयोपशम पानेवाले को **'मार्गपतित'** की संज्ञा दी गयी है, जबकि मार्ग में प्रवेश योग्य भाव को पानेवाली आत्मा को **'मार्गाभिमुख'** कहा गया है ।

ये सभी जीव प्रायः मध्यस्थ दृष्टिवाले होते हैं । ठीक वैसे ही समकितधारी, देशविरति और सर्वविरतिधर जीव भी मध्यस्थ दृष्टिवाले होते हैं! सर्वविरतिधारी के दो भेद हैं ! स्थविरकल्पी[1] और जिनकल्पी । वे भी तटस्थ दृष्टिवाले होते हैं । उपर्युक्त सभी तटस्थ दृष्टिवाले जीवों का एक ही लक्ष्य, एक ही साध्य परम ब्रह्मस्वरुप है और ये सब अपना विभिन्न अस्तित्व, परम ब्रह्मस्वरुप में विलीन कर देते हैं ।

कोइ भी जीव आराधना की कीसी भी भूमिका पर भले ही स्थित हो, स्थिर हो, यदि मध्यस्थ दृष्टिवाला है तो वह निर्वाण–पद का अधिकारी है । उसके लिए तुम्हारे मन में हमेशा मित्रता और प्रमोद की भावना होना आवश्यक है ।

आचार में रही भिन्नता मध्यस्थ दृष्टि में बाधक नहीं होती । ठीक वैसे ही पोशाक और वस्त्र की विविधता में मध्यस्थता बाधक नहीं है । वस्त्र और

---

१. स्थविरकल्पी जिनकल्पी का स्वरुप देखिए परिशिष्ट में

आचार के माध्यम से किसी जीव की योग्यता अयोग्यता का मूल्यांकन दोषपूर्ण होता है, जबकि मध्यस्थ दृष्टि के माध्यम से हर किसी की योग्यता–अयोग्यता अपने आप सिद्ध हो जाती है। केवलज्ञान के अथाह, अतल महोदधि में मध्यस्थता की विभिन्न धाराएँ मिल जाती हैं और केवलज्ञान का स्वरुप धारण कर लेती हैं।

स्वागमं रागमात्रेण द्वेषमात्रात् परागमम् ।
न श्रयामः त्यजामो वा किन्तु मध्यस्थया दृशा ॥१६॥७॥

अर्थ : अपने शास्त्र को अनुरागवश स्वीकार नहीं करते और ना ही दूसरों के शास्त्र को द्वेषवश त्याग देते हैं। अपितु शास्त्र का मध्यस्थता की दृष्टि से स्वीकार अथवा त्याग करते हैं।

विवेचन : यहाँ परम श्रद्धेय उपाध्यायजी महाराज एक आक्षेप का प्रत्युत्तर देते हैं। आक्षेप है : "आप पक्षपात का त्याग कर मध्यस्थ–वृत्ति अपनाने का उपदेश अन्य जीवों को देते हैं। तब भला, आप अन्य दार्शनिकों के शास्त्रों को स्वीकृति प्रदान क्यों नहीं करते ? अपने ही शास्त्रों का स्वीकार क्यों करते हैं ? क्या यह राग-द्वेष नहीं है ?"

पूज्य उपाध्यायजी महाराज इस आक्षेप का प्रत्युत्तर देकर समाधान करते हैं : "स्व–सिद्धान्त का स्वीकार हम सिर्फ अनुरागवश नहीं करते, बल्कि इसकी स्वीकृति के पीछे प्रदीर्घ चिंतन एवं विशेष कारण है। ठीक वैसे ही, अन्य दर्शनों का त्याग हम किसी द्वेष के वशीभूत होकर नहीं करते, अपितु इसके पीछे भी हमारी विशिष्ट दृष्टि है। तात्पर्य यह कि किसी चीज का स्वीकार अथवा त्याग करने से राग-द्वेष सिद्ध नहीं होते। बल्कि उसका स्वीकार अथवा त्याग किस विशिष्ट दृष्टि से किया गया है, उस पर पक्षपात अथवा मध्यस्थता का निर्णय हो सकता है। मध्यस्थ दृष्टि से उसका सही मूल्यांकन कर किसी सिद्धांत का स्वीकार अथवा त्याग किया जाता है। वैसे मध्यस्थ–दृष्टि हमेशा युक्ति का अनुसरण करती है। जहाँ युक्ति–संगत लगा वहाँ झुकाव होता है। युक्तिहीन वचनों को हमेशा तज दिया जाता है। हमारा यह स्पष्ट मत है कि–

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

प्रभु महावीर के प्रति हमारे मन में कोई पक्षपात नहीं है, ना ही कपिलादि मुनियों के प्रति कोइ द्वेषभाव है । लेकिन जिनका वचन युक्तिसंगत है, वह हमारे लिए ग्राह्य है, अंगीकार करने योग्य है ।"

हमारे समक्ष दो वचन रखे जाते हैं । हम उन्हें शान्ति से सुनते हैं, उसका सही ढंग से चिंतन–मनन करते हैं और तब जो युक्तिसंगत लगे उसका सादर स्वीकार करते हैं । क्या इसे आप पक्षपात कहेंगे ? और जो वचन वाजिब न लगे, उसका परित्याग कर देते हैं । क्या इसे आप हमारा द्वेष कहेंगे ?

किसी भी वचन की युक्तियुक्तता जानने के लिए त्रिविध परीक्षा करनी पड़ती है । जिस तरह सोने को सोना मानने के लिए उसकी कसौटी करते हैं!

परिक्षन्ते कषच्छेदतापैः स्वर्णं यथा जनाः ।
शास्त्रेऽपि वर्णिकाशुद्धिः परीक्षन्तां तदा बुधाः ॥१७॥

–अध्यात्मोपनिषत्

कष–च्छेद और ताप, इन तीन प्रकार की परीक्षा से शास्त्रवचन का यथोचित मूल्यांकन करना चाहीए । जिस शास्त्र में विधि एवं प्रतिषेधों का वर्णन किया गया हो और वे परस्पर अविरुद्ध हों, तो वह 'कष' परीक्षा में उत्तीर्ण कहा जाता है । विधि और निषेध के पालन का योग–क्षेम करनेवाली क्रियायें बतायी गयी हों तो उक्त शास्त्र 'च्छेद' परीक्षा में उत्तीर्ण माना जाता हैं और उसके अनुरुप सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया हो तो उसे 'ताप' परीक्षा में उत्तीर्ण कहा जाता है ।

"न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु ।
यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु त्वामेव वीरप्रभुमाश्रिताः स्मः ॥"

हे देवाधिदेव महावीर प्रभु ! सिर्फ श्रद्धावश हमें आपके प्रति कोइ पक्षपात नहीं है । ठीक उसी तरह सिर्फ द्वेष के कारण दूसरों के प्रति अरूचि नहीं है। लेकिन यथार्थ आप्तत्व की परीक्षा से हम आपश्री का आश्रय ग्रहण करते हैं ।"

जिस तरह युक्ति के अनुसरण में मध्यस्थता रही है, ठीक उसी तरह सिद्धान्तों के दृष्टा महापुरुष की आप्तता का भी मध्यस्थ दृष्टि विचार करती है। जो वक्ता आप्तपुरुष–वीतराग है, उसका वचन / उपदेश हमेशा स्वीकार्य होता है, सर्वमान्य होता है। ठीक वैसे ही जो वक्ता वीतराग नहीं होता, उसका कथन और वचन प्रायः राग-द्वेषयुक्त होता है, अतः त्याज्य है। इस तरह मध्यस्थ दृष्टि की आलीशान इमारत आत्मा के त्याग और स्वीकार नाम के दो स्तम्भों पर टिकी हुई है।

'मध्यस्थया दृशा सर्वेष्वपुनर्बधकादिषु।
चारिसंजीविनीचारन्यायादाशास्महे हितम् ॥१६॥८॥

अर्थ : अपुनर्बंधकादि समस्त में मध्यस्थ दृष्टि से संजीवनी का चारा चराने के दृष्टांत द्वारा कल्याण की कामना करते हैं।

विवेचन : स्वस्तिमती नाम का नगर था। वहाँ दो ब्राह्मण–कन्याएँ वास करती थी। दोनों में प्रगाढ मित्रता और अनन्य स्नेहभाव था। कालान्तर से दोनों विवाहित होकर अलग–अलग स्थान पर चली गयीं। किसी समय दोनों का आगमन स्वस्तिमती नगर में स्वगृह में हुआ। प्रदीर्घ समय के पश्चात् भेंट होने पर दोनों आनन्द से पुलकित हो उठीं। लगी आपस में अपनी अपनी सुनाने। बतियाते हुए एक सहेली ने सहज ही कहा : "सचमुच मैं बहुत दुःखी हूँ, सखी, लाख प्रयत्न के बावजूद भी मेरा पति मेरी एक बात भी नहीं सुनता। हमेशा अपनी मनमानी करता है।'

"सखी, तुम निश्चिंत रहो। मैं तुम्हें ऐसी जडी–बुट्टी दूँगी कि उसके सेवनमात्र से वह तेरा हो जाएगा।' दूसरी ने कुछ सोच विचार कर कहा और उसे जडी–बुट्टी देकर वह चली गयी।

ससुराल जाकर उसने वह जडी–बुट्टी पीसकर अपने पति को खिला दी। जडी–बुट्टी खाते ही उसका पति बैल रूप में परिवर्तित हो गया! पति को बैल के रुप में देख, पत्नी को अत्यन्त दुःख हुआ। वह मन मार कर रह गयी। अब वह हमेशा उसे जंगल में चराने जाती–उसकी सेवा करती जिंदगी का बोझ

ढोने लगी ।

एक दिन की बात है ! ब्राह्मण–कन्या नित्यानुसार बैल को लेकर जंगल में गयी और एक वृक्ष के नीचे चरने के लिए उसे छोड दिया ! उस वृक्ष पर विद्याधर–युगल बैठा हुआ था ! बैल को निहार कर विद्याधर ने अपनी पत्नी से कहा : "यह स्वभाव से बैल नहीं है । लेकिन जडी–बुट्टी खिलाने से मनुष्य का बैल बन गया है ।"

विद्याधर की पत्नी विचलित हो गयी । उसे बेहद दुःख हुआ । उसमें करुणा भावना जग पड़ी ! उसने दयार्द्र होकर विद्याधर से कहा : "बहुत बुरा हुआ । क्या यह दुबारा मनुष्य नहीं बन सकता ?'

"यदि इसे 'संजीवनी' नामक जड़ी खिला दी जाए तो यह पुनः पुरुष हो सकता है और संजीवनी इसी वट वृक्ष के नीचे ही है ।" विद्याधर ने शान्त स्वर में कहा ।

जमीन पर बैठी ब्राह्मण–कन्या विद्याधर पति–पत्नी की बात सुन अत्यन्त प्रसन्न हो उठी ! उसने अपने पति 'बैल' को संजीवनी खिलाने का मन ही मन निश्चय किया ! लेकिन बदनसीब जो ठहरी ! वह 'संजीवनी' जडी–बुट्टी से पूर्णतया अपरिचित थी ! वृक्ष के नीचे भारी मात्रा में घास उगी हुई थी ! उसमें से अमुक जडी–बुट्टी ही 'संजीवनी' है, यह कैसे समझे ?

अजीब उलझन में फँस गयी वह । कुछ क्षण विचार करती रही और तब उसने मन ही मन कुछ निश्चय कर, वृक्ष तले उगी बनस्पति चरने के लिए बैल को छोड दिया ! परिणाम यह हुआ कि वनस्पति चरते ही बैल पुनः मनुष्य में परिवर्तित हो गया ! अपने पति को सामने खडा देख, उसकी खुशी की कोई सीमा न रही !

तात्पर्य यह है कि जीव भले ही अपुनर्बंधक हो, मार्ग–पतित या मार्गाभिमुख, समकितधारी, देशविरति या सर्वविरति साधु हो ! यदि उसे मध्यस्थ भाव–आत्मानुकूल समभाव की जडी–बुट्टी खिलादी जाएँ, तो अनादि परभाव की परिणतिरुप पशुता खत्म हो जाएँ और वह स्वरुपविषयक ज्ञान में कुशल भेदज्ञानी पुरुष बन जाए । मध्यस्थ वृत्ति इस प्रकार हितकारी सिद्ध होती है । लेकिन उसके

लिए कदाग्रह का त्याग किये बिना कोई चारा नहीं । वास्तविकता यह है कि असद् आग्रह जीव को पतन की गहरी खाई में फेंक देता है ।

व्रतानि चीर्णानि तपोऽपि तप्तं
कृता प्रयत्नेन च पिण्डविशुद्धिः ।
अमूत्फलं यत्तु न निह्नवानां,
असद्ग्रहस्यैव हि सोऽपराधः ।

"व्रत, तप, विशुद्ध, भिक्षावृत्ति... क्या नहीं था ? सब था ? परन्तु वह निह्नवों के लिये निष्फल गया । क्यों भला ? असद् आग्रह के अपराध के कारण !" अतः असद् आग्रह का परित्याग कर मध्यस्थ दृष्टिवाले बनना चाहिए।

आमे घटे वारि भृतं यथा सद्, विनाशयेत्स्वं च घटं च सद्यः ।
असद्ग्रहग्रस्तमतेस्तथैव, श्रुतप्रदत्तादुभयोर्विनाशः ॥

"यदि मिट्टी के कच्चे घडे में पानी भर दिया जाए तो ? घडा और पानी दोनों का नाश होता है ! ठीक उसी भाँति असद् आग्रही जीव को श्रुतज्ञान दिया जाए तो ? निःसंदेह ज्ञान और उसे ग्रहण करनेवाला—दोनों का विनाश होते देर नहीं लगेगी । असद् आग्रह का परित्याग कर, मध्यस्थ दृष्टिवाले बन, परम तत्त्व का अन्वेषण करना चाहिए । तभी परम हित होगा ।

● ● ●

१७. निर्भयता

जहाँ भय वहाँ अशान्ति चिरस्थायी है ! अत: निर्भय बनो । निर्भयता में असीम शान्ति है और अनिर्वचनीय आनन्द भी ! भयभीतता की धू–धू जलती अग्नि से बाहर निकलने के लिए तुम्हें प्रस्तुत प्रकरण अवश्य पढना चाहिए ।

तुम्हारा मुखमण्डल, निर्भयता की अद्‌भुत आभा से देदीप्यमान, परम तेजस्वी दृष्टिगोचर तो होगा ही, साथ ही जीवन से निराशा छू–मंतर हो जाएगी !

सुख के अनेक साधन उपलब्ध होने पर भी, यदि तुम्हारे मन में भय होगा तो तुम दु:खी ही रहोगे । सुख के साधन कोई काम के नहीं रहेंगे ।

निर्भयता ही सच्चे सुख की जननी है ।

यस्य नास्ति परापेक्षा स्वभावाद्वेतगामिनः ।
तस्य किं न भयभ्रान्ति–क्लान्ति, सन्ततानवम् ? ॥१७॥१॥

अर्थ : जिसे दूसरे की अपेक्षा नहीं है और जो स्वभाव की एकता को प्राप्त करनेवाला है, उसे भय की भ्रान्ति से हुए खेद की परम्परा की अल्पता क्यों न होगी ?

विवेचन : क्या तुमने कभी सोचा है कि तुम्हारे जीवन–गगन में भय के बादल किस कारण घिर आये हैं ? क्या कभी विचार किया है कि भय का भ्रम किस तरह पैदा होता है ? अनेक प्रकार के भय से तुम दिन–रात... अशान्त और संतप्त हो, फिर भी कभी यह सोचने का कष्ट नहीं उठाते कि वह क्या है, जिसकी वजह से तुम भयाग्नि में धूं–धूं जल रहे हो ।

क्या तुम्हारी यह आन्तरिक इच्छा है कि सदा के लिए तुम भयमुक्त हो जाओ ? तुम्हारे निरभ्र जीवन–गगन में निर्भयता का सूर्य प्रकाशित हो और तुम उसी प्रकाश–पुंज के सहारे निर्विघ्नरूप से मोक्षमार्ग पर चल पडो ! ऐसी झंखना, आकांक्षा है क्या तुम्हारे मन में ? पूज्यपाद उपाध्यायजी महाराज ने भयमुक्त होने के लिए दो उपाय सुझाये हैं :

पर–पदार्थों की उपेक्षा

स्व–भाव । अद्वैत की अपेक्षा !

भय–भ्रान्त अवस्था का निदान भी पूज्यश्री के इसी कथन से स्पष्ट होता है ।

पर–पदार्थों की अपेक्षा !

स्वभाव–अद्वैत की उपेक्षा !

आइए, हम इस निदान को विस्तार से समझने का प्रयत्न करें !

"पर-पदार्थ यानि आत्मा से भिन्न... दूसरी वस्तु ! जगत में ऐसे पर–पदार्थ अनंत हैं ! अनादिकाल से जीव इन्हीं पर–पदार्थों के सहारे जीवित रहने का अभ्यस्त हो गया है । अरे, उसकी ऐसी दृढ मान्यता बन गई है कि, 'पर–पदार्थों की अपेक्षा से ही जीवित रह सकते हैं ! शरीर वैभव, सम्पत्ति, स्नेही–स्वजन, मित्र–परिवार, मान–सन्मान और इनसे सम्बन्धित पदार्थों की स्पृहा, ममत्व और रागादि से वह बार–बार भयाकान्त बन जाता है ।

"इनकी प्राप्ति कैसे होगी ? और नहीं हुई तो ? मैं क्या करूँगा ? मेरा क्या होगा ? मुझे कौन पूछेगा ? यह... नहीं सुधरेगा तो ? यदि बिगड गया तब क्या होगा... ?" आदि असंख्य विचार उनके मस्तिष्क में तूफान पैदा करते रहते हैं ।

पर–पदार्थों के अभाव में अथवा उनके बिगड़ जाने की कल्पना मात्र से जीव को दु:ख के पहाड़ टूट पडने जैसा आभास होता है । वह भयाकुल हो काँप उठता है ! उसका मन निराशा की गर्त में फंस जाता है ! वह खिन्न हो उठता है ! मुख–मण्डल निस्तेज हो जाता है ! पर–पदार्थों के आस–पास चक्कर

काटने में वह अपने आत्म स्वभाव को पूर्णतया भूल जाता है। आत्मा की सरासर उपेक्षा करता रहता है। परिणाम यह होता है कि वह आत्म–स्वभाव और उसकी लीनता की घोर उपेक्षा कर बैठता है ! ऐसी अवस्था में भयाक्रांत नहीं होगा तो भला क्या होगा ?

इसीलिए ज्ञानी पुरुषों ने आदेश दिया है कि पर–पदार्थों की अपेक्षा वृत्ति को हमेशा के लिए तिलांजलि दे दो ! आत्म–स्वभाव के प्रति रहे उपेक्षाभाव को त्याग दो ! भयभ्रान्त अवस्था की विवशता, व्याकुलता और विषाद को नामशेष कर दो ! इतना करने से हमेशा के लिए तुम्हारे मन में घर कर बैठी पर–पदार्थों की–अपेक्षावृत्ति खत्म हो जाएगी। परपदार्थों के अभाव में तुम दु:खी नहीं बनोगे, निराश नहीं होंगे ! फल यह होगा कि तुम्हारे रिक्त मन में आत्म–स्वभाव की मस्ती जाग पड़ेगी ! भय के परिताप से दग्ध मस्तिष्क शान्त हो जाएगा ! निर्भयता की खुमारी और विषयविराग की प्रभावी अभिव्यक्ति हो जाएगी ! भय की आँधी थम जाएगी और जीवन में शारदीय रात की शीतलता एवं धवल ज्योति रूप निर्भयता का अविरत छिड़काव होने लगेगा।

भवसौख्येन किं भूरिभयज्वलनभस्मना ।
सदा भयोज्झितज्ञान–सुखमेव विशिष्यते ॥१७॥२॥

अर्थ : असंख्य भयरुपी अग्नि–ज्वालाओं से जलकर राख हो गया है, ऐसे सांसारिक सुख से भला क्या लाभ ? प्राय: भयमुक्त ज्ञानसुख ही श्रेष्ठ है।

विवेचन : सांसारिक सुख ? भस्म से अधिक कुछ नहीं, राख है राख ! भय की प्रचंड अग्नि–ज्वालाओं से प्रगटी राख है ! ऐसे तुच्छ और हीन सांसारिक सुख से, राख जैसे संसार–सुख से भला, तुम्हें क्या लेना–देना ?

संसार का सुख यानी शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का सुख ! ये सब संसार–सुख के अनेकविध रूप हैं। इसके असंख्य प्रकार के रुपों को तुम्हारी अपनी चर्म–चक्षुओं से निहारते हुए राख कहीं नजर नहीं आएगी ! वल्कि राख को राख समझने–देखने के लिए सुखों का पृथक्करण करना होगा। तभी तुम उसे वास्तविक स्वरुप में देख पाओगे, समझ पाओगे।

भय, सचमुच क्या आग लगती है ? यदि तुम भय को ज्वालामुखी समझोगे तभी 'संसार–सुख राख है', यह बात समझ पाओगे । अतः सर्वप्रथम भय को अग्नि समझना, मानना और अनुभव करना होगा । भय का क्षणिक स्पर्श भी हृदय को झुलसा देता है । जानते हो न, झुलसने से जो असह्य वेदना होती है, उसको सहना अति कठिन होता है ।

भय का स्पर्श कब होता है, भयाग्नि कब धधक उठती है, इससे क्या तुम भलि–भांति परिचित हो ? जहाँ संसार–सुख की अभिलाषा का उदय हुआ, उसका उपभोग करने की अधीरता पैदा हुई कि भयाग्नि सहसा धधक उठती है। परिणामतः उपभोग के पूर्व ही संसार–सुख जलकर राख हो जाता है और तब, जिस तरह छोटे बच्चे शरीर पर राख मलकर मगन हो नाचते हैं किल्लोल करते हैं, उसी तरह तुम भले ही संसार–सुख की भस्म बदन पर मलकर खुश हो जाओ ! लेकिन मिलनेवाला कुछ भी नहीं ! मिलेगी तो सिर्फ राख ही मिलेगी !

संसार के हर सुख के ऊपर असंख्य भयों के भूत मंडरा रहे हैं । रोग का भय, लूटे जाने का भय, विनाश और विनिपात का भय, चोर का भय, मान–अपमान का भय, समाज का भय, सरकार का भय ! यहाँ तक की भव–भ्रमण का भी भय । भय के सिवाय इस दुनिया में है ही क्या ? अतः सुज्ञ व्यक्ति को भूलकर भी कभी एसे सुख की अपेक्षा, कामना नहीं करनी चाहिए, कि जहाँ भयाग्नि का भाजन बनने की सम्भावना है ।

विश्व में सुख के अनंत प्रकार हैं । लेकिन सिर्फ 'ज्ञानसुख' ऐसा एकमेव सुख है, जिसे भयाग्नि कभी स्पर्श नहीं कर सकती ! तब उसे जलाने का सवाल ही नहीं उठता है । ज्ञानसुख को भयाग्नि भस्मीभूत नहीं कर सकती ! भय के भूत उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकते और ना ही भय की आँधी उसे अपने गिरफ्त में ले सकती है ।

ज्ञान की विश्व–मंगला वृष्टि से आत्मप्रदेश पर सतत प्रज्वलित विषय–विषाद की भीषण अग्नि शान्त हो जाती है और सुख–आनन्द के अमर पुष्प प्रस्फुटित हो उठते हैं ! अपने मनोहर रूप–रंग से प्राणी मात्र का मन मोह लेते हैं ! उन पुष्पों की दिव्य सौरभ से मन में ब्रह्मोन्मत्तता, कण्ठ में अलख का कूजन

और यौवन में अलख की बहार आ जाती है। सारा वातावरण अद्‌भुत–रम्य बन जाता है और अलख की धडकन से हृदय सराबोर हो उठता है।

पामर जीव को परमोच्च और रंक को वैभवशाली बनाने की अभूतपूर्व शक्ति 'ज्ञानसुख' में है। आत्मा के अतल उदधि की अगाधता को स्पर्श करने की अनोखी कला 'ज्ञानसुख' में है। जबकि ऐसी अगम्य शक्ति और कला संसार–सुख में कतइ नहीं है। अतः संसार–सुख की तुलना में ज्ञानसुख शत–प्रतिशत प्रभावशाली और अद्वितीय है। मतलब, ज्ञान से ही जब परम सुख और अवर्णनीय आनन्द की प्राप्ति हो जाएगी, तब संसारसुख अपनेआप ही भस्म–सा लगेगा।

न गोप्यं क्वापि नारोप्यं हेयं देयं च न क्वचित्।
क्व भयेन मुनेः स्थेयं ज्ञेयं ज्ञानेन पश्यतः ? ॥१७॥३॥

अर्थ : जानने योग्य तत्त्व को स्वानुभव से समझते मुनि को कोई कहीं छिपाने जैसा अथवा रखने जैसा नहीं है। ना ही कहीं छोड़ने योग्य है ! तब फिर भय से कहाँ रहना है ? अर्थात् मुनि के लिए कहीं पर भी भय नहीं है।

विवेचन : हे मुनिवर ! क्या आपने कुछ छिपा रखा है ? क्या आपने कोई वस्तु कहाँ रख छोडी है ? क्या आपने कोई चीज जमीन में दबा रखी है ? क्या आप को कुछ छोड़ना पड़े ऐसा है ? क्या आपको कुछ देना पडे ऐसा है ? फिर भला, भय किस बात का ?

मुनिश्रेष्ठ ! आप निर्भय हैं ! आपको निर्भय बनानेवाली ज्ञानदृष्टि है ! ज्ञानदृष्टि से विश्वावलोकन करते हुए तुम निर्भयता की जिंदगी बसर कर रहे हो ?

जहाँ ज्ञानदृष्टि वहीं निर्भयता ! समस्त सृष्टि को जानना है राग-द्वेष किये बिना ! जगत की उत्पत्ति, विनाश और स्थिति को जानना–देखना यही ज्ञानदृष्टि कहलाती है। जब तुम ज्ञानदृष्टि के सहारे सारे संसार को देखोगे तब राग-द्वेष और मोह का कहीं नामोनिशान नही होगा। यदि विश्वावलोकन में किंचित् भी राग-द्वेष और मोह का अंश आ गया तो समझ लेना चाहिए कि जो अवलोकन कर रहे हैं वह ज्ञानदृष्टि से युक्त नहीं है, बल्कि ज्ञानदृष्टि–विहिन है और है अज्ञान से

परिपूर्ण ।

मारे क्रोध से राजा की आँखें लाल–सुर्ख हो रही थीं, नथूने फूल रहे थे, हाथ काँप रहे थे और मुखमण्डल कोप से खिंचा हुआ था । पाँव पछाडता राजा झांझरिया मुनिवर की ओर लपक पडा था, मुनिवर की हत्या करने के लिए ! लेकिन क्षमाशील झंझरिया मुनिवर ने इस घटना को किस रूप में लिया और किस रूप में उसका मूल्यांकन किया ? नहीं जानते, तो जान लो । उन्होंने इस घटना को सहज में ही लिया और ज्ञानदृष्टि से उसका मूल्यांकन किया । उनके मन में राजा के प्रति न रोष था, ना कोप ! उन्हें अपने तन–बदन पर मोह ही नहीं था ! उन्होंने इस घटना पर विचार करते हुए मन ही मन सोचा : "राजा भला, मेरा क्या लूटनेवाला है ? उसकी तलवार का और रोष का डर किस लिये ? मैंने कुछ छिपा नहीं रखा है । जो है सबके सामने है और फिर शरीर का मोह कैसा ? वह तो विनाशी है । कभी न कभी नष्ट होगा ही ! तलवार का प्रहार जब शरीर पर होगा तब मैं परमात्मध्यान में मग्न हो जाऊँगा, समता–समाधिस्थ बन जाऊँगा ! तब मेरे लूटे जाने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता !" फलतः मुनिवर निर्भयता की परम ज्योति के सहारे परम ज्योतिर्मय बन गये ।

जब तक तुम कुछ छिपाना चाहते हो, सौदे बाजी करने में खोये रहते हो, किसी बात को गोपनीय रखना चाहते हो, तब तक तुम्हारे मन में सदैव भय की भावना, भयाकान्तता बनी रहेगी और यही भावना तुम्हारी मोक्षाराधना के मार्ग में रोड़ा बनकर नानाविध मानसिक बाधाएँ अवरोध पैदा करती हैं ! अतः इसे मिटाने के लिए ज्ञानदृष्टि का अमृत–सिंचन करना चाहिए । तभी मोक्ष–पथ की आराधना सुगम और सुन्दर बन सकती है ।

विश्व में कुछ छिपाने जैसा नहीं है !

विश्व में लेन–देन करने जैसा कुछ नहीं है !

विश्व में संग्रह करने जैसा कुछ नहीं है !

इन तीन बातों पर गहराई से चिंतन–मनन कर गले उतारना है, हृदयस्थ करना है । परिणामस्वरूप भय का कहीं नामोनिशान नहीं रहेगा । सर्वत्र अभय का मधुरनाद सुनायी देगा । मुनिमार्ग निर्भयता का राजपथ है । क्योंकि वहाँ छिपाने

जैसा, गुप्त रखने जैसा कुछ भी नहीं है। जड़ पदार्थों का ना ही वहाँ लेन-देन करना है, ना ही भौतिक पदार्थों का संग्रह करना है।

हे मुनिवर ! आपकी आत्मा के प्रदेश–प्रदेश पर निर्भयता की मस्ती उल्लसित है ! उसकी तुलना में स्वर्गीय मस्ती भी तुच्छ है।

एकं ब्रह्मास्त्रमादाय निघ्नन् मोहचमूं मुनिः !
बिभेति नैव संग्रामशीर्षस्थ इव नागराट् ॥१७॥४॥

अर्थ : ब्रह्मज्ञान रूपी एक शस्त्र धारण कर, मोहरूपी सेना का संहार करता मुनि, संग्राम के अग्रभाग में ऐरावत हाथी की भांति भयभीत नहीं होता है।

विवेचन : भय कैसा और किस बात का ? मुनि और भय ? अनहोनी बात है ! मुनि के पास तो 'ब्रह्मज्ञान' का शस्त्र है ! इससे वह सदा–सर्वदा निर्भय होता है।

मुनि यानी घनघोर युद्ध में अजेय शक्तिशाली मदोन्मत्त हाथी ! उसे भला पराजय का भय कैसा ? उसे शत्रु का कोइ हुंकार या ललकार भयाक्रान्त नहीं कर सकता।

मोह–रिपु से सतत संघर्षरत रहते हुए भी मुनि निर्भय और निश्चल होता है। ब्रह्मास्त्र के कारण वह नित्यप्रति आश्वस्त और निश्चित है ! मोह–सेना की ललकार और उत्साह को क्षणार्ध में ही मटियामेट करने की मुनिराज की योजना 'ब्रह्मास्त्र'की सहायता से सांगोपांग सफल होती है। मदोन्मत्त मोह–सेना, मुनिराज के समक्ष तृणवत् प्रतीत होती है। फिर भी उसकी हलचल, प्रयत्न और आवेग कुछ कम नहीं होते।

महाव्रत–पालन में सांगोपांग सफलता, सार्वत्रिक समता, विश्वमैत्री की भव्य भावना और इन सबकी सिरमौर–सदृश परमात्म–भक्ति ! साथ ही आज्ञा–पालन, मुनिराज की शक्ति में निरंतर विद्युत–संचार करते रहते हैं। उनके मुखमण्डल पर एक अद्‌भुत खुमारी दृष्टिगोचर होती है। वह खुमारी होती है निर्भयता की, शत्रु पर विजयश्री प्राप्त करने की असीम श्रद्धा की।

मुनिवर दो प्रकार के युद्ध में सावधान होते हैं ! 'ओफन्सिव' और डिफेन्सिव' (OFFENSIVE AND DIFFENSIVE) ! शत्रु पर आक्रमण कर उसे धराशायी करने के साथ–साथ वह स्व–सम्पत्ति का संरक्षण भी करते हैं । ठीक उसी तरह किसी अन्य मार्ग से शत्रु घुसपैठ कर लूट–मार न मचा दे, इसकी पूरी सावधनी भी बरतते हैं ।

मुनि उपवास, छठ्ठ अट्ठमादि उग्र तपश्चर्या करते हैं । यह भी मोहरिपु के खिलाफ एक जंग है, जो समय–समय पर खेलते रहते हैं । लेकिन फिर भी मुनिराज को अपने जाल में फंसाने के प्रयत्नों में मोहराजा भी कोई कसर नहीं रखता ! 'आहार संज्ञा' के मोर्चे पर मुनिराज को लडता छोड दूसरी ओर से वह उनके क्षेत्र में अभिमान और क्रोध के सुभटों को छद्मवेश में घुसा देता है ! लेकिन मुनि भी इतने सीधे सादे और भोले नहीं हैं ! मोहराजा सेर हैं तो मुनिवर सव्वासेर जो ठहरे ! वे 'डिफेन्सिव' जंग में भी निपुण होते हैं । अतः तपश्चर्या करते समय वो क्रोध ओर अभिमान से हमेशा दूर रहते हैं । मोहराज के इन सुभट–द्वय को वे अपने पास फटकने नहीं देते !

ब्रह्मास्त्र की सहायता से महामुनि रणक्षेत्र में रणसिंघा फुंक मोहरिपु की विराट सेना को मार–काट करते हुए, लाशों को रौंदते हुए आगे बढ जाते हैं ! बेचारा मोह ! सारी दुनिया को अपनी अंगुली के इशारे पर नचाता है, लेकिन मुनिवर का वह बाल भी बाँका नहीं कर सकता ! वह निस्तेज, अशक्त और निर्जीव सिद्ध होता है ! मुनि राज की निर्भयता और अजेयता के आगे उसका कुछ नहीं चलता !

हमेशा एक बात याद रखो ! शत्रु की कैसी भी घेरेबन्दी क्यों न हो ? तुम सदा निर्भय बने रहो ! ब्रह्मज्ञान का हथियार हाथ में रहने दो ! उसे अपने से अलग न करो ! उसे छीनने के लिए शत्रु लाख प्रयत्न करेगा, शाम, दाम, दण्ड और भेद का आधार लेगा, तुम्हें प्रलोभन दिखाकर बहकाने का प्रयत्न करेगा। लेकिन सावधान ! हथियार हाथ से चला न जाए ! मुनि को इसकी पूरी सावधानी बरतनी चाहिए । फिर भय का प्रश्न ही नहीं उठेगा !

मयूरी ज्ञानदृष्टिश्चेत् प्रसर्पति मनोवने ।
वेष्टनं भयसर्पाणां न तदानन्दचन्दने ॥१७॥५॥

अर्थ : यदि ज्ञानदृष्टि रूपी मयूरी मनरूपी उपवन में स्वच्छंद रूप से केलि क्रीडा करती है तो आनन्द रुपी बावना-चंदन के वृक्ष पर भयरुपी साँप लिपटे नहीं रहते ।

विवेचन : 'मन' बावना-चंदन का उपवन है ।

'आनन्द' बावना-चंदन का वृक्ष है ।

'भय' भयंकर सर्प है ।

'ज्ञानदृष्टि' उपवन में किल्लोल करती, मीठी कूक से सब के चित्त–प्रदेश को हर्षोत्फुल्ल करती मयूरी है !

मुनिवर का मन यानी बावना चंदन का अलबेला उपवन ! बहाँ सर्वत्र सौरभ ही सौरभ ! जहाँ दृष्टि पडे वहाँ सर्वत्र चंदन के वृक्ष ! एक नहीं अनेक ! और वह भी सामान्य चंदन के नहीं, बल्कि बावना चंदन के वृक्ष ! जहाँ नजर पडे वहाँ आनन्द ही आनन्द !

मुनिवर का मन यानी आनन्द–वन ! उस आनन्द वन में मयूरी की मीठी कूक होती है । उस मयूरी का नाम है ज्ञानदृष्टि ! फिर भला, वे भय–सर्प चंदनवृक्ष से कैसे लिपट सकते हैं ?

मुनि–जीवन के लिए ज्ञान–दृष्टि महत्त्वपूर्ण है । ज्ञानदृष्टि के बल पर ही मुनि निर्भय रह सकता है । साथ ही उसके सान्निध्य में आत्मानन्द की अनुभूति हो सकती है ।

ज्ञानदृष्टि का मतलब है ज्ञान की दृष्टि... सम्यग्ज्ञान की दृष्टि । जगत् के पदार्थ और उसके प्रसंगों को ज्ञान–परिपूर्ण दृष्टि से देखना है, परखना है और अवलोकन करना है । इस तरह की दिव्य–दृष्टि जीव को अनादि काल से आज तक नहीं मिली है ! अत: वह जो कुछ देखता है, परखता है, समझता है और जिसके सम्बन्ध में चिंतन-मनन करता है, वह सब रागदृष्टि से या द्वेषदृष्टि से करता

है । फलतः कर्म–बन्धनों के मजबूत जाल में खुद होकर फँस जाता है । जबकि ज्ञान–दृष्टि में राग और द्वेष का सर्वथा अभाव होता है । ज्ञानदृष्टि यानी मध्यस्थ दृष्टि ! ज्ञानदृष्टि यानी यथार्थ दृष्टि !

अनादिकालीन अज्ञानपूर्ण कल्पना, मलिन पद्धति और मिथ्या वासना का अवलम्बन कर सृष्टि को निरखने और परखने में भय रहता ही है । फलतः निर्भयता नहीं मिलती है । एक उदाहरण से समझें इस बात को । शरीर रोगग्रस्त हो गया, अज्ञानी मनुष्य इससे भयभीत हो उठेगा । मलिन विचारवाला रोग को मिटाने के लिए गलत उपायों का अवलम्बन करेगा । मिथ्यावासनावाला शरीर में रहे रोग की चिंता में अपनी शान्ति खो बैठेगा और तब भय–सर्प उसके आनन्द–वृक्षों से लिपट जाएँगे । मन–वन में भय–सर्पों की भरमार हो जाएगी !

लेकिन ज्ञानदृष्टि–मयूरी की सुरीली कूक सुनायी पडते ही भय–सर्पों को छठी का दूध याद आ जाएगा और जहाँ राह देखेंगे वहाँ भागते देर नहीं लगेगी ! रोगग्रस्त शरीर की नश्वरता, उसमें रही रोग–प्रचुरता और ज्ञानदृष्टि ही कराती है । साथ ही, आत्मा और शरीर का भेद भी समझाती है । जबकि आत्मा की शाश्वतता, उसकी सम्पूर्ण निरोगिता और शुद्ध स्वरूप की ओर हमारा ध्यान भी केन्द्रित करती है । 'रोग का कारण पाप–कर्म हैं,' का निर्दश कर, पाप–कर्मों को नष्ट करने हेतु पुरुषार्थ कराती है । सनत्कुमार चक्रवर्ती का शरीर एक साथ सोलह रोगों (मतान्तर से सात महारोग) का शिकार बन गया ! लेकिन उनका मन–उपवन नित्यप्रति ज्ञान–दृष्टि रुपी मयूरी की मीठी कूक से गुंजारित था ! अतः उसने समस्त रोगों के मूल कर्म–बन्धनों को काटने का भगीरथ पुरुषार्थ किया । सात सौ वर्ष तक कर्मों के साथ भिडते रहे, उनका सफल सामना करते रहे । उसका कारण था ज्ञानदृष्टि से उन्हें मिली निर्भयता और अभय–दृष्टि ! वे अपने उद्देश्य में सफल हुए । हमारे प्रयत्न ऐसे हों कि सदा–सर्वदा हमारे मन–वन में ज्ञान–दृष्टि रुपी मयूरी की सुरीली ध्वनि गूंजती रहे ।

कृतमोहास्त्रवैफल्यं ज्ञानवर्म बिभर्ति यः !
क्व भीस्तस्य क्व वा भंग कर्मसंगरकेलिषु ॥१७॥६॥

अर्थ : जिस ने मोहरुपी शस्त्र को निष्फल बना दिया है, ऐसा ज्ञानरूप

कवच धारण किया है, उसको कर्म–संग्राम की क्रीडा में भय कैसा और पराजय भी कैसे सम्भव है ?

विवेचन : कर्मों के खिलाफ संग्राम !

संग्राम खेलनेवाले हैं मुनिराज !

मुनिराज इस संग्राम में पूर्णतया निर्भय और अजेय हैं ! भय का कहीं नामोनिशान नहीं और पराजय की गन्ध तक नहीं !

कर्म के सनसनाते मोहास्त्रों की बौछार होने पर भी मुनिवर के मुखारविंद पर भय की रेखा तक नहीं, बल्कि मंद–मंद स्मित बिखरा है । मन में अदम्य मस्ती है और युद्ध का अपूर्व उल्लास है ।

जिन मोहास्त्रों का सामना करते हुए तिस्मारखाँ की भी धिग्धी बन्ध जाएँ, बड़े–बड़े राजा–महाराजाओं के चक्के छूट जाएँ और बड़े बड़े पहलवानों के दिल दहल जाएँ, धरती को कम्पायमान करनेवाले रथी–महारथी सुध–बुध खो बैठें, ऐसे तीक्ष्ण मोहास्त्रों की मार के बावजूद मुनिवर अटल–अचल और धीर–गंभीर खडे रहते हैं ! आश्चर्य की बात ही है ! यदि उनकी इस अडिग वृत्ति और निश्चलता का रहस्य जानना हो तो, तनिक निकट जाइए ! उन्हें एक नजर देखिए ! तब तुम्हारी शंका कुशंकाओं का निराकरण होते विलम्ब नहीं लगेगा !

मुनिराज का कवच तो देखो ! वह लोहे का नहीं, कछुए की खाल का नहीं और ना ही किसी रासायनिक अथवा 'प्लेस्टिक' का है । वह कवच है ज्ञान का ! ज्ञान–कवच !

हाँ, उन्होंने ज्ञान–कवच धारण कर रखा है । कर्म लाख प्रयत्न करें, अपने पास रहे मोहास्त्रों का भण्डार खाली कर दें, लेकिन ज्ञान–कवच के आगे सब निष्फल है ! वैशाली की नगरवधु रूपसुंदरी कोशा के यहाँ महायोगी स्थुलभद्रजी इसी ज्ञान–कवच को धारण कर बैठे थे ! दीर्घावधि तक मोहास्त्रों की बौछार... शस्–संधान होता रहा, लेकिन कोई असर नहीं हुआ । मुनिराज निर्भय थे । परिणामस्वरुप उन्हें पराजय का सामना न करना पडा । बल्कि विजयश्री की भेरी बजाते वे बहार निकल आये ।

अत: हमेशा ज्ञान–कवच सम्हाल कर रखना चाहिए । भूलकर भी कभी दीवार पर टांगने की मूर्खता की, अलमारी में बन्ध कर दिया और इधर एकाध मोहास्त्र कहीं से आ टपका तो काम तमाम होते देर नहीं लगेगी ! ज्ञान–कवच कस कर बांधे रखिए ! जानबूझ कर ज्ञान–कवच दूर मत करो ! वह दूर सरक नहीं जाये–इसलिये सावधान रहें । चूंकि कभी–कभी वह कवच सरक कर गिर जाता है !

- इन्द्रियाधीनता
- गारव (रसादि)
- कषाय (क्रोधादि)
- परिषह–भीरूता

इन चारों में से एकाध के प्रति भी तुम्हारे मन में प्रेम पैदा होने भर की देर है ! कि ज्ञान–कवच सरक ही जाएगा और मोहास्त्र का जबरदस्त वार तुम्हारे सीने को छिन्न भिन्न कर देगा ! तुम पराजित हो, धराशायी हो जाओगे ।

संवेग–वैराग्य और मध्यस्थदृष्टि को विकसित–विस्तारित करनेवाले शास्त्र–ग्रन्थों का नियमित रूप से पठन–पाठन, चिंतन–मनन और परिशीलन करते रहो ! तुम्हारी जीवन–दृष्टि को उसके रंग में रंग दो !

तूलवल्लघवो मूढा भ्रमन्त्यभ्रे भयानिलैः ।
नैकं रोमापि तैर्ज्ञानगरिष्ठानां तु कम्पते ॥१७।७॥

अर्थ : आक की रूई की तरह हलके और मूढ ऐसे लोग भय रुपी वायु के प्रचंड झोंके के साथ आकाश में उडते हैं, जबकि ज्ञान की शक्ति से परिपुष्ट ऐसे सशक्त महापुरुषों का एकाध रोंगटा भी नहीं फडकता ।

विवेचन : प्रचंड आँधी आने पर तुमने आकाश में धूल के गुब्बारे उडते देखे होंगे ? कपड़े और घास–फूंस के तिनके उडते देखे होंगे ? लेकिन कभी मनुष्य को उडते देखा है ? हाँ, बड़े–बड़े, भारी–भरकम मनुष्य जैसे मनुष्य भी उड जाते हैं ! वायु के झंझावाती झोंके उन्हें आकाश में उडा ले जाते हैं और

जमीन पर पटक देते हैं ।

अच्छी तरह पहचान लो इस प्रचण्ड पवन को ।

इसका नाम भय है !

जिस तरह आँधी की तीव्र गति में आक की रूई उडकर आकाश में निराधार उडती रहती है, ठीक उसी तरह भय के भयंकर तूफान का भोग बन मनुष्य भी ऊपर उडकर यहाँ–वहाँ भटकता रहता है । आश्रय के लिए आकुल–व्याकुल हो जाता है । विकल्पों की दुनिया में निरर्थक चक्कर काटता रहता है, बिना किसी आधार, निराधार निराश्रय बनकर ! भय की आहट मात्र से मनुष्य उडने लगता है !

और भय भी एक प्रकार का नहीं बल्कि अनेक प्रकार के हैं : रोग का भय, बेइज्जत होने का भय, धन–सम्पत्ति चले जाने का भय, समाज में लांछित–अपमानित होने का भय और परिवार बिगड़ जाने का भय ! ऐसे कई प्रकार के भय का पवन सनसनाने लगता है और मूढ मनुष्य अपनी सारी सुध–बुध खोकर बावरा बन, उडता चला जाता है ! उसके मन में न स्थैर्य होता है और ना ही शान्ति !

जबकि मुनिराज ज्ञान के भार से प्रबल भारी होते हैं ! सत्त्वगुण का भार बढ़ता जाता है और तभी रजोगुण का भार नहिवत् हो जाता है ।

हिमाद्रि सदृश ज्ञानी पूरूषों का रोंगटा तक नहीं फडकता, भले ही फिर प्रचंड आँधी और तूफान से सारी सृष्टि में ही क्यों न उथल–पुथल हो जाएं ! ज्ञानी पुरुष नगाधिराज हिमालय की भाँति संकटकाल में सदा अजेय, अटल, अचल और सदा निष्प्रकम्पित ही रहते हैं । झांझरिया मुनि को लांछित करने हेतु निर्लज्ज नारी ने उनके पाँव में पैंजन पहना दिया और उनके पीछे हाथ धोकर पड़ गयी ! जब अपनी मनोकामना पूरी होते न देखी तब सरे आम चिल्ला पड़ी : "दौड़ो–दौड़ो, इस साधु ने मेरी इज्जत लूट ली !" परन्तु मुनिवर के मुख पर अथाह शान्ति के भाव थे । वे तनिक भी विचलित न हुए और त्रंबावटी नगरी के राजमार्ग पर बढ़ते ही रहे ! वहाँ न भय था, न कोई विकल्प ! "अब मेरा क्या होगा ? मेरी इज्जत चली जाएगी ? नगरजन मेरे बारे में क्या अनर्गल बातें

करेंगे ?" क्योंकि वह अपने आप में परमज्ञानी थे, पर्वत–से अजेय–अडिग थे।

हम ज्ञानी बनेंगे तभी भय पर विजय पा सकेंगे। उसे अपने नियंत्रण में रख सकेंगे। सचमुच, जिसने भय को भयभीत कर दिया, उस पर विजयश्री प्राप्त कर ली, उसका आनन्द अनिर्वचनीय होता है। उसका वर्णन करने में लेखनी असमर्थ है। सिर्फ उसका अनुभव किया जा सकता है ! शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता ! भयाक्रांत मनुष्य उक्त आनन्द और असीम प्रसन्नता की कल्पना तक नहीं कर सकता !

ज्ञानी बनने का अर्थ सिर्फ जानकार बनना नहीं है, सौ–पचास बड़े–बड़े ग्रन्थ पढ लेना मात्र नहीं है। ज्ञानी का मतलब है ज्ञान–समृद्ध होना, निरंतर आसपास में घटित घटनाओं का ज्ञानदृष्टि से सांगोपांग अभ्यास करना, चिंतन–मनन करना है। ज्ञानदृष्टि से हर प्रसंग का अवलोकन करना। जिसके देखने मात्र से ही अज्ञानी थर–थर काँपता हो वहाँ ज्ञानी निश्चल और निष्प्रकम्प रहता है। जिन प्रसंगों के कारण अज्ञानी विलाप करता है, ठंडी आहें भरता है और निश्वास छोड़ अपने कर्मों को कोसता है, वहाँ ज्ञानी पुरुष अतल अथाह जल–राशि सा धीर–गम्भीर और मध्यस्थ बना रहता है ! जिस घटना को निहार अज्ञानी भाग खड़ा होता है, वहाँ ज्ञानी उसका धैर्य के साथ सामना करता है !

ऐसे ज्ञान–समृद्ध बनने के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए। फल स्वरूप, भय के झंझावात में भी तन–मन की स्वस्थता–निश्चलता को बनाये रख सकेंगे, शिव नगरी की ओर प्रयाण करने हेतु समर्थ बनेंगे।

तात्पर्य यह है कि निर्भयता का मार्ग ज्ञानी–पुरुष ही प्राप्त करते हैं।

चित्ते परिणतं यस्य चारित्रमकुतोभयम्।
अखण्डज्ञानराज्यस्य तस्य साधो कुतो भयम् ॥१७॥८॥

अर्थ : जिसके चित्त में जिसको किसी से कोई भय नहीं है, ऐसा चारित्र परिणत है, उस अखण्ड ज्ञानरूपी राज्य के अधिपति साधु को भला, भय कैसा ?

विवेचन : चारित्र !

अभय चारित्र !

अभय का भाव प्रस्फुरित करनेवाला चारित्र जिसकि अक्षय–निधि है और जो उसके पास है, उसे भला, भय कैसा ? किस बात का भय ? कारण वह तो अखण्ड, अक्षय ज्ञान रूपी–राज्य का एकमेव अधिपति है, महाराजाधिराज है !

अखण्ड ज्ञान का साम्राज्य !

और उसका सम्राट है मुनि स्वयं !

ऐसे साम्राज्य का अलबेला सम्राट क्या भयाकान्त हो ? आकुल–व्याकुल हो ? अरे उसे भयप्रेरित व्यथाएँ शत–प्रतिशत असम्भव होती हैं । चारित्र की उत्कृष्ट भावना से उसकी मति भावित होती है ।

समस्त संसार के बाह्य भौतिक पदार्थ एवं कर्मजन्य भावों की ओर मुनि इस दृष्टि से देखता है–

'क्षणविपरिणामधर्मा मर्त्यानामृद्धिसमुदयाः सर्वे ।
सर्वे च शोकजनकाः संयोगा विप्रयोगान्ताः ॥ –प्रशमरति

मनुष्य की ऋद्धि और सम्पत्ति का स्वभाव क्षणार्ध में ही परिवर्तित होने का रहा है और समस्त ऋद्धि–सिद्धि के समुदाय शौकप्रद हैं !–

संयोग वियोग में परिणमित होते हैं !

जिसे इस शाश्वत् सत्य का पूर्ण ज्ञान है कि 'ऋद्धि सिद्धि और धनसंपदा क्षणिक है, 'वह कभी शोकग्रस्त अथवा भयातुर नहीं होता !

चारित्र में स्थिरता और अभय प्रदान करनेवाली दूसरी भी भावनाओं का मुनि बार–बार चिंतन करता रहता है :

भोगसुखैः किमनित्यैर्भयबहुलैः कांक्षितैः परायत्तैः ।
नित्यमभयमात्मस्थं प्रशमसुखं तत्र यतितव्यम् ॥ –प्रशमरति

जो अनित्य भयमुक्त और पराधीन हैं ऐसे भोग सुखों से क्या मतलब ? अपितु मुनि को नित्य अभय और आत्मस्थ प्रशमसुख के लिए ही सदैव पुरुषार्थ

करना चाहिए ।

वासनावृत्ति को जिसने प्रतिबंधित कर दिया है, कषायों के उत्पात को जिसने नियंत्रित कर दिया है, हास्य–रति–अरति एवं शोक उद्वेग की ज्वालाओं को शान्त–प्रशान्त कर दिया है, साथ ही अपनी दृष्टि को सम्यक् बना दिया है, ज्ञान–ध्यान और तपश्चर्या का अतुल बल जिसने प्राप्त कर लिया है, लोक–व्यापार और आचार–विचारों को हमेशा के लिए तिलांजलि दे दी है, ऐसे महामुनि को भला भय कैसा ? उसे किसी बात का डर नहीं होता । बल्कि वह तो निर्भय और नित्यानन्दी होता है !

अक्षय ज्ञान–साम्राज्य में भय का नामोनिशान तक नहीं होता है ! ज्ञान–साम्राज्य के उस पार भय, शोक और उद्वेग होता है ! मुनिराज को सिर्फ एक बात की सावधानी / दक्षता रखनी चाहिए कि भूलकर भी कभी वह ज्ञान–साम्राज्य की सीमाओं के उस पार न चला जाए ! वह अपने राज्य में सदा निर्भय होता है । साथ ही उक्त साम्राज्य के नागरिकों का वह एकमेव अभयदाता है । वास्तव में देखा जाए तो अभय का आनन्द ही सही आनन्द है । भयभीत अवस्था में आनन्द नहीं होता, बल्कि उसका अस्पष्ट आभास मात्र होता है, कृत्रिम आनन्द होता है ।

अखंड ज्ञान–साम्राज्य में ही अभय का आनन्द प्राप्त होता है ।

● ● ●

१८. अनात्मशंसा

आज जब स्वप्रशंसा के ढोल सर्वत्र बज रहे हैं और पर–निंदा करना हर एक के लिए एक शौक/फैशन बन गयी है, ऐसे में प्रस्तुत अध्याय तुम्हें एक अभिनव दृष्टि, नया दृष्टिकोण प्रदान करेगा। स्व के प्रति और अन्य के प्रति देखने की एक अनोखी कला सिखाएगा। यदि स्वप्रशंसा में आकण्ठ अहर्निश डूबे मनुष्य को पूज्यपाद उपाध्यायजी की यह दृष्टि पसन्द आ जाए, उसे आत्मसात् करने की बुद्धि पैदा हो जाए, तो निःसन्देह उसमें मानवता की मीठी महक फैल जायेगी।

गुणैर्यदि न पूर्णोऽसि, कृतमात्मप्रशंसया ।
गुणैरेवासि पूर्णश्चेत, कृतमात्मप्रशंसया ॥१८॥१॥

अर्थ : यदि तुम स्व–गुणों से परिपूर्ण नहीं हो, तब आत्म–प्रशंसा का क्या मतलब ? ठीक वैसे ही, यदि तुम स्व–गुणों से परिपूर्ण हो, तो फिर आत्मप्रशंसा की जरुरत ही नहीं है।

विवेचन : प्रशंसा ! स्व–प्रशंसा ! मनुष्य मात्र में यह वृत्ति जन्मतः होती है। उसे अपनी प्रशंसा सुनना अच्छा लगता है। जी–भरकर स्व–प्रशंसा करना भी अच्छा लगता है। लेकिन यही वृत्ति अध्यात्ममार्ग में बाधक होती है। मोक्ष–मार्ग की आराधना में 'स्व–प्रशंसा' सबसे बड़ा अवरोध है। अतः वह त्याज्य है।

निःसंदेह तुम्हारे अन्दर अनंत गुणों से युक्त आत्मा वास कर रही है। तुम ज्ञानी हो, तुम दानवीर हो, तुम तपस्वी हो, तुम परोपकारी हो, तुम ब्रह्मचारी

हो, फिर भी तुम्हें अपनी प्रशंसा नहीं करनी चाहिए और ना ही सुननी चाहिये। क्योंकि स्व–प्रशंसा से उत्पन्न आनन्द तुम्हें उन्मत्त और मदहोश बना देगा। परिणाम स्वरुप अध्यात्म–मार्ग से तुम भ्रष्ट हो जाओगे। तुम्हारा अधःपात होते विलम्ब नहीं होगा। यदि तुम अपने-आप में गुणी हो, तब भला तुम्हें 'आत्म–प्रशंसा' की गरज ही क्या है ? आत्मप्रशंसा के कारण तुम्हारे गुणों में वृद्धि होनेवाली नहीं, बल्कि उनके नामशेष हो जाने का डर है।

'मेरे सत्कार्यों से लोग परिचित हों, मेरे में रहे गुणों की जानकारी दूसरों को हो..., लोग मुझे सच्चरित्र, सज्जन समझें..." आदि इच्छा, अभिलाषा के कारण ही मनुष्य आत्म–प्रशंसा करने के लिए प्रेरित होता है। इसमें उसे अपनी भूल नहीं लगती, ना ही वह किसी प्रकार का पाप समझता है। भले ही वह न समझे ! सम्भव है साधना, उपासना और आराधना–मार्ग का जो पथिक न हो, वह उसे पाप अथवा भूल न भी समझे ! लेकिन जिसे मोक्ष–मार्ग की साधना से आनन्दामृत की प्राप्ति होती है, आत्म–स्वरुप की उपासना मात्र से आनन्द की डकारें आती हैं, उसे 'स्व–प्रशंसा, आत्म–प्रशंसा' की मिथ्यावृत्ति अपनाने का कभी विचार तक नहीं आता। 'स्व–प्रशंसा' 'स्व–प्रशंसा' उसके लिए पाप ही नहीं बल्कि महापाप है और उससे प्राप्त आनन्द कृत्रिम और क्षणिक होता है।

लेकिन धरती पर ऐसे कई लोग हैं, जिनमें इन गुणों का अभाव होता है; सत्कार्य करने की शक्ति नहीं होती; वे भी अपनी प्रशंसा करते नहीं अघाते। अरे, तुम्हें भला किस बात की प्रशंसा करनी है ? गांठ में कुछ नहीं और चाहिए सब कुछ ! गुणों का पता नहीं, फिर भी प्रशंसा चाहिए ? जो समय तुम आत्म–प्रशंसा में बरबाद करते हो, यदि उतना ही समय गुण–संचय करने में लगाओ तो ? परन्तु यह सम्भव नहीं। क्योंकि गुणप्राप्ति की साधना कठिन और दुष्कर है, जबकि बिना गुणों के ही आदर सत्कार और प्रशंसा पाने की साधना बावरे मन को, मूढ़ जीव को सरल और सुगम लगती है !

यह न भूलो कि स्वप्रशंसा के साथ परनिन्दा का नाता चोली–दामन जैसा है। इसीलिये ऐसे कई लोग परनिंदा के माध्यम से स्व–प्रशंसा करना पसंद करते हैं, जिनमें आत्मगुण का पूर्णतया अभाव है, साथ ही जो स्वप्रशंसा के भूखे होते हैं। 'अन्य की तुच्छता साबित करने से खुद की उच्चता अपने आप सिद्ध हो

जाती है ।' इस संसार में ऐसे जीवों की भी कमी नहीं है ।

आत्मोत्कर्षाच्च बध्यते कर्म निचैर्गोत्रं ।
प्रतिभवमनेकभवकोटिदुर्मोचम् ॥

भगवान उमास्वातिजी फरमाते हैं, "आत्मप्रशंसा के कारण ऐसा नीचगोत्र कर्म का बन्धन होता है कि जो करोड़ों भवों में भी छूट नहीं सकता ।"

साथ ही, यह भी शाश्वत् सत्य है कि यदि हम सही अर्थ में धर्माराधक हैं, तो हमें अपने मुँह अपनी ही प्रशंसा करना कतइ शोभा नहीं देता ।

श्रेयोद्रुमस्य मूलानि, स्वोत्कर्षाम्भःप्रवाहतः ।
पुण्यानि प्रकटीकुर्वन्, फलं किं समवाप्स्यसि ? ॥१८॥२॥

अर्थ : कल्याणरुपी वृक्ष के पुण्यरुपी मूल को अपने उत्कर्षवाद रुपी जल के प्रवाह से प्रकट करता हुआ तू कौन सा फल पायेगा ?

विवेचन : कल्याण वृक्ष है ।

उसका मूल पुण्य है, जड़ है ।

जिसकी जड़ मजबूत है, मूल नीचे तक भीतर उतरा है, वह वृक्ष मजबूत। यदि जड़ें ही कमजोर हैं, तो वृक्ष के ढहते देर नहीं लगेगी । वह धराशायी हुआ ही समझो । सुख का विशाल वटवृक्ष पुण्य रूपी घनी जड़ों पर ही खड़ा है ।

क्या तुम जानते ही कि वटवृक्ष की जड़ में पानी का प्रवाह पहुँच गया है और उसके मूल बाहर दिखायी देने लगे हैं । उसके आसपास की मिट्टी पानी की धारा में बह गई है । क्या तुम्हें पता है ? पानी की वजह से मूल कमजोर हो गये हैं और वृक्ष खतरनाक ढंग से हिलने–डुलने लगा है । जरा आँखें खोलो, होश में आओ और ध्यान से देखो । वृक्ष कडाके की आवाज के साथ जमीन पर आ गिरेगा । उफ, इतनी उपेक्षा करने से भला, कैसे चलेगा ?

क्या तुम पानी के प्रवाह को नहीं देख रहे हो ? अरे, तुमने खुद ही तो नल खोल दिया है । क्या तुम अपनी प्रशंसा नहीं करते ? अपनी अच्छाईयों और अच्छे कामों का बखान नहीं करते ? अपने गुण और प्रवृत्तियों की 'रिकार्ड'

बजाते नहीं थकते ?

अरे मेरे भाई ! उसी स्व–प्रशंसा का नल तुमने पुरजोश में खोल दिया है और पानी 'कल्याण–वृक्ष' की जड़ों तक पहुँच गया है। लो, ये मूल दिखने लगे और वृक्ष धराशायी होने की तैयारी में है। अगर एक बार 'कल्याण वृक्ष' ढह गया कि फिर तुम्हारे नसीब का सितारा डूब गया समझो। पीछे दुःख भोगने के सिवाय कुछ नहीं बचेगा। सब मिट्टी में मिल जाएगा और तब स्व–प्रशंसा करने की घृष्टता ही नामशेष हो जाएगी।

अलबत्ता, स्वप्रशंसा कर तुम्हें कुछ न कुछ खुशी तो होती ही होगी और सुख का आस्वाद भी मिलता होगा। लेकिन स्व–प्रशंसा से प्राप्त आनन्द क्षणभंगुर होता है। साथ ही उसका अंजाम बुरा ही होता है। क्या तुम ऐसे दुःखदायी सुख और आनन्द का त्याग नहीं कर सकते ? यदि कर लोगे, तो निःसंदेह 'कल्याण–वृक्ष' स्थिर, मजबूत और दीर्घजीवी साबित होगा। फलतः उसकी डाल पर सुख के मीठे फल लगेंगे और उन फलों का आस्वाद तुम्हें अजरामर बना देगा। बेशक, तब तक तुम्हें धैर्य रखना होगा। दूसरों को स्व–प्रशंसा का आनन्द लूटते देख भूलकर भी तुम उनका अनुसरण न करना। भले ही दूसरे स्व–प्रशंसा के आनन्द में आकण्ठ डूब जाएँ, लेकिन तुम्हारे मन में तो वह आनन्द अकल्प्य और अभोग्य ही है।

हम अपनी प्रशंसा खुद करें, तो अच्छा नहीं लगता। आराधक आत्मा के लिए यह सर्वथा अनुचित और अयोग्य है कि वह नित्यप्रति अपना मूल्यांकन खुद ही करे, अपने महत्त्व का रटन / जाप खुद ही करे और खुद ही लोगों को अपने गुण बताये। आराधक को चाहिए कि वह 'स्व–विज्ञापन' को घोर पाप समझे। मोक्ष–मार्ग का अनुगामी अपने दोष और दूसरों के गुण देखता है। जब वह अपने गुणों से ही अनभिज्ञ होता है, तब उसकी प्रशंसा (स्तुति) करने का प्रसंग ही कहाँ आता है ?

स्व–प्रशंसा से कल्याण–वृक्ष की जड़ें उखड़ जाती हैं। उसका तात्पर्य यह है कि स्वप्रशंसा करने से पुण्यबल क्षीण हो जाता है और पुण्य क्षीण होते ही सुख खत्म हो जाता है। यह निर्विवाद सत्य है कि स्वप्रशंसा सुखों का नाश

करनेवाली है ।

आलंबिता हिताय स्युः परैः स्वगुणरश्मयः ।
अहो स्वयं गृहीतास्तु, पातयन्ति भवोदधौ ॥१८॥३॥

अर्थ : यदि दूसरे व्यक्ति ने तुम्हारे गुण रुपी रस्सी को थाम लिया, तो वह उसके लिए हितावह है, लेकिन आश्चर्य इस बात का है कि यदि स्वयं गुणरूपी रस्सी को थाम लिया तो भव–समुद्र में डूबा देती है ।

विवेचन : तुम्हारे में गुण हैं ? उन गुणों को दूसरों को देखने दो । दूसरों को उनका गुणानुवाद करने दो । वे उक्त गुणदर्शन, गुणानुवाद और गुण–प्रशंसा की रस्सी को पकड़ कर भव–सागर से पार हो जायेंगे ।

लेकिन तुम अपने गुणों की प्रशंसा अथवा दर्शन करने की कोशिश भूलकर भी न करो । यदि तुम अपनी प्रशंसा खुद करने की बुरी लत में फँस गये, तो तुम्हारा बेडा संसार–सागर में गर्क होते देर नहीं लगेगी । तुम्हारी यह लत, आदत तुम्हें भवोदधि की अथाह जलराशि मे डुबाकर ही रहेगी ।

वैसे देखा जाए तो गुण–प्रशंसा ऐसी शक्ति है, जो भवोदधि से तिरा सकती है और डुबा भी सकती है । हाँ, कौन किसके गुणों की प्रशंसा करता है, यह सब उस पर निर्भर है । खुद ही अपनी प्रशंसा करने भर की देर है कि डुब गये समझो । जबकि अन्य जीव के गुणों की प्रशंसा की, तो पार लगते देर नहीं । जब–जब तुम्हारे मन में गुणानुवाद करने की इच्छा जगे, तब–तब दूसरों के गुणों की प्रशंसा करनी चाहिये और स्व–प्रशंसा की बुरी लत से कोसों दूर रहना चाहिये । हालाँकि स्व–प्रशंसा की बुराई मनुष्य में आज से नहीं, बल्कि अनादिकाल से चली आ रही है और जीव मात्र उसका भोग बनता रहा है । जो इससे मुक्त हो गया, निःसंदेह वह महान् बन गया ।

स्वप्रशंसा करने से

★ गुणवृद्धि का कार्य बीच में ही स्थगित हो जाता है ।

★ स्व–दोषों के प्रति उपेक्षाभाव पैदा होता है ।

★ दूसरों के गुण देखने की वृत्ति नहीं रहती ।

★ दूसरों के गुण सुनकर द्वेष पैदा होता है ।

★ घोर कर्म–बन्धन के शिकार बनते हैं ।

दूसरों की नजर में अपने आप को गुणवान, बुद्धिशाली, सर्वोत्तम, सज्जन दिखाई देने की इच्छा, जीव को 'स्व–प्रशंसा' करने के लिए प्रेरित करती है। ऐसी इच्छा सर्वजन साधारण है। इससे दूर रहे बिना जीव पाप के अभेद्य परकोटे को भेद नहीं सकता। लेकिन इसके मूल में जो भावना काम कर रही है, वह तो सौ फीसदी गलत और अनिच्छनीय है। मैं अपनी प्रशंसा करूँगा तब दूसरे मुझे सज्जन, गुणवान समझेंगे।' क्या यह रीत अच्छी है ? सच तो यह है कि इस तरह स्व–प्रशंसा से सर्वत्र अपना विज्ञापन करना कोई अच्छी बात नहीं है, ना ही प्रभावशाली भी। अलबत्ता, लोकतंत्र के युग में चुनाव में खड़े प्रत्याशी/ उम्मीदवार को जी भरकर अपनी प्रशंसा का राग आलापना पड़ता है । विद्यमान परिस्थिति में धर्मक्षेत्र, सामाजिक क्षेत्र, शैक्षणिक क्षेत्र और राजनैतिक क्षेत्र में सत्ता और स्वामित्व प्राप्त करने के लिए स्व–प्रशंसा एक रामबाण उपाय माना गया है।

हालाँकि सांसारिक क्षेत्र में 'स्व–प्रशंसा', भले ही आवश्यक मानी गयी हो, लेकिन धर्म–क्षेत्र में यह सबसे बड़ा अवरोध है। यदि हम मोक्षमार्ग के पथिक हैं अथवा उस मार्ग पर चलने के अभिलाषी हैं, तो 'स्व–प्रशंसा' का परित्याग करने की हमें प्रतिज्ञा करनी चाहिए । सम्भव है कि स्व–प्रशंसा' से दूर रहने पर तुम्हें लगेगा कि दुनिया में तुम्हारी सही पहचान, वास्तविक मूल्यांकन नहीं हो रहा है । लेकिन एक समय ऐसा आ जाएगा, जब तुम्हारे गुण समस्त विश्व के लिए एकमेव आलम्बन सिद्ध होंगे । दुनिया के समस्त प्राणी तुम्हारे गुणों की रस्सी थामकर पापकुंड से बाहर निकल जायेंगे । धीरज का फल मीठा होता है। जल्दबाजी करनेवाले व्यक्ति के लिए नुकसानदेह है और हाँ, दूसरों का गुणानुवाद करने की प्रवृत्ति निरन्तर जारी रखना, बीच में ही स्थगित नहीं कर देना।

उच्चत्वदृष्टिदोषोत्थस्वोत्कर्षज्वरशान्तिकम् ।
पूर्वपुरुषसिंहेभ्यो, भृशं नीचत्वभावनम् ॥१८॥४॥

अर्थ : सर्वोच्चता की दृष्टि के दोष से उत्पन्न स्वाभिमान रुपी ज्वर को शान्त करनेवाले पूर्वपुरुष रुपी सिंह से अत्यन्त न्यूनता की भावना करने जैसी है ।

विवेचन : उच्चता का खयाल ! खतरनाक खयाल है ! "मैं सर्वोच्च हूँ । मैं दूसरों के मुकाबले महान् हूँ । तप और चारित्र से बडा हूँ । ज्ञान से श्रेष्ठ हूँ । सेवा–सादगी के क्षेत्र में परमोच्च हूँ ।" यदि इस तरह की नानाविध वैचारिक तरंगें किसी के दिमाग में निरन्तर उठती हों, तो निहायत खतरनाक और भयानक है । याद रखना, इन्हीं विचार–तरंगों से एक प्रकार का ऐसा विषम ज्वर पैदा होगा कि जान के लाले पड़ जाएँगे । ऐसा ज्वर, कि जो मलेरिया, न्यूमोनिया और टायफाइड से भी भयंकर होता है और वह है–अभिमान... मिथ्याभिमान !

सम्भव है, ज्वर का यह नाम तुमने जिंदगी में पहली बार ही सुना होगा। तेज बुखार में मनुष्य को मिठाई कडवी लगती है । वह निरन्तर अनर्गल बकवास और पागलपन के प्रलाप करता रहता है । अपनी सुध–बुध और होशो–हवास खो बैठता है । अभिमान... मिथ्याभिमान के विषम ज्वर में भी ये ही सारी प्रतिक्रियायें होती रहती हैं । लेकिन अभिमानी व्यक्ति इसे देख नहीं पाता और ना ही समझ पाता है ।

अभिमान के तेज बुखार में नम्रता, विनय विवेक, लघुता की मेवा–मिठाई कभी नहीं भाती, बल्कि कडवी लगती है । ठीक वैसे ही उस पर 'पर–अपकर्ष' के पागलपन की धुन सवार हो जाती है । फलतः वह क्या बकता है, उस हालत में कैसा लगता है, आदि बातों का उसे भान नहीं रहता । वह उसी दौर में पूज्य माता-पिता का अपमान करता है । परम आदरणीय गुरुदेवों का उपहास करता है। अन्य गुणीजनों को तुच्छ समझता है । उनके दोषों को संबोधित कर उन्हें अपमानित करने की चेष्टा करता है ।

क्या ऐसे विषम ज्वर को उतारना है, शान्त करना है ? यदि अभिमान को 'ज्वर' स्वरूप में मान लें तभी यह सम्भव है । उसे दूर करने के प्रयत्न किये जा सकते हैं । अभिमान के विषम ज्वर से पीडित जीव आत्मकल्याण के मार्ग पर चल नहीं सकता । शायद वह यों कह दे कि, "मैं मोक्षमार्ग पर ही हूँ" तो

यह उसका मिथ्या प्रलाप ही है ।

पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने प्रस्तुत विषम ज्वर को नेस्तनाबूद करने का उपाय भी सुझाया है :

"जिस विषय का तुम्हें अभिमान है जिस पर तुम्हें नाज है, उस विषय में निष्णात / पारंगत बने प्राचीन महापुरुषों के सम्बन्ध में सोचो, विचार करो और उनकी सर्वोत्तम सिद्धि के साथ अपनी तुलना करो ।"

सचमुच प्रस्तुत विचार औषधि चमत्कारिक एवं अनूठी है । जब तुम अपने को उन महापुरुषों के मुकाबले खड़ा पाओगे तो स्वयं को बौने से कम नहीं पाओगे। तुम्हें अपना अस्तित्व नहींवत् प्रतीत होगा और क्षणार्ध में ही तुम्हारा अभिमानज्वर 'नॉरमल' हो जाएगा !

ज्ञान, विज्ञान, बुद्धि, बल, कला, त्याग, व्रत, तपादि विषयों में पारंगत, सिद्ध महापुरुषों के स्मरण मात्र से तुम आश्चर्यचकित रह जाओगे । तुम्हारा अभिमान–ज्वर शीघ्र उतर जायेगा । ठीक वैसे ही आज के युग में भी हम से अधिक विद्वान् और पारंगत कई महापुरुषों का विचार करना जरूरी है : "इन सबकी तुलना में भला, मुझ में अधिक क्या है ? यदि कुछ नहीं, तब यों ही अभिमान करना कहाँ तक उचित है ?"

शरीर–रूप–लावण्य–ग्रामारामधनादिभिः ।
उत्कर्षः परपर्यायैश्चिदानन्दधनस्य कः ? ॥१८॥५॥

अर्थ : शरीर के रूप–लावण्य, गाँव, बाग–बगीचे, धन–धान्यादि और पुत्र-पौत्रादि समृद्धि रूप परद्रव्य के पर्यायों से भला ज्ञानानन्द से परिपूर्ण आत्मा को अभिमान कैसा ?

विवेचन : परपर्याय !

आत्मा से जो पर है, भिन्न है, उसके पर्याय ।

शारीरिक सौन्दर्य, रूप–लावण्य, ग्राम–नगर, उद्यान, धन–धान्यादि संपदा और पुत्र–पौत्रादि... ये सब पर–पर्याय है । आत्मा से भिन्न जो पुद्गल

हैं यह उसकी सृष्टि है । पुद्‌गल की ये परिवर्तनशील अवस्थायें हैं ।

आत्मन् ! पुद्‌गल की इन रचनाओं से भला, तुझे क्या लेना–देना ? जरा, ध्यान से सुन । ये कोई तेरी अपनी अवस्थायें नहीं हैं, ना ही तेरी सृष्टि ! ये तो 'पर' हैं, परायी हैं । मतलब, जो कुछ भी है, दूसरों का है । इनकी समृद्धि से तू अपने आपको श्रीमंत–समृद्ध न मान । ना ही इन पर मिथ्या अभिमान कर। इसके अभिमान से उत्पन्न आनन्द तुम्हारे किसी काम का नहीं है । अतः बेहतर यही है कि तुम इससे सर्वथा अलिप्त रहो ।

हे चिदानन्दघन ! तुम ज्ञानानन्द से परिपूर्ण हो । पुद्‌गलानन्द का सारा विष नष्ट हो गया है । ज्ञानानन्द की मस्ती की तुलना में तुम्हें इन पुद्‌गलों की परिवर्तनशील अवस्थाओं से प्राप्त आनन्द तुच्छ प्रतीत होता है । वह आनन्द नहीं, बल्कि निरा पागलपन लगता है । सारी दुनिया भले ही तुझे पुद्‌गल–पर्याय की समृद्धि के कारण सुन्दर समझे, सौन्दर्यशाली माने, नगरपति समझे, पुत्र-पुत्री और पत्नी के कारण पुण्यशाली करार दे, अलौकिक संपदा का स्वामी माने । लेकिन दुनिया के इस पर–पर्याय–दर्शन से उत्पन्न कीर्ति तुम्हारा एक रोम भी खड़ा नहीं कर सकती, तुम्हें रोमांचित नहीं कर सकती । क्योंकि तुमने मन ही मन दृढ़ संकल्प कर लिया है : "शरीर का रूप और लावण्य, धन–धान्यादि संपदा, पुत्र-पौत्रादि परिवार... ये सब पुद्‌गलजन्य हैं, ना कि मेरा है । मेरे साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं ।"

तब भला, उस पर अभिमान करने का प्रश्न ही कहाँ खड़ा होता है ? जब पर–पर्याय का मूल्यांकन नहीं रहा, तब उस पर अभिमान करने से क्या मतलब ?

पर–पुद्‌गल के पर्यायों का मूल्यांकन बन्द करो ।

ज्ञानानन्द को अखंड रखो ।

आत्मप्रशंसा के मिथ्याभिमान से बचने के लिये ज्ञानी पुरुषों ने दो उपाय सुझाये हैं । मोक्ष-मार्ग की ओर जिसने प्रयाण शरू कर दिया है, व्रत–महाव्रतमय जीवन जीने का जिस ने संकल्प कर लिया है और जो तपश्चर्या तथा त्याग का उच्च मूल्यांकन करते हैं, ऐसी मुमुक्षु आत्माओं को चाहिए कि वे हमेशा स्वप्रशंसा

के पाप से बचने का पुरुषार्थ करें । उसके लिये उन्हें पुद्गल-पर्यायों का गुण-गान करना बन्द करना चाहिये । सदा-सर्वदा ज्ञानानन्द के अतल सरोवर में निमग्न हो जाना चाहिये ।

सावधान ! स्व-प्रशंसा के साथ पर-निन्दा प्रायः जुड़ी हुई होती है । एक बार स्व-प्रशंसा एवं परनिन्दा का आनन्द प्राप्त होने लगाकि ज्ञानानन्द का प्रवाह मंद होने लगेगा, वैसे-वैसे आत्म-तत्त्व का विस्मरण होता जाएगा और तुम्हारे जीवन में पुद्गल-तत्त्व प्रधान बन जाएगा ।

—मुनि तो चिदानन्दघन होता है ।

—उसे पर-पर्याय का अभिमान नहीं होता ।

—वह ज्ञानानन्द-महोदधि में विलसित रहता है ।

—मुनि को निरभिमानता इसीलिये होती है ।

शुद्धाः प्रत्यात्मसाम्येन, पर्यायाः परिभाविताः ।
अशुद्धाश्चापकृष्टत्वाद्, नोत्कर्षाय महामुनेः ॥१८॥६॥

अर्थ : प्रत्येक आत्मा में शुद्ध तप की दृष्टि से प्रमाणित शुद्ध-पर्याय समान रुप से विद्यमाान होते हैं और अशुद्ध-विभावपर्याय तुच्छ होने से महामुनि (सभी नयों में मध्यस्थ परिणतिवाले) उस पर कभी अभिमान नहीं करते ।

विवेचन : महामुनि तत्त्वचिन्तन के माध्यम से अभिमान पर विजयश्री प्राप्त करते हैं । न जाने यह चिन्तन कैसा तो अद्भुत, अपूर्व और सत्य है, यही तो देखना है ।

महामुनि शुद्ध नय की दृष्टि से आत्म-दर्शन करते हैं । पहले अपनी आत्मा को देखते हैं, बाद में अन्य आत्माओं को देखते हैं । उनको किसी प्रकार का भेद... अन्तर... उच्च-नीचता... भारी-हल्कापन का दर्शन नहीं होता । हर आत्मा के शुद्ध पर्याय समान दिखायी देते हैं । अन्य आत्मा के बजाय अपनी आत्मा में कोई विशेषता अथवा अधिकता दृष्टिगोचर नहीं होती । तब अभिमान क्यों और किस लिये किया जाए ? दूसरों के मुकाबले हमारे में कोई विशेषता

अथवा किन्हीं गुणों की प्रचुरता हो, तभी अभिमान जगे न ?

आत्मा के शुद्ध पर्यायों का विचार शुद्ध नय की दृष्टि से ही किया जाता है। ऐसी स्थिति में सभी आत्मायें ज्ञानादि अनन्त गुणों से युक्त, अरूपी... दोष-विरहित और समान प्रतीत होती हैं। दूसरी आत्मा की तुलना में हमारी आत्मा में एकाध गुण भी अधिक नहीं होता... । किसी आत्मा में दोष के दर्शन नहीं होते। फिर भला, उत्कर्ष किस बात पर करना चाहिये ?

सम्भव है, शुद्ध स्वरूप के चिन्तन में तो अभिमान के अश्व पर सवार होना सर्वथा दुष्कर है, लेकिन शुद्ध पर्यायों के साथ-साथ अशुद्ध पर्याय भी विद्यमान होते हैं। अशुद्ध पर्यायों में समानता नहीं होती है। तब अभिमान का टट्टू रेस के घोड़े का रुप धारण करने में विलम्ब नहीं करता और पागल जीव उस पर सवार हो जाता है !

लेकिन महामुनि अशुद्ध पर्यायों से कोसों दूर रहते हैं। अपने आत्मप्रदेश से अशुद्ध पर्यायों को देश-निकाला दे देते हैं। तब वे अभिमान कैसे करेंगे ? भले ही दूसरों के मुकाबले अलौकिक रुप-सौन्दर्य हो, विशिष्ट प्रकार का लावण्य हो, शास्त्र-ज्ञान और परिशीलन में महापण्डित हो, अधिक प्रज्ञा हो, अन्य आत्माओं से बढ़-चढ़कर शिष्य-संपदा हो, अथवा मान-सम्मान का जयघोष सारे आलम में गूंजता हो, उनके (महामुनि के) लिये यह सब तुच्छ और क्षणिक होता है। सर्वोत्तम महामुनि भूलकर भी कभी क्षणिक वस्तु पर अभिमान नहीं करते।

यदि पड़ौसी के बजाय तुम्हारे घर में अधिक गंदगी हो, तुम्हारा घर ज्यादा गंदा और मटमैला हो, तो क्या अभिमान करोगे ? 'तुम्हारे मकान से मेरे मकान में ज्यादा कचरा है !' कहते हुए क्या तुम्हारा सीना फूलकर कुप्पा हो जाता है ? नहीं, हर्गिज नहीं। क्योंकि कचरे को तुम तुच्छ समझते हो। कचरे की अधिकता पर अभिमान नहीं होता ! तब भला, जो महामुनि समस्त वैभाविक पर्यायों को तुच्छ समझते हैं, एक प्रकार की गंदगी समझते हैं, उस पर और उसकी अधिकता पर भूलकर भी क्या वे अभिमान करेंगे ?

— शुद्ध पर्यायों में समानता का दर्शन,

— अशुद्ध पर्यायों में तुच्छता का दर्शन

महामुनि को सदा मध्यस्थ भाव में बनाये रखने में आधारभूत सिद्ध होता है। यह दर्शन उसे आत्म-उत्कर्ष के गहरे समुद्र में गिरने नहीं देता और फलस्वरुप आत्मा की स्वभावदशा और विभावदशा का चिन्तन, महामुनि का अमोघ शस्त्र बन जाता है। अमोघ शस्त्र के सहारे वह अभिमान की उत्तुंग चोटियों को चकनाचूर कर देता है। यदि हर एक मुनि इसी चिन्तन–पथ के पथिक बन, साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ते रहें, तो अभिमान को क्या ताकत है कि वह उनके मार्ग का रोड़ा बन सके ?

क्षोभं गच्छन् समुद्रोऽपि, स्वोत्कर्षपवनेरितः ।
गुणौधान् बुद्बुदीकृत्य, विनाशयसि किं मुधा ? ॥१८॥७॥

अर्थ : मर्यादा सहित होने के बावजूद भी, अपने अभिमान रुपी वायु से प्रेरित एवं व्याकुलता को प्राप्त हुआ, अपनी गुण–राशि को पानी के बुदबुदे का रुप देकर व्यर्थ में नष्ट क्यों करता है ?

विवेचन :

— वह साधु है।

— साधु–वेश की मर्यादा में है।

अभिमान–वायु के प्रचंड झोंके उठ रहे हैं। आत्म–समुद्र में तूफान आ गया है। गुण–राशि का अपार जल बुदबुदा बन नष्ट हो रहा है, खत्म हो रहा है। क्या तुम्हें यह शोभा देता है ? तुम अपनी मर्यादा तो समझो !

यदि यह तथ्य समझ में आ जाये कि 'अभिमान की वायु गुणों का नाश करती है, तो गुणों के नाश की प्रक्रिया रुक जायेगी। पूज्य उपाध्यायजी महाराज का आदेश है कि गुणों का संरक्षण और संवर्धन करते हुए भी अभिमान नहीं करें।

तू साधु का स्वांग रचकर, साधु-वेश धारण कर, अभिमान करता है ? व्यर्थ ही गुणों का नाश क्यों करता है ? क्या तेरी समझ में कतइ नहीं आता कि अभिमान के कारण गुणों का नाश होता है ? जानते नहीं कि अभिमानवश जमालि

भव-भवर में फँस गया। वह मिथ्याभिमान के कारण अपनी सुध-बुध खो बैठा। संस्कार और शिक्षादीक्षा भुला बेठा। परमोपकारी परमात्मा महावीर देव के अनन्त उपकारों को विस्मृत कर दिया। विनय-विवेक से भ्रष्ट बन गया। साथ ही अपनी अल्पज्ञता का ख्याल खो बैठा। न जाने उसने कितने गुण खो दिये। गुणों का नाश कर बैठा। अरे, अभिमान के प्रचंड वायु के झोंकों की लपेट में आकर असंख्य गुणरुपी महल ध्वस्त हो जाते हैं।

अभिमान-वायु के उद्गम-स्थान पर ही क्यों न 'सील' मार दी जाए? कुल, रुप, बल, बुद्धि यौवन वगैरह अन्य जीवों से तुम्हारे पास बढ़-चढ़कर होंगे। यदि इस पर तुमने उत्कर्ष किया तो कुत्सित हवा के झोंके उठते विलम्ब नहीं होगा। यदि तुम श्रमण हो तो शास्त्रज्ञान, शास्त्राभ्यास, शासन-प्रभावकता, वक्तृत्व-शक्ति लेखन-कला, शिष्य-परिवार, भक्त-समुदाय और गच्छाभिमान... आदि छोटी-मोटी बातों का व्यामोह पैदा होते देर नहीं लगेगी। ऐसे समय यदि तुमने तात्त्विक चिन्तन द्वारा उन सब बातों को 'तुच्छ' न माना और शुद्ध नय की दृष्टि से 'समानता' का विचार न किया, तो मिथ्याभिमान की भूत-लीला से तुम आक्रान्त हो जाओगे। फलतः तुम्हारे मे रहे गुण, पानी के बुद बुदे की तरह नष्ट होते पल की भी देर नहीं लगेगी। उसमें एक नये अनिष्ट का जन्म होगा। गुणरहित होने के उपरान्त भी 'मैं गुणी हूँ' ऐसा बताने हेतु और अपनी इज्जत बचाने के लिये दंभ करना पडेगा। तुम्हें दंभी बनना होगा! तुम जैसे नहीं हो, वैसा प्रदर्शन करने के लिये प्रयत्न करोगे। तनिक सोचो, आत्मा का यह कैसा अधःपतन? क्या यह भी नये सिरे से समझाना होगा?

प्रायः ऐसा देखा गया है कि दुष्कर प्रयत्न और घोर तपश्चर्या के फलस्वरुप आत्मा में गुणों का प्रादुर्भाव होता है। यदि उनका यथोचित संरक्षण और संवर्धन न किया जाए, तो समझ लेना चाहिये कि गुणों का सही मूल्यांकन करना हम भूल गये हैं। जो मनुष्य गुणों का मूल्यांकन करना भूल जाए, उसके गुण नष्ट होते समय नहीं लगता। गुणों के मारक हमेशा इसी ताक में रहते हैं। उनको तो केवल अवसर मिलना चाहिए। वे अपनी पूरी शक्ति के साथ जीव पर पील पड़ेगे, टूट पड़ेगे और गुणों का संहार करके ही दम लेंगे। अतः स्व-पर्याय अथवा पर-पर्याय का अभिमान नहीं करना है। सदा-सर्वदा, निरभिमानी

बने रहना है। क्योंकि हम साधु–वेष की मर्यादा के बन्ध में जो हैं ।

हे महात्मन् ! भूलकर भी गुणों का नाश न करो और ना ही अभिमान... मिथ्याभिमान की संगत करो !

निरपेक्षानवच्छिन्नानन्त चिन्मात्रमूर्तयः ।
योगिनो गलितोत्कर्षापकर्षानल्पकल्पना : ॥१८॥८॥

अर्थ : योगी का स्वरूप अपेक्षारहित, देश की मर्यादा से मुक्त, काल की मर्यादा से रहित, ज्ञानमय होता है । उनकी उत्कर्ष की कल्पनायें गलित हो गयी होती हैं ।

विवेचन : योगी ! जो आत्मस्वरूप में लीन और परमात्म–स्वरूप की झंखना करनेवाला होता है उसे देश–काल के बन्धन नहीं होते हैं । वह स्व–उत्कर्ष से और पर-अपकर्ष से परे होता है ।

आत्मा के अतल महोदधि में अनंत ज्ञान में योगी सदा रमण करता है । पर–भाव, पर–पर्याय अथवा पौद्गलिक विविध रचनाओं में योगी की चेतना जाती नहीं, लुब्ध नहीं होती, आकर्षित नहीं होती । उसके मन में किसी प्रकार की कोई झंखना, कामना अथवा अभिलाषा के लिये स्थान नहीं होता । वह निरन्तर परमात्म–स्वरूप की अन्तिम मंजिल पाने हेतु प्रवृत्तिशील रहे । उसे किसी की परवाह नहीं होती, ना ही कोई अपेक्षा । वह पूर्णतया निरपेक्ष भाव का प्रतीक होता है । उसमें भव–सागर पार उतरने के लिये आवश्यक उत्कट निरपेक्षता होती है ।

'निरविक्खो तरइ दुत्तर भवोयं' ।
'निरपेक्ष तिरे दुस्तर भवसागर को !'

किसी राष्ट्र, नगर अथवा गांव–विशेष का उन्हें आग्रह नहीं । किसी मौसम का उन्हें बन्धन नहीं । शरदऋतु हो या वर्षाकाल, या फिर ग्रीष्म ऋतु, उनकी निर्वाणयात्रा पर कोई प्रभाव नहीं ! अरे, किसी भाव–विशेष की भी उन्हें अपेक्षा नहीं । 'कोई मुझे योगी माने', महात्मा माने या महाश्रमण माने ।' ऐसा आग्रह नहीं । कहने का तात्पर्य यह है कि उन्हें किसी बात की कोई अपेक्षा नहीं होती ।

किसी के आधार पर, परभाव पर जिन्दगी बसर करता ही नहीं । तब फिर स्व-उत्कर्ष और परापकर्ष की कल्पनायें बेचारी हिमखंड की तरह पिघल ही जायें न ?

देश, काल और पर–द्रव्य के आधार पर जीवन व्यतीत करनेवाला स्वोत्कर्ष को, स्वाभिमान को नष्ट नहीं कर सकता । परापकर्ष परनिन्दा की बुरी आदत को नियंत्रित नहीं कर सकता अभिमान को नेस्तनाबूद करने के लिये अनन्त इच्छाएँ और कामनाओं को निरपेक्षता की आग में डाल देना होगा । साथ ही, अपेक्षारहित, परद्रव्यों की अपेक्षा से मुक्त जीवन बिताने का दृढ संकल्प करना होगा । तभी स्वमहत्ता की शहनाई बजनी बन्द होगी और पर–निन्दा के बिगुल की आवाज शमते देर नहीं लगेगी ।

—योगी बनना है ?

योगी का जीवन बाहर से कठोर, लेकिन भीतर में शान्त, प्रशान्त और कोमल होता है । ऐसे जीवन की क्या चाह जग पड़ी है ? विद्यमान परद्रव्य–सापेक्ष जीवन के प्रति क्या घृणा उत्पन्न हुई है ? रात-दिन परनिन्दा में मग्न जीवन से क्या घबरा गये हो ? पर-परिणति के प्रांगण में सतत सम्पन्न प्रेमालाप और कामुक चेष्टाओं से क्या नफरत हो गयी है ? और क्या, योगी का आन्तरिक प्रसन्नता से सराबोर और आत्मस्वरूप की रमणतावाला जीवन ललचाता है ? तुम्हें अपनी ओर आकर्षित करता है ?

तब नि:सन्देह तुम 'योगी' बनने लायक हो । तुम्हे कदम-कदम पर योगी-जीवन के परमानन्द का अनुभव होगा । अभिमान का नशा काफूर हो जाएगा और आत्मा के अनंतगुण प्रकट हो जायेंगे ।

● ● ●

१९. तत्त्व–दृष्टि

'जैसी दृष्टि वेसी सृष्टि !' यह कहना सहज है ! हर कोई सरलता के साथ इसका उच्चारण कर सकता है ! लेकिन स्व–दृष्टि को परिवर्तित कर सृष्टि का नव सर्जन करने कौन तैयार है ? किस दृष्टि के कारण हमें भव-भ्रमणाओं में उलझना पड़ता है और किस दृष्टि की पतवार थाम कर हम भव-सागर की उत्ताल तरंगों को मात कर, मोक्ष की ओर निर्विघ्न प्रस्थान कर सकते हैं ? किस दृष्टि से हमें परमानन्द की प्राप्ति होती है और किस दृष्टि के कारण विषयानन्द की लोलुपता बढ़ती है ? इसका रहस्य जानने के लिये प्रस्तुत अष्टक को खूब ध्यानपूर्वक पढो और उसका चिंतन-मनन करो ।

रूपे रूपधती दृष्टिर्दृष्ट्वा रूपं विमुह्यति ।
मज्जध्यात्मनि नीरूपे तत्त्वदृष्टिस्वरूपिणी ॥१९॥१॥

अर्थ : रूपी दृष्टी रूप को निहारकर मोहित हो जाती है, जबकि रुप रहित तत्त्वदृष्टि रूपरहित आत्मा में लीन हो जाती है ।

विवेचन : तत्त्वदृष्टि !

वासनाओं का निर्मूलन करनेवाली तीक्ष्ण दृष्टि !

हमें अपनी दृष्टि को तात्विक बनाना है, अर्थात् विश्व के पदार्थों का दर्शन तात्त्विक दृष्टि से करना है ! तात्त्विक दृष्टि से किये गये पदार्थ-दर्शन में राग-द्वेष नहीं होते, असत्य नहीं होता ।

चर्मचक्षु चमड़े का सौन्दर्य निहार कर मोहित होती है, मुग्ध होती है ।

रागद्वेष का कारण बनती है। चर्म-चक्षु से संसार मार्ग का दर्शन होता है। उससे मोक्षमार्ग का दर्शन नहीं होता। मोक्ष-मार्ग के दर्शन हेतु तात्त्विक दृष्टि की आवश्यकता है। इसी तात्त्विक दृष्टि को आनन्दघनजी महाराज 'दिव्य–विचार' कहते हैं।

चरम नयणे करी मारग जोवतां
भुल्यो सयल संसार
जेणे नयने करी मारग जोइए
नयन ते दिव्य विचार
पंथडो निहालुं रे बीजा जिन तणो...

अरुपी तात्त्विक दृष्टि से ही अरुपी आत्मा का दर्शन कर सकते हैं। क्योंकि तात्त्विक–दृष्टि और आत्मा दोनों अरुपी हैं। यानी अरुपी का अरुपी से ही दर्शन सम्भव है। जैसे पौद्गलिक–दृष्टि से पुद्गल का दर्शन !

चर्मदृष्टि... पुद्गलदृष्टि... चरम नयन... ये सब शब्दपर्याय हैं ! आत्म–दर्शन हेतु इन दृष्टियों का उपयोग नहीं होता, उसके लिए अरुपी ऐसी तात्त्विक दृष्टि ही उपयोगी है। इसके खुलते ही आत्म-प्रशंसा अथवा परिनन्दा जैसी बुरी लतें छूट जाती हैं। तत्त्वदृष्टि सिर्फ खुलती है सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की उपासना एवं आराधना से !

हमेशा खयाल रखो कि तत्त्वभूत पदार्थ एक मात्र आत्मा ही है। शेष सब पारमार्थिक दृष्टि से असत् है। लेकिन यह जीव अनादिकाल से तत्त्वभूत आत्मा का विस्मरण कर अतत्त्वभूत पदार्थों के पीछे बावरा बना भटकता रहा है, दुःखी हुआ है, नारकीय यंत्रणाएँ सहता रहा है और नानाविध विडम्बनाओं का शिकार बना है। फिर भी जिनेश्वर भगवन्त की तत्त्वदृष्टि उसे मिली नहीं।

जिस दृष्टि से आत्मा के प्रति अनुराग की भावना पनपती है, वह तात्त्विक दृष्टि कहलाती है, जबकि जिससे जड़–पुद्गल के प्रति अनुराग पैदा होता है वह चर्मदृष्टि है।

केवलज्ञानी भगवन्त की दृष्टि पूर्ण तत्त्वदृष्टि होती है। उससे सकल विश्व के चराचर पदार्थों का वैकालिक दर्शन होता है। वह दर्शन द्वेषरहित होता है,

हर्ष–शोक से मुक्त होता है । आनन्द–विषाद से रहित होता है । अरुपी आत्मा का भी प्रत्यक्ष दर्शन होता है । केवलज्ञानी भगवन्तो ने जिस मार्ग का अवलम्बन कर ऐसा पूर्ण तत्त्व–दृष्टि से युक्त केवलज्ञान प्राप्त किया है उसी मार्ग पर चल कर ही केवलज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और वह मार्ग है सम्यग् दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र का ।

भूल कर भी कभी शब्द, रुप, रस, गन्ध और स्पर्श के मोह से ग्रस्त न बनो ! आत्मस्वरुप में सदा-सर्वदा लीन रहो ! तभी पूर्णता प्राप्त होगी । सभी उपदेशों का यही सारांश है । तात्पर्य है । अनादिकालीन बुरी आदतों को, मन को समझा कर छोडने का पुरुषार्थ करो । नये सिरे से नयी आदतों का श्रीगणेश करो । आत्म-स्मरण, आत्मरति और आत्मस्वरूप में लीनता के लिए सम्यक् श्रुतज्ञान में लीन रहो; साथ ही सम्यक् चारित्र से जीवन को संयमी बनाओ ।

भ्रमवाटी बहिर्दृष्टिर्भ्रमच्छाया तदीक्षणम् ।
अभ्रान्तस्तत्त्वदृष्टिस्तु नास्यां शेते सुखाशया ॥१९॥२॥

अर्थ : बाह्य दृष्टि भ्रान्ति की वाटिका है और बाह्य दृष्टि का प्रकाश भ्रान्ति की छाया है । लेकिन भ्रान्तिविहीन तत्त्व दृष्टिवाला जीव भूलकर भी भ्रम की छाया में नही सोता ।

विवेचन : बाह्यदृष्टि,

—भ्रान्ति के विषवृक्षों से युक्त वाटिका !

—भ्रान्ति के वृक्षों की छाया भी भ्रान्ति ही है ! क्योंकि विषवृक्षों की छाया भी आखिर विष ही होता है ।

—बाह्यदृष्टि भ्रान्तिरुप और बाह्यदृष्टि का दर्शन भी भ्रान्ति–स्वरुप ही होता है !

फलतः भ्रान्ति के विषवृक्षों की छाया में तत्त्वदृष्टि आत्मा आराम से नहीं सोती, निर्भय बनकर विश्राम नहीं करती । क्योंकि भलिभांति मालुम है कि यहाँ सोने में, विश्राम करने में जान का जोखिम है । सम्भव है कभी-कभार उसे विषवृक्षों

की घटाओं से गुजरना पडे, लेकिन उसकी तरफ उसका आकर्षण कतई नहीं होता ।

बाह्यदृष्टि में 'अहं' और 'मम' के विकल्प होते हैं, वह उपादेय को हेय और हेय को उपादेय सिद्ध करने की कोशिश करती है । वास्तविक सुख के साधनों में दु:ख का दर्शन और दुर्गति के कारणभूत साधनों मे सुख का आभास पैदा करती है । साथ ही वह इन्द्रियों के विषयों में और मन के कषायों के प्रति कर्तव्य बुद्धि का ज्ञान कराती है और शम-दम-तितिक्षा में, क्षमा, नम्रता, निर्लोभिता, सरलतादि में नि:सारता बताती है । अत: बाह्यदृष्टि के प्रकाश में जो भी दिखाई दे उसे भ्रम का ही स्वरूप समझना । तत्त्वदृष्टि महात्मा बाह्यदृष्टि के प्रकाश को भ्रान्ति ही समझता है । उसकी सहायता से विश्व के पदार्थों को समझने का प्रयत्न ही नहीं करता है ।

बाह्यदृष्टि की अपनी यह विशेषता है कि वह विषयोपभोग में दु:ख की प्रतीति नहीं कराती । इन्द्रियों के उन्माद में अशान्ति महसूस नहीं होने देती । कषायों के दावानल में जलते जीव को 'मैं जल रहा हूँ,' का आभास नहीं होने देती ! परिणाम-स्वरूप बाह्यदृष्टि की वाटिका के विषवृक्षों को देख जो ललचा गया, उसके सुंदर मोहक रूपवाले फलों को निहार लुब्ध हो गया, वह अल्प समय में ही अपना होश खोकर घोर वेदनाओं का अनुभव करता है !

तत्त्वदृष्टि आत्मा अपनी अन्तरात्मा के सुख से ही परिपूर्ण होता है ! उसे किसी अन्य सुख की कामना—स्पृहा नहीं होती ! अत: वह कभी बहिर्दृष्टि की वाटिका में प्रवेश नहीं करता ! कभी-कभार उसे उस वाटिका में से गुजरना पडे तो वह भूल कर भी कभी वहाँ के विषवृक्षों की सुन्दरता को देखकर मुग्ध नहीं होता, ना ही उससे प्रभावित हो क्षणार्ध के लिए उनकी घनी शीतल छाया में बैठने का नाम लेता है !

स्थूलिभद्रजी स्वयं अन्त:सुख से, तत्त्वदृष्टि के सुख से परिपूर्ण थे । लेकिन परम सौन्दर्यवती कोशा ने उन्हें विषवृक्षयुक्त वाटिका में ही चातुर्मास हेतु ठहराया था । वह नित्यप्रति विषफलों से भरे थाल लेकर उनकी सेवा में स्वयं उपस्थित रहती और मगध की यह सुप्रसिद्ध नृत्यांगना उन्हें बाह्यदृष्टि की सुख-

सामग्री से मोहित करने का यथेष्ट प्रयत्न करती थी । लेकिन लाख प्रयत्नों के बावजूद भी तत्त्वदृष्टियुक्त स्थूलभद्रजी के आगे उसकी दाल न गली । वह उन्हें मोहित करने के बजाय स्वयं उनके रंग में रंग गयी ! स्थूलभद्रजी ने तत्त्वदृष्टि का अंजन कर और तत्त्वदृष्टि का अमृतपान करा कर उसे ऐसी बनादी कि उसमें आमूल परिवर्तन की उत्कट भावना पैदा हो गई । बहिर्दृष्टि की वाटिका में रहते हुए भी कोशा असार संसार से निर्लिप्त बन गयी ।

तात्पर्य यह है कि तत्त्वदृष्टि के बिना कोई जीव बहिर्दृष्टि की वाटिका से सही-सलामत बाहर नहीं निकल सकता ।

ग्रामारामादिमोहाय यद् दृष्टं बाह्यया दृशा !
तत्त्वदृष्ट्या तदेवान्तर्नीतं, वैराग्यसंपदे ॥१९॥३॥

अर्थ : बाह्यदृष्टि से देखे गये गाँव और बाग-बगीचे, मोह के कारण बनते हैं ! जबकि तत्त्वदृष्टि से आत्मा में उतारा हुआ यह सब वैराग्य प्राप्ति के लिए होता है ।

विवेचन : वही चिर-परिचित गांव और नगर, वही कुंज-निकुंज और उद्यान.....नन्दनवन

—वही परम सौन्दर्यमयी ललनाएँ, अप्सराएँ, किन्नरियाँ !

—बाह्यदृष्टि से इनकी ओर देखने पर प्रीति होती है । लेकिन इन्हें ही तत्त्वदृष्टि से देखा जाए तो मन में वैराग्य की भावना जागृत होती है ।

अत: हे महामार्ग के अनन्य आराधक ! तुम्हें रागी बनना है या विरागी ? तुम श्रमण बन गये, विरागी हो गये, विरतिधर बन गये, लेकिन फिर भी वैराग्य-मार्ग पर विजयश्री प्राप्त करना शेष है । त्याग करने मात्र से वैराग्य की प्राप्ति नहीं होती ! विरागी बनने की आंतरिक इच्छा से तुमने त्याग किया है, यह सौ-टक्का सच है, लेकिन वैराग्य में मस्ती प्राप्त करने का दुष्कर कार्य अभी तुम्हें त्यागी जीवन में शुरु करना है और वैराग्य की अगोचर दुनिया में धूम मचाना है ।

परम त्यागी श्रमण का वेश तुमने धारण कर लिया, अर्थात् राग-महोदधि से पार उतरने के प्रतीक स्वरुप गणवेश धारण कर लिया है... और अथाह महोदधि में तुमने छलांग लगा दी है ! त्यागी बनने मात्र से राग-सागर से तुम तिर गये, पार उतर गये, यह समझने की गंभीर भूल न कर बैठना । वस्तुतः तैरना तुमने अब शुरू किया है । लेकिन तभी तुम्हारी जीवन नौका को तुम पार कर सकोगे जब राग समुद्र में आनेवाले अवरोधों को तत्त्वदृष्टि से देखकर अपनी नौका को बचा ले जाओगे ! उनके प्रति कतई ललचाओगे नहीं बल्कि उत्तरोत्तर वैराग्य-भावना को पुष्ट करते रहोगे ।

त्यागी भी उसी दुनिया में जीते हैं जिस दुनिया में रागी और भोगी जीते हैं । लेकिन रागी और भोगी लोग दुनिया को बहिर्दृष्टि से देखते हैं । उसके वर्तमान पर्यायों को ही देखते हैं, जबकि त्यागी, दुनिया के त्रैकालिक पर्यायों का निरीक्षण करता है । पौद्‌गलिक पर्यायों के सम्बन्ध में चिंतन-मनन करता है : "क्षणविपरिणामधर्मा मर्त्यानां ऋद्धिसमुदयाः सर्वे !"

'मनुष्य की ऋद्धि, सिद्धि, सम्पत्ति–वैभव सब क्षणार्ध में ही परिवर्तित होनेवाला है.... विपरीत परिणाम मे परिणत होनेवाला है ।

बाह्यदृष्टि आत्मा किसी वैभवशाली, समृद्ध नगर को देख, आनन्द विभोर हो उठता है । वहाँ अन्तर्दृष्टि महात्मा सोचता है कि, 'एक दिन यह सब स्मशान में बदल जाएगा, ध्वस्त हो जाएगा । मनुष्यों की महती भीड से महकती गली और सड़कों पर एक दिन गीदड़ और सियार के झुंड़ उतर आएंगे ! यह नियति का अटल नियम है । सदन स्मशान में और स्मशान सदन में बदल जाता है । किसी की आनन्द भरी किल्लोल में किसी का करुण–क्रंदन और किसी के विलाप में किसी का आलाप । यह इस दुनिया की पुरानी रीत और परम्परा है, जिसे कोई बदल नहीं सकता ।

★ आज के वन कल के नन्दनवन !
★ आज का नन्दनवन कल का वन !
★ आज की रुपसुन्दरी नवयौवना–कल की दुर्बल असहाय वृद्धा !
★ आज की रुपहीन दूर्बलिका–कल की यौवनोन्मत्त षोडसी !

अब तुमही कहो, तत्त्वदृष्टि जीव इस परिवर्तनशील दुनिया के प्रति क्या अनुरक्त बनेगा ? उसे मोह होगा या वैराग्य ? वस्तुतः तत्त्वदृष्टि धारक मनुष्य के मन में संसार के पदार्थों के प्रति मोह होगा ही नहीं ! क्योंकि तत्त्वदृष्टि अपने आप में मोह–जनक नहीं, बल्कि मोहमारक जो है । तत्त्वदृष्टि का चिंतन नित्यप्रति वैराग्य–प्रेरक होता है ! यहाँ पूज्य उपाध्यायजी महाराज संसार के मोहोत्तेजक पदार्थों का, तत्त्वदृष्टि से चिंतन कराते हैं । आइए, हम भी उस चिंतन में प्रवेश करें !

बाह्यदृष्टेः सुधासारघटिता भाति सुन्दरी ।
तत्त्वदृष्टेस्तु साक्षात् सा विण्मुत्रपिठरोदरी ॥१९॥४॥

अर्थ : बाह्यदृष्टि को नारी अमृत के सार से बनी लगती है, जबकि तत्त्वदृष्टि को वह स्त्री मलमूत्र की हंड़िया जैसी उदरवाली प्रतीत होती है ।

विवेचन : सुंदरी !

जगत–निर्माता ब्रह्मा ने अमृत के सार से सुंदर नारी को बनाया है ! 'नैषधीय चरित' के रचयिता कवि हर्ष कहते हैं : "द्रौपदी ऐसी असीम सुन्दरी थी कि जिसकी काया का गठन ब्रह्मा ने चन्द्र के गर्भभाग से किया था । अतः चन्द्र का मध्य भाग काला दिखायी देता है ।" सभी विख्यात कवियों ने नारी–देह का वर्णन करने में अपनी लेखनी और कल्पना की कसौटी कर दी है... असार संसार में यदि कोई सारभूत है तो सिर्फ सारंगलोचना ! मृगनयना सुन्दरी है ।

'नारी' का यह मनोहारी दर्शन, बाह्यदृष्टिवाले मनुष्यों का दर्शन है ! उसी नारी का अवलोकन अन्तदृष्टि महात्मा किस रूप में करते हैं, जानते हो ?

—विष्टा और मूत्र की सिर्फ एक हंडिया !

—नरक का दिया !

—कपट की काल–कोठरी !

क्योंकि वे नारी–देह की सुकोमल धवल त्वचा के भीतर झांकते हैं और

उन्हें वहाँ विष्टा, मूत्र, रूधिर, मांस एवं हड्डियों के अलावा कुछ दिखायी नहीं देता ! उसको देखने मात्र से उन्हें राग नहीं बल्कि वैराग्य पैदा होता है !

तत्त्वदृष्टि महात्मा, नारीसमागम में नरक के दर्शन करते हैं ! नरक की भयंकर यातनाओं के दर्शन मात्र से मोह का नाश होता है !

नारी के अंगविक्षेप और प्रेमालाप के भीतर कपट–लीला का दर्शन होता है और वैराग्य जग जाता है !

बहिर्दृष्टि मनुष्य, नारी को मात्र शारीरिक उपभोग का साधन मान, उसके साथ बीभत्स व्यवहार करता है, जबकि तत्त्वदृष्टि जीव नारी की आत्मा भी मोक्षमार्ग की आराधना कर सकें इतनी पवित्र और उत्तम है !' ऐसी पवित्र दृष्टि रखते हुए उसके शारीरिक कमनीय अवयवों का ममत्व छोडने के आशय से, उसे (नारी को) विष्टा, मूत्र की हंडिया, नरक का दिया और कपट की काल कोठरी के रुप में देखता है और यह अयोग्य भी नहीं है ! स्त्री के सौंदर्य का और उसकी भाव–भंगिमा की अलौकिकता का वर्णन उन लोगों ने किया है, कि जो सर्वथा कामी, विकारी और शारीरिक वासना के भूखे भेडिये थे ! आज भी बहिर्दृष्टि मनुष्य नारी के बाह्य सौन्दर्य के रुप और रंग तथा फेशनपरस्ती की प्रशंसा करते नहीं अधाता ! इसमें नारी जाति का मान–सम्मान नहीं बल्कि घोर अपमान है ।

नारी–दर्शन से उत्पन्न सहज वासनावृत्ति को जडमूल से उखाड़ फेंकने के लिए उसकी शारीरिक बीभत्सता का विचार करना अत्यन्त आवश्यक और महत्त्वपूर्ण माना गया है ! लेकिन साथ ही यह न भूलो कि नारी–देह में भी अनंत गुणमय आत्मा वास करती है । नारी को 'रत्नकुक्षी' भी कही गयी है । यह कोई गलत बात नहीं है । अतः उसका समुचित आदर करना भी उतना ही जरुरी है। इसीलिए नारीदर्शन के बावजूद उसके प्रति मन में मोह आसक्ति पैदा न हो, ऐसा दर्शन करने को कहा गया है और यह अन्तर्दृष्टि के बिना असम्भव है ।

संसार में 'नारी'–तत्त्व महामोह का निमित्त है । लेकिन वह वैराग्य का निमित्त भी बन सकता है । इसके लिए परमावश्यक है अन्तर्दृष्टि... तत्त्वदृष्टि... !

लावण्यलहरीपुण्यं वपुः पश्यति बाह्यदृग् ।
तत्त्वदृष्टिः श्वकाकानां भक्ष्यं कृमिकुलाकुलम् ॥१९॥५॥

अर्थ : बाह्यदृष्टि मनुष्य सौंदर्य-तरंग के माध्यम से शरीर को पवित्र देखता है, जबकि तत्त्वदृष्टि मनुष्य उसे ही कुत्तों के खाने योग्य कृमि से भरा हुआ खाद्य देखता है ।

विवेचन : शरीर !

नारी से भी बढ़कर प्रिय शरीर !

तुम भला, शरीर को किस दृष्टि से देखते हो !

बाह्यदृष्टि से शरीर, सौन्दर्य से सुशोभित, स्वच्छ और निर्मल प्रतीत होता है ! जबकि तत्त्वदृष्टि को यही शरीर कौए-कुत्तों के खाने योग्य कृमिओं से भरा भक्ष्य मात्र लगता है । कोई एक शरीर को देख रागी बनता है, जबकि दूसरा उसे देख बिरागी/रागहीन बनता है ! एक शरीर की सेवा करता है, हिफाजत करता है, जबकि दूसरा उसके प्रति बिलकुल उदासीन बेपरवाह होता है ! एक शरीर के माध्यम से अपनी महत्ता समझता है, जबकि दूसरा स्वयं को उसके बन्धनों में जकड़ा महत्त्वहीन / तुच्छ मानता है !

शारीरिक सौन्दर्य उसकी शक्ति, उसका लावण्य और उसके आरोग्य को महत्त्व देनेवाला बाह्यदृष्टि जीव... शरीर में सर्वत्र व्याप्त आत्मा के सौन्दर्य को देख नहीं सकता, ना ही आत्मा की अपार शक्ति को समझ पाता है ! साथ ही, आत्मा के अव्याबाध आरोग्य की उसे तनिक मात्र कल्पना नहीं होती । अरे, मुलायम, मोहक त्वचा के तले रही बिभत्सता को वह देख नहीं सकता ! उसकी दृष्टि तो सिर्फ बाह्य त्वचा पर ही केन्द्रित होती है । वह रूखी त्वचा को मुलायम बनाने में, आकर्षक बनाने में प्रयत्नशील रहता है ! गंदी चमडी को साफ सुथरी बनाने के लिए आकाश-पाताल एक कर देता है ! बहिरात्मदशा में ऐसा ही होता है !

लेकिन अन्तरात्मा... तत्त्वदृष्टि पुरुष हमेशा शरीर के भीतर झांकता है और काँप उठता है । उसमें रहा मांस और रूधिर, मल और मूत्र... यदि बाहर निकल कर रिसने लगे तो देखा न जाए ऐसा बीभत्स दृश्य खडा हो जाता है ।

वह शरीर की रोगी अवस्था का विचार करता है ! वृद्धावस्था की कल्पना करता है... और अन्त में निश्चेष्ट देह के कलेवर का दर्शन करता है...! उसके आसपास इकट्ठे हुए कौए और कुत्तों को देखता है :'वे शरीर की बोटी-बोटी नोच-खचोट रहे हैं !' अनायास वह आँखे मूंद लेता है : 'जिस शरीर को नित्यप्रति मेवा-मिष्टान्न खिलापिलाकर पुष्ट किया, नियमित रुप से नहलाया-सजाया और सुशोभित किया, क्या आखिर वह कौओं की तीक्ष्ण चोंचों का प्रहार सहने के लिए ? कुत्ते की दाढ तले कुचल जाने के लिए ? छिः छिः !

वह शरीर को लकड़ी की चिता पर लाचार, मजबूर, निष्प्राण हालत में पडा देखता है ! क्षणार्ध में वह अग्नि की ज्वाला का भाजन बन जाता है और लकड़ियों के साथ जलकर राख हो जाता है । सिर्फ घंटे, दो घंटे की अवधि में वर्षों पुराना सर्जन राख की ढेरी बनकर रह जाता है और वायु के तेज झोंके उसे पल, दो पल में इधर-उधर उडा ले जाकर नामशेष कर देते हैं ।

शरीर की इन अवस्थाओं का वास्तविक कल्पनाचित्र तत्त्वदृष्टि ही बना सकता है ! इससे शरीर का ममत्व टूटता जाता है ! उसका मन अविनाशी आत्मा के प्रति बरबस आकर्षित होने लगता है । आत्मा से भेंट करने हेतु वह अपने भौतिक सुख-चैन को तिलांजलि दे देता है । शरीर को दुर्बल और कृश बना देता है ! शारीरिक सौन्दर्य की उसे परवाह नहीं होती । शारीरिक सौन्दर्य के बलिदान से आत्मा के सौन्दर्य का प्रकटीकरण सम्भव हो तो वह उसे (शारीरिक सौन्दर्य को) हँसते हँसते त्याग देता है । पापों के सहारे वह भूल कर भी शरीर को पुष्ट करना अथवा टिकाना नहीं चाहता । वह निष्प्राण वृत्ति धारण कर शरीर टिकाता है... वह भी आत्मा के हितार्थ ! तत्त्वदृष्टि का यही वास्तविक शरीर दर्शन है ।

गजाश्वैर्भूपभवनं विस्मयाय बहिर्दशः ।
तत्राश्वेभवनात् कोऽपि भेदस्तत्त्वदृशस्तु न ॥१९॥६॥

अर्थ : बाह्यदृष्टि को गजराज और उत्तुंग अश्वों से सज्ज राजभवन को देख विस्मय होता है, जबकि तत्त्वदृष्टि को उसी राजभवन में और हाथी और घोड़े

के अस्तबल में विशेष कुछ नहीं लगता ।

विवेचन : ऐश्वर्य !

राजभवन का वैभव !

आज के राष्ट्रपति भवन का वैभव अथवा विविध राज्यों के राजपाल, प्रधानमन्त्री, एवं मुख्यमंत्रियों के आलिशान बंगले का वैभव और सुख सामग्री का दर्शन कर तुम्हारी आँखे क्या आश्चर्य से चकित रह जाती हैं ? तिरंगा लहराते उनके राजकीय भवन, राजा-महाराजाओं के रथादि वाहनों से अधिक मूल्यवान विदेशी कारें, मोटर साइकिल और स्कूटर आदि देख कर क्या तुम मुग्ध हो जाते हो ? इसका अर्थ यही है कि तुम बाह्यदृष्टि के वशीभूत हो ! विश्व-दर्शन करने में तल्लीन हो । अब भी तुम्हारी आँखे खुली नहीं हैं, तुम वास्तविकता से ठीक-ठीक दूर हो और तुम्हारा तत्त्वांजन होना शेष है ! 'मेरे पास इतनी सारी सम्पत्ति कब हो और मैं भी आलिशान भवन, मनभावन वाहन और निरंकुश सत्ता का स्वामी कैसे बनुं ?' आदि चिंतन में सदा सर्वदा खोये रहते हो तो निःसंदेह तुम्हारी अन्तर्दृष्टि के पट खुले नहीं हैं ! फिर भले ही तुम धर्माराधना करते हो, रात-दिन प्रभु-भजन करते हो ! यदि तुम श्रमण हो तो राजसी ठाठ-बाठ और भवन-वाहन देखकर क्या विचार करोगे ? 'परलोक में भी इतने ही ऐश्वर्य और वैभव का स्वामी बनूं !' ऐसे अरमान तो दिलोदिमाग में नही बसा रखे हैं न ? ऐश्वर्यसम्पन्न राजा-महाराजा, राष्ट्रपति-प्रधानमन्त्री-राज्यपाल, मिल-मालिक अथवा उद्योगपतिओं से प्रभावित हो, स्वयं ऐसा बनने के सपने तो नहीं देखते न ? यदि तुम्हारी अन्तर्दृष्टि-तत्त्वदृष्टि जागृत है तो तुम इन बातों से प्रभावित नहीं बनोगे ! उनके जैसे ऐश्वर्यधारक बनने के अरमान नहीं रखोगे ! बल्कि इन सब पौद्गलिक पदार्थों की अनित्यता, असारता और क्षणभंगुरता का विचार करोगे, चिंतन मनन करोगे !

★ **'इन्द्रजालोपमाः स्वजनधनसंगमाः ।'**

स्वजन, धन, वैभव... इनका संयोग इन्द्रजाल-सा है !

★ **'तेषु रज्यन्ति मूढस्वभावाः !'**

इसमें मूढ... विवेकभ्रष्ट लोग ही आकण्ठ डूबे रहते हैं ! अन्तर्दृष्टि महात्मा

ऐश्वर्यशाली को, बलशाली को और उद्यमवीरों को अन्त में असहाय स्थिति में देखते हैं :

तुरगरथेभनरावृतिकलितं दधतं बलमस्खलितम् ।
हरति यमो नरपतिमपि दीनं मैनिक इव लघुमीनम् ॥

विनय विधीयतां रे श्री जिनधर्मः शरणम्

जिनके पास हिनहिनाता अश्वदल था, मदोन्मत्त हाथियों का प्रचंड सैन्य था और था अपूर्व शक्ति का अभिमान ! ऐसे रथी-महारथी महान् शक्तिशाली राजा-महाराजाओं को यमराज चुटकी में उठा ले गए ! जैसे मछुआरा एकाध मछली को ले जाता है ! उस समय उन राजा-महाराजाओं की कैसी दयनीय दशा होती होगी ?

क्षणिक, भययुक्त और पराधीन पुद्गल-जन्य ऐश्वर्य, तत्त्वदृष्टि उत्तम पुरुष को विस्मित नहीं कर सकता ! क्योंकि उनके लिए ऐसा ऐश्वर्य कोइ मूल्य नहीं रखता । उन्हें सिर्फ चिदानन्दमय आत्मस्वरुप का मूल्यांकन होता है । वे आत्मा के अविनाशी, अक्षय, अनंत, अगोचर, अभय एवं स्वाधीन ऐश्वर्य के लिए दिन-रात प्रयत्नशील रहते हैं ।

जिस ऐश्वर्य को बहिर्दृष्टि मनुष्य शिरोधार्य करने में स्वयं को गौरवान्वित समझता है, उसे अन्तदृष्टि महात्मा पैरों तले कुचलनें में ही अपना हित, परमहित मानता है ।

भस्मना केशलोचेन वपुर्धृतमलेन वा ।
महान्तं बाह्यदृग् वेत्ति चित्साम्राज्येन तत्त्ववित् ॥१९॥७॥

अर्थ : बाह्यदृष्टि मनुष्य शरीर पर राख मलनेवाले को, केशलोच करनेवाले को अथवा शरीर पर मल धारण करनेवाले को महात्मा समझता है, जबकि तत्त्वदृष्टि मनुष्य ज्ञान की गरीमावाले को महान मानता है ।

विवेचन : महात्मा !

कौन महात्मा ? बाह्यदृष्टि जीव तो शरीर पर भस्म मलनेवाले को, सिर पर जटा बढानेवाले को, वस्त्र के नाम से केवल लंगोटी धारण करनेवाले को

महात्मा मानता है ।

मस्तक पर मुंडन नहीं बल्कि लुंचन किया हो, श्वेत वस्त्र धारण किये हो, हाथ में रजोहरण और दण्ड लिए हुए हो, ऐसे व्यक्तिविशेष को 'महात्मा' के रूप में पहचानता है ।

और जिसे शरीर की कतइ परवाह नहीं, तन-बदन पर मैल की पर्त जम गयी हो, कपडे मैले-कुचैले हों, बेढंगे वस्त्र धारण किये हो, उसे भी बहिर्दृष्टि मनुष्य महात्मा कहता है ।

जानते हो ? तत्त्वदृष्टि मनुष्य 'महात्मा' को किस कसौटी से जानता है ? पहचानता है ? ज्ञान के प्रभुत्व के माध्यम से पहचानता है ।

★ ज्ञान-साम्राज्य का जो अधिपति वह महात्मा !

★ ज्ञान की प्रभुता का प्रभु यानि महात्मा !

तत्त्वदृष्टि जीव, कसौटी करते हुए देखता है : "इसमें क्या ज्ञान की प्रभुता है ? साथ ही, इसके ज्ञान साम्राज्य का विस्तार कितना और कैसा है ?" बिना ज्ञान, महानता असम्भव है । ज्ञान के बिना जीव वास्तविक 'महात्मा' नहीं बन सकता ! ज्ञान की प्रभुता से युक्त महापुरुषों को सिर्फ तत्त्वदृष्टि मनुष्य ही पहचान सकता है । सम्भव है कि वे ज्ञानी महात्मा शरीर पर भस्म न लगाते हों, अपनी देह को और वस्त्रों को मैले कुचैले नहीं रखते हों, ना ही केश का लुंचन कराते हो । ऐसी स्थिति में बाह्यदृष्टि जीव उनको महात्मा के रूप में नहीं देख सकता है । लेकिन जहाँ ज्ञान का सर्वथा अभाव हो, फिर भी शरीर पर भस्म का लेपन होगा, तन-बदन गंदा होगा, केश-लुंचन होगा... वहाँ बाह्यदृष्टि जीव को आकर्षित होते देर नहीं लगेगी ! हालाँकि उसे वहाँ ज्ञान का प्रकाश नहीं मिलेगा । वह (बाह्यदृष्टि जीव) ज्ञानार्जन के लिए महात्माओं की खोज करता ही कहाँ है ? वह महात्माओं के पास, संत चरणों मे सर अवश्य झुकाता है, परन्तु भौतिक सुख पाने के साधन जुटाने के लिए ! जानते हो, वह कौन से साधन हैं ? 'सम्पत्ति कैसे इकट्ठी करना ? एक रात में सुलतान कैसे बनना ! सोना-चाँदी किस तरह बटोरना और पुत्र-पौत्रादि कैसे प्राप्त करना !' ऐसी अजीबोगरीब पौद्गलिक वासनाओ की तृप्ति के लिए वह संत चरण में झुकता है ! उसकी यह दृढ़ मान्यता

होती है कि मैले-कुचैले, गंदे और नंग-धडंग बाबा, जोगी और अघोरी के पास ऋद्धि-सिद्धियों का भण्डार भरपूर होता है ! वे क्षणार्ध में ही गरीब को अमीर और बाँझी को पुत्रवती बनाने की अद्‌भुत क्षमता रखते हैं !'

बाह्यदृष्टि जीव को मोक्षमार्ग के लिए उपयोगी और कर्म-बन्धन तोडने में अनन्य सहायक ऐसे ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती है । लेकिन जो ऐसे ज्ञान के धनी हैं वे विश्व के लिए अनंत उपकारी और हितकारी होते हैं । तत्त्वदृष्टियुक्त जीव ऐसे महापुरुषों को ही 'महात्मा' के रूप में सम्बोधित करते हैं । साथ ही नित्यप्रति उनकी सेवा–भक्ति और उपासना करते हैं ।

महात्मा बनने के अभिलाषी जीव को ज्ञानदृष्टि से युक्त होना अत्यन्त जरूरी है । क्योंकि ज्ञान-दृष्टि के बिना महान् नहीं बन सकते ! इस तत्त्व को जाननेवाला मनुष्य तत्त्वज्ञान को पाने का प्रयत्न करेगा ही ।

सिर्फ कोई स्वांग रचकर अथवा बाह्य प्रदर्शन कर कथित महात्मा बनना, उसे रूचिकर नहीं होता है ! वह सदा–सर्वदा निष्पाप और ज्ञानपूर्ण जीवन में ही महानता के दर्शन कर, उस मार्ग पर चलता रहता है ।

न विकाराय विश्वस्योपकारयैव निर्मिताः ।
स्फुरत्कारूण्यपीयूषवृष्टयस्तत्त्वदृष्टयः ॥१९॥८॥

अर्थ : स्फूरित करूणा रूप अमृत–धारा की वृष्टि करनेवाले तत्त्वदृष्टि धारक महापुरुषों की उत्पत्ति विकार के लिए नहीं, अपितु विश्व कल्याण हेतु ही है ।

विवेचन : –तत्त्वदृष्टिवाले माहपुरुष यानी
–करुणामृत का अभिषेक करनेवाले !
–विश्व पर निरंतर उपकार करनेवाले !
–राग-द्वेषादि विकारों का उच्छैदन करनेवाले !

ग्रहण और आसेवन शिक्षा के माध्यम से और स्व-पर आगम ग्रन्थों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रहस्यों की प्राप्ति द्वारा ही तत्त्वदृष्टि महापुरुषों की उत्पत्ति होती है !

जिनशासन के आचार्य, एवं उपाध्याय ऐसे तत्त्वदृष्टि महापुरुषों को प्रशिक्षित करने में रत रहते हैं ।

विश्व में राग द्वेषादि विकारों को विकसित एवं विस्तृत करने का कार्य तत्त्वदृष्टिवाले महापुरुष नहीं करते, बल्कि उसको विनष्ट करने का भगिरथ कार्य करते हैं ।

विषय-कषाय के वशीभूत बने भवसागर में डूबते जीवों को देख तत्त्वदृष्टिधारक महापुरुषों का हृदय करुणामृत से आकण्ठ भर जाता है ! प्राय: वे डूबते जीवों को संयम की नौका में बिठाकर भव-सागर से पार लगा देते हैं।

महा भयंकर भववन में भूले पड़े जीवों को देखकर तत्त्वदृष्टिवाले महात्माओं के मन में असीम करुणा का स्फूरण होता है । फलस्वरुप वे दयार्द्र होकर जीवों को अभयदान देते हैं, सही मार्ग इंगित करते हैं, उसमें साथ देने का आश्वासन देते हैं और मोक्षमार्ग की श्रद्धा प्रदान करते हैं ।

अनेकानेक जीवों के नाना प्रकार के संदेह, शंका-कुशंकाओं का निराकरण कर, नि:शंक बन, मोक्षमार्ग की आराधना में उन्हें प्रेरित-प्रोत्साहित करते हैं । वे समुद्रवत् गंभीर और मेरुवत् अचल अडिग होते हैं । उपसर्ग-परिषह से उन्हें भय नहीं होता, ना ही दीन-हीन वृत्ति रखते हैं । नित्यप्रति मोक्षमार्ग की साधना में खोये रहते हैं । वास्तव में ऐसे महात्मा ही महाहितकारी और कल्याणकारी होते हैं । इस दुनिया में उनके बिना अन्य कोई आश्वासन, आश्रयस्थान अथवा आधार नहीं है ।

करुणासभर हृदय से और तत्त्वदृष्टि के माध्यम से किये गये विश्वदर्शन से ये विचार प्रगट होते हैं :

"अरे ! इस पृथ्वी पर धर्म की ऐसी दिव्यज्योति बिखरी हुई होने पर भी ये पामर जीव अपनी आँखों पर अज्ञान की पट्टी बांधकर संसार की चौरासी लाख जीवयोनि में निरुद्देश्य भटक रहें हैं । आत्मतत्त्व का विस्मरण कर, व्यर्थ में ही जड़ तत्त्वों से सुख प्राप्त करने का मिथ्या प्रयास कर रहे हैं । नारकीय दु:ख, कष्ट और नाना प्रकार की विडम्बनाओं से ग्रस्त हो गये हैं । न जाने कैसे

दीन–हीन और दयनीय स्थिति के भोग बन गये हैं ? कैसा करुण क्रंदन कर रहे हैं ! क्यों न बेचारों को इन यातनाओं से बचा लूं ? उन्हें धर्म का सही मार्ग बताकर उनके भव–फेरों का अन्त कर दूँ ! उन्हें धर्म का मर्म और रहस्य समझा दूँ, ताकि वे अनंत दुःख, संताप और परिताप से मुक्त हो जाएँ... भीषण भव–सागर से पार उत्तर जाएँ ।"

सांसारिक जीव उन्हें उपकारी माने या न माने, लेकिन वे निरंतर उपकार करते ही रहते हैं । उनके मन में जीव मात्र के कल्याण की भावना ही बसी हुई होती है । प्रखर प्रकाश के दाता सूर्य को भले ही कोई उपकारी माने या नहीं मानें, सूर्य प्रकाश देता ही रहता है । क्योंकि यह उसका मूल स्वभाव है ! ठीक उसी तरह, तत्त्वदृष्टि महात्माओं का मूल स्वभाव ही दीन–हीन–दयनीय जीवों के प्रति दयार्द्र हो, उपकार करने का है ।

• • •

२०. सर्वसमृद्धि

आहा ! 'वैभव' और 'समृद्धि, शब्द ही कैसे आकर्षक हैं ? जिस वैभव और समृद्धि की चोटीपर से फिसल जाने के कारण जीव की हड्डीपसली खोजे कहीं नहीं मिलती है, उस शिखर पर पहुँचने के लिए न जाने कितने लोग अधीर / आकुल-व्याकुल हो रहे हैं ! प्रस्तुत अध्याय में अपूर्व और अद्‌भुत समृद्धि के सुहाने गगनचुम्बी शिखरों का दर्शन कराया गया है !

आप इस अष्टक में आध्यात्मिक वैभव-सम्पत्ति का रसपूर्ण भाषा में वर्णन पढ़ोगे । भौतिक वैभवों का आकर्षण मिट जायेगा और आध्यात्मिक सम्पत्ति पाने के लिए लालायित हो उठेंगे !

बाह्यदृष्टिप्रचारेण मुद्रितेषु महात्मनः ।
अन्तरेवावभासन्ते स्फुटाः सर्वाः समृद्धयः ॥२०॥१॥

अर्थ : जब बाह्यदृष्टि की प्रवृत्ति बन्ध पडती है तब महात्मा को अन्तर में उपजी सर्वसमृद्धि का दर्शन होता है ।

विवेचन : अपार.... अनंत समृद्धि... !

भला बाहर खोजने की आवश्यकता ही क्या है ? अन्यत्र भटकने से क्या मतलब ? जरा सोचो और एक बात पर गौर करो । तुम अपनी बाह्य दृष्टि बन्ध कर दो । करली ? अब अन्तर्दृष्टि के पेट खोलकर अन्तरात्मा में झांकी ! एकाग्र बनकर देखो । अन्धकार है न ? कुछ दिखाई नही पड़ता ? लेकिन हताश न हो । भूलकर भी अन्तर्दृष्टि बन्ध न कर देना । उसके प्रकाश को और प्रखर बनाकर देखो । बाहर के प्रकाश से आँखे चौंधिया गई हैं, अतः कुछ देर और

घना अन्धेरा दिखायी देगा और तब शनैः शनैः वहाँ स्थित अखण्ड भण्डार दृष्टिगोचर होने लगेगा... ।

कुछ दिखा ? नहीं ?

तब तुम्हारी समस्त इन्द्रियों की शक्ति को केन्द्रित कर, अन्तरात्मा में रही समृद्धि के भण्डार को देखने के काम में लगा दो । विश्वास रखो, वहाँ विश्व का श्रेष्ठ और अक्षय भण्डार दबा पड़ा है... और तुम उस भण्डार के बिलकुल करीब हो... धैर्य रखकर उसे देखने का प्रयत्न करो । उसमें क्या है और क्या नहीं, इसे जानने के लिए इतने आकुल–व्याकुल न बनो । तुम स्वयं ही भण्डार में क्या है उसे ध्यान पूर्वक देख लेना । फिर भी कह देता हूँ कि भण्डार की समृद्धि से तुम देव–देवेन्द्रों के साम्राज्य खरीद सकते हो... । देवलोक और मृत्युलोक की समस्त ऋद्धि–सिद्धियाँ मोल ले सकते हो साथ ही, जानकारी के लिए उक्त समृद्धि की एक विशेष खासियत बता दूँ । इसे प्राप्त करने के बाद वह कदापि कम नहीं होगी... !

क्या अब भी दृष्टिगोचर नहीं हुई वह समृद्धि ? बाह्यदृष्टि तो बन्ध कर रखी है न ? उस पर 'सील' मार दो । वह तनिक भी खुली न रहने पाएँ, वरना भण्डार नजर नहीं आएगा । बाह्यदृष्टि के पापवश ही कई बार जीव इसके (समृद्धि का भण्डार) बिलकुल करीब आकर हाथ मलते रह जाते हैं ! अर्थात् उन्हें निराशा ही गले लगानी पड़ती है । अतः बाह्यदृष्टि को तो चूर-चूर कर दो ।

हाँ, अब भण्डार के दर्शन हुए ! अस्पष्ट और क्षणिक दर्शन ! परवाह नहीं अस्पष्ट ही सही, आखिर दृष्टिगोचर तो हुआ न ? अब अपने हाथ तनिक लम्बे कर आगे बढो, उत्तरोत्तर प्रकाश की ज्योत बड़ी होती जाएगी... हो गयी न ? अब तो भण्डार के स्पष्ट दर्शन हो गये न ? पूरी शक्ति से उसे खोल दो । न जाने कैसी अद्‌भुत समृद्धि से वह भरा पडा है !

अब बताइए, तुम्हें देश-परदेश में भटकने की गरज है ? सेठ-शाहुकारों की गुलामी करने की जरूरत है ? वाणिज्य, व्यापार करने की आवश्यकता है ? पुत्र–पौत्रादि परिवार के पास जाने की इच्छा है ? उन सब का स्मरण भी हो आता है क्या ? जो भी है, भव्य और अद्‌भुत है न ? लेकिन सावधान ! बाह्यदृष्टि के

खुलते ही यह सब अलोप होते देर न लगेगी और परिणामतः पुनः गाँव-नगर की गली कूंचों में भटकते भिखारी बन जाओगे ।

समाधिर्नन्दनं धैर्य दम्भोलिः समताशचिः ।
ज्ञानं महाविमानं च वासवश्रीरियं मुनेः ॥२०॥२॥

अर्थ : समाधिरूपी नन्दनवन, धैर्य रूपी वज्र, समता रूपी इन्द्राणी और स्वरूप–अवबोध रूपी विशाल विमान, इन्द्र की यह लक्ष्मी मुनि को होती है !

विवेचन : मुनिराज आप स्वयं इन्द्र हैं !

आपकी समृद्धि और शोभा का पार नहीं, अपरम्पार है ! आपको किसी बात की कमी नहीं, ना ही आप दीन हीन और दयनीय हैं ! देवराज इन्द्र की समस्त समृद्धि के आप स्वामी हैं । आइए, तनिक अलौकिक समृद्धि के दर्शन करीये ।

यह रहा आपका नन्दनवन... ! नन्दनवन कैसा सुरम्य, हरियाली से युक्त, आह्लादक और मनोहारी है ! ध्याता, ध्यान और ध्येय के मिलन स्वरुप समाधि के नन्दनवन में आपको नित्यप्रति विश्राम करना है । इस में प्रवेश करने के पश्चात् आपको अन्य किसी चीज की याद नहीं आएगी । प्रतिदिन नया, नूतन लगनेवाला यह नन्दनवन आपका अपना है... ? अच्छा लगा न ?

आपको क्या शत्रुओं का भय है ? हमेशा निर्भय रहिए । अति दुर्गम पर्वतमालाओं को क्षणार्ध में चकनाचूर कर दे, क्षत–विक्षत कर दे ऐसा शक्तिशाली वज्र आप के पास है । फिर भला, डर किस बात का ? इन्द्र इस वज्र को प्रायः अपने पास रखता है, वैसे आप को भी हे मुनिन्द्र ! धैर्य रुपी वज्र को सदा–सर्वदा अपने पास रखना है । यदि परिषहों की पर्वतमाला आपका मार्ग अवरुद्ध कर दे तो धैर्य–वज्र से उन्हें चकनाचूर कर निरंतर आगे बढ़ते रहना है । क्षुधा या पीपासा, शीत या उष्ण, डाँस या मच्छर, नारी या सम्मान... आदि किसी भी परिषह से आपको दीनता या उन्माद नहीं करना है । धैर्य–वज्र से उसे पराजित कर सदा विजयश्री वरण करते रहना है ।

आपको अकेलापन, एकांत खलता है न ? आप के मन को स्नेह से

प्लावित करनेवाला और प्रेमदृष्टि से घायल करनेवाले सहयोगी की आवश्यकता है न ? यह रही वह सुयोग्य, रुपसम्पन्न, नवयौवना इन्द्राणी समता–शचि ! आपकी कायमी सहयोगिनी है ! इसी समता–शचि के हाथ अमृतपान करते रहना, उसके अनिंद्य सौन्दर्य का उपभोग करते रहना ! आपको कभी अकेलापन महसूस नहीं होगा ! आपका मन सदा–सर्वदा प्रेम की मस्ती में खोया रहेगा । समता–शचि मध्यस्थदृष्टि है । अतः इसे क्षणार्ध के लिए भी अपने से अलग नहीं करना ।

'लेकिन वास–स्थान कहाँ ?' अरे मुनिराज, आपको विशाल विमान में ही निवास करना है । ईंट–चूने और मिट्टी–पत्थर से बनी इमारतें इसके मुकाबले तुच्छ हैं ! घास फूस की झोंपड़ी या मिट्टी के कच्चे मकान आपके लिए नहीं ! आपको अपने परिवार के साथ विमान में ही निवास करना है । ज्ञान-रुपी महाविमान के आप खुद एक मात्र मालिक हैं । ज्ञान/आत्मस्वरुप के अवबोध रूपी ज्ञान... यही महाविमान है । बताइए, इसमें निवास करते हुए आपको किसी कठिनाई का सामना तो नहीं करना पडेगा न ? सभी प्रकार की सुविधाएँ और सुख सामग्री से युक्त यह विशाल विमान है... ! वस्तुतः आपका नन्दनवन भी इसी विमान में है और आपकी अनन्य सहयोगिनी इन्द्राणी तथा वज्र भी इसी विमान में रहेंगे !

कहिए, कोई न्यूनता रह गयी है ? मुनिन्द्र, आपके पास विश्व की श्रेष्ठ सम्पत्ति उच्चतम वैभव और अमोघ शक्ति है । ऐसी दिव्यावस्था में आप के दिन रात कैसे गुजर जाएंगे, उसका पता तक नहीं चलेगा । अतः हे मुनिश्वर ! आप अपनी शक्ति, सम्पत्ति और अलौकिक समृद्धि को पहचानिए । साथ ही, इसके अतिरिक्त तुच्छ एवं असार ऐसी पौद्‌गलिक सम्पत्ति की कामनायें छोड दें ।

विस्तारितक्रियाज्ञानचर्मच्छत्रो निवारयन् ।
मोहम्लेच्छमहावृष्टिं चक्रवर्ति न किं मुनिः ? ॥२०॥३॥

अर्थ : क्रिया और ज्ञान रूपी चर्मरत्न एवं छत्ररत्न से जो युक्त है और मोहम्लेच्छो द्वारा महावृष्टि का जो निवारण करते हैं, क्या ऐसे महामुनि चक्रवर्ति नही है ?

विवेचन : हे मुनीश्वर, क्या आप चक्रवर्ती नहीं हैं ? अरे, आप तो भाव-चक्रवर्ती हैं । चक्रवर्ती की अपार समृद्धि तथा शक्ति के आप आगार हैं । यह क्या आप जानते हैं ?

आपके पास चर्मरत्न है । सम्यक्–क्रिया का चर्मरत्न है !

आपके पास छत्ररत्न है । सम्यग् ज्ञान का छत्ररत्न है !

भले ही फिर मोहरूपी म्लेच्छ, मिथ्यात्व के दैत्यदल भेजकर तुम पर कुवासनाओं का शस्–संधान कर दें ! चर्मरत्न और छत्ररत्न आपका बाल भी बाँका नहीं होने देंगे ।

आपमें यह खुमारी अवश्य होनी चाहिए कि, 'मैं चक्रवर्ती हूँ ।' साथ ही, इस बात का गर्व होना चाहिए कि "मेरे पास चर्मरत्न और छत्ररत्न हैं ।" इस प्रकार के गर्व और खुमारी से आप दीन नहीं बनेंगे, कभी हताश नहीं होंगे, कायर नहीं होंगे ।

फिर भले ही मोहम्लेच्छ कैसा भी जाल बिछाएँ, जैसा चाहें वैसी व्यूह-रचना कर दें, तुम्हारे इर्द-गिर्द मिथ्यात्व के भयंकर दैत्यों का पहरा बिठा दें और तुम्हें उलझानेवाली विविध वासनाओं की बौछार कर दें, लेकिन आप निर्भय बनकर पूरी शक्ति से उसका सामना करना । यदि तुम सम्यक् क्रियाओं में निमग्न होंगे तो वासना के तीर आपका कुछ नहीं बिगाडेंगे ! यदि तुम सम्यग्–ज्ञान में मग्न होंगे तो वासना के तीर तुम्हारी प्रदक्षिणा कर पुनः लौट जाएँगे और उसी दैत्य का वक्ष-स्थल भेदते हुए आर-पार हो जाएँगे । जानते नहीं ? स्थूलीभद्रजी पर मोह-मलेच्छ ने कैसा तो गजब का आक्रमण किया था ? वासना की कैसी अति-वृष्टि की थी ? लेकिन वे चक्रवर्ती मुनीन्द्र थे ! मोह ने नगरवधु कोशा के हृदय में मिथ्यात्व का आरोपण किया था, मिथ्यात्व ने उन पर वासनाओं की जबरदस्त मुठ मारी थी । कोशा नित्यप्रति नव-शृंगार कर वासनाओं के तीर पर तीर छोडने लगी, वासनाओं की तुमुल वर्षा करने लगी, उन्हें वश में करने के लिए नानाविध नेत्र-कटाक्ष और प्रेमालाप की शतरंज बिछाने लगी, अंगविन्यास किये और मदोत्तेजक भोजन पुरसे ! गीत-संगीत और नर्तन-कीर्तन से जादूई शमाँ बांध दिया । लेकिन उसकी युक्ति स्थूलिभद्रजी पर कारगर सिद्ध न हुई । ना

ही उसका मनोवांछित पूरा कर सकी। काम-वृष्टि का एकाध बूँद भी उन्हें भीगा नहीं सका! क्योंकि उस चक्रवर्ती के पास सत्क्रियाओं के चर्मरत्न और सम्यग्-ज्ञान के छत्ररत्न जो थे। यह दो रत्न सदा-सर्वदा चक्रवर्ती की, उनके शत्रुओं से रक्षा करते हैं। बशर्ते कि चक्रवर्ती इन दोनों को अहर्निश अपने पास ही रखे। यदि उन्हें अपने पास नहीं रखा तो घडी के सौवे भाग में ही चक्रवर्ती को नामशेष होते देर नहीं लगेगी।

मुनिराज! आपको तो सभी आश्रवों का परित्याग कर सर्वसंवर में स्वयं को नियंत्रित करना हे, यानी क्रिया और ज्ञान में परिणति प्राप्त करना है। मन-वचन-काया के योगों को चारित्र की क्रियाओं में पिरो लेना है और ज्ञान का अखण्ड़ उपयोग रखना है। भूलकर भी कभी ज्ञान-ज्योति बुझ न जाए, इसका पूरी सावधानी से ध्यान रखना है। यदि क्षायोपशमिक ज्ञान, शास्त्रज्ञान की मंद दीपिका भी बुझ गयी तो वासनाओं की डांकिनियाँ तुम्हारा खून चूस लेंगी। वासनाओं की मूसलाधार बारिश तुम्हें भीगा कर ही छोड़ेगी और फलतः तुम अस्वस्थ हो, भाव मृत्यु की गोद में समा जाओगे।

प्रतिदिन स्मरण रखिए कि आप चक्रवर्ती हैं। चक्रवर्ती की अदा से जीवन व्यतीत करना सीखिए। दो रत्नों को अहर्निश अपने पास रखिए! मोह-म्लेच्छ पर विजयश्री पा लोगे!

नवब्रह्मसुधाकुण्ड-निष्ठाधिष्ठायको मुनिः।
नागलोकेशवद् भाति क्षमां रक्षन् प्रयत्नतः ॥२०॥४॥

अर्थ : नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य रूपी अमृत-कुण्ड की स्थिति के सामर्थ्य से स्वामी और प्रयत्न से सहिष्णु-वृत्ति के धारक मुनिराज हूबहू नागलोक के स्वामीवत् शोभायमान हैं।

विवेचन : मुनिश्वर! आप शेष भाग हैं, नागलोक के अधिपति हैं।

आश्चर्यचकित न हों। साथ ही इन बातों को नीरी कल्पना न समझें! सचमुच आप नागेन्द्र हैं।

ब्रह्मचर्य का अमृत–कुण्ड आपका निवास-स्थान है। क्षमा-पृथ्वी को

आप अपने ऊपर धारण किये हुए हैं । वह आप के सहारे टिकी हुई है । अब बताइए आप नागेन्द्र हैं या नहीं ? सच मानिए, हम आपकी खुशामद अथवा चापलूसी नहीं कर रहें हैं । व्यर्थ की प्रशंसा कर हम रिझाना नहीं चाहते । बल्कि जो वास्तविकता है, यथार्थ है, वह बात कर रहे हैं ।

वाकइ आप ब्रह्मचर्य के नौ नियमों का पालन कर, मन-वचन और काया के योग से ब्रह्मचर्य के अमृत कुण्ड में रमण करते हैं, केलिक्रीडा करते हैं ।

१. स्त्री, पुरुष और नपुंसक का जहाँ वास है वहाँ आप नहीं रहते ।
२. स्त्री कथा नहीं करते ।
३. जहाँ स्त्री समुदाय बैठा हो, वहाँ आप नहीं बैठते ।
४. दीवार की दूसरी ओर हो रही स्त्री-पुरुष की राग-चर्चा अथवा प्रेमालाप आप नहीं सुनते और ऐसे स्थान को छोड़ देते हैं ।
५. सांसारिक अवस्था में की हुई कामक्रीडा का कभी स्मरण नहीं करते ।
६. विकारोत्तेजक पदार्थ : घी, दूध, दही, मलाई, मिष्टान्न आदि का कभी सेवन नहीं करते ।
७. अति आहार नहीं करते, यानी ठूँस ठूँस कर खाना नहीं खाते ।
८. शरीर को सुशोभित नहीं करते ।
९. स्त्री के अंगोपांग को एकटक नहीं निहारते ।

ब्रह्मचर्य के अमृत-कुण्ड में आप कैसे अपूर्व आह्लाद का अनुभव कर रहे हैं । इस आह्लाद का वर्णन कैसे किया जाए और किन शब्दों में किया जाए ? साथ ही यह बात वर्णनयोग्य ही कहाँ है ? अपितु गोता लगाकर अनुभव करने की बात है ! सचमुच, आप ब्रह्मचर्य के अमृतकुण्ड के अधिपति हैं, अधिनायक हैं और हैं स्वामी ! इस आनन्द की तुलना में विषयसुख की केलि-क्रीडा का आनन्द तुच्छ है, नहींवत् है, असार है ।

क्षमा यानी पृथ्वी... !

सारे भूतल पर यह लोकोक्ति सर्वविदित है : **'शेषनाग पृथ्वी को धारण किये हुए हैं !'** सम्भव है यह लोकोक्ति सत्य न हो, लेकिन हे मुनिन्द्र, आपने

तो सचमुच क्षमा-पृथ्वी को धारण कर रखा है ! क्षमा आपके सहारे ही टिकी हुई है ।

कैसी आप की क्षमा और सहनशीलता ! वास्तव में वर्णनातीत है । गुरुदेव चंडरूद्राचार्य अपने नवदीक्षित शिष्य श्रमण के लुंचित मस्तक पर दण्डप्रहार करते हैं, लेकिन नवदीक्षित मुनि शेषनाग जो ठहरे ! उन्होंने क्षमा धारण कर रखी थी। दण्ड-प्रहार की मार्मिक पीडा के बावजूद उन्होंने क्षमा-पृथ्वी को जरा भी हिलने नहीं दिया । उन्होंने सहनशीलता की पराकाष्ठा कर दी । शेषनाग अगर यों दण्ड-प्रहार से भयभीत हो जाए, विचलित हो जाए, तो भला पृथ्वी को कैसे धारण कर सकेगा ? फलतः नवदीक्षित मुनिराज अल्पावधि में ही केवलज्ञानी बन गये।

ब्रह्मचर्य और सहनशीलता !

इनके पालन और रक्षा के कारण मुनि शेषनाग हैं ।

"में शेषनाग हूँ, नागेन्द्र हूँ।" की सगर्व स्मृति-मात्र से ब्रह्मचर्य में दृढता और सहनशीलता में परिपक्वता का प्रादुर्भाव होता है ।

मुनिरध्यात्मकैलासे विवेकवृषभस्थितः ।
शोभते विरतिज्ञप्तिगंगागौरीयुतः शिवः ॥२०।५॥

अर्थ : मुनि अध्यात्मरुपी कैलाश के उपर और विवेक (सद्-असद् के निर्णयस्वरुप)रुपी वृषभ पर बैठ, चारित्र कला एवं ज्ञान कला स्वरुप गंगागौरी सहित महादेव की भाँति सुशोभित हैं ।

विवेचन : महादेव शंकर !

मुनिश्री आप ही शंकर हैं ! क्या आप जानते हैं ? यह कोई हँसी मजाक की बात नहीं, बल्कि हकीकत है । महादेव शंकर की शोभा... उनका महाप्रताप... अद्वितीय प्रभाव... सब कुछ आपके पास है । आप सकल समृद्धि और सिद्धियों के एकमेव स्वामी हैं ।

हाँ, आपका निवास स्थान भी कैलाश पर्वत है ।

अध्यात्म के कैलाश पर आप अधिष्ठित हैं न ? निरे पत्थरों की पर्वतमाला

से यह अध्यात्म का पर्वत अनेकानेक विशेषताएँ लिए हुए है । कैलाश पर्वत से अध्यात्म का पर्वत सचमुच दिव्य और भव्य है ।

वृषभ-बैल का वाहन आपके पास है न ? आप विवेक-रुपी वृषभ पर अरूढ हैं । आप सत्-असत् के भेदाभेद से अवगत हैं, हेय-उपादेय से भली भाँति परिचित हैं ! शुभाशुभ में रहे अन्तर का आपको ज्ञान है । यही आपका विवेक वृषभ है ।

क्या आप जानना चाहते हैं कि गंगा-पार्वती कहाँ पर हैं ? अरे आपकी दोनों ओर गंगा-पार्वती बैठी हुई हैं । तनिक दृष्टिपात तो कीजिए उस ओर ! कैसा मनोहारी रूप है उनका और आपकी प्रेमदृष्टि के लिये दोनों लालायित हैं ।

चारित्र-कला आपकी गंगा है और ज्ञान-कला पार्वती । उन गंगा–पार्वती से ये गंगा और पार्वती आपको अपूर्व अद्‌भुत एवं असीम सुख प्रदान करती हैं ! ये दोनों देवियां दिन-रात आपके साथ ही रहती हैं और आप को जरा भी कष्ट पडने नहीं देती ! आप से अलग उनका अपना अस्तित्व ही नहीं है...। आप के अस्तित्व एवं व्यक्तित्व में दोनों ने अपना अस्तित्व और व्यक्तित्व विलीन कर दिया है । ऐसे अनन्य, अद्‌भुत प्रेम के प्रतीक जैसी चारित्र–कला और ज्ञान कला समान देवियाँ आपके साथ हैं । अब भला बताइए, आपको विश्व से क्या लेना–देना ? उसकी परवाह ही क्यों ?

कहिए मुनिराज, नि:संकोच बताइए । समृद्धि में कोई कसर रह गयी है ? आवास के लिए उत्तुंग पर्वत, वाहन के रूप में बलिष्ठ वृषभ और गंगा-गौरी जैसी प्रियतमाएँ और आप को किस चीज की आवश्यकता है ? आप अपनी धुन में रह सारी दुनिया को प्रेमदीवानी बनाते रहिए ।

कहने का तात्पर्य यह है कि मुनिश्वर को नित्यप्रति अध्यात्म–समाधिस्थ ही रहना है । उन्हें अध्यात्म को ही अपना आवास मानना चाहिए । जब-जब बाहर निकलने का प्रसंग आए तब विवेकारूढ होकर ही जाना चाहिए । बिना विवेक के कहीं न जाएँ और ना ही कुछ देखने का प्रयत्न करें । ज्ञान और चारित्र के आए साथ ही जीना और मरना है । जीवन का आनन्द सुख एवं शान्ति, ज्ञान तथा चारित्र के सहवास में ही प्राप्त करें । इनका संग छोडा किन्ही दूसरो में खोकर,

सुख शान्ति प्राप्त करने का व्यर्थ प्रयत्न न करे। ज्ञान और चारित्र प्रति पूरी निष्ठा हो। यदि इन पर इमानदारी से अमल किया जाए तो कभी किसी चीज की कमी महसूस न होगी और कीर्ति-पताका सर्वत्र फहरती रहेगी।

शंकर महाराज ! आप अपना वैराग्य-डमरू बजाकर राग-द्वेष से भरी दुनिया को निरंतर सुनाते रहिए !

ज्ञानदर्शनचन्द्रार्कनेत्रस्य नरकच्छिदः ।
सुखसागरमग्नस्य किं न्युनं योगिनो हरेः ॥२०॥६॥

अर्थ : ज्ञान-दर्शन रुपी सूर्य और चन्द्र जिनके नेत्र हैं, जो नरकगति (नरकासुर-हन्ता) का विनाश करनेवाले हैं, ऐसे सुख रूपी समुद्र में निमग्न योगी को कृष्ण से भला क्या न्यून है ?

विवेचन : श्री कृष्ण !

—चन्द्र और सूर्य जिन की दो आंखे हैं,
—जिन्होंने ने नरकासुर का वध किया है,
—अथाह सागर में जो निमग्न रहते हैं,

योगीराज ! तुम्हें श्री कृष्ण से भला क्या कमी है ? क्या आपकी दो आँखे चन्द्र-सूर्य नहीं है ? क्या आपने नरकासुर का वध नहीं किया है ? क्या आप सुखसागर में सोये नहीं हैं ? फिर भला, आप अपने में किस बात की न्यूनता का अनुभव करते हैं ? आप स्वयं ही तो श्रीकृष्ण हैं।

आपकी दो आँखे हैं : ज्ञान और दर्शन ! ये चन्द्र-सूर्य समान ही तेजस्वी और विश्व प्रकाशक हैं।

क्या आपने नरक गति का उच्छेदन नहीं किया है ? नरकासुर का मतलब नरकगति ! चारित्र के अमोघ शस्त्र से आपने नरकगति का विच्छेद किया है, नाश किया है।

आत्मसुख के समुद्र में आप सोये हुए हैं। अब आप ही बताइए श्रीकृष्ण की विशेषताओं से आप की विशेषता कौन सी कम हैं ?

किसी वस्तु को सामान्य रूप से देखना यानी दर्शन और विशेष रुप से देखना यानी ज्ञान। विश्व की जड़-चेतन वस्तुओं को मुनि सामान्य और विशेष-दोनों दृष्टि से परखता है। हर वस्तु में सामान्य और विशेष दोनों स्वरूप समाविष्ट हैं। जब उसके सामान्य स्वरूप को देखा जाए तब दर्शन और विशिष्ट रूप में देखा जाए तब ज्ञान कहा जाता है।

योगी का जीवन महाव्रतों से युक्त होता है। अतः वह मृत्यु के बाद नरक में नहीं जाता, अतः उसने नरकासुर का वध किया, ऐसा कहा जाता है। क्योंकि नरक का भय यह अपने आप में एकाध असुर से कम नहीं है। पवित्र पापरहित जीवन व्यतीत करने से ही यह भय दूर होता है।

आध्यात्मिक सुख के महोदधि में मुनि मस्त होकर शयन करता है। भले अरेबीयन महासागर सूख जाए, जल का थल हो जाय और अथाह जलराशि रणप्रदेश में बदल जाए, लेकिन अध्यात्म-महोदधि कभी नहीं सूखता !

पूज्य उपाध्यायजी महाराज मुनि को अक्षय, अभय और स्वाधीन समृद्धि का सुख बताने हेतु आत्मभूमि पर ले जाकर, एक के बाद एक उत्तमोत्तम समृद्धि का दर्शन कराते जाते हैं।

संसार में श्रेष्ठ समझी जानेवाली समृद्धि के विविध स्वरूपों का निकट से दर्शन कराते हुए कहा है : "तुम तो ऐसी सम्पत्ति के स्वयं अधिपति हो... तुम दुनिया के सर्वश्रेष्ठ समृद्धिवान और वैभवशाली हो। तुम दीन न बनो।

भौतिक संपदा के प्रति भूल कर भी आकर्षित न हो। तुम देवेन्द्र हो, तुम चक्रवर्ती हो, तुम महादेव शंकर हो और श्रीकृष्ण भी तुम ही हो। सिर्फ अपने आपको पहचानो (Know your self) जब तुम अपने आपको पहचान लोगे तब दुनिया के श्रेष्ठ सुखी जीव बनते तुम्हें विलम्ब नहीं लगेगा !"

योगी ही बनना पडे तो हरि से किसी बात में न्यूनता नहीं लगेगी ! जब तक योगी नहीं बनेंगे तब तक गली-बाजारों में भटकते भिखारी से भी न्यूनता महसूस होगी ! अतः तुम्हें नित्यप्रति ज्ञान और चारित्र की योग-साधना करनी है।

या सृष्टिर्ब्रह्मणो बाह्या बाह्यापेक्षावलम्बिनी ।
मुनेः परानपेक्षाऽन्तर्गुणसृष्टिः ततोऽधिका ॥२०॥७॥

अर्थ : जो ब्रह्मा की सृष्टि है, वह सिर्फ बाह्य जगतरूप है, साथ ही बाह्य कारण की अपेक्षा रखनेवाली है । जबकि मुनिवर की अन्तरंग गुण-सृष्टि अन्यापेक्षारहित होने से अधिक श्रेष्ठ है ।

विवेचन : ब्रह्मा सृष्टि के जनक हैं !

कहा जाता है कि ब्रह्मा ने सृष्टि का सर्जन किया है, लेकिन उनका सर्जन कैसा है ? समस्त जगत का सर्जन पर-सापेक्ष ! अन्य के अवलम्बन पर ही सारा दार-मदार ! इस प्रश्न का निराकरण कहीं नहीं मिलता कि आखिर ब्रह्मा ने ऐसी सृष्टि का सर्जन क्यों किया ? किसी ने नन्हे-मुन्नों को समझाने की दृष्टि से कहा प्रतीत होता है कि ब्रह्मा के मन में सृष्टिसर्जन का विचार आया और सर्जन कर दिया । लेकिन एकाध बच्चे ने कहीं पूछ लिया होता : 'ब्रह्मा को किसने पैदा किया ?' तब निःसंदेह यह बात प्रचलित न होने पाती कि ब्रह्मा ने सृष्टि की रचना की है । किसी के गले न उतरे ऐसी यह बात बुद्धिजीवियों ने स्वीकार कर ली है और शास्त्रों ने इसे सिद्ध करने के प्रयत्न किये हैं । 'ब्रह्मा की उत्पत्ति कैसे हुई ?' प्रश्न का जवाब अगर कोई दे दें कि 'ब्रह्मा तो अनादि है !' तब हमें यह मानने में क्या हर्ज है कि 'सृष्टि भी अनादि है !'

जाने दीजिए इस चर्चा को ! हमें सिर्फ विचार करना है मुनि ब्रह्मा के सम्बन्ध में । मुनि-ब्रह्मा अन्तरंग गुणों की रचना करते हैं, गुण-सृष्टि का सर्जन करते हैं... ! उक्त रचना से बाह्य रचना कई गुनी श्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण है । गुणसृष्टि के सर्जन में किसी बाह्य कारण की अपेक्षा ही नहीं रहती ।

बाह्य दुनिया के सर्जन में न जाने कितना पराश्रयपन ! एक मकान खड़ा करने में, नारी की स्नेह-दृष्टि प्राप्त करने में, धन-सम्पत्ति संचय करने में, सगे-सम्बन्धी तथा मित्र-परिवार के साथ सम्बन्ध बांधने में... आत्मा से भिन्न ऐसे जड़-चेतन पदार्थों के बिना भला, चल सकता है क्या ? इन पदार्थों के लिए कितने राग-द्वेष और असत्य के फाग खेलने पड़ते हैं ? जो भी झगड़े और क्लेश होते हैं इन पर-पदार्थों के कारण ही होते हैं । ठीक वैसे ही, जीवमात्र की सुख-शान्ति

और वैभव की सारी कल्पनाएँ इसी पर-पदार्थों को लेकर ही हैं और हमारे जीवन में पर-पदार्थों की अपेक्षा ऐसी तो रूढ बन गई है कि उसके बिना संसार में जीव जी नहीं सकता, वस्तुतः उसका जीना असम्भव है ।

मुनिराज जिस अनुपात में साधना-आराधना के मार्ग में आगे बढते हैं, ठीक उसी अनुपात में पर-पदार्थ की सहायता के बिना जीवन व्यतीत करने का प्रयत्न करते हैं । जैसे भी सम्भव हो कम से कम परपदार्थों की सहायता लेते हैं । साथ ही, आंतरिक गुणसृष्टि का इस तरह सर्जन करते हैं कि जिसके बल पर नित्य स्वतंत्र और निर्भय जीवन जी सकें । उनकी सृष्टि में प्रलय के लिए कोई स्थान नहीं, जबकि ब्रह्मा द्वारा रचित सृष्टि में प्रलय और उल्कापात की पूरी सम्भावना है । प्रलय अर्थात् सर्वनाश ! आत्मगुणमय सृष्टि में जब जीवन का प्रारम्भ होता है तब किसी प्रकार की कोई अपेक्षा नहीं होती, बल्कि सर्वथा निरपेक्ष जीवन ! मतलब कोई राग-द्वेष नहीं, झगड़े-फसाद नहीं ! सुख-दुःख का द्वंद्व नहीं ।

ब्रह्माजी की सृष्ट की तुलना में मुनिराज की सृष्टि कितनी भव्य, दिव्य और अलौकिक होती है । इस सृष्टि में सुख, शान्ति, निर्भयता और विशाल समृद्धि का भण्डार होता है कि जीव को पूर्ण तृप्ति हो जाय !

अतः हे मुनिराज ! आप तो सृष्टि के सर्जनहार ब्रह्माजी से भी महान् हैं ! कष्ट, दुःख, वेदना और नारकीय यातनाओं से युक्त ब्रह्मा की दुनिया के बजाय आप कैसी अनुपम, अलौकिक, अनंत सुख, आनन्द और पूर्ण रूप से स्वायत्त, गुणसृष्टि का सृजन करते हैं ! अब तो आपको अपनी महत्ता, स्थान और शक्ति का अहसास हुआ या नहीं ? अब तो आपको किसी बात की न्यूनता का अनुभव नहीं होगा न ? वह कोई काल्पनिक बात नहीं है, बल्कि वास्तविक हकीकत है । आप इस पर गंभीरता से विचार कर इस बात को आत्मसात् करना । परिणामतः गुणसृष्टि का सर्जन करने के लिए आप प्रोत्साहित होंगे और कल्पित सृष्टि की रचना से मुक्त हो जाएंगे ।

रत्नैस्त्रिभिः पवित्रा या श्रोतोभिरिव जाह्नवी ।
सिद्धयोगस्य साऽप्यर्हत्पदवी न दवीयसी ॥२०॥८॥

अर्थ : जिस तरह तीन प्रवाहों के संगमस्वरुप पवित्र गंगा नदी है, ठीक उसी तरह, तीन रत्नों से युक्त पवित्र ऐसा तीर्थंकर पद भी सिद्धयोगी साधु से अधिक दूर नहीं ।

विवेचन : खैर, आप ब्रह्मा शंकर अथवा श्री कृष्ण बनना नहीं चाहते, देवेन्द्र बनने का या चक्रवर्तीत्व का शौक नहीं, लेकिन तीर्थंकर–पद की तो चाह है न ? तीर्थंकर–पद !

सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यक् चारित्र : इन तीन रत्नों से पवित्र पद ! क्या आप इस पद के चाहक हैं ? यह भी मिल सकता है ! लेकिन इसके लिए आपको ढेर सारी प्राथमिक तैयारियाँ करनी पड़ेंगी और उसके लिए दो बातें मुख्य हैं :

(१) भावना और (२) आराधना ।

मन में हमेशा ऐसी भावना होनी चाहिए कि, 'मोहान्धकार में भटकते और दुःखी-पीडित जीवों को मैं परम सुख का मार्ग बताऊँ, उन्हें दुःख से मुक्ति दिलाऊँ... समस्त जीवों को भव-बन्धन से आजाद करूँ !' इस भावना के साथ वीस स्थानक तप की कठोर आराधना होनी चाहिए । इन दो बातों से तीर्थंकर–पद की नींव रखी जाती है और तीसरे भव में उस पर विशाल इमारत खडी हो जाती है । तीर्थंकर नामकर्म निकाचित करते ही आप तीर्थंकर बन गये समझो !

इस भावना और आराधना में प्रगति होने पर; गुरुभक्ति और ध्यान योग के प्रभाव से आप स्वप्न में तीर्थंकर भगवान का दर्शन करोगे !

विश्व का सर्वोत्तम श्रेष्ठ पद !

तीर्थंकरत्व की दिव्यातिदिव्य समृद्धि ! समवसरण की अद्‌भुत रचना, अष्ट महाप्रतिहारी की शोभा, वाणी के पैंतीस गुण और चौंतीस अतिशय... वीतराग दशा और सर्वज्ञता, चराचर विश्व को देखना और जानना... शत्रु-मित्र के प्रति समदृष्टि ! ऐसी अवस्था आपको पसंद है न ? और कार्य क्या है आपका ? सिर्फ धर्मोपदेश द्वारा विश्व में सुख-शान्ति की सौरभ फैलाना ! समस्त विश्व को सुखी करने का उपदेश देना !

अरिहंत-पद कहिए या फिर तीर्थंकर-पद, गंगा की तरह पवित्र है ! पदवी श्रेष्ठ होने पर भी उसका लेशमात्र अभिमान नहीं ! पदवी सर्वोत्तम, लेकिन कतइ दुरुपयोग नहीं ! ऐसी यह पवित्र पदवी है ! तीन रत्नों की पवित्रता जैसी । जिस तरह तीन प्रवाहों से गंगा पवित्र है न ? आप तीर्थंकर पद की कामना करें, अन्तर में अभिलाषा रखें, यह सर्वथा उचित है ।

लेकिन इसके लिए जगत के समस्त जीवों के प्रति करूणा-भाव धारण करें ! सबका हित का विचार करें । किसी जीव के लिए अनिष्ट चिंतन न करें। सांसारिक जीवों के दोष अथवा अवगुण दिखायी दें तो उन्हें जड-मूल से उखाड़ ने की भावना रखें ! ठीक वैसे ही, उसके लिए सक्रिय प्रयत्न करें। ना कि उनके दोष देख कर उनसे मुँह फेर लें । उनके प्रति तिरस्कार अथवा घृणा का भाव न रखें । स्वहित के बजाय परहित को अपने विचारों का केन्द्र बिन्दू बनाना।

तीर्थंकर–पद की प्राप्ति के मनोरथ भावना और तमन्ना तब पैदा होती है जब आत्मा योग–भूमिका में स्थिर हो गयी हो । ज्ञानदृष्टि से संसार का अवलोकन किया हो ! उसकी बाह्य समृद्धि को तुच्छ, असार समझ कर परित्याग कर दिया हो अथवा उसे त्यागने का दृढ़ संकल्प जन्मा हो !

सर्व प्रकार से श्रेष्ठ... सर्वोत्तम समृद्धि में तीर्थंकर-पद की समृद्धि सर्वोच्च मानी जाती है और वह वास्तविकता से परिपूर्ण है । प्रस्तुत 'सर्वसमृद्धि' अष्टक में अंतिम समृद्धि 'तीर्थंकर-पद' की बताकर पूज्य उपाध्यायजी महाराज अष्टक पूरा करते हुए आत्मा को तीर्थंकर-पद-प्राप्ति हेतु आवश्यक उपायों की ओर उन्मुख होने का निर्देश करते हैं । तीर्थंकर-पद का प्रधान कार्य है : दुःख त्रास और संकटों से दुनिया को उवारने का । अतः वह श्रेष्ठ-पद कहलाता है !

• • •

२१. कर्मविपाक-चिन्तन

तुम्हारे अपने सुख और दुःख के कारण जानने के लिए तुम्हें कर्म के तत्त्वज्ञान का अभ्यास करना ही होगा। समस्त विश्व पर जिन कर्मों का जबरदस्त प्रभाव है, उन्हें (कर्मों को) पहचाने बिना नहीं चलेगा। हमारे समस्त सुख और दुःख का मूल आधार कर्म ही है। यह सनातन सत्य जान लेने के पश्चात् हमें अपने सुख-दुःख का निमित्त, भूल कर भी अन्य जीवों को नहीं बनाना चाहिये! प्रस्तुत चिंतन गहरायी से और एकाग्र चित्त से करना! बीच में ही रुक न जाना, बल्कि पुनः पुनः चिंतन करना! निःसंदेह तुम्हें अभिनव ज्ञानदृष्टि प्राप्त होगी।

दुखं प्राप्य न दीनं स्यात् सुखं प्राप्य च विस्मितः!
मुनिः कर्मविपाकस्य जानन् परवशं जगत् ॥२१॥१॥

अर्थ : कर्मविपाकाधीन जगत से परिचित होकर साधु दुःख पाकर दीन नहीं होता, ना ही सुख पाकर विस्मित!

विवेचन : सम्पूर्ण जगत!

कर्मों की अधीनता!

कर्म के अधीन कोई दीन है, कोई हीन है! कोई मिथ्याभिमानी है! कोई दर-दर भटकता है तो कोई घर-घर भीख माँगता है। कोई गगन-चुम्बी अट्टालिकाओं में इठलाता-इतराता है तो कोई प्रिय-परिजन के वियोग में करूण क्रंदन करता है। कोई इष्ट के संयोग में स्नेह का संवाहन करता है तो कोई पुत्र-परिवार की विरहाग्नि में निरंतर धू-धू जलता है। कोई रोग-बीमारी से त्रस्त हो छटपटाता है, विलाप करता है तो कोई निरोगी काया के उन्माद में प्रलाप करता है!

कर्म के ये कैसे कठोर विपाक हैं ? **ज्ञानावरणीय** कर्म के विपाक से अज्ञान, मूर्खता और मूढता का जन्म होता है । **दर्शनावरणीय**-कर्म के उदय से घोर निद्रा, अन्धापन, मिथ्या-प्रतिभास का शिकार बनता है ! जबकि **मोहनीय कर्म** के विपाक तो अत्यन्त भयंकर और असहनीय होते हैं कि बात ही न पूछो ! बिलकुल विपरीत समझ होती है ! परमात्मा, सदगुरु और सद्धर्म के सम्बन्ध में एकदम उलटी कल्पना ! वह हितैषी को दुश्मन मानता है और दुश्मन को गहरा दोस्त ! क्रोध से लाल-पीला हो जाएँ और अभिमान के शिखर पर आरूढ हो, फिसल पड़ता है ! साथ ही, मोह-जाल बिछाता है । लोभ-फणिधर के साथ खेलता है ! न जाने मोहनीय कर्म के विपाक कैसे भयानक हैं ! बात-बात में भय और नाराजगी ! क्षण में हर्ष और क्षण में शोक ! हरदम डर और हरदम जुगुप्सा ! पुरुष को स्त्री समागम की तीव्र लालसा और स्त्री को पुरुष-देह की अभिलाषा ! जबकि नपुंसक को स्त्री-पुरुष-दोनों का आकर्षण ! **अन्तराय कर्म** के विपाक भी जटिल और निश्चित हैं ! पास में वस्तु हो, लेनेवाला सुयोग्य-सुपात्र व्यक्ति हो, लेकिन देने की इच्छा नहीं होती ! सामने वस्तु हो, मन पसन्द हो, फिर भी प्राप्त नहीं होती । लाडी (नारी) गार्डी (वाहन) और वाडी (बंगला) होते हुए भी उसका उपभोग न कर सके । इष्ट भोजन सामने होते हुए खा न सके ! तपश्चर्या करने की भावना न हो !

मुनि किसीको ऊँचे कुल में और किसीको नीच कुल में जन्मा देख, यह सोचते हुए समाधान करता है कि, 'यह सब गोत्र-कर्म का विपाक है ।' मुनि जब किसीको निरोगी, पूर्ण स्वस्थ देखता है और किसीको रुग्ण... बीमार... सड़ता... गलता हुआ देखता है तब यह समाधान करता है कि यह सबलता-दुर्बलता **वेदनीय कर्म** का विपाक है ! मुनि किसीको मनुष्य रुप में, किसीको पशु रुप में तो किसीको देव रुप में और किसीको नरक रुप में जानता है तब यों सोच कर समाधान करता है कि, 'यह उसके **आयुष्य कर्म** और **गतिनाम कर्म** का विपाक है । मुनि जब किसीको बाल्यावस्था में मरते हुए देखता है, किसीको युवावस्था में तो किसीको वृद्धावस्था में, तब उसे किसी प्रकार का दुःख, शोक अथवा आश्चर्य नहीं होता । वह उसे सिर्फ आयुष्य कर्म का परिणाम समझता है ।

मुनि किसीको सौभाग्यशाली, किसीको दुर्भागी, किसीको सफल, किसीको असफल, किसीको मृदुभाषी, किसीको कर्कशभाषी, किसीको खूबसूरत, किसीको बदसूरत, किसीको हंसगतिवाला तो किसीको ऊँट गतिवाला देखता है, तब उसे इससे कोई हर्ष-विषाद नहीं होता ! बल्कि वह इसे नामकर्म का विपाक समझता है ।

जब मुनि के अपने जीवन में भी ऐसी विषमताओं का प्रादुर्भाव होता है तब 'यह कैसे हुआ ? यह किस तरह सम्भव है ?' आदि प्रश्न उपस्थित कर उद्विग्न नहीं होते । क्योंकि वे '**कर्म विपाक के विज्ञान**' से भली-भाँति परिचित होते हैं । उसके पीछे रहे '**कर्म-बन्धन-विज्ञान**' के भी वे जानकार होते हैं । अतः वे दीनता नहीं करते और सुख-दुःख के द्वंद्व उन्हें स्पर्श तक नहीं कर पाते। उक्त महावैज्ञानिक मुनि के अन्तर में हर्ष–शोक की लहरियाँ/ भँवर पैदा नहीं हो पाते । वे स्वयं को सुखी अथवा दुःखी नहीं मानते । कर्मोदय भले शुभ हो या अशुभ, वे उसमें खो कर किसी प्रकार की सुख-दुःख की कल्पना नहीं करते।

दीनता-हीनता और हर्षोन्माद के चक्रवात में से बचने का यह एक वैज्ञानिक मार्ग है; 'जगत् को कर्माधीन समझो । संसार की प्रत्येक घटना के पीछे रहे कर्म तत्त्व की गहरी और वास्तविक जानकारी हाँसिल करो । यही जानकारी तुम्हें कभी दीन नहीं बनने देगी, ना ही विस्मित होने देगी । फलतः, दीनता और विस्मय नष्ट होते ही तुम अन्तरंग आत्मसमृद्धि की दिशा में गतिशील बनोगे ।

येषां भृभंगमात्रेण, भज्यन्ते पर्वता अपि ।
तैरहो कर्मवैषम्ये भूपैर्भिक्षाऽपि नाऽऽप्यते ॥२१॥२॥

अर्थ : जिनकी भ्रुकुटि तनने मात्र से भी बड़े बड़े पर्वत छिन्न भिन्न हो जाते हैं, ऐसे महारथी राजा भी कर्म-विषमता पैदा होने पर भिक्षा भी नहीं पाते, यह आश्चर्य है !

विवेचन : कर्मों की यह न जाने कैसी विषमता है ?

बड़े से बड़े राजा भिखारी बन जाते हैं ! भीख माँगने पर भी अनाज का दाना नहीं मिलता ! जिन की भ्रुकुटि तनते ही हिमाद्रि की पर्वतमालाएँ कम्पायमान

हो जाएँ... जिनके आक्रमण मात्र से गिरि-कन्दराएँ मिट्टी में मिल जाएँ... शत्रुओं के छक्के छूट जाएँ... धरती का कोना कोना विनाश का प्रतीक बन जाएँ... लेकिन कर्मों की भयानकता प्रकट होते ही वही राजा, महाराजा और सम्राट... पलभर में रंक, दीन, गरीब बनकर दाने-दाने के मुँहताज हो जाते हैं ।

ऐसे अनेकानेक राजा-महाराजाओं के पतन की करूण कहानियाँ इतिहास के झरोखे से झांकने में तुम्हें अवश्य दृष्टिगोचर होगी । उनके अधः पतन की कहानियों से इतिहास के पन्ने भरे पडे हैं । सम्भव है यह सब पढ़कर तुम्हारा मन सहानुभूति से द्रवित हो उठा होगा अथवा 'वे इस के काबिल थे,' सोचकर तुम्हें संतोष हुआ होगा ! लेकिन किसी का अकस्मात इस तरह का पतन कैसे सम्भव है ? दीर्घावधि से विश्व के दरबारों में जिनका नाम गुंजारित था, उनका यों यकायक पतन क्यों कर ? इसकी सच्चाई की गहराई में जाने का, सत्य-शोधन करने का कभी क्या तुमने प्रयत्न किया है ?

क्या भूल गये रूस के लोहपुरुष कुश्चेव को ? अमरिकी तानाशाह और धनाढ्य हस्तियाँ भी उससे थर्राती थीं ! उसके शाब्दिक अग्निबाणों से विश्व का हर नागरिक दग्ध था ! जिसने स्टेलीन, लेनीन और बुल्गालीन जैसे रुस के महारथियों को जन-मानस में से उखाड़ फेंका था ! इतना ही नहीं बल्कि रुस के भाग्यविधाता-निर्माता लेनीन-स्टेलीन की कब्रों को तोड़-फोड़ कर उनका नामो-निशान तक मिटा दिया ! उस महाबली कुश्चेव का पतन होते देर न लगी ! एक ही रात में वह और उसका नाम मिट गया ! आज रुस में रुसी उसे जानते तक नहीं !

सिर्फ कुश्चेव ही नहीं, अमरिकन राष्ट्राध्यक्ष केनेडी को ही लीजिए ! उसका प्रभाव और दबदबा विश्व के हर कोने में छाया हुआ था ! अमरिकन प्रजा अब्राहम लिंकन के बाद उसे ही महापुरुष मानती थी ! वह उनका एक मात्र भाग्य-विधाता था ! लेकिन देखते ही देखते वह गोली का निशाना बन गया ! उसे कोई नहीं बचा सका ! ऐसे कई किस्से किंवदंतियों से विश्व का इतिहास भरा पडा है ! इस पतन और विनाश के पीछे एक अदृश्य फिर भी ठोस सत्य, कठोर फिर भी चिरंतन तत्त्व काम कर रहा है ! जानते हो, वह क्या है !

वह है कर्म तत्त्व... !

यश, कीर्ति, सौभाग्य, सफलता, सत्ता और शक्ति यह सब 'शुभ कर्म' के परिणाम हैं। उनकी अपनी समयमर्यादा होती है। लेकिन अल्पमति मनुष्य इससे पूर्णतया अनभिज्ञ होता है। वह उसकी कालमर्यादा को जानता नहीं। अतः उसे दीर्घकालीन समझ लेता है। लेकिन जब कल्पित ऐसे अल्पकालीन शुभ कर्मों का अस्त हो, अचानक अशुभ कर्मों का उदय होता है, तब पतन, अधःपतन और विनाश की दुर्घटनायें घटती हैं !

अपयश, दुर्भाग्य, अपकीर्ति, निर्बलता और सत्ताभ्रष्टता, ये अशुभ कर्मों के फल हैं। सूरमाओं के सरदार इजिप्त के राष्ट्राध्यक्ष नासिर को इजराईल जैसे छोटे राष्ट्र के हाथों हार खानी पड़ी, जीते-जी कलंक का धब्बा अपने दामन पर लगा, एक 'दुर्बल शासक' के रुप में प्रसिद्ध हुआ... भला क्यों ? सिर्फ एक ही कारण ! उसके शुभ कर्मों का अस्त हो गया था और अशुभ कर्मों ने उस पर अधिकार कर लिया था।

लेकिन यों घबराने से काम नहीं चलता। अशुभ कर्म की कालमर्यादा पूरी हो जाने पर, शुभ कर्म का पुनः उदय होता है।

दूसरी भी एक विचित्रता है कि जब कतिपय अशुभ कर्मों का उदय चल रहा हो तब कुछ शुभ कर्मों का उदय भी उसके साथ-साथ हो सकता है। लेकिन प्रतिपक्षी नहीं। उदाहरण के लिए : यश का उदय हो तब उसके प्रतिपक्षी अपयश, यानी अशुभ कर्म का उदय नहीं होता, लेकिन बीमारी, जो स्वयं ही एक अशुभ कर्म हैं, का उदय सम्भव है ! क्योंकि बीमारी यह यश का प्रतिपक्षी कर्म नहीं है।

जब तक कर्म हमारे अनुकूल हैं, तबतक जीव जो चाहे उत्पात, ऊधम और आंदोलन करें और हूँकार भरें, लेकिन जैसे ही अशुभ कर्मों का उदय हुआ नहीं कि जीव का उत्पात, उद्यम और उन्माद पलक-झपकते न झपकते खत्म हो जाते हैं। गर्वहरण होता है और वह अपमानित हो दुनिया के मजाक का विषय बन जाता है। अतः कर्म का विज्ञान जानना आवश्यक है।

जातिचातुर्यहीनोऽपि कर्मण्यन्युदयावहे ।
क्षणाद् रङ्कोऽपि राजा स्यात् छत्रछन्नदिगन्तरः ॥२१॥३॥

अर्थ : जब अभ्युदयप्रेरक कर्मों का उदय होता है तब जाति और चातुर्य से हीन और रंक होने पर भी, क्षणार्ध में दिशाओं को छत्र से ठकनेवाला राजा बन जाता है ।

विवेचन : वह नीच जाति में जन्मा है, चतुराई और अक्लमंदी नाम की कोई चीज उसमें नहीं है, फिर भी चुनाव में प्रचण्ड मत से चुन आता है, विजयी बनता है, मन्त्री या मुख्य मन्त्री के सर्वोच्च स्थान पर आरूढ़ होता है । आज के युग में राजा कोई बन नहीं सकता । राजा-महाराजाओं के राज्य और सत्ता पेड़ से गिरे सूखे पत्ते की तरह नष्ट हो गई है । फिर भी चुनाव में विजयी जातिहीन मनुष्य राजाओं का राजा बन जाता है ।

आज सारे देश में 'जातिविहीन समाज-रचना' की हवा पूरे जोर से बह रही है ! 'मनुष्यमात्र समान', सुक्ति के अनुसार हर जगह नीच जाति के लोगों को उच्च स्थानों पर बिठा दिये गये हैं और कुशाग्र बुद्धिवाले परमतेजस्वी उच्च जाति और वर्ण के व्यक्तियों को सरेआम हेयदृष्टि से देखा जाता है... ! आन्तरजातीय विवाह का सर्वत्र बोलबाला है... और ऐसे विवाह रचानेवाले व्यक्ति तथा परिवारों को पुरस्कृत कर प्रशासकीय स्तर पर सम्मानित किया जाता है । भले ही निम्न जाति के लोगों को उच्च स्थान प्रदान किये जाते हो, लेकिन यह न भूलिए कि 'जैसी जात वैसी पात !'

सोचना यह है कि आखिर इस उत्थान और पतन के पीछे क्या राज छिपा है ? जातिविहीन और मतिमंद व्यक्ति उच्च स्थान पर आरूढ कैसे हो गये ? यहाँ पर इसका समाधान / निराकरण यों किया गया है : "अभ्युदय करनेवाले कर्मों के उदय से !" शुभ कर्म का उदय व्यक्ति का अभ्युदय करता है । शुभ कर्म का उदय, जाति विहीन और मतिमंद के लिए भी लागु है ! बुद्धिहीन व्यक्ति भी शुभ कर्म के उदय से सर्वसत्ताधीश बन जाता है !

लगता है आज के युग में-उन तमाम नीच जाति के और बुद्धिहीन लोगों के सामुदायिक शुभ कर्मों का उदय आ गया है । फलतः निम्न जातिवाला 'बोस'

बन बैठा है और उच्च जातिवाला कुशाग्र बुद्धि का धनी दफ्तर और कार्यालय में चपरासी, चाकर और पहरेदार बन कर रह गया है। नीच जाति के लोग 'बड़े' बन गये हैं ! जबकि उच्च जाति में जन्मा हर तरह से कुशल, उसकी अटेची उठाकर आगे-आगे चलता नजर आता है।

प्राय: यह देखा गया है कि यश, कीर्ति, सत्ता, सौभाग्य, सुस्वर, आदेयता आदि कर्म, उच्च और नीच जाति में भेदाभेद नहीं करते, ठीक वैसे ही अपयश, अपकीर्ति, दुर्भाग्य, कर्कश स्वर अनादेयता आदि की उच्च जाति से न कोई दुश्मनी है अथवा न परहेज है। जानते हो, हमारे स्वतंत्र भारत के संविधान कर्ता कौन थे ? डा. आम्बेडकर ! उनका जन्म नीच जाति में ही हुआ था। काँग्रेसाध्यक्ष कामराज, जो हमारे स्व. प्रधानमन्त्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू के युग की एक जानी मानी हस्ती और 'कामराज-योजन' के जनक थे वे भी नीच कुल में ही जन्मे थे। दोनों हस्तियाँ हरिजन थीं ! भारत के भूतपूर्व राष्ट्राध्यक्ष डॉ. जाकीर हुसैन एक मुस्लिम परिवार में जन्मे थे ! जबकि तत्कालीन काँग्रेस प्रमुख दामोदर संजीवैया भी हरिजन परिवार से ही थे ! भारत के सर्वोच्च स्थानों पर हीनजाति के लोग बैठे थे ! उसके पीछे कौन सी अदृश्य शक्ति काम कर रही थी ? आखिर उसका राज क्या था ? सिर्फ एक, उनके शुभ कर्मों का उदय !

जबकि उच्च कुल में पैदा हुए लोगों की कीर्ति-पताका तार-तार हो गयी ! उनका सौभाग्य और आदेयता मानो लुप्त हो गयी ! तीस करोड़ हिन्दुओं के सर्वमान्य धर्मगुरु शंकराचार्य को अकस्मात् जेल का आतिथ्य ग्रहण करना पड़ा, उनकी गो-रक्षा की माँग सरकार ने नहीं सुनी और उन्हें शासकीय स्तर पर अनादर का भाजन बनना पड़ा !

यह सब कर्मों का खेल है ! उसमें हर्ष-शोक का प्रश्न ही नहीं उठता। किसी कवि ने ठीक ही कहा है।

कबहीक काजी कबहीक पाजी
कबहीक हुआ अपभ्राजी;
कबहीक कीर्ति जगमें गाजी
सब पुद्गल की है बाजी... !

अर्थात् कभी-कभार तुम्हें 'काजी' के बहुमान से सम्बोधित कर दुनिया तुम्हें सम्मानित करती है, तो कभी 'पाजी' कहकर तुम्हारा सरेआम अपमान करती है ! कभी तुम्हारी कीर्ति–पताका सर्वत्र फहराती है तो कभी तुम्हारी कलंकगाथा दुनिया में फैल जाती है । यह सब कर्म की बाजी है । किसी ने ठीक कहा है, **'न जाना जानकी नाथे कल क्या होनेवाला है,'** कामराज को कौन जानता था ? लेकिन काँग्रेसाध्यक्ष बनते ही वे भारतीय राजनीति के बेताज बादशाह बन गये और वह दिन भी आया कि जब उनको कोई जानता ही नहीं ! यह सब शुभ कर्मों के उदय और और अशुभ कर्मों के उदय का खेल है । कर्म की गति सदा निराली, अनोखी और अनुठी रही है । इसका रहस्य सिर्फ केवलज्ञानी जान सके हैं ।

'कर्मन की लख लीला में लाखों हैं कंगाल ।
चढती-पड़ती हँसती-रोती-टेढी इसकी चाल ॥

विषमा कर्मणः सृष्टिर्दृष्टा करभपृष्ठवत् ।
जात्यादिभूतिवैषम्यात् का रतिस्तत्र योगिनः ? ॥२१॥४॥

अर्थ : ऊँट की पीठ की तरह कर्म की रचना वक्र है जो जाति आदि की उत्पत्ति की विषमता से समान होनेवाली नहीं है । उसमें योगी को प्रेम कैसे हो सकता है ?

विवेचन : ऊँट के अठ्ठारह वक्र ।
कर्म के अनंत वक्र ।

सर्वत्र विषमता ! जहाँ देखो वहाँ विषमता ! कहीं भी समानता के दर्शन नहीं ! समानता जैसे मृगजल बन गई है ! मतलब कर्मों में सर्जित दुनिया विषमता से लबालब भरी हुई है । जहाँ नमूने के लिए भी समानता नहीं ! जाति की विषमता... कुल की विषमता... शरीर, विज्ञान, आयुष्य, बल, उपभोगादि सभी में विषमता । ऐसी कर्म सर्जित घिनौनी दुनिया से त्यागी-योगी को भला प्रीति कैसी ?

● विश्व में विषमता के दर्शन करो ।

- विषमता के दर्शन से विश्व के प्रति रही प्रीति और आस्था छिन्न-भिन्न होते देर न लगेगी ।
- फलतः, आसक्ति का प्रमाण कम होगा !
- उससे हिंसा, झूठ, चोरी, वामाचार, बलात्कार और परिग्रह के असंख्य पाप नष्ट हो जाएँगे ।
- तब मोक्षमार्ग की ओर दृष्टि जायेगी ।
- कर्मबन्धन तोडने का पुरुषार्थ होगा ।
- किसी भी जीव के दुःख के तुम निमित्त नहीं बनोगे ।
- और तुम योगी बन जाओगे ।

परमादरणीय उमास्वातिजी ने अपने ग्रन्थ '**प्रशमरति**' में कहा है :

जातिकुलदेहविज्ञानायुर्बल-भोग-भूतिवैषम्यम् ।
दृष्ट्वा कथमिह विदैषां भवसंसारे रतिर्भवति ?

"जाति, कुल, शरीर, विज्ञान, आयुष्य, बल एवं भोग की विषमताओं को देखते हुए, जन्म-मृत्यु रूपी संसार के प्रति भला, विद्वद्जनों का स्नेह-भाव कैसे सम्भव है ?"

यदि आपको अपनी जात-पाँत की उच्चता में खुशी होती है, कुल की महत्ता गाने में आनन्द मिलता है, स्व-शरीर को देख-देख कर हर्ष के फव्वारे फूटते हैं, अपने कला-विज्ञान का अहसास कर मन प्रफुल्लित होता है, खुद की आयु पर दृढ विश्वास है, अपने द्रव्य-बल, शरीर-बल और स्वजन-बल पर गौरव है, भोग-सुख की ललक है, तो मान लेना चाहिये कि जीवन में रही विषमताओं के सम्बन्ध में तुम पूर्णतया अनभिज्ञ हैं । तुमने विषमताओं को देखा नहीं और परखा तक नहीं ! क्योंकि जहाँ विषमता होती है वहाँ रति नहीं होती, खुशी नहीं होती। लेकिन जहाँ रति-खुशी का बोलबाला होता है वहाँ विषमता नहीं दिखती।

- सांसारिक विषयों में विषमता नहीं दिखती अतः उसके प्रति अधिकाधिक आकर्षण पैदा होता है,

- तत्पश्चात् अभिलाषा पैदा होती है,
- रति-आसक्ति का जोर बढ़ता है,
- वे विषय पाने का प्रयत्न होता है,
- प्रयत्न करते हुए पापाचरण भी होगा,
- और विषय प्राप्त होते ही जीवन में विषमता छा जायेगी ।

इस प्रकार की मानसिक एवं शारीरिक वेदनाओं के हम भूल कर भी शिकार न बन जाएँ, अतः उपाध्यायजी महाराज ने 'विश्व-विषमता' का सुक्ष्मावलोकन करने का आदेश दिया है ।

किसी व्यक्ति की उच्चता-नीचता का प्रमाण हमेशा एक-सा नहीं रहता। किसी परिवार की विशालता और भव्यता सदा एक सी नहीं रहती । शारीरिक आरोग्य हमेशा एक तरफ नहीं रहता ।

कला-विज्ञान सदा के लिए बराबर बना नहीं रहता ! आयुष्य किसी के धारणानुसार एक जैसा नहीं होता ! बल और शक्ति का प्रमाण एक सा नहीं रहता, ना ही आवश्यक भोग-सामग्री निरंतर प्राप्त होती है ! अरे भाई, इसीका नाम तो विषमता है !

इसका जन्म हमारे अच्छे-बुरे कर्मों से होता है, ना कि इश्वर ने विषमता भरे विश्व की रचना की है ! उन्होंने तो हमें विषमतायुक्त विश्व के दर्शन कराये हैं, हमारे सामने वैषम्य का नंगा स्वरूप खडा कर दिया है । विश्व इश्वर का स्रृजन नहीं, बल्कि अच्छे-बुरे कर्मों का स्रृजन है । जीव अपने कर्मों के अनुरूप विश्व की रचना करता है । प्रगति और पतन, आबादी और बर्बादी, सुख और दुःख, शोक और हर्ष, आनन्द और विषाद आदि सब कर्मों का उत्पादन है !

योगी और त्यागी ऐसी दुनिया से प्रीति नहीं करते !

आरुढाः प्रशमश्रेणिं श्रुतकेवलिनोऽपि च !
भ्राम्यन्तेऽनन्तसंसारमहो दुष्टेन कर्मणा ॥२१॥५॥

अर्थ : आश्चर्य तो इस बात का है कि उपशम–श्रेणी पर आरुढ एवं चौदह पूर्वधरों को भी दुष्ट कर्म अनंत संसार में भटकाते हैं ।

विवेचन : उपशम श्रेणी !

पहले... दूसरे... तीसरे... चौथे... पाँचमे... छठवें... सातवें... आठवें... नौवें... दसवें... ग्यारहवें गुणस्थान पर पहुँच जाते हैं, मोहोन्माद शान्त... प्रशान्त... उपशान्त हो गया होता है । जिस गति से मोह का प्रमाण कम होता है, उसी अनुपात में आत्मा क्रमशः उच्च गुणस्थान पर अधिष्ठित होता जाता है ।

क्षपकश्रेणी पर चढता जीव ग्यारहवें गुणस्थान पर कभी जाता ही नहीं ! वह सीधा दसवें गुणस्थान से छलांग मार... बारहवें गुणस्थान पर पहुँच जाता है। जहाँ मोह बिलकुल खत्म(क्षय) हो जाता है । बारहवें स्थान पर पहुँचा जीव सीधा तेरहवें गुणस्थान पर पहुँच, वीतराग बन जाता है और तब आयुष्य पूर्ण होने पर, चौदहवें स्थान पर पहुँच कर मोक्षगति पाता है ।

लेकिन ग्यारहवाँ गुणस्थानक अपनी फिसलन–वृत्ति के लिए सर्व-विदित है ! इस स्थान पर मोहनीय कर्म का बोलबाला है । उसकी गिरफ्त से बड़े-बड़े वीर-महावीर बच नहीं सकते । मतलब, ग्यारहवाँ गुणस्थानक, कर्म का प्राबल्य, उसकी अजेयता और सर्वोपरिता का शक्तिशाली केन्द्र है ।

कोइ भी असामान्य व्यक्तित्व फिर भले ही उसे★ दशपूर्वों का ज्ञान हो, वह सत्चारित्र का धनी हो, वीर्योल्लास से युक्त हो, ग्यारहवें गुण स्थान पर पहुँचते ही आनन-फानन में कर्म-चक्रव्युह में फँस जाएगा ! संसार में भटक जायेगा । कर्म को चौदह पूर्वधरों की भी शर्म नहीं, उत्तम संयम की भी कतइ लाज नहीं, ना ही उत्कृष्ट ज्ञान की परवाह ! यही तो कर्म की निर्लज्जता है !

'कर्म' की इसी क्रूर लीला से कुपित हो, पूज्य उपाध्यायजी महाराज सहसा : 'दुष्टेन कर्मणा !' कह उठते हैं ! जब वे उपशम-श्रेणी पर आरूढ और ग्यारहवें गुणस्थान पर पहुँचे महर्षि को धक्का मार कर खड्डे में गिराते हुए कर्म को देखते हैं, तब क्रोधाग्नि से उनका रोम... रोम व्याप्त हो जाता है ! भ्रुकुटी तन

★ देखिए परिशिष्ट

जाती है और मारे आवेश के 'हे दुष्ट कर्म !' कह कर चीख पड़ते हैं ! कर्म के बन्धन तोडने के लिये वे पुकारते हैं !

ग्यारहवाँ 'उपशान्त मोह' गुणस्थान, कर्म द्वारा रचित अंतिम रक्षापंक्ति (मोर्चा) है और सदा-सर्वदा सर्व के लिए वह अपराजेय है ! जो सीधे दसवें से बारहवें गुणस्थान पर छलांग मार कर पहुँच जाते हैं, वे इसके शिकार नहीं बनते।

'उपशान्त-मोह' का अर्थ जानते हो ? तो सुनो :

पानी से लबालब भरा एक प्याला है । लेकिन पानी स्वच्छ नहीं है, मटियाला है ! उसमें मिट्टी, कंकर सब मिला हुआ है । तुम्हें वह पानी पीना है। जोर की प्यास लगी है । सिवाय उस पानी के कोई चारा नहीं ! तुम उसे महीन कपड़े से छान लोगे । फिर भी पानी स्वच्छ नहीं होता । तब थोडी देर के लिए प्याला नीचे रख दोगे । पानी में रही मिट्टी धीरे-धीरे नीचे बैठ जाएगी ! मैल प्याले के तह में जम जाएगा और धीरज रखोगे तो स्वच्छ पानी ऊपर तैर आएगा ! इससे यही ध्वनित होता है कि पानी में मिट्टी अवश्य है, लेकिन उपशान्त है ! ठीक उसी तरह आत्मा में मोह जरुर है, लेकिन नीचे तह जमा हुआ है ! अतः आत्मा निर्मल... मोह रहित दृष्टिगोचर होती है ! लेकिन जिस तरह प्याले को हिलाते ही तह में जमी मिट्टी और मैल ऊपर उभर आएगा और पानी दुबारा गन्दा हो जाएगा। उसी तरह उपशान्त मोहवाली आत्मा कोई दोष से आन्दोलित हुई तो मोह आत्मा में व्याप्त हो, उसे गन्दा कर मलीन बना देगा !

उपशान्त मोह में निर्भयता नहीं होती । हाँ, मोह क्षीण हो जाय, अर्थात् पानी को कंकर-मिट्टी बिना का स्वच्छ बना दिया जाए, बाद में प्याले को भले ही हिलाइए, कंकर-मिट्टी के उभर आने का सवाल ही पैदा नहीं होगा ! उसी भाँति मोह का सर्वथा क्षय होने पर कोई चिंता नहीं । दुनिया का कोई निमित्त कारण उसे मोहाधीन नहीं कर सकेगा !

कर्मों की क्रूर-लीला भला कहाँ तक सम्भव है ? सिर्फ ग्यारहवें गुणस्थान तक ! वहाँ चौदह पूर्व के ज्ञानी श्रुतकेवलियों की पराजय भी अवश्यंभावी है । अर्थात् चौदह पूर्वधर-श्रुतकेवली भी प्रमाद के वशीभूत हो, अनादिकाल तक निगोद में रहते हैं । न जाने कर्मों की यह कैसी भीषणता—

भयानकता है ! ऐसे कर्म विपाकों का सतत-चिंतन मनन कर, उसके क्षयहेतु कमर कसनी चाहिए ।

अर्वाक् सर्वाऽपि सामग्री श्रान्तेव परितिष्ठति ।
विपाकः कर्मणः कार्यपर्यन्तमनुधावति ॥२१॥६॥

अर्थ : हमारे निकट रही सभी सामग्री / कारण, एकाध थके हुए प्राणी की तरह सुस्त रहती है । जबकि कर्म-विपाक कार्य के अन्त तक हमारा पीछा करता है ।

विवेचन : कर्म विपाक का अर्थ है कर्म का परिणाम / फल ! कोई कार्य बिना किसी कारण के नहीं बनता और हर कार्य के पीछे पाँच कारण होते है :

१. काल, २. स्वभाव, ३. भवितव्यता, ४. कर्म और ५. पुरुषार्थ

लेकिन इन सबमें 'कर्म' प्रधान कारण है ! कर्म-विपाक कार्य के अन्त तक हमारा पीछा नहीं छोडता, बल्कि सतत छाया की तरह साथ रहता है । शेष सभी कारण थोडा-बहुत चलकर इधर-उधर हो जाते हैं, लेकिन यह निरंतर पीछे ही लगा रहता है । कोइ किसी कार्य की भूमिका तैयार करता है, कोई कार्यारम्भ कराता है, कोइ कार्य के बीच ही थक कर एक ओर हो जाता है । लेकिन कर्म कभी थकता नहीं है । जब तक कोई कार्य पैदा होता है और खत्म-(नाश) होता है, तब तक कर्म साथ ही चलता है । इसे कभी विश्राम नहीं, विराम नहीं और आराम नहीं ।

व्यक्ति को जितना भय अन्य कारणों से नहीं, उतना भय कर्म का होता है । कर्म-क्षय होते ही अन्य चार कारण अपने आप लोप हो जाते हैं । उन्हें दूर करने के लिए किसी प्रकार की मेहनत नहीं करनी पड़ती ! ये सब कर्म के पीछे होते हैं ।

इसी वजह से कर्म के अनुचिंतन और क्षय हेतु जीव को पुरुषार्थ करना होता है । कर्मक्षय हेतु कर्म ने ही मनुष्य को अनुकूल सामग्री प्रदान की है ।

खुद को मिटाने के लिए कर्म स्वयं आगे बढकर जीव को सामग्री प्रदान कर रहा है ।

- तुम्हें मनुष्यगति प्राप्त है ?
- तुमने आर्य-भूमि में जन्म धारण किया है ?
- तुम्हें तन-बदन का आरोग्य मिला है ?
- तुम्हारी पाँचों इन्द्रियाँ परिपूर्ण हैं ?
- तुम्हें चिन्तन-मनन के लिए मन मिला है ?
- तुम्हें सुदेव, सुगुरु और सद्धर्म का संयोग मिला है ?

कर्म-क्षय हेतु और भला, किस सामग्री की आवश्यकता है ? इससे बढ़िया और विशेष सामग्री को अब भी क्या गरज है ? तो क्या कर्म-क्षय की भावना भी कर्मों को ही जगानी पड़ेगी, पैदा करनी होगी ? सचमुच कितनी बेहुंदी बात है ? सम्भवत: तुम अब भी कर्म की पिशाचलीला से परिचित नहीं हो । यदि तुमने अनुकूल परिस्थिति और सामग्री का समय रहते सदुपयोग न किया तो वह उसे दुबारा छीन लेगा और फिर तुम्हारी ऐसी बुरी हालत करेगा कि तुम फूट-फूट कर रोओगे । लेकिन उसके सिकंजे से छूट नहीं पाओगे । तब एक क्षण ऐसा आएगा कि तुम कर्मों के गुलाम बन जाओगे ।

यदि तुम प्राप्त सामग्री का योग्य उपयोग करोगे तो वह (कर्म) तुम्हें इससे भी बढकर और अमूल्य सामग्री प्रदान करेगा । फलत: उससे तुम अपने सभी कर्मों का सरलता से नाश कर सकोगे ।

जिस तरह कर्मों को तुम प्रत्यक्ष में देख नहीं सकते, ठीक उसी तरह तुम्हें उसका क्षय भी प्रत्यक्ष में नहीं दिखनेवाले धर्म से ही करना होगा । यह सनातन सत्य है कि धर्म से कर्म नष्ट होते हैं । धर्म आत्मा का है, लेकिन आत्मा तक पहुँचने के लिए तुम्हें अपनी पाँचों इन्द्रियाँ और मन का सदुपयोग करना पड़ेगा । संसार के तुच्छ सुख और सुविधा में भूलकर भी अपनी इन्द्रियों को और मन को न लगाओ । तभी तुम आत्मा की गहराई को स्पर्श कर पाओगे और आत्मधर्म प्राप्त कर सकोगे । आत्मधर्म की प्राप्ति होने पर कर्म-क्षय होते विलम्ब

नहीं होगा । जैसे जैसे कर्मक्षय होता जाएगा वैसे-वैसे धर्मतत्त्व के साथ तुम्हारा नाता जुड़ता जाएगा ।

फलस्वरूप काल, स्वभाव, भवितव्यता आदि के दोषों को नजर-अंदाज कर किस पद्धति से कर्म-क्षय किया जाएँ इसका सदा-सर्वदा चिंतन-मनन करते रहो । कर्म को भूलकर यदि 'काल बुरा है, भवितव्यता अच्छी नहीं है, बहानेबाजी की, तो याद रखो, कर्म तुम्हारे सीने पर चढ बैठेंगे । तुम्हें समय-बेसमय पागल बना देंगे । फलस्वरूप तुम् अशान्ति... दुःख... पश्चात्ताप... कलह और संताप के होम-कुण्ड में बुरी तरह झुलस जाओगे । अतः धर्म में पुरुषार्थ करो । कर्मों के भय का गांभीर्य समझो । प्रमाद, मोह और आसक्ति की श्रृंखलाएँ तोड दो और कर्मक्षय हेतु कटिबद्ध हो जाओ ।

असावचरमावर्ते धर्म हरति पश्यतः ।
चरमावर्तिसाधोस्तु छलमन्विष्य हृष्यति ॥२१॥७॥

अर्थ : यह कर्म-विपाक अंतिम 'पुद्गलपरावर्त' के अतिरिक्त अन्य किसी भी पुद्गलपरावर्त में हमारी आँखों के सामने धर्म का नाश करता है, परन्तु चरम पुद्गलावर्त में रहे हुए साधु का छिद्रान्वेषण कर खुश होता है ।

विवेचन : चरम पुद्गलावर्त-काल !
अचरम पुद्गलावर्त-काल !

'पुद्गलपरावर्त' किसे कहा जाएँ-इसकी जानकारी तुम परिशिष्ट में से प्राप्त कर लेना । यहाँ तो सिर्फ कर्म का काल के साथ और काल के माध्यम से आत्मा के साथ कैसा सम्बन्ध है, यहाँ बताया गया है । जब तक आत्मा अंतिम पुद्गलावर्त काल में प्रविष्ट न हो जाएँ तब तक लाख प्रयत्न करने के बावजूद भी कर्म आत्मधर्म को समझने नहीं देता, ना ही उसे अंगीकार करने देता है । मनुष्य, भगवान के मन्दिर अवश्य जाएगा, नित्य पूजा-पाठ करेगा, लेकिन परमात्म-स्वरूप की प्राप्ति की इच्छा से नहीं, वरन् सांसारिक सुख और संपदा की अभिलाषा लेकर जाएगा । गुरू महाराज को वंदन करेगा, भिक्षा देगा, भक्ति करेगा, वैयावच्च और सेवा करेगा, लेकिन सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र के

लिए नहीं, अपितु स्वर्गलोक की ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करने के लिए ! अरे, वह प्रव्रज्या ग्रहण कर साधु भी बन जाएगा ! लेकिन मोक्षप्राप्ति और आत्मविशुद्धि के लिए आराधना नहीं करेगा, परन्तु देवलोक के दिव्य सुख और उच्च पद पाने के लिए आराधना करेगा । शास्त्रों में उल्लेख है कि 'शुद्ध चारित्रपालन से देवगति प्राप्त होती है । ऐसा जान कर वह दीक्षित होगा । चारित्रपालन करेगा ! कठोर तपस्या और निरतिचार चारित्र का पालन करेगा ! लेकिन कर्म-बन्धनों से मुक्ति पाने की भावना पैदा ही नहीं होगी । वह उसे ऐसे भूल-भुलैये में फँसा देगा कि मुक्ति होने के विचार ही उसमें न जगे !

कर्म-बन्धन की श्रृंखला से आत्मा को मुक्त करने का विचार तक अ-चरमावर्त काल में नहीं आता । वह धर्माचरण करता अवश्य दिखाई देता है, लेकिन आत्मशुद्धि और मुक्ति के लिए नहीं, बल्कि संसार-वृद्धि के लिए करता है ।

चरमावर्त काल में अवश्य आत्मधर्म का ज्ञान होता है । आत्म-धर्म की आराधना और उपासना भी होती है । लेकिन ऐसी परिस्थिति में भी कर्मबन्धन से मुक्ति की इच्छा रखनेवाले साधु-मुनिराज के इर्द-गिर्द 'कर्म' निरंतर चक्कर लगाते रहते हैं ! छिद्रान्वेषण करते हैं और यदि एकाध छिद्र दृष्टिगोचर हो जाए तो आनन-फानन में घुस-पैठ कर मुनि के मुक्ति-पुरुषार्थ को शिथिल बनाने पर तुल जाता है । उनके मार्ग में नाना प्रकार की रूकावटें और अवरोध पैदा करते विलम्ब नहीं करता । अतः मुनि को सदा सावधान रहना आवश्यक है । वह कोई छिद्र न रहने दे अपनी आराधना-उपासना की रक्षापंक्ति में ! तभी सफलता सम्भव है ।

प्रमाद के छिद्रों में से कर्म आत्मा में प्रवेश करता है ।

मानव जीवन के निद्रा, विषय, कषाय, विकथा और मद्यपान-ये पाँच प्रधान प्रमाद हैं । अतः मुनि को अपनी निद्रा पर संयम रखना चाहिए । उन्हें रात्रि के दो प्रहर अर्थात् छह घंटे ही शयन करना चाहिए । वह भी गाढ निद्रा में नहीं । दिन में निद्रा का त्याग उनके लिए श्रेयस्कर है । पाँच इन्द्रियों के विषयों में से किसी भी विषय के प्रति कभी आसक्ति न होनी चाहिये । क्रोध, मान,

माया और लोभ इन चार कषायों के पराधीन नहीं होना चाहिए। विकथाओं में कभी लिप्त नहीं होना चाहिए। नारी के सम्बन्ध में भूलकर भी साधु चर्चा न करें। भोजनादि विषयक् वातचीत से दूर रहना चाहिये। देस-परदेस की और राजा महाराजाओं की कपटपूर्ण चर्चा में दिलचस्पी नहीं लेनी चाहिए। मद्यपान से साधु को बचना चाहिए। यदि साधु को इन पाँच प्रमादों से अलिप्त रहना आ जाए तो मजाल है कि उसके आत्मप्रदेश पर कर्म-शत्रु आक्रमण कर दें ! फिर भले ही वह उसके इर्द-गिर्द चक्कर क्यों न लगाता हो !

कहने का तात्पर्य यह है कि यदि मुनिराज कर्म-घुसपैठियों को घुसपैठ का अवसर ही न दे तो उनके सताने का, हैरान/परेशान करने का सवाल ही न उठे। हाँ, उसे घूसपैठ करने का मौका देना न देना, साधु पर निर्भर है। यदि प्रमाद के आचरण को 'कर्मकृत' संज्ञा प्रदान कर, उसका अनुशरण करें तो अधःपतन हुआ ही समझो ! फिर उसे पतन की गहरी खाइ में गिरते कोई बचा नहीं सकेगा। यह तथ्य भलि भाँति समझ लेना चाहिये कि 'चरमावर्त काल' में प्रमाद-सेवन में कर्म का हाथ नहीं होता और यह बात तभी गले उतरेगी जब हम कुटिल कर्म की लीला को अच्छी तरह समझ लेंगे। इसलिए कर्म का अनुचिंतन करना आवश्यक है। कर्म-विपाक का विचार आते ही जीव काँप उठता है।

साम्यं बिभर्ति यः कर्मविपाकं हृदि चिन्तयन्।
स एव स्याच्चिदानन्दमकरन्दमधव्रतः ॥२१॥८॥

अर्थ : हृदय में कर्म-विपाक का चिन्तन-मनन करते हुए जो समभाव धारण करता है, वही योगी ज्ञानानन्द रुपी पराग का भोगी भ्रमर होता है।

विवेचन : हे योगीराज ! आपतो भोगी भ्रमर हैं, ज्ञानानन्द-पराग का जी भर कर उपभोग करनेवाले है, आपके हृदय में सदा कर्म-विपाक का चिंतन और मुख पर समता का संवेदन है !

बिना कर्म विपाक-चिंतन के समभाव का वेदन नहीं होता और समभाव के वेदन बिना ज्ञानानन्द का अमृतपान असम्भव है। मतलब उपरोक्त श्लोक से तीन बातें स्पष्ट होती हैं :

- कर्म-विपाक चिंतन
- समभाव
- ज्ञानानन्द का अनुभव... !

कर्मविपाक के चिंतन-मनन से समभाव ही प्रकट होना चाहिए। अर्थात् संसार में विद्यमाान प्राणी मात्र के लिए समत्व की भावना पैदा होनी चाहिए ! न किसी के प्रति द्वेष, ना ही किसी के प्रति राग। शत्रु के प्रति द्वेष नहीं, मित्र के लिए राग नहीं। कर्म कृत भावों के प्रति हर्ष और शोक नहीं होना चाहिए। यह सब कर्म-विपाक के चिंतन-मनन से ही सम्भव है। यदि हमें राग-द्वेष और हर्ष-शोक होते हैं तो समझ लेना चाहिए कि हमारा चिंतन कर्म-विपाक का चिंतन नहीं बल्कि कुछ और है। हर्ष-शोक, राग-द्वेष और रति-अरति आदि भावों के लिए सिर्फ कर्मों को ही नहीं कोसना चाहिए, उसके बजाय हमें निरंतर यह विचार करना चाहए कि 'कर्म-विपाक, का चिंतन-मनन न करने से यह सब हो रहा है।' हमें स्मरण रखना चाहिए कि कर्म-विपाक का चिंतन किये बिना राग-द्वेष और हर्ष-शोक कभी कम नहीं होंगे। अरे, मरणान्त उपसर्गों के समय भी जो महात्मा तनिक भी विचलित नहीं हुए, आखिर उसका रहस्य क्या था ?

इसके प्रत्युत्तर में यह कहकर अपने मनका समाधान कर लेना कि 'वह सब उनके पूर्व भवों की आराधना का फल था,' हम सबसे बड़ी भूलकर रहे हैं। उसके बजाय यह मानना-समझना चाहिए कि 'उसके मूल में उनका अपना कर्म-विपाक का चिंतन-मनन अनन्य, असाधारण था; जिसकी वजह से संतुलन खोये बिना वे समभाव में अन्त तक अटल-अचल बने रहे।' यही विचारधारा हमें आत्मसात् कर लेनी चाहिए। जीवन में बनते प्रसंगों के समय यदि कर्म-विपाक के विज्ञान का उपयोग किया जाए तो समता-समभाव में स्थिर रहना सरल बन जाएँ।

और समभाव के बिना ज्ञानानन्द कहाँ ? ज्ञानानन्द समभाव से सम्भव है ! राग-द्वेष और हर्ष-शोक का तूफान थमते ही ज्ञान का आनन्द-आत्मानन्द प्रगट होता है। जबकि राग-द्वेष से स्फूरित आनन्द, आनन्द न होकर विषयानन्द होता है। ज्ञानानन्द के निरंतर उपभोग के लिए समभाव की ज्योत अखण्डित रखनी

चाहिये ! उसे छिन्न-भिन्न नहीं होने देने के लिए कर्म-विपाक का चिंतन-अनुचिंतन सदा-सर्वदा शुरु रहना चाहिए । न जाने पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने कैसी अलौकिक व्यवस्था का मार्गदर्शन किया है !

संसार में रही विषमताओं का समाधान 'कर्म-विपाक' के विज्ञान द्वारा न किया जाएँ तो ? तब क्या होगा ?

संसार के जीवों के प्रति राग और द्वेष की भावना तीव्र बनेगी । राग-द्वेष के कारण अनेकविध अनिष्ट पैदा होंगे । हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार, परिग्रह, क्रोध-मान, माया, लोभादि असंख्य दोषों का प्रादुर्भाव होगा । फलतः जीवों का जीवन जीवों के हाथ ही असुरक्षित बन जाते देर नहीं लगेगी । परस्पर शंका-कुशंका, घृणा, द्वेष और वैर भावना में, क्रमशः बढोतरी होगी । परिणाम स्वरुप विषमता बढेगी । ऐसी स्थिति में मोक्ष-मार्ग की आराधना सम्भव नहीं ।

आज भी हम देखते हैं कि जो प्रस्तुत कर्म-विज्ञान से अनभिज्ञ हैं, उनकी क्या हालत है ? वे अपनी जिंदगी बदतर स्थिति में गुजार रहे हैं . वहाँ अशान्ति, चिंता और दुःख का साम्राज्य छाया हुआ है । न जाने आत्मा-परमात्मा और धर्म-ध्यान से वे कितने दूर-सुदूर निकल गये हैं ।

तब आप तो मुनिराज हैं ! मोक्ष-मार्ग के पथिक बन आपको कर्म-बन्धन तोडने हैं और शुद्ध बुद्ध अवस्था प्राप्त करनी है । अतः आपको 'कर्म विज्ञान' का मनन कर उसे पचाना चाहिए । उसके आधार पर समभाव के धनी बनना चाहिए । फलतः आप ज्ञानानन्द—पराग के भोगी भ्रमर बन जायेंगे ! ध्यान रहे, जहाँ भी समभाव खण्डित होता दृष्टि गोचर हो, शीघ्राति शीघ्र "कर्म-विपाक" का आलम्बन ग्रहण कर लेना ।

• • •

२२. भवोद्वेग

हे भव-परिभ्रमण के रसिक जीव ! तनिक इस संसार-समुद्र की ओर तो दृष्टिपात कर । इसकी बिभीषिका और भीषणता का तो दर्शन कर । इसकी निःसारता एवं भयानकता का तो ख्याल कर । क्या तू यहाँ सुखी है ? शान्त है ? संतुष्ट है ?

पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने यहाँ भव-समुद्र की भयंकरता को समझाने का प्रयत्न किया है... । तुम इस अध्याय को ऊपरी तौर से पढ़ मत जाना, बल्कि पूरे गांभीर्य से पढ़कर यथायोग्य चिन्तन करना ।

भव-बधनों की विषमता और असारता से मुक्ति पाने हेतु जिस अदम्य उत्साह, शक्ति और जिज्ञासा की आवश्यकता है, वह सब तुम्हें प्रस्तुत अष्टक के चिन्तन मनन से निःसंदेह प्राप्त होगा ।

यस्य गंभीरमध्यस्याज्ञानवज्रमयं तलम् ।
रुद्धव्यसनशैलोधैः, पन्थानो यत्र दुर्गमाः ॥२२॥१॥

पातालकलशा यत्र भृतास्तृष्णामहानिलैः ।
कषायाश्चित्तसंकल्पवेलावृद्धिं वितन्वते ॥२२॥२॥

स्मरौर्वाग्निर्ज्वलत्यन्तर्यत्र स्नेहेन्धनः सदा ।
यो घोररोगशोकादिमत्स्यकच्छपसंकुलः ॥२२॥३॥

दुर्बुद्धिमत्सरद्रोहैर्विद्युद्वातगर्जितैः ।
यत्र संयात्रिका लोकाः, पतन्त्युत्पातसंकटे ॥२२॥४॥

ज्ञानी तस्माद् भवांभोधेर्नित्योद्विग्नोऽतिदारुणात् ।
तस्य संतरणोपायं, सर्वयत्नेन काङ्क्षति ॥२२॥५॥

अर्थ : जिसका मध्यभाग गंभीर है, जिसका (भव समुद्र का) पेंदा (तलभाग) अज्ञान रुपी वज्र से बना हुआ है, जहाँ संकट और अनिष्ट रूपी पर्वतमालाओं से घिरे दुर्गम मार्ग हैं ।

जहाँ (संसार-समुद्र में) तृष्णा स्वरूप प्रचंड वायु से युक्त पाताल कलश रूपी चार कषाय, मन के संकल्प रुपी ज्वारभाटे को अधिकाधिक विस्तीर्ण करते हैं ।

जिसके मध्य में हमेशा स्नेह स्वरुप इन्धन से कामरुप वडवानल प्रज्वलित है और जा भयानक रोग-शोकादि मत्स्य और कछुओं से भरा पड़ा है।

दुर्बुद्धि, ईर्ष्या और द्रोह-स्वरुप बिजली, तूफान और गर्जन से जहाँ समुद्री व्यापारी तूफान रुपी संकट में पड़ते हैं ।

ऐसे भीषण संसार-समुद्र से भयभीत ज्ञानी पुरुष उससे पार उतरने के प्रयत्नो की इच्छा रखते हैं ।

विवेचन : संसार !

जिस संसार के मोह में असंख्य जीव अन्धे बन गये हैं, जानते हो वह संसार कैसा है ? मोक्षगति-प्राप्त परम-आत्मायें संसार को किस दृष्टि से देखती हैं ? तुम भी उसके वास्तविक स्वरूप का दर्शन करोगे, तब उद्विग्न हो उठोगे। तुम्हारे मन में उसके प्रति अप्रीति के भाव पैदा होंगे । एक प्रकार की नफरत पैदा हो जाएगी और यही तो होना चाहिये । मोक्ष के इच्छुक के लिए इसके सिवाय और कोई चारा नहीं है । संसार की आसक्ति... प्रीतिभाव छिन्न-भिन्न हुए बिना शाश्वत्... अनन्त... प्रदीर्घ..... अव्याबाध सुख सम्भव नहीं । संसार के यथार्थ स्वरूप का तनिक जायजा लो ।

संसार को समुद्र समझो ।

१. संसार-समुद्र का मध्यभाग अगाध है ।

२. संसार-समुद्र की सतह अज्ञान-वज्र की बनी हुई है ।
३. संसार-समुद्र में संकटों के पहाड़ हैं ।
४. संसार-समुद्र का मार्ग विकट-विषम है ।
५. संसार-समुद्र में विषयाभिलाषा की प्रचंड वायु वह रही है ।
६. संसार समुद्र में क्रोधादि कषायों के पाताल-कलश हैं ।
७. संसार-समुद्र में विकल्पों का ज्वार आता है ।
८. संसार-समुद्र में रागयुक्त इन्धन से युक्त कंदर्प का दावानल प्रज्वलित है।
९. संसार-समुद्र में रोग के मच्छ और शोक के कछुए स्वच्छंद विहार कर रहे हैं ।
१०. संसार-समुद्र पर दुर्बुद्धि की बिजली रह-रहकर कौंधती है ।
११. संसार-समुद्र पर माया-मत्सर का भीषण तूफान गहरा रहा है ।
१२. संसार-समुद्र में द्रोह का भयंकर गर्जन हो रहा है ।
१३. संसार-समुद्र में नाविकों पर संकट के पहाड़ टूट पड़े हैं ।

अत: संसार-समुद्र सर्वथा दारुण है और विषमता से भरा पड़ा है । **संसारसमुद्र :** 'वाकई संसार एक तूफानी सागर है'—इस विचार को हमें अपने हृदय में भावित करना चाहिये और तदनुसार जीवन का भावी कार्यक्रम निश्चित करना चाहिये । सागर में रहा प्रवासी उसे पार करने के नानाविध प्रयत्न करता है, ना कि उसमें सैर-सपाटा अथवा दिल-बहलाव का प्रयत्न करता है । उसमें भी यदि सागर तूफानी हो तो, पार करने की उसे हमेशा जल्दी रहती है ! अत: हमें यह संकल्प दृढ़ से दृढतर बनाना चाहिये कि 'मुझे संसार-समुद्र पार करना ही है ।'

मध्यभाग : समुद्र का मध्य भाग (बीचों-बीच) अगाध होता है कि उसकी सतह खोजे भी नहीं मिलती । यहाँ संसार का मध्य भाग यानी मनुष्य की युवावस्था/यौवनकाल । जीव की यह अवस्था वाकई अगाध होती है, जिसका ओर-छोर पाना मुश्किल होता है । उसकी युवावस्था की अगाधता को सूर्य-किरण भी भेदने में असमर्थ हैं । अच्छे-खासे तैराक भी समुद्र की अतल गहराई में खो जाते हैं, जिनका अता-पता नहीं लगता ।

तल-भाग (सतह) : संसार-समुद्र की सतह (तल भाग) किसी मिट्टी, पत्थर अथवा कीचड़ की बनी हुई नहीं है, बल्कि वज्र की बनी हुई है । जीव की अज्ञानता वज्र से कम नहीं । यह सारा संसार अज्ञानता की सतह पर टिका हुआ है । मतलब संसार का मूल अज्ञानता ही है ।

पर्वतमालायें : समुद्र में स्थान-स्थान पर छोटे-बड़े पर्वत, कहीं पर पूर्ण रूप से तो कहीं-कहीं पर आधे पानी में डूबे हुए रहते हैं । नाविक-दल हमेशा इन समुद्री टीलों और चट्टानों से सावधान रहता है । जबकि संसार-समुद्र में तो ऐसी पर्वतमालाएँ सर्वत्र बिखरी पड़ी हैं । जानते हो, ये पर्वत कौन-से हैं ? संकट, आपत्ति-विपत्ति, आधि-व्याधि, दुःख, अशान्ति... ये सब सांसारिक पर्वत ही तो हैं । एक दो नहीं, बल्कि पूरी हारमाला / पर्वतमाला ! अरावली की पर्वतमालायें तुमने देखी हैं ? सह्यांद्रि की पर्वत-श्रृंखलाओं के कभी दर्शन किये हैं ? इनसे भी ये पर्वतमालायें अधिकाधिक दुर्गम और विकट हैं, जो संसार-समुद्र में फैली हुई हैं । कहीं-कहीं वे पूरी तरह पानी के नीचे हैं, जो सिधे-सादे नाविक के ध्यान में कभी नहीं आती । यदि इनसे तुम्हारी जीवन-नौका टकरा जाए, तो चकनाचूर होते एक क्षण का भी विलम्ब नहीं !

मार्ग : ऐसे संसार-समुद्र का मार्ग क्या सरल होता है ? नहीं, कतइ नहीं । ऐसे ऊबड-खाबड़, दुर्गम मार्ग पर चलते हुए कितनी सावधानी बरतनी पड़ेगी, कितनी समझदारी और संतुलित-वृत्ति का अवलम्बन करना होगा ? हमारी तनिक लापरवाही, चंचलता, निद्रा, आलस्य अथवा विनोद सर्वनाश को न्यौता देते देर नहीं करेंगे । ऐसे विकट समय में किसी अनुभवी परिपक्व मार्गदर्शक की शरण ही लेनी होगी । उसका अनुसरण करना पड़ेगा या नहीं ? सुयोग्य सुकानी के नेतृत्व पर विश्वास करना ही होगा तभी हम सही-सलामत/सुरक्षित अपनी मंजिल तक पहुँच पायेंगे ।

प्रचंड वायु : तृष्णा... पाँच इन्द्रियों के विषयों की कामना की प्रचंड वायु महासागर में पूरी शक्ति के साथ ताण्डव-नृत्य कर रही है । तृष्णा... कितनी तृष्णा ! उसकी भी कोई हद होती है । मारे तृष्णा के जीव इधर-उधर निरुद्देश्य भटक रहा है । विषय सुख की लालसा के वशीभूत हो जीव कैसा घिर गया है ? जानते हो, यह प्रचंड वायु कहाँ से पैदा होती है ? पाताल-कलशों से ।

वही उसका उद्‌गम स्थान है ।

पाताल-कलश : संसार-सागर में चार प्रकार के पाताल-कलश विद्यमान हैं : क्रोध, मान, माया और लोभ ! इनमें से प्रचंड वायु उत्पन्न होती है और सागर में तूफान पैदा करती है... ।

ज्वार भाटा : मन के विभिन्न विकल्पों का ज्वार-भाटा संसार सागर में आता रहता है । कषायों में से विषय-तृष्णा जागृत होती है और विषय तृष्णा में से मानसिक विकल्प पैदा होते हैं । जानते हो, मानसिक विकल्पों का ज्वार कितना जबरदस्त होता है... ? पूरे समुद्र में तूफान आ जाता है... ! पानी की तरंगें किनारे को तोड़ती हुई भयानक दैत्य-सा रूप धारण कर लेती हैं । आम तौर पर समुद्र में पूर्णिमा की रात्रि को ही ज्वार आता है । लेकिन संसारसागर में तो निरंतर ज्वार आता रहता है । क्या तुमने कभी ज्वार के समय तूफानीं स्वरुप धारण करते सागर को निकट से देखा है ? शायद नहीं देखा हो ! लेकिन अब मानसिक विकल्पों के ज्वार को अवश्य देखना ! उसे देखते ही तुम घबराहट से भर जाओगे ।

वडवानल : कैसा दारूण वडवानल भभक रहा है !

कंदर्प के वडवानल में संसारसमुद्र का कौन-सा प्रवासी फँसा नहीं है ? इस दुनिया में कौन माई का लाल है, जो उक्त वडवानल की उग्र ज्वालाओं से बच पाया है ? उसमें राग का इन्धन डाला जाता है । राग के इन्धन से वडवानल सदा-सर्वदा प्रज्वलित रहता है ।

वाकइ, कंदर्प का वडवानल आश्चर्यजनक है ! वडवानल में जीव निर्भय बनकर कूद पड़ते हैं ! भड़कते वडवानल के बावजूद वे उसमें से निकलने का नाम नहीं लेते... बल्कि राग का इन्धन डाल-डालकर उसे निरन्तर प्रदीप्त रखते हैं ! कंदर्प यानी काम वासना / भोग-सम्भोग की तीव्र लालसा । नर नारी के सम्भोग की वासना में घू-घू जलता है और नारी नर के सम्भोग में । जबकि नपुंसक, नर व नारी, दोनों के सम्भोग की वासना में जलता है । वास्तव में देखा जाए तो संसारसागररूपी वडवानल, भयंकर, भीषण और सर्वभक्षी है... । सामान्यतः संसार-सागर के सारे प्रवासी इस (वडवानल) में फँसे नजर आते हैं,

जबकि कुछ उसकी ओर लपकते दिखायी देते हैं ।

मच्छ और कच्छप : संसार-समुद्र में बड़े-बड़े मगरमच्छ और मछलियाँ भी हैं । छोटे-बड़े साध्य-असाध्य रोगों के मच्छ भी मुसाफिरों के लिए आफत बने रहते हैं... । उन्हें हैरान-परेशान करते हैं । एकाध मगरमच्छ का खाद्य बनता दिखायी देता है, तो कोई इन मछलियों की गिरफ्त में फँसा नजर आता है । इन रोग रुपी मच्छों से प्रवासी सदैव भयभीत होते हैं ।

ठीक उसी तरह शोक-कछुओं की भी इस संसार-सागर में कमी नहीं है, जो प्रवासियों को कोई कम हैरान-परेशान नहीं करते ।

चंचला : जरा आकाश की ओर दृष्टिपात करो । रह-रहकर चंचला कौंधती नजर आती है । उसकी चमक-दमक इन आँखों से देखी न जाए, ऐसी चकाचौंध करनेवाली अजीबो-गरीब होती है । कभी-कभार वह हमें छूते हुए विद्युत-वेग से निकल जाती है । दुर्बुद्धि ही चंचला है । हिंसामयी बुद्धि झूठ-चोरी की बुद्धि, दुराचार-व्यभिचार की बुद्धि, माया-मोह की बुद्धि और राग-द्वेष की बुद्धि । चंचला की चमक-दमक में जीव चकाचौंध हो जाता है ।

तूफान : मत्सर की आंधी कितने जोर-शोर से जीवों को अपनी चपेट में ले लेती है ! गुणवान व्यक्ति के प्रति रोष यानी मत्सर ! संसार-सागर में ऐसी आंधी आती ही रहती है । क्या तुमने कभी नहीं देखी ? तुम्हें उसकी आदत पड़ गयी है । अतः तुम उसकी भयंकरता... भीषणता को समझ नहीं पाओगे । लेकिन गुणवान व्यक्ति के प्रति तुम्हारे मन में रोष की भावना क्या पैदा नहीं होती ? ऐसे समय तुम्हारे मन में कैसा तूफान पैदा होता है ? जो इस तूफान में फँस गया... उसकी गुण-संपदा नष्ट होते देर नहीं लगती । वह गुण-संपदा से दूर-सुदूर निकल जाता है ।

गर्जन-तर्जन : द्रोह-विद्रोह का गर्जन-तर्जन संसार-समुद्र में निरन्तर सुनायी देता है । पिता पुत्र का द्रोह करता है, तो पुत्र पिता का द्रोह करता है। प्रजा राजा का द्रोह करती है, तो राजा प्रजा का द्रोह करता है । पत्नी पति का द्रोह करती नज़र आती है, तो पति पत्नी का द्रोह करता दृष्टिगोचर होता है । शिष्य गुरु का द्रोह करता है और गुरु शिष्य का द्रोह करता है । जहाँ देखो, वहाँ द्रोह

की यह परंपरा और गर्जन-तर्जन अबाधित रूप से चल रहा है। अविश्वास और शंका-कुशंका के वातावरण में संसार-समुद्र के प्रवासी का दम घुट रहा है।

मुसाफिर : संसार-सागर में असंख्य आत्मायें विद्यमान हैं। लेकिन महासागर के सीने पर लहराती इतराती नौकाओं में प्रवास करनेवाला एक मात्र प्राणी मनुष्य है। ये लोग संसार-सागर का प्रवास खेते हुए बुरी परिस्थिति के फंदे में फँस जाते हैं और परिणाम स्वरूप जाने-अनजाने घोर संकट में पड़ जाते हैं। उनमें से बडी संख्या में तो पर्वतमालाओं से टकरा कर समुद्र की अतल अन्त गहराई में खो जाते हैं। बचे-खुचे लोग सफर जारी रखते हुए, मध्य भाग में प्रज्वलित वडवानल के कोप-भाजन बन मर जाते हैं... । कुछ तो आकाश में सतत कौंधती बिजली के गिरने से खत्म हो जाते हैं... । कई तूफान की बिभीषिका में अपना सर्वस्व खो बैठते हैं ! शेष रहे थोड़े से मुसाफिर, जिन्हें भवसागर का यथार्थ ज्ञान है और जो ज्ञान समृद्ध धीर-गंभीर महापुरुषों का अनुसरण करते हैं, बच पाते हैं... भव-सागर को पार करने में सफल हो जाते हैं।

ज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में प्रस्तुत संसार-सागर अनन्त विषमताओं से भरा अत्यन्त दारुण है। जब तक वे यहाँ सदेह होते हैं, तब तक अधिकाधिक उद्विग्न रहते हैं। किसी भी सुख के प्रति वे आकर्षित नहीं होते, ना ही स्वयं ललचाते हैं। उनका सदा-सर्वदा सिर्फ एक ही लक्ष्य होता है; 'कब इस भवसागर से पार उतरुं' ! उनके सारे प्रयत्न और प्रयास भवसागर से पार उतरने के लिये होते हैं, मुक्ति के होते हैं। मन, वचन, काया से वे संतरण हेतु ही प्रयत्नशील रहते हैं।

हमें भी आत्म-संशोधन करना चाहिये। सोचना चाहिये कि यह भवसागर हमारे ठहरने के काबिल है क्या ? हमें यहाँ स्थिर होना चाहिये क्या ? कहीं भी कोई सुगम पथ है क्या ? कहीं निर्भयता है ? अशान्तिरहित असीम सुख है ? नहीं है। जो है वह सिर्फ मृगजल है। तो भव सागर में स्थिर होने का सवाल ही कहाँ उठता है ? जहाँ स्वस्थता नहीं, शान्ति नहीं, सुख नहीं और निर्भयता नहीं, वहाँ रहने की कल्पना से ही हृदय काँप उठता है ? जब देश का विभाजन हुआ और भारत व पाकिस्तान दो राष्ट्र बने, तब पाकिस्तान में हिन्दु परिवारों की स्थिति कैसी थी ? उनका जीवन कैसा था ? वहाँ से लाखों हिन्दू परिवार हिजरत कर भारत चले आये। जान हथेली पर रखकर सुख शान्ति और संपदा गँवा कर।

क्योंकि उन्हें वहाँ अपनी सुरक्षा, निर्भयता और सलामती का विश्वास न रहा ।

इसी तरह जब भवसागर से हिजरत करने की इच्छा पैदा हो जाए, तब माया-ममता के बन्धन टूटते एक क्षण भी न लगेगा । इसलिये यहाँ भवसागर की भीषणता का यथार्थ वर्णन किया गया है । अतः शान्ति से अकेले में इस पर चिन्तन करना, एकाग्र बनकर प्रतिदिन इस पर विचार करना । जब तुम्हारी आत्मा भव-सागर की भयानकता और विषमता से भयभीत हो उठे, तब उसे पार करने की तीव्र लालसा जाग पडेगी और तुम मन, वचन, काया से पार होने के लिए उद्यत हो जाओगे । ऐसी स्थिति में विश्व की कोई शक्ति तुम्हें भवसागर पार करते रोक न पाएगी ।

तैलपात्रधरो यद्वत्, राधावेधोद्यतो यथा ।
क्रियास्वनन्यचित्तः स्याद्, भवभीतस्तथा मुनिः ॥२२॥६॥

अर्थ : जिस तरह तैल-पात्र धारण करनेवाला और राधावेध साधनेवाला, अपनी क्रिया में अनन्य एकाग्र चित्त होता है । ठीक उसी तरह संसार-सागर से भयभीत साधु अपनी चारित्र-क्रिया में एकाग्रचित्त होता है ।

विवेचन : किसी एक नगर का एक नागरिक ! उसकी यह दृढ़ मान्यता थी कि लाख प्रयत्नों के बावजूद भी मन नियंत्रित नहीं होता ।

अतः वह प्रायः मनकी अस्थिर वृत्ति और चंचलता का सर्वत्र डंका पीटता रहता था । अपनी मान्यता से विपरीत मन्तव्य रखनेवाले के साथ वाद-विवाद करता रहता । वह मुनियों के साथ भी चर्चा करता रहता । न किसी की सुनता, ना ही समझने की कोशिश करता । मनकी स्थिरता को मानने के लिये कतई तैयार नहीं ।

वायु वेग से नगर में बात फैल गयी । राजा ने भी सुनी, लेकिन राजा विचलित न हुआ । वह स्वयं दर्शन-शास्त्र का ज्ञाता और विद्वान् था । मनको नियंत्रित करने की विद्या से वह भली-भाँति परिचित था । उसने मन ही मन उसे सबक सिखाने का निश्चय किया । पानी की तरह समय बीतता गया । एक बार भाई साहब राजा के जाल में फँस गये । राजा ने उसे फाँसी की सजा सुना दी ।

सुनते ही उसका एड़ी का पसीना चोटी तक आ गया। वह आकुल-व्याकुल हो उठा। 'मृत्यु' के नाम से ही वह काँप उठा। वह राजा के आगे गिडगिड़ाने लगा। "प्रभु ! मुझे फाँसी न दो" वह बोला।

"लेकिन अपराधी को दण्ड देना राजा का कर्तव्य है।"

"प्रभो ! जो दण्ड देता है, वह क्षमा भी कर सकता है।"

राजा ने कुछ सोचते हुए कहा : "एक शर्त पर तुम्हें क्षमा कर सकता हूँ।"

"एक नहीं, मुझे, सौ शर्तें मंजूर हैं लेकिन फाँसी मंजूर नहीं।" उसने बेताब होकर कहा।

"तेल से लबालब भरा पात्र हाथ में लिये नगर की हाट-हवेली और बजारों की प्रदक्षिणा करते हुए राजमहल में सकुशल पहुँचना होगा। यदि मार्ग में कहीं तेल की एक बूंद भी गिर गयी अथवा तेल-पात्र तनिक भी छलक गया तो मृत्यु-दण्ड से तुम्हें कोई बचा नहीं पाएगा। बोलो स्वीकार है ?"

उसने स्वीकार किया। राज-परिषद् समाप्त होने पर वह अपने आवास गया। उसके साथ राज कर्मचारी भी थे। इधर राजा ने हाट-हवेलियाँ और बजार सजाने का आदेश दिया। निर्धारित मार्ग पर रुपरंग की अंबार-सुन्दरियों को तैनात कर दिया। कलाकारों को अपनी कला सरे-आम प्रदर्शित करने की आज्ञायें जारी कीं। सारे नगर का नज़ारा ही बदल गया।

निर्धारित समय पर वह लबालब भरा तैल-पात्र लिये अपने आवास से निकला। राज-कर्मचारी भी उसके साथ ही थे। वह हाट-हवेली और बाजार से गुजरता है, लेकिन उसका सारा ध्यान तैल-पात्र के अतिरिक्त कहीं नहीं। दुकानों की सजावट उसका ध्यानाकर्षण नहीं करती। नाट्य-प्रसंग उसके मनको ललचाने में असफल बनते हैं। रूपसियों का देह-लालित्य और नेत्र-कटाक्ष उसे कतइ विचलित नहीं कर पाते। उसकी दृष्टि केवल अपने तैल-पात्र पर ही है। इस तरह वह सकुशल राजमहल पहुँचता है। महाराजा को विनीत भाव से वन्दन कर एक ओर नतमस्तक खड़ा हो जाता है।

"तैल की बूंद तो कहीं गिरी नहीं ना ?"

"जी नहीं !"

राजा ने राजकर्मचारियों की ओर प्रश्नसूचक दृष्टि से देखा । उन्होंने भी मौन रहकर उसके कथन की पुष्टि की । तब राजा ने कहा : "लेकिन यह कैसे सम्भव है ? सरासर असम्भव बात है । आज तक विश्व में जो बनी नहीं, ऐसी अनहोनी बात है । मन चंचल है । वह इधर-उधर देखे बिना रह ही नहीं सकता और इधर-उधर देखने भर की देर है कि तैल-पात्र छलके बिना रहेगा नहीं ।"

"राजन् ! मैं सच कहता हूँ । मेरा मन सिवाय तैल-पात्र के कहीं नहीं गया... दूसरा कोई विचार दिमाग में आया ही नहीं ।" उसने मंद, लेकिन दृढ़ स्वर में कहा ।

"क्या मन किसी एक वस्तु में एकाग्र बन सकता है ?"

"क्यों नहीं ? यह शत-प्रतिशत सम्भव है । मेरे सिर पर जब साक्षात् मृत्यु झूल रही थी, तब मन भला एकाग्र क्यों नहीं होता ?"

"तब फिर जो साधु / मुनि और साधक निरन्तर मृत्यु के भय को अपनी आँखों के आगे साक्षात् देखते हों, उनका मन चारित्र में स्थिर हो सकता है अथवा नहीं ?"

तबसे वह मनकी स्थिरता का उपाय आत्मसात् कर गया । अनन्त जन्म-मृत्यु के भय से साधु अपनी चारित्र-क्रिया में निरन्तर एकाग्रचित्त होता है । हाँ, उसे असार संसार का भय अवश्य हो ।

राधावेध साधनेवाला कैसी एकाग्रता का धनी होता है ! उसे नीचे पानी से लबालब भरे कुण्ड में देखना होता है और ऊपर स्तंभ के सिर पर निरन्तर घूमती पुतली की, कुण्ड में पडती छाया की दिशा में, निशाना ताक, उसकी एक आँख बिंधनी होती है । इसके लिये कैसा एकाग्रता चाहिये ? राजकुमारियों का पाणिग्रहण करने के इच्छुक नर-पुंगवों को ऐसे राधावेध की कसौटी पर अपनी बुद्धि, बल और एकाग्रता की परीक्षा देनी पड़ती थी ! इसी तरह का आदेश, श्री जिनेश्वर भगवान ने शिवसुन्दरी का पाणिग्रहण करने के लिये, आवश्यक

संयम-आराधना में एकाग्रता लाने हेतु दिया है। एकाग्र-चित्त हुए बिना संयम की मंजिल पाना असम्भव है।

विषं विषस्य वह्नेश्च वह्निरेव यदौषधम्।
तत्सत्यं भवभीतानामुपसर्गेऽपि यन्न भीः ॥२२।७॥

अर्थ : विष की दवा विष और अग्नि की औषधि अग्नि ही है। इसीलिए संसार से भयभीत जीवों को उपसर्गों के कारण किसी बात का डर नहीं होता।

विवेचन : यह कहावत सौ फीसदी सच है :

'विष की दवा विष और अग्नि की औषधि अग्नि'।

विष यानी जहर। जहर का भय दूर करने के लिये जहरीली दवा दी जाती है। उससे तनिक भी डर नहीं लगता। ठीक उसी तरह अग्नि-शमन के लिए अग्न की औषधि देने में भय नहीं लगता। तब भला संसार का भय दूर करने के लिये उपसर्गों की औषधि सेवन करने में किस बात का भय ?

अतः धीर-वीर मुनिवर उपसर्ग सहने के लिये अपने-आप तैयार होते हैं, उन्हें गले लगाने के लिये खुद कदम आगे बढ़ाते हुए नहीं घबराते। भगवान् महावीर ने श्रमण-जीवन में नानाविध उपसर्ग सहने हेतु अनार्य देश का भ्रमण किया था। क्योंकि उनके मन में कर्म-रिपुओं का भय दूर करने की उत्कट भावना थी। उन्होंने शिकारी कुत्तों का उपसर्ग सहन किया... ग्वालों ने उनेक चरणांबुज को चुल्हा बनाकर खीर पकायी, लेकिन वे मौन रहकर सब सहते रहे...। अनार्य पुरुषों के प्रहार और असह्य वेदना, कष्ट और यातनायें सहते हुए उफ तक नहीं की। ऐसे तो अनेकानेक उपसर्ग शान्त रह, सहते रहे। उन्हें किसी तरह का भय महसूस न हुआ। अरे, औषधि के सेवन में भला, भय किस बात का ?

शारीरिक रोगों के उपचार हेतु लोग बंबई-कलकत्ता नहीं जाते ? वहाँ डाक्टर शल्य-चिकित्सा करता है, हाथ-पाँव काटता है, आँख निकालता है, पेट चीरता है... और भी बहुत कुछ करता है। लेकिन रोगी को उसकी इस क्रिया / विधि से कतइ डर नहीं लगता। वह खुद स्वेच्छा से चीर-फाड कराता है। क्योंकि

वह बखूबी जानता है कि इससे उसका दर्द और बीमारी दूर होनेवाली है: रोग-निवारण का यही एक सरल, सुगम मार्ग है ।

तब भला खंधक मुनि राजकर्मचारियों द्वारा अपनी चमड़ी छिलते देख भयभीत क्यों होते ? उन पर रोष किसलिये करते ? उन्हें तो यह महज एक शल्य-क्रिया लगी । उस क्रिया से भव के भय का निवारण जो हो रहा था ।

अवंति सुकुमाल ने खुद ही सियार को अपना शरीर चीरने-फाड़ने दिया, उसे भरपेट खाने दिया, खून का पान करने दिया । आखिर क्यों ? वह इसलिए कि उससे उनका भवरोग जो मिटनेवाला था । मेतारज मुनि ने सुनार को अपने सिर पर चमड़े की पट्टी चुपचाप बाँधने दी... जरा भी विरोध नहीं किया । क्योंकि उससे उनके भवरोग के भय का निवारण होनेवाला था ।

भगवान महावीर ने ग्वाले को कान में कील ठोकने दिया, संगम को काल-चक्र रखने दिया,... गोशालक की अनाप-शनाप बकवास सहन की । इसके पीछे एक ही कारण था : ये सारी क्रियायें उनके भवरोग को मिटानेवाली रामबाण औषधियाँ जो थीं ।

भगवन्त ने मुनियों को उपसर्ग सहने का उपदेश दिया, भला किस लिए ? मुनिगण संसार का भय दूर करने के लिये आराधना-साधना करते हैं । उपसर्गों के माध्यम से उसका 'ऑपरेशन' होता है और संसार का भय सदा के लिये मिट जाता है । साथ ही ऑपरेशन करनेवाले रोगी के मन में डॉक्टर के प्रति रोष की भावना पैदा नहीं होती । उसके लिए वह डॉक्टर परमोपकारी सिद्ध होता है । तभी खंधकमुनि को राजकर्मचारी उपकारी प्रतीत हुए । अवंति सुकुमाल को सियार उपकारी लगा और मेतारज मुनि को सुनार ।

ठीक इसके विपरीत ऑपरेशन करनेवाला डॉक्टर बीमार को दुष्ट प्रतीत हो... अनुपकारी लगे तो ऑपरेशन बिगड़ते देर नहीं लगती । इसी तरह उपसर्गकर्ता दुष्ट लगे, तो मानसिक संतुलन ढ़लते विलम्ब नहीं होगा । साथ ही संसार के भय में एकाएक वृद्धि हो जाएगी । खंधकसूरिजी को मन्त्री पालक 'डॉक्टर' न लगा, बल्कि कोई दुष्ट लगा । फलतः उनका संसार भय दूर न हुआ । उनके शिष्यों के लिये मन्त्री पालक मुक्ति पाने में अनन्य सहायक बन गया ।

जीव को समताभाव से उपसर्ग सहने हैं... । उससे भवरोग तुरंत दूर हो जाते हैं । हम स्वेच्छया उपसर्ग सहन नहीं करें, लेकिन कर्म-प्रेरित उपसर्ग को भी हंसते-हंसते सह लें तो काम बन जाय ।

बालक आपरेशन-कक्ष में जाने से डरता है ! अपने समक्ष आपरेशन के लिए आवश्यक शस्त्र लिए डाक्टर को देख चीख पड़ता है भला, क्यों ? उसे अपने रोग की भयानकता अवगत नहीं है । वह डाक्टर को रोगनिवारक नहीं मानता। इसी तरह जीव भी बालक की तरह यदि अविकसित बुद्धिवाला होता है, तो वह उपसर्ग के साये से भी चीत्कार कर उठता है । उपसर्ग की उपकारिता से वह पूर्णतया अनभिज्ञ जो ठहरा ।

तात्पर्य यही है कि उपसर्ग सहने आवश्यक हैं । इससे भव का भय हमेशा के लिए दूर होता है ।

स्थैर्यं भवभयादेव, व्यवहारे मुनिर्व्रजेत् ।
स्वात्मारामसमाधौ तु, तदप्यन्तर्निमज्जति ॥२२॥८॥

अर्थ : व्यवहार नय से संसार के भय से ही साधु स्थिरता पाता है । परन्तु अपनी आत्म की रतिरुप समाधि-ध्यान में वह भय अपने-आप ही विलीन हो जाता है ।

विवेचन : संसार का भय ?
क्या मुनिवर्य को संसार का भय रखना चाहिये ?
क्या भय उनकी चारित्रस्थिरता की नींव है ?

चार गति के परिभ्रमण स्वरूप संसार का भय मुनि को होना चाहिये । तभी वह निज चारित्र में स्थिर हो सकता है। "यदि मैं चारित्र-पालन की आराधना में प्रमाद करूँगा, तो मझे बरबस संसार की नरक और तिर्यंचादि गति में अनन्त काल तक भटकना पडेगा ।" मुनि में यह भावना अवश्य होनी चाहिये । उपरोक्त भावना उसे :

इच्छाकारादि समाचारी★ में अप्रमत्त रखती है ।

★ देखिए परिशिष्ट

क्षमादि दसविध★ यतिधर्म में उन्नत रखती है।
निर्दोष★ भिक्षाचर्या के प्रति जागृत रखती है।
महाव्रतों के पालन में अतिचारमुक्त करती है।
समिति-गुप्ति के पालन में उपयोगशील बनाती है।
आत्मरक्षा, संयम-रक्षा और प्रवचनरक्षा में उद्यमशील बनाती है।

संसार के भय से प्राप्त संयम-पालन की अप्रमत्तता उपादेय है। 'संसार में मुझे भटकना पड़ेगा'—ऐसा भय आर्तध्यान नहीं, बल्कि धर्मध्यान है।

जब मुनि आत्मा की निर्विकल्प समाधि में लीन हो जाता है, तब संसारभय स्वयं अपना अस्तित्व उसमें विलीन कर देता है। वह अपना अस्तित्व स्वतंत्र नहीं रखता। वह मोक्ष और संसार दोनों में सदा निःस्पृह होता है। उसे न मोक्षप्राप्ति का विचार और ना ही संसारभय की अकुलाहट।

'मोक्षे भवे च सर्वत्र निःस्पृहो मुनिसत्तमः'

जब ऐसी उच्च कोटि की निर्विकल्प समाधि किसी प्रकार के मानसिक विचार बिना ही प्राप्त होती है, तब संसार का भय नहीं रहता। जब तक ऐसी आत्म-दशा प्राप्त न हो जाये, तब तक संसार का भय रहना चाहिये और मुनि को भी ऐसा भय सदा-सर्वदा अपने मन में रखना चाहिए।

प्रव्रज्याग्रहण करने मात्र से ही दुर्गति पर विजयश्री प्राप्त कर ली है, ऐसी मान्यता मुनि के मन में नहीं होनी चाहिए। वह लापरवाह और निश्चिन्त न बने। यदि मुनिवर भव-भ्रमण का भय तज दें, तो

शास्त्र-स्वाध्याय में प्रमाद करेगा।
विकथा (स्त्री, भोजन, देश, राजकथा) करता रहेगा।
दोषित भिक्षा लाएगा।
कदम-कदम पर राग-द्वेष का अनुसरण करेगा।
महाव्रत-पालन में अतिचार लगाएगा।

★ देखिए परिशिष्ट ★ देखिए परिशिष्ट

समिति-गुप्ति का पालन नहीं करेगा ।

मान-सम्मान और कीर्ति-यश का मोह जगेगा ।

जन-रंजन के लिये सदैव प्रयत्नशील रहेगा ।

संयम-क्रिया में शिथिल बनेगा ।

इस तरह अनेक प्रकार के अनिष्टों का शिकार बनेगा । अतः भव का भय... दुर्गति-पतन का भय, मुनि को होना ही चाहिए ।

पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने तो संसार को सिर्फ समुद्र की संज्ञा ही दी है । लेकिन 'अध्यात्म सार' में उन्होंने इसे अनेक प्रकार के रूप और उपमाओं से उल्लेखित किया है । उदाहरणार्थ : संसार एक घना वन है, भयंकर कारागृह है, वीरान श्मशान है, अन्धेरा कुँआ है आदि । इस तरह भवस्वरूप की विविध कल्पनायें कर उस पर गहरा चिन्तन-मनन करना चाहिये । संसार असार है, इसकी अनुभूति हुए बिना इसके वैषयिक सुखों की आसक्ति का पाश कभी नहीं टूटता । साथ ही, भव के प्रति रहे राग की डोर टूटे बिना भव-बन्धन तोड़ने का पुरुषार्थ सम्भव नहीं ।

लेकिन इसके लिए भवस्वरूप के चिन्तन में खो जाना चाहिये, तन्मय होना चाहिये । भवसागर के किनारे खड़े रहकर उसकी भीषणता का अनुभव करना। भव-श्मशान के एक कोने पर खड़े हो, उसकी वीरानी और भयानकता देखना । भव-कारागृह में प्रवेश कर उसकी वेदना और यातनायें समझना । भव कूप की कगार पर खडे हो, उसकी भयंकरता को निहारना । अनायास तुम चीत्कार कर उठोगे... तुम्हारा तन-बदन पसीने से तर हो जाएगा... तुम थर-थर कांपने लगोगे और तब 'हे अरिहंत ! कृपानाथ...' पुकारते हुए महामहिम जिनेश्वर भगवन्त की शरण में चले जाओगे ।

● ● ●

२३. लोकसंज्ञा-त्याग

ज्ञानियों को अज्ञानियों की पद्धति पसंद नहीं ! अज्ञानांधकार में आकण्ठ डूबी दुनिया में रहे ज्ञानीपुरुष दुनिया के प्रवाह में नहीं बहते !

वे तो अपने ज्ञान-निर्धारित निश्चित मार्ग पर चलते रहते हैं ! दुनिया से वे सदा निश्चित-बेफिक्र होते हैं ! लोक की प्रसन्नता-अप्रसन्नता को लेकर कोई विचार नहीं करते ! उनका चिंतन-मनन ज्ञान-निर्धारित होता है । लोकप्रवाह... लोक-संज्ञा और लोक मार्ग से तत्त्वज्ञानी-दार्शनिक किस तरह अलिप्त होते हैं– यह तुम प्रस्तुत अष्टक पढने से समझ पाओगे ।

प्राप्तः षष्ठं गुणस्थानं भवदुर्गाद्रिलङ्घनम् ।
लोकसंज्ञारतो न स्यान्मुनिर्लोकोत्तरस्थितिः ॥२३॥१॥

अर्थ : जिसमें संसार रूपी विषम पर्वत का उल्लंघन है, ऐसे छठ्ठे गुणस्थानक को प्राप्त और लोकोत्तर मार्ग में जो रहा हुआ है ऐसा साधु, मन में लोकसंज्ञा में प्रीतिवाला नहीं होता है ।

विवेचन : मुनिवर्य, आप कौन हैं ?

यदि आप अपने व्यक्तित्व को देखोगे तो निःसंदेह 'लोकसंज्ञा' में प्रीतिभाव नहीं होगा । यहाँ आप की उच्च आत्म-स्थिति का यथार्थ वर्णन किया गया है :

(१) आप छठे गुणस्थान पर स्थित हैं ।

(२) लोकोत्तर-मार्ग के पथिक हैं ।

अतः सदैव आपके स्मृति-पट पर यह तथ्य अंकित होना चाहिए कि, 'मैं छठे गुणस्थान पर स्थित हूँ। इसके पहले के पाँच गुणस्थान मैंने सफलतापूर्वक पार कर लिये हैं। अतः मुझे कुदेव, कुगुरु और कुधर्म के प्रति श्रद्धाभाव से नहीं देखना चाहिए। मैं दूध-दही में पाँव नहीं रख सकता। में मिश्र-गुणस्थान पर नही हूँ। आपकी दृढ़ श्रद्धा होनी चाहिए कि, 'जिनोक्त तत्त्व ही सत्य हैं।' में गृहस्थ नहीं हूँ... अतः गृहस्थ की भांति मेरी वृत्ति और बर्ताव नहीं होना चाहिये। मैं अणुव्रतधारी नहीं अपितु महाव्रतधारी हूँ। जिन पापों को बारह व्रतधारी श्रावक तज नहीं सकता, मैं ने उन्हें त्रिविध-त्रिविध (मन-वचन काया से कराना और अनुमोदन करना) तज दिया है। अतः मेरे लिए ऐसी आत्माओं का सम्पर्क-सम्बन्ध हितकारक है, जिन्होंने मेरी तरह पापों को त्रिविध-त्रिविध छोड़ दिए हैं। अपने पापों के परित्याग के साथ ही मैंने देव-गुरु और संघ की साक्षी, सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना करने की आत्मा की अनुभूति से कठोर प्रतिज्ञा की है। फलस्वरूप मुझे ऐसी ही सर्वोत्तम आत्माओं का सहवास पसंद करना चाहिये जो सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना में ओत-प्रोत हों।"

हे मुनिराज ! आपको इस तरह का चिंतन-मनन करना चाहिये, ताकि आप पापासक्त और मिथ्या कल्पनाओं में खोये जीवों के सहवास, परिचय और उन्हें खुश करने की वृत्ति से बच जाओ।

मैं लोकमार्ग का नहीं, बल्कि लोकोत्तर मार्ग का यात्री हूँ। लोक मार्ग और लोकोत्तर मार्ग (जिन मार्ग) में जमीन-आकाश का अन्तर है ! लोकमार्ग मिथ्या धारणाओं पर चलता है, जबकि लोकोत्तर-मार्ग केवलज्ञानी वीतराग भगवन्त द्वारा निर्देशित निर्भय-मार्ग है। अतः लोकोत्तर-मार्ग का परित्याग कर मुझे लौकिक मार्ग की ओर हर्गिज नहीं जाना चाहिए ! मुझे लोगों से भला क्या लेना-देना ? मेरा उनसे कोई सम्बन्ध नहीं है ! लौकिक मार्ग में स्थित जीवों से मैंने तमाम रिश्ते-नातों का विच्छेद कर दिया है ! उनका सहवास नहीं, ना ही उनका किसी प्रकार का अनुकरण ! क्योंकि उनकी कल्पनाएँ, विचार, व्यवहार, धारणा और आदर्श अलग होते हैं ! जबकि मेरी कल्पना-सृष्टि, धारणाएँ और आदर्श अलग होते हैं ! जिन्दगीपर्यंत लोकोत्तर मार्ग-जिनमार्ग का अनुसरण करूँगा, न कि लोकमार्ग का ! हर प्रसंग और हर घटना में मैं देवाधिदेव जिनेश्वर भगवन्त को

प्रसन्न करने का प्रयत्न करूँगा, ना कि दुनिया के लोगों को ! सामान्य जीवों को प्रसन्न करने का मेरा प्रयोजन ही क्या है ?"

"संसार की विषम पर्वतमालाओं को लांघकर मैं छठे गुणस्थान पर पहुँचा हूँ ! मैं लोकोत्तर मार्ग में स्थित हूँ, फिर भला लोक-संज्ञा से प्रीति क्यों रखूँ? क्योंकि लोक-संज्ञा में दुबारा संसार के विषम पहाड़ों पर चढ़ाई करना पड़ता है। अनेकविध मानसिक विषमताएँ उस मार्ग में अवरोध उत्पन्न करती हैं । इसके बजाय मैं लोकोत्तर मार्ग के आदर्शों का ही अवलम्बन करूँगा । उन आदर्शों के पीछे मेरे मन, वचन, काया की समस्त शक्ति लगा दूँगा । मुझे लोगों से कोई मतलब नहीं ! वे दिन-रात वैषयिक सुख में आकण्ठ डूबे रहते हैं, जबकि मुझे पूर्णतया निष्काम योगी बनना है । संसार के जीव, जड सम्पत्ति के माध्यम से अपने वैभव और महत्ता का मिथ्या प्रदर्शन करते हैं, जबकि मुझे सच्चे दिल से ज्ञान, दर्शन-चारित्र की अनूठी संपदा से आत्मोन्नति की साधना करना है । लोक बहिर्दृष्टि होते हैं, जबकि मुझे ज्ञानदृष्टि से अपना विकास करना है । जीव अज्ञान और अशान्ति की ओर अन्धी दौड लगा रहे हैं । जबकि मुझे केवलज्ञान की और निरंतर गतिशील होना है । ऐसी स्थिति में जीव और मुझ में साम्य कैसा ? मैं तो अपना छठा गुण-स्थान ही कायम रखूँगा और सातवें... आठवें गुणस्थान पर पहुँचने के लिए प्रयत्न करता रहूँगा । अब पीछेहठ नहीं ! किसी कीमत पर और किसी हालत में भी पीछेहठ नहीं ! लोक-संज्ञा में मैं अपना पतन कदापि नहीं होने दूँगा ।

यथा चिंतामणिं दत्ते बठरो बदरीफलैः ।
हहा जहाति सद्धर्मं तथैव जनरंजनैः ॥२३॥२॥

अर्थ : जिस तरह कोई मूर्ख बेर के बदले में चिन्तामणि रत्न देता है, ठीक उसी तरह कोई मूढ लोक-रंजनार्थ अपने धर्म को तज देता है ।

विवेचन : एक था गडरिया ।

वह प्रतिदिन ढोर चराने जंगल में जाता था ।

अचानक एक दिन उसे चिन्तामणि-रत्न मिल गया । उसे वह रंगबिरंगी

पत्थर पसन्द आ गया। उसने उसे बकरी के गले में बाँध दिया ! शाम को गडरिया गाँव लौटा ! गाँव के बाहर कोई एक आदमी बेर बेच रहा था। पके और रसीले बेर देखकर अनायास उसके मुँह में पानी भर आया।

उसने उसके पास जाकर कहा : "दो-चार बेर मुझे भी दे दे !"
'बेर यों मुफ्त में नहीं मिलते ! जेब में पैसे हैं ?'

गडरिया के पास फूटी कौडी भी न थी ! वह सोच में पड़ गया ! बेर खाने थे, लेकिन पैसे कहाँ से लाये ! उसे एक उपाय सूझा ! उसने बकरी के गले में बन्धा चिंतामणि-रत्न देकर बदले में बेर खरीद लिए। बेरवाले ने चमकते पत्थर को देखा और वह भी ललचा गया। उसने कभी ऐसा पत्थर देखा न था ! उसी समय वहाँ से एक महाजन गुजरा। उनकी तेज नजर बेरवाले के हाथ में रहे चमकीले पत्थर पर पडी। वह वहीं ठिठक गया। वह जौहरी होने के कारण चिंतामणि-रत्न पहचानते उसे देर न लगी। इधर-उधर की बातों में उलझाकर उसने बेरवाले को कुछ पैसे देकर, चिंतामणि-रत्न खरीद लिया।

धर्म देकर लोक-प्रशंसा खरीदनेवाला भी उस गडरिये जैसा ही है। जबकि धर्म चिंतामणि-रत्न से अधिक कीमती और विशेष है। वह अचिंत्य चिंतामणि है... । जीव कभी कल्पना भी न कर सके, वैसी दिव्य और अपूर्व भेंट, सद्धर्म-चिंतामणि प्रदान करता है। उक्त सद्धर्म को लोकप्रशंसा के लिये अथवा लोकरंजनार्थ देनेवाले, गडरिये से भी बढ़कर मूर्ख हैं।

क्या तुम जानते हो कि तुम्हारे पास जो सद्धर्म है, वह अचिंत्य चिंतामणि है ? आखिर सद्धर्म को तुम क्या समझ बैठे हो ? जिस सद्धर्म से तुम आत्मा की अनंत संपदा और ढ़ेर सारी सम्पत्ति प्राप्त कर सकते हो, उसे तुम लोक-प्रशंसा के खातिर कोडी के मूल्य बेच रहे हो ? लोग भले ही तुम्हें त्यागी, विद्वान् तपस्वी, ब्रह्मचारी, परोपकारी और बुद्धिमान कहें, लेकिन ज्ञानियों की दृष्टि में तुम मूर्ख हो। तुमने धर्म का उपयोग लोक-रंजन हेतु किया, यही तुम्हारी मूर्खता है।

अरे, तुम्हारी मूर्खता की कोई हद है ? किसीको तुम सद्धर्म के द्वारा लोक-प्रशंसा पाते देखते हो, तब उससे प्रभावित हो जाते हो ? वह तुम्हें महान् प्रतीत होता है और खुद को कनिष्ट, तुच्छ और छोटा समझते हो ! फलतः तुम्हारे

मन में भी लोक-प्रशंसा और लोकाभिनन्दन पाने की तीव्र लालसा पैदा होती है! सद्धर्म-प्राप्ति से, सद्धर्म की आराधना से तुम्हें तनिक भी संतोष, आनन्द और तृप्ति नहीं होती।

तुम तपश्चर्या करते हो। लेकिन जानते हो कि तप सद्धर्म ही है! क्या तुम तपश्चर्या के माध्यम से लोक-प्रशंसा के इच्छुक नहीं हैं न? तुम अपनी तपश्चर्या के विज्ञापन द्वार 'लोग मेरी प्रशंसा करेंगे।' भावना नहीं रखते हो न? तुम दान देते हो! दान सद्धर्म है। तुम दान के बल पर लोक-प्रशंसा पाने की चाह नहीं रखते हो न? दान देकर मन ही मन हरखाते हैं? नहीं, तुम्हारे दान की दूसरे लोग प्रशंसा करते हैं, तब ही सुख होता है न?

ज्ञानप्राप्ति से असीम आनन्द मिलता है क्या? दूसरे लोग जब तुम्हें ज्ञानी विद्वान कहें, तब ही आनन्दित होते हैं न?

ब्रह्मचर्यपालन से प्रसन्नता मिलती है क्या? दूसरे तुम्हें ब्रह्मचारी कहकर सम्बोधित करें, तब ही प्रसन्न होते हो न?

यदि सद्धर्म के माध्यम से तुम लोक-प्रशंसा पाना चाहते हो, तब चिंतामणि-रत्न के बदले बेर खरीदनेवाले उस गडरिये से अधिक बुद्धिशाली कैसे हो सकते हैं? हाँ, वह बात सम्भव है कि तुम सद्धर्म से लोक-प्रशंसा पाना नहीं चाहते, फिर भी तुम्हारे शुभ कर्मों के कारण लोग-वाह-वाह किये बिना नहीं अघाते, उसमें तुम्हारा कोई अपराध नहीं। तदुपरांत भी, तुम्हें यह आदर्श तो बनाये रखना है कि 'यह प्रशंसा-स्तुति सिर्फ पुण्य जन्य है।' इससे खुशी नहीं होना है। क्योंकि पुण्य का प्रभाव खत्म होते ही प्रशंसक निंदक बन जायेंगे। यदि प्रशंसा से फूल जाओगे तो निंदा से दुःखी होना पडेगा।

तुम सद्धर्म की मन-वचन काया से आराधना करते हो, तुम्हें लोकप्रशंसा नहीं मिलती, मान-सन्मान नहीं मिलता, इससे निराश होने की आवश्यकता नहीं। हमेशा याद रखो सद्धर्म का फल लोक-प्रशंसा नहीं है। भूल कर भी कभी अन्य प्राणियों से अपने सद्धर्म की कदर करवाने की भावना नहीं रखना। क्योंकि सद्धर्म की आराधना से तुम्हें अपनी आत्मा को निःस्पृह महात्मा बनाना है। कर्म-बन्धनों को छिन्न-भिन्न करना है। आत्मा को परमात्मा बनाना है। यदि लोक-प्रशंसा

के व्यामोह में जरा भी फँस गये तो तुम्हारे भव्य और उदात्त आदर्शो की कब्र खुदते देर नहीं लगेगी । अतः सदैव सावधान रह सद्धर्म की आराधना करनी चाहिए ।

लोकसंज्ञामहानद्यामनृस्त्रोतोऽनुगा न के ।
प्रतिस्त्रोतोऽनुगस्त्वेको राजहंसो महामुनिः ॥२३॥३॥

अर्थ : लोकसंज्ञा रुपी महानदी में लोक-प्रवाह का अनुसरण करनेवाले भला कौन नहीं हैं ? प्रवाह-विरुद्ध चलनेवाला राजहंस जैसे मात्र मुनीश्वर ही हैं ।

विवेचन : कोई एक बडी नदी है ।

गंगा, यमुना, गोदावरी, नर्मदा, ब्रह्मपुत्रा से भी बडी !

जिस दिशा में नदी बहती है उसके प्रवाह में अनुकूल दिशा में सभी प्रवाहित होते हैं, प्रयास करते हैं ! लेकिन प्रवाह विरुद्ध प्रतिकूल दिशा में कोई प्रवास नहीं कर सकता । उफनते, विद्युतवेग से आगे बढते प्रवाह की प्रतिकूल दिशा में तैरना बच्चों का खेल नहीं हैं !

लोक-संज्ञा रूपी नदी के प्रवाह में बहना, प्रवास करना कोई बड़ी बात नहीं हैं । खाना-पीना, ओढ़ना-पहनना, विकथाएँ करना, परिग्रह इकट्ठा करना, भोगोपभोग का आनन्द लूटना, गगनचुम्बी भवन निर्माण करना और कीमती वाहन रखना, पुत्र-पत्नी और परिवार में खोये रहना, तन-को साफ-सुथरा रखना, सजाना-सँवारना, वस्त्राभूषण धारण करना... आदि समस्त क्रिया सहज स्वभाविक हैं । इसमें कोई विशेषता नहीं और ना ही आश्चर्य करने जैसी बात है ।

अज्ञान, मोह और द्वेष में फसी दुनिया के बुद्धिमान कहलाते विद्वान् लोग, लौकिक आदर्श और परम्पराएँ साथ ही विवेकहीन रीति-रिवाज के बोझ को ढोते फिरते हैं ! मुनि को चाहिए कि वह इन आदर्श, पद्धति, परम्परा और रीति-रिवाज के चंगुल में भूलकर भी न फँसे !

लोकप्रवाह द्वारा मान्य कुछ मत निम्नानुसार हैं :

(१) श्रमण-समाज को समाज-सेवा करनी चाहिएँ : अस्पताल, शाला, महाविद्यालय और धर्मशालाएँ निर्माण करानी चाहिएँ ।

(२) श्रमण को अस्वच्छ, फटे-पुराने वस्त्र धारण नहीं करना चाहिए बल्कि स्वच्छ और अच्छे वस्त्र परिधान करने चाहिएँ !

(३) धर्म के प्रचार और प्रसार हेतु श्रमणों को कार, वायु-यान, रेल्वे का प्रवास और समुद्र-प्रवास करना चाहिए !

(४) श्रमणगण लोगों को अधिकाधिक प्रतिज्ञाएँ न दें !

(५) श्रमण अधिक दीक्षाएँ न दें !

(६) श्रमण बाल-दीक्षा न दें !

यह आधुनिक लोकमत है ! जिसकी आत्मा जागृत न हो और ज्ञानदृष्टि खुली नहीं हो, प्रायः ऐसे साधु लोक-प्रवाह के भोग बने बिना नहीं रहते... । इस प्रकार के लोकप्रवाह शिष्ट और सदाचारी समाज-रचना का अंग-भंग करने हेतु प्रचलित हैं । सुशिक्षा और समाज सुधार के नाम पर कई गंदी, बीभत्स और समाज को पतनोन्मुखी बनानेवाली योजनाएँ कार्यान्वित होती नजर आ रही हैं।

१. 'आबादी बढ रही है, अनाज नहीं मिलेगा, अतः संतति-नियमन करो ! अधिक बालक न हों, इसलिए ऑपरेशन करवाओ । निरोध का उपयोग करो !' आदि विचारों का सरेआम राष्ट्रव्यापी प्रचार कर मनुष्य को दुराचारी, व्यभिचारी बनाने की योजनाएँ दिन-दहाडे कार्यान्वित हो रही हैं और लोक-प्रवाह के बहाव में स्दैव बहनेवाले इसमें फँसे बिना नहीं रहते !

२. विधवाओं को पुनर्विवाह की सुविधा मिलनी चाहिए ।

३. सह-शिक्षा अवश्य हो, उसका विरोध क्यों ?

४. सिनेमा से मनोरंजन होता है... !

५. संसार में भी धर्माराधना कर सकते हैं ! मोक्ष-प्राप्ति होती है !

ऐसी मान्यता और मतों का समावेश लोक-प्रवाह में है । मुनिराज को चाहिए कि वह इन मान्यताओं का शिकार न बनें, बल्कि इसकी विरूद्ध दिशा में अपना जीवन-क्रम निरंतर जारी रखें । निर्भयता और निडरता के साथ चलते

रहे, वह किसीके बहकाव में न आयें । वह सदा-सर्वदा जिनेश्वर भगवान द्वारा निरूपित मार्ग का ही निष्ठापूर्वक अवलम्बन करता रहे । भगवन्त की वाणी और सिद्धान्त से बढ़कर अपने सिद्धान्त और जीवन-दर्शन को महत्त्व न दें ! वह लोक-प्रवाह के तीव्रवेग के बीच रह, जीवों की अज्ञानता को मिटाने का प्रयत्न करें, उन्हें मोह-व्यामोह के जाल से टूर रखने की कोशिश करें । उन्हें सत्य ऐसे मोक्ष-मार्ग की ओर प्रेरित करने का पुरुषार्थ करें ।

मुनि तो राजहंस है । वह सिर्फ मोती ही चुगता है । घास उसका खाद्य नहीं और कीचड वह नहीं उछालता । घास खाते और कीचड में सने जीव के लिए उसके मन में करुणा और दयार्द्रता उभर आये ! उन्हें मुक्ति दिलाने का प्रयत्न करे, ना कि स्वयं उनमें एकरुप हो जाएँ ।

अज्ञानियों की बातों में आकर उनके अविवेकपूर्ण मत और मान्यताओं को स्वीकृति देने की बुरी आदत से अपने को बाल-बाल बचाएँ । तभी मुनि-जीवन की मर्यादा और परम्परा में रह मोक्ष-मार्ग की आराधना में आगे बढ सकेगा । लोक-संज्ञा के परित्याग हेतु उसमें निःस्पृहता, निडरता और निर्भयता होना परमावश्यक है और इसके मूल में रही ज्ञानदृष्टि होना इससे भी ज्यादा आवश्यक है ।

लोकमालम्ब्य कर्तव्यं कृतं बहुभिरेव चेत् !
तथा मिथ्यादृशां धर्मो न त्याज्यः स्यात् कदाचन ॥२३॥४॥

अर्थ : यदि लोकावलम्बन के आधार से बहुसंख्य मनुष्यों द्वारा की जाती क्रिया करने योग्य हो तो फिर मिथ्यादृष्टि का धर्म कदापि त्याग करने योग्य नहीं है ।

विवेचन : जिन की दृष्टि स्वच्छ न हो,
जिन की दृष्टि निराग्रही न हो,
जिनके पास 'केवल ज्ञान' का प्रकाश न हो,
जिनके राग-द्वेषादि बन्धन अभी टूटे न हों,

ऐसे व्यक्ति-विशेष ने ही अपनी बुद्धिमत्ता के बल पर जो मिले उन्हें साथ लेकर विभिन्न मतों और पंथों की स्थापना की है । उन्हें 'मिथ्यामत' अथवा

'मिथ्यापंथ' कहा गया है। मिथ्यादृष्टि से वास्तविक विश्व-दर्शन नहीं होता। सब कुछ गलत-सलत दिखायी देता है। जो उसे दिखता है, वह सच मानता है। विश्व में ऐसे कई मत और संप्रदाय हैं और उनके अनुयायियों की संख्या भी कम नहीं है। मतलब विभिन्न मतों के विविध अनुयायी दुनिया में अत्र-तत्र फैले हुए हैं।

यदि किसी की यह मान्यता हो कि 'बहुत लोग जिस मत का अनुसरण करते हैं, वह सच्चा है।' तो गलत बात है। क्योंकि सच्चाई का अनुसरण करनेवाले लोगों का प्रमाण प्रायः अल्प होता है। जबकि असत्य और अवास्तविकता का अनुसरण करनेवाले असंख्य मिल जाएँगे। सत्य और वास्तविक मार्ग का अनुगमन करने की शक्ति बहुत कम लोगों में पायी जाती है।

अतः अगर यह मान लिया जाए कि 'बहुमत जो करता है, उसे हमें भी करना चाहिए।' तो वह सत्य होगा या असत्य ? विश्व के ज्यादातर जीवों को क्या पसंद है, बृहत् समाज की अभिरुचि और अभिलाषा क्या है ?' इस बात को परिलक्षित कर जो लोग धर्म के सिद्धान्त और मत प्रवर्तन करते हैं, ऐसे लोग सत्य से दूर भागते हैं। वे सच्चे हो ही नहीं सकते। आमतौर से सामान्य जीवों को भोगपभोग में रुचि होती है। उन्हें हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार व्यभिचार और परिग्रह में दिलचस्पी होती है। वे गीत-संगीत सुनना, सुंदर रूप देखना, प्रिय रस का सेवन करना, गन्ध-सुगन्ध का आस्वाद लेना और मुलायम शरीर-स्पर्श करना पसंद करते हैं। यदि तुम उनकी सुप्त इच्छा-अभिलाषा और कामना पूर्ण करने की अनुमति दो, एकाध आकर्षक जाल उन पर फेंक दो और उसे धर्म की संज्ञा दे दो, तो वे उसे खुशी-खुशी स्वीकार लेंगे। ऐसा तथाकथित धर्म अथवा सिद्धान्त विश्व के बहुसंख्य जीव सोत्साह ग्रहण कर अनुयायी बन जाएगे। लेकिन प्रश्न यह है कि इससे क्या आत्म–कल्याण सम्भव है ? ऐसा धर्म जीवों को दुःखों से मुक्त कर सकेगा ? क्या ऐसा धर्म तुम्हें मोक्ष का सुख प्रदान कर सकेगा ?

जो दुर्गति में जाते जीवों को बचा न सके, वह भला धर्म कैसा ? आत्मा पर रहे कर्मों के बन्धनों को छिन्न-भिन्न न कर सके उसे धर्म कैसे कहा जाय ? विश्व का बृहत् मानव-समाज अज्ञानी ही होता है। भगवान महावीर के समय में

भी गोशालक का अपना अनुयायी-वर्ग बहुत बडा था ! उससे क्या गोशालक का मत स्वीकार्य हो सकता है ? वास्तव में 'बहुमत से जो आचरण किया जाए उसका ही आचरण करना चाहिए, 'यह मान्यता अज्ञानमूलक है ।'

आजकल व्याख्यान में भी कई व्याख्याता इस बात का ध्यान रखते हैं बृहत् समाज, श्रोतावृन्द क्या सुनना चाहता है ? उसका अनुशीलन कर बोलो...!' लोकरूचि का अनुसरण करने से लोकहित की भावना सिद्ध नहीं होती ! क्योंकि आम समाज की रूचि प्राय: आत्मविमुख होती है जडमूलक होती है । उसका अन्धानुकरण करने से क्या लोक-हित सम्भव है ? नहीं इसलिये तो लोक-संज्ञा के अनुसरण का भगवान ने निषेध किया है ! सिर्फ उसी बात का अनुसरण करना श्रेयस्कर है, जिससे आत्महित और लोकहित दोनों सम्भव हों । जो आत्महित अथवा लोकहित की व्याख्या से ही अनभिज्ञ हैं, उन्हें अवश्य यह अप्रिय लगेगा ! लेकिन केवल मुट्ठीभर लोगों के लिए आत्महित का उपदेश बदल नहीं सकते ।

अलबत्ता प्राणी मात्र की रुचि आत्मोन्मुख बनाने के प्रयत्न अवश्य करने चाहिए और उसके लिए लोकरुचि का ज्ञान होना जरूरी है । यह ज्ञान प्राप्त करने में लोकसंज्ञा का अनुसरण नहीं है । ठीक उसी तरह कभी-कभार श्री जिनवचन की निंदा के निवारण हेतु लोकाभिप्राय का अनुसरण किया जाए तो उसमें लोकसंज्ञा का सवाल नहीं उठता । प्रसंगोपात संयम-रक्षा एवं आत्मरक्षा हेतु लोक-अभिप्राय का आधार लिया जाए तो वह लोकसंज्ञा नहीं कहलाती । लेकिन प्रवचन, संयम और आत्मा की विस्मृति कर लोकरंजनार्थ, लोक-प्रशंसा प्राप्त करने हेतु लोकरूचि का अनुसरण किया जाए तो वह लोकसंज्ञा है ।

लोक -अभिरूचि का अनुसरण करनेवाले कई मिथ्यामतों का विश्व में उदय होता है और कालान्तर से अस्त भी । लेकिन उनके मत के अनुसरण से मोक्ष-प्राप्ति कदापि सम्भव नहीं ।

श्रेयोऽर्थिनो हि भूयांसो लोके लोकोत्तरे न च !
स्तोका हि रत्नवणिज: स्तोकाश्च स्वात्मसाधका ॥२३॥५॥

अर्थ : वास्तव में देखा जाए तो लोक-मार्ग और लोकोत्तर-मार्ग में

मोक्षार्थियों की संख्या नगण्य ही है। क्योंकि जैसे रत्न की परख करनेवाले बहुत कम होते हैं, वैसे आत्मोन्नति हेतु प्रयत्न करनेवालों की संख्या न्यून ही होती है।

विवेचन : मोक्षार्थी-मोक्ष के अर्थी।

यानी सर्व कर्मक्षय के इच्छुक ! आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था की प्राप्ति के अभिलाषी... ! ऐसे जीव भला लोकमार्ग में और लोकोत्तरमार्ग में कितने होंगे ? न्यून ही होते हैं, नहीवत्। जिसकी गणना अंगुली पर की जा सकती है।

दुनिया में रत्न की परख रखनेवाले जौहरी भला कितने होंगे ? बहुत कम। उसी तरह आत्मसिद्धि के साधक कितने ? नहीवत् !

मोक्ष ! जहाँ शरीर नहीं, इन्द्रियाँ नहीं, इन्द्रियानुकूल भोगोपभोग नहीं और विषयसुख की अभिलाषा में से उत्पन्न होनेवाले कषाय नहीं ! व्यापार-वाणिज्य नहीं, संसार के बहुत बड़े वर्ग के मन में यह उलझन घर कर गई है कि, आखिर मोक्ष में क्या है ? वहाँ जाकर क्या करें ? क्योंकि उनके पास मोक्ष के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं और ना ही मोक्ष-सुख की कोई वास्तविक कल्पना है। तब भला, मोक्षार्थी कैसे हो सकते ? ठीक वैसे ही लोकोत्तर... जिनेश्वरदेव-प्रणीत मोक्ष-मार्ग में भी कई जीव मोक्षार्थी नहीं होते। वे सब बीच के स्टेशन-स्वर्ग पर उतर जानेवाले होते हैं। जिनको मोक्ष की कल्पना भी न हो, ऐसे लोग क्या मोक्ष-मार्ग पर चल सकते हैं ? आत्मविशुद्धि के अभिलाषी लोकोत्तर मार्ग पर चलनेवाले जीवों की संख्या मर्यादित ही होती है।

लोकोत्तर-जिनभाषित मार्ग में भी लोकसंज्ञा सजाने से बात नहीं आती। अन्य संज्ञाओं पर नियंत्रण रखनेवालों को भी यह अनादिकालीन संज्ञा सता सकती है। आहारसंज्ञा पर काबू रखनेवाला तपस्वी जो मासक्षमण, अठ्ठाई, अठ्ठम... छठ्ठ उपवास अथवा वर्धमान आयंबिल तप का आराधन करता हो... उसके भी यह लोकसंज्ञा आडे आये बिना नहीं रहती। मैथुन-संज्ञा को वश में रख पूरी निष्ठा के साथ ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले को भी लोकसंज्ञा पीडा पहुँचा के रहती है। परिग्रह संज्ञा को वशीभूत करनेवाले अपरिग्रही महात्माओं को यह संज्ञा इशारों पर नचाती है। ऐसे कई उदाहरण इतिहास के पृष्ठों पर अंकित हैं, जो लोकसंज्ञा

की कहानी आप ही कहते नजर आते हैं। अरे, पुराने जमाने की बात छोड़ दो, आज के युग में भी ऐसे कई प्रसंग प्रत्यक्ष देखने में आते हैं।

"मेरी तप-त्याग की आराधना, दान-शील की उपासना, परमार्थ परोपकार के कार्यों से अन्य जीवों को अवगत करूँ... आम जनता की दृष्टि में 'मैं बड़ा आदमी बनूं।'... लोकजिह्वा पर मेरी प्रशंसा के गीत हो...।" यह लोकसंज्ञा का एक रुपक है। इस तरह लोक-प्रशंसा के इच्छुक धर्माराधक जीव अपनी त्रुटियाँ, क्षतियाँ और दोषों के छिपाने का हेतुपूर्वक प्रयत्न करता है। आमतौर से वह भयसंज्ञा से पीडित होता है! "यदि लोग मेरे दोष जान लेंगे तो बड़ी बदनामी होगी! सदैव यह चिंता उसे खाये रहती है। वह दिन-रात उद्विग्न-अन्यमनस्क और अशान्त दृष्टिगोचर होता है।

वास्तव में देखा जाए तो लोकसंज्ञा की यह खतरनाक कार्यवाही है। लौकिक मार्ग में तो उसका एकछत्री प्रभाव है ही, लोकोत्तर-मार्ग में भी कोई कम प्रभाव नहीं है। लोकसंज्ञा के नागपाश में फँसी आत्मा मोक्ष-मार्ग की आराधना करना भूल जाती है और अपने लक्ष्य को तिलांजलि दे देती है। इसीलिए तो ऐसी महाविनाशकारी लोक-संज्ञा का परित्याग करने के लिए भारपूर्वक कहा गया है।

अतः जीव को हमेशा समझना चाहिए : 'हे आत्मन्! ऐसा सर्वांग सम्पूर्ण सत्य मोक्षमार्ग पाकर तुम्हें अपनी आत्मा को कर्म-बन्धनों से मुक्त करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये।' यह हकीकत है कि लोकरंजन करने से तुम्हारी आत्मशुद्धि असम्भव है। शायद तुम्हारी यह धारणा है कि 'आराधना के कारण विश्व के जीव मेरी जी भरकर प्रशंसा करते हैं!' वह तुम्हारा निरा अज्ञान है। क्योंकि पुण्यकर्मों के उदय से लोकप्रशंसा प्राप्त होती है। जब तक तुम्हारे पूर्वभव के कर्म सबल हैं तब तक ही हर कोइ तुम्हारी स्तुति करेंगे। एक बार अशुभ कर्मों का उदय हुआ नहीं कि ये ही लोग तुम्हारी तरफ देखेंगे तक नहीं! तुमसे बढकर पुण्यशाली आत्मा मिलते ही वे सब एक स्वर से उसकी प्रशंसा करने में खो जाएँगे और तुम्हें हमेशा के लिये भूल जाएंगे। तुम्हारी आराधना से क्या मोक्ष-विमुख लोग खुश होंगे? नहीं, इसके बजाय तो आराधना के बलपर तुम अपनी आत्मा को ही प्रसन्न करो। परमात्मा का प्रेम प्राप्त करो। मन में और कोई अपेक्षा

न रखो ! वर्ना तुम कभी आराधना से विमुख हो जाओगे । जब तुम्हारी आराधना-साधना की कोई प्रशंसा नहीं करेगा, तब तुम्हारा मन आराधना से उचट जाएगा।

लोकसंज्ञाहता हन्त नीचैर्गमनदर्शनैः ।
शंसयति स्वसत्यांगमर्मघातमहाव्यथाम् ॥२३॥६॥

अर्थ : खेद है कि लोकसंज्ञा से आहत जीव, नतमस्तक मन्थर गति से चलते हुए अपने सत्य-व्रतरुप अंग में हुए मर्म प्रहारों की महावेदना ही प्रगट करता है ।

विवेचन : अफसोस... !

तुम मन्थर गति से नतमस्तक हो चलते हो... ! भला, किसलिए ? इसके पीछे आखिर क्या हेतु है ? क्या तुम लोगों को यह दिखाना चाहते हो कि, 'भूलकर भी किसी जीव की हिंसा न हो जाए, अतः हम यों चलते हैं । धर्मग्रन्थों में प्रदर्शित विधि का पालन कर रहे हैं ! दृष्टि पर हमारा संयम है... इधर... उधर कभी ताकते-झाँकते नहीं और हम उच्च कोटि के आराधक हैं ।' लेकिन यह ढोंग क्यों ? निरे दिखावे से क्या लाभ ? तुम्हारा दंभ खुल गया है ! लोग तुम्हें जब उच्च कोटि का आराधक नहीं कहते तब तुम्हारा चहरा कैसा हतप्रभ और निस्तेज हो उठता है ? दूसरे आराधकों की प्रशंसा तुम्हें अच्छी नहीं लगती ! प्रसंगोपात उनकी निंदा और टीका-टिप्पणी करते हो ! तुम सदा-सर्वदा अपनी ही गुणागाथा सुनना पसंद करते हो । शायद लोकप्रसंशा पाने के लिए तुमने कमर कस रखी है । तप, व्याख्यान, शिष्य, परिवार, मलिनवस्त्र और अपने वाणी-विलास से किसे आकर्षित करना चाहते हो ? शिवरमणी को ? नहीं, तुम सिर्फ लोगों को अपने भक्त बनाना चाहते हो और येन-केन प्रकारेण उन्हें खुश रखना चाहते हो ।

तुम धीरे–धीरे मन्थर गति से क्यों चल रहे हो ? तुम्हारे सत्य... संयम आदि अंग पर मार्मिक प्रहारों की मार पडी है । उससे असह्य वेदना हुई है...! लोकसंज्ञा ने तुम्हारे मर्मस्थान में प्रहार किया है ! इन प्रहारों की वेदना से गति धीमी न हो जाएँ तो और क्या हो ?

तुम नतमस्तक हो चलते हो ? क्या करें ? शायद लोकसंज्ञा की चकाचौंध

से तुम्हारी दृष्टि चौंधिया गई हो और तुम्हें ऊपर देखने में कष्ट होता है ! वाकई, दु:ख की बात है ! अफसोस है, तुम्हारा वह दम्भ देखा नहीं जाता; लेकिन इससे तुम्हें मुक्ति कैसे दिलायें ? सिवाय खेद प्रकट करने के अतिरिक्त कोई उपाय ही नहीं !

धर्म की आराधना और प्रभावना करते समय कभी आत्मा की विषय-कषायों से निवृत्ति स्मरण में रही है ? परमात्मा का शासन याद रहा है ? नहीं तो फिर क्या याद रखा है ? 'मैं... अहं !' तुम्हें सदा अपनी ही पड़ी रहती है ! तुम कठोर तपश्चर्या करते हो, जमकर क्रिया करते हो... ! अगर उसमें मोक्ष और आत्मा को केन्द्र-बिंदू बना लो तो ? बेड़ा पार होते देर नहीं लगेगी ! अत: कहता हूँ, अपनी आत्मा को पहचानो, उसकी स्वाभाविक और वैभाविक अवस्थाओं को जानने की कोशिश करो । मोक्ष के अनंत सुख और असीम शान्ति-हेतु हमेशा गतिशील रहो ।

यदि तुम अपना यह अंतिम लक्ष्य, उद्देश्य और आदर्श नहीं रखोगे तो विषय-कषायों में निरंतर वृद्धि होती रहेगी । संज्ञाएँ दिन-ब-दिन पुष्ट बनती जायेंगी । लोकसंज्ञा अनंत भवभ्रमण में फँसा देगी । कीर्ति की लालसा दिन दुगुनी और रात चौगुनी बढ़ती जाएगी... और जब 'यशकीर्ति' नामकर्म तुम्हारे पास शेष नहीं रहेगा, तब क्या करोगे ?

आजकल लोकोत्तर-मार्ग में भी लोक संज्ञा-प्रेमी अत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते हैं । यह खेदजनक नहीं तो क्या है ? अनादि-काल से चले आ रहे जिनशासन की धुरा वहन करनेवाले ही जब लोकसंज्ञा के मोहक जाल में फँस जाते हैं, तब दूसरा मार्ग ही क्या रहा ? अत: उपाध्यायजी महाराज मर्म-प्रहार कर रहे हैं।

आमतौर पर लोकसंज्ञा-ग्रस्त जीव 'लोकहित'का बहाना करते हैं । यह भी कभी सम्भव है कि लोकहित, लोगों की आत्मा को समझे बिना ही कर सकें ? क्योंकि लोकसंज्ञाग्रस्त जीव हिताहित का निर्णय करने में कभी सक्षम-समर्थ नहीं होता । वह हित को अहित और अहित को हित का करार देते विलम्ब नहीं करेगा । उसके मन में जीव-मात्र के आत्म-कल्याण की भावना का सर्वथा अभाव होता है । वह प्राय: ऐसी ही प्रवृत्तियाँ करेगा कि जिसमें उसको यश मिलता होगा और उसे 'लोकहित' का सुहाना लेवल लगा देगा । ऐसी परिस्थिति में एकाध जौहरी

सदृश महामुनि ही अपने आपको बचा लेता है । अतः समग्र दृष्टि से लोकसंज्ञा का परित्याग करना ही हितावह है ।

आत्मसाक्षिकसद्धर्मसिद्धौ किं लोकयात्रया !
तत्र प्रसन्नचन्द्रश्च भरतश्च निदर्शने ॥२३॥७॥

अर्थ : ऐसा सद्धर्म कि जिसमें साक्षात् आत्मा ही साक्षी हो, के प्राप्त होने पर भला लोक-व्यवहार का क्या काम है ? इसके लिए प्रसन्नचन्द्र राजर्षि और सम्राट भरत के उदाहरण यथोचित हैं ।

विवेचन : चक्रवर्ति भरतदेव !

प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र !

क्या तुम जानते हो, उन्हें केवलज्ञान कैसे प्राप्त हुआ ? एक बार वे स्नानादि आवाश्यक क्रियाओं से निवृत्त हो, श्रेष्ठ वस्त्राभूषण धारण कर, स्वनिर्मित दर्पण-महल में गए थे । सिर्फ यह देखने के लिये कि, "मैं कितना सुन्दर और सुशोभित लगता हूँ, इस रूप में !' दर्पण में अपना मोहक मुख-मण्डल और सुगठित अंग-प्रत्यंगों को अभी देख ही रहे थे कि सहसा अंगुली में से सुवर्ण-मुद्रिका नीचे गिर गयी ! मुद्रिकाविहीन अंगुली से शारीरिक शोभा में अन्तर पड़ गया । उन्होंने एक एक कर सभी अलंकार उतार दिये और पुनः दर्पण में झांका । अलंकारविहीन शरीर का रूप-रंग ही बदल गया ! वे पल, दो पल मन ही मन सोचते रहे : "क्या मेरी सुंदरता, शोभा सिर्फ परपुद्गल ऐसे वस्त्रालंकारो से ही है ?" और वे धर्म-ध्यान में खो गये । फलस्वरूप उसी दर्पण महल में वे शुक्लध्यान और केवलज्ञान के अधिकारी बन गये । गृहस्थ के रूप में ही केवलज्ञानी बन गये । इधर दर्पण-महल के बाहर राजकर्मचारी और दरबारी चक्रवर्ती भरत की उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे थे । लेकिन दर्पण महल से बाहर निकले केवलज्ञानी भरत ! उन्हें आत्मसाक्षी ही केवलज्ञान प्राप्त हो गया था !

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि !

भयानक और वीरान स्मशान में वे ध्यानस्थ खडे थे । सिर्फ एक पाँव पर ध्यानस्थ । सूर्य की ओर स्थिर दृष्टि किये... अंग... प्रत्यंग को आत्म-नियंत्रित

किये हुए। लेकिन राजमार्ग पर से गुजरते सैनिकों की वाणी सहसा उनके कानों पर आ टकरायी : "राजा प्रसन्नचन्द्र के पुत्र का राज्य उसके चाचा हथियाने की ताक में हैं... ।" बस, इतनी सी बात ! लेकिन प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का ध्यान भंग हो गया ! वे वैचारिक संघर्ष में उलझ गये। राजर्षि मानसिक युद्ध में कूद पडे। उनका युद्धोन्माद का ज्वर उतरने के बजाय निरंतर बढ़ता ही गया । इधर श्रेणिक महाराज राजर्षि की घोर तपस्या और अभंग ध्यानावस्था पर मुग्ध हो उठे! उन्होंने उन्हें बार-बार वंदन किया लेकिन बाह्यदृष्टि से घोर तपश्चर्या में रत प्रसन्नचन्द्र राजर्षि, आत्म-साक्षी से क्या तपस्वी थे ? नहीं, बिलकुल नहीं ! वास्तव में वे तपस्वी न थे, बल्कि सातवीं नरक में जाने के कर्म इकट्ठा कर रहे थे !

ये दोनों उदाहरण कैसे हैं ? परस्पर विरोधी ! चक्रवर्ति भरत बाह्य दृष्टि से आरम्भ-समारम्भ से युक्त संसार-रसिक दृष्टिगोचर होते थे ! लेकिन आत्म-साक्षी से निर्लिप्त पूर्ण योगीश्वर थे। किसी ने ठीक ही कहा है : 'भरत जी मन में ही वैरागी... !' जबकि प्रसन्नचन्द्र राजर्षि बाह्यदृष्टि से घोर तपस्वी, आरम्भ-समारम्भ रहित, मोक्षमार्ग के पथिक थे... लेकिन आत्म-साक्षी से युद्धप्रिय... बाह्य भावों में लिप्त थे। श्री 'महानिशीथ सूत्र' में कहा गया है :

—धम्मो अप्पसक्खिओ ।

धर्म आत्म-साक्षिक है। यदि हम आत्मसाक्षी से धार्मिक वृत्ति के हैं तो फिर लोक-व्यवहार से क्या मतलब ? खुद ही अपने मुँह से 'मैं धार्मिक हूँ, मैं आध्यात्मिक हूँ... ।" घोषणा करने की क्या आवश्यकता है ? अपितु आत्म-साक्षी से चिंतन-मनन करना चाहिए : "मैं धार्मिक हूँ ? अर्थात् शीलवान हूँ ? न्यायी हूँ ? निःस्पृह हूँ ? निर्विकार हूँ ?" इसका न्याय आत्मा से लेना चाहिए। भूलकर भी कभी लोगों के 'प्रमाण पत्र' पर निर्णय मत करो। महाराज श्रेणिक ने प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को कैसा 'प्रमाण पत्र' दिया था ! "उग्र तपस्वी... महान योगी... सच्चे महात्मा" आदि। लेकिन उक्त प्रमाणपत्र के आधार पर प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को क्या केवलज्ञान प्राप्त हुआ ? नहीं, कतइ नहीं ! हाँ, मन ही मन अपने भाई के साथ युद्धरत प्रसन्नचन्द्र के पास जब उसके हनन हेतु कोई शस्त्रास्त्र न रहा, तब मस्तक पर रहे मुकुट का उपयोग शस्त्ररूप में करने के लिए उन्होंने अपने हाथ ऊपर उठाये... लेकिन मस्तक पर मुकुट कहाँ था ? मस्तक पर एक बाल

भी न था... ! अतः ऊपर उठे दोनों हाथ के साथ-साथ वे खुद भी मानसिक युद्धभूमि से स्वस्थान लौट आये ! आनन-फानन में उन्हें अपनी भूल समज में आ गयी। पश्चात्ताप की भावना उग्र होती गयी । इस तरह वे धर्म-ध्यान और शुक्लध्यान में दुबारा स्थिर हो गये और केवलज्ञानी बने !

धर्मोपासना के कार्य में लोकसाक्षी को प्रमाणभूत न मानो ! आत्म-साक्षी को प्रमाण-भूत मानो ! यदि लोकसाक्षी को प्रमाणभूत मानने की भूल करोगे तो जाहिर में अपनी धर्म-भावना प्रदर्शित करने की कुबुद्धि सुझेगी... ! फलस्वरूप तुम्हारा सारा दार-मदार संसार और संसारी-जीवों पर रहेगा ! आत्मा को विस्मृत कर जाओगे ! उसकी उपेक्षा करने लगोगे । तब आत्मोन्नति के लिए धर्मध्यान करने की भावना विलुप्त हो, लोक-प्रसन्नता के लिए ही धर्माराधना होगी... । इस तरह आत्म-कल्याण का महान् कार्य बीच में स्थगित हो जाएगा और तुम जन्म-मृत्यु के फेरों में भटक जाओगे । मोक्ष का सुहाना सपना छिन्न-भिन्न हो जाएगा... शिवपुरी का कल्पनामहल ध्वस्त होते देर नहीं लगेगी । पुनः चौरासी लाख जीव-योनि का परिभ्रमण अनिवार्य हो जाएगा । तब भला, लोक-साक्षी से धर्म-ध्यान करने से क्या मतलब ? इसके बावजूद धर्मकार्य में सदैव आत्म-साक्षी को प्रधान मान, मोक्ष-पथ पर गतिशील होना चाहिए ।

लोकसंज्ञोज्झितः साधुः परब्रह्मसमाधिमान् ।
सुखमास्ते गतद्रोहममतामत्सरज्वरः ॥२३॥८॥

अर्थ : जिसके द्रोह-ममता और गुण-द्वेष रूपी ज्वर उतर गया है और जो लोक संज्ञा-रहित परब्रह्म में समाधिस्थ हैं, ऐसे मुनि सदा-सर्वदा सुखी रहते हैं ।

विवेचन : पूज्य गुरुदेव ! आप सुखपूर्वक रहें !

आपके मन में भला, किस बात का दुःख है ? आपकी तो परब्रह्म में समाधि होती है । आपके सुख को उपमा भी कौन सी दी जाएँ ? मन के दुःख तो होते हैं पामर जीव को ! जो द्रोह से दग्ध है, जिसके मर्मस्थानों में ममता दंश मारती है और जिसे मत्सर का दाहज्वर आकूल-व्याकूल बनाता है । आपके मन में तो द्रोह, ममता और मत्सर के लिए कोई स्थान ही नहीं ! आपके सुख और

शान्ति की कोई सीमा नहीं !

श्रमण को सुख-प्राप्ति के चार उपाय सुझाये हैं :

१. परब्रह्म में समाधि

२. द्रोह-त्याग

३. ममता-त्याग

४. मत्सर-त्याग

ब्रह्म का मतलब है संयम । संयम में पूर्ण लीनता ! संयम के सतरह प्रकार जानते हो... ?

पञ्चाश्रवाद् विरमणं पंचेन्द्रियनिग्रहः कषायजयः ।
दण्डत्रयविरतिश्चेति संयमः सप्तदश भेदः ॥ —श्री प्रशमरति

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग और प्रमाद, इन, पाँच आश्रवों से मुक्त बनो । अपनी पाँच इन्द्रियों पर सदैव संयम रखो । क्रोध, मान, माया, लोभ-इन कषायों पर विजयश्री प्राप्त करो । मन, वचन, काया को अशुभ प्रवृत्तियों को लगाम दो । यही तुम्हारी सर्व-श्रेष्ठ समाधि है ।

द्रोह को त्याग दो, किसीको धोखा मत देना । श्री जिनेश्वर भगवन्त के शासन के साथ भूलकर भी कभी दगाबाजी न करना । सदैव निष्ठावान बने रहना । अपने शारीरिक सुख और शान्ति के लिए भगवान के शासन का कदापि परित्याग न करना । उनके सिद्धान्त और नियमों का उल्लंघन न करना । तुम्हें भगवान महावीर का वेश प्राप्त है । तुमने उसे परिधान कर रखा है । ध्यान रहे, उसकी इज्जत न जाने पाए । इस वेश के कारण तुम्हें अन्न, वस्त्र, पात्र, पुस्तकादि सामग्री प्राप्त होती है । लोग तुम्हारे समक्ष नतमस्तक होते हैं । तुम्हारा मान-सन्मान करते हैं । अतः जीवन में साधुवेश का कभी द्रोह न करना ।

ममता को त्याग देना । सांसारिक स्वजन-परिजनों के प्रति रही ममता का परित्याग करना । भक्तजनों पर भूलकर भी ममत्व मत रखना । तन-बदन उपधि उपाश्रयादि बाह्य पदार्थों के लिए मन में रही ममता का त्याग करना ही इष्ट है । जब तक अन्य पदार्थों के प्रति ममत्व भावना जागृत रहेगी, तब तक

आत्मा के प्रति ममत्व-भाव का सदैव अभाव रहेगा और अन्य पदार्थों की प्राप्ति का ममत्व तुम्हें शान्त और स्वस्थ नहीं रहने देगा ।

गुण के प्रति द्वेष-भाव नहीं रखना । मत्सर अर्थात् गुण-द्वेष । गुण द्वेष टालने के लिए गुणीजनों का द्वेष न करना । सदैव ध्यान रहे, छद्मस्थ आत्माएँ भी गुण-शाली होती हैं । अनंत दोषों के उपरान्त भी सिर्फ गुण ही देखने के हैं। गुणानुरागी अवश्य बनना, गुण-द्वेषी नहीं । गुणवान के दोष देखने पर भी उसके द्वेषी न बनना । द्वेषी बनोगे तो तुम स्वयं अशान्त बन जाओगे ।

हाँ, जिन गुणों का तुम में पूर्णतया अभाव है, उन गुणों का दर्शन यदि अन्य आत्माओं में हो तो तुम्हें विनम्र भाव से उसका अनुमोदन करना है । यदि गुणद्वेषी बन किसी के दोषों का अनुवाद करोगे तो तुम कदापि सुख से रह नहीं सकोगे । तुम्हारा मन हमेशा के लिए अशान्त, उद्विग्न और क्लेशयुक्त बन जाएगा।

यदि तुम गुणवान्, जीवों की निंदा, टीका, टिप्पणी न करो तो नहीं चलेगा ? क्या निंदा करने से तुम्हारी महत्ता बढ जाएगी ? क्या दोषानुवाद करने से तुम अपना आत्मोकर्ष कर पाओगे ? इससे तुम्हारे अध्यवसाय शुद्ध-विशुद्ध हो जायेंगे ? क्यों व्यर्थ में ही अशान्त और उद्विग्न बनने का काम कर रहे हो ? इससे कोई लाभ होनेवाला नहीं है । इससे तो बेहतर है कि तुम सदा-सर्वदा सतरह प्रकार के संयम से युक्त जीवन में मस्त बने रहो । द्रोह, ममता और मत्सर को गहरी खाई में फेंक दो । लोग भले ही उसमें मस्त बन, आकण्ठ डूब कर, अपने आपको कृतकृत्य मानते हो, लेकिन तुम्हें उसका शिकार नहीं बनना है। कीचड़ में, गंदे-पानी के प्रवाह में सुअर लोटता है, हंस नहीं । सदा खयाल रहे, तुम हंस हो ! राजहंस ! ऐसी लोक संज्ञा के भोग तुम्हें कदापि नहीं होना है ! अतः तुम्हारे लिए लोक संज्ञा का परित्याग श्रेयस्कर है ।

● ● ●

२४. शास्त्र

भौतिक सुख की विवशता और असंख्य दु:खों के भार से मुक्त ऐसे ऋषि, मुनि और महात्माओं ने शास्त्र लिखे हैं ।

सुयोग्य जीवों को शिक्षित-प्रशिक्षित किये और उन्होंने (जीवों ने) निर्वाण मार्ग का अवलम्बन किया ! ऐसे शास्त्रों का अध्ययन, मनन और परिशीलन ही मानसिक शान्ति और सुख प्रदान करता है ! शास्त्रों का स्वाध्याय ही सर्व दु:खों के भय से और सर्व सुखों की कामना से जीव को मुक्त करता है । अत: शास्त्रों, ग्रन्थों को अपना जीवनसाथी और जीवनाधार बनाओ । उसके मार्गदर्शन को ही शिरोधार्य करो ।

चर्मचक्षुभृत: सर्वे देवाश्चवधिचक्षुष: ।
सर्वतश्चक्षुष: सिद्धा: साधव: शास्त्रचक्षुष: ॥२४॥१॥

अर्थ : सभी मनुष्य चर्मचक्षु को धारण करनेवाले हैं । देव अवधिज्ञान रूपी चक्षुवाले हैं । सिद्ध केवलज्ञान-केवलदर्शनरूप चक्षुओं से युक्त, जबकि साधुजन शास्त्ररूपी चक्षुवाले हैं !

विवेचन : सभी प्राणियों को भले चर्म-चक्षु हों, वे भले ही उससे सृष्टि के समस्त पदार्थों का निरीक्षण करें... लेकिन तुम तो मुनिराज हो ! तुम्हारे चक्षु साक्षात् शास्त्र हैं ! तुम्हें जो विश्वदर्शन और पदार्थदर्शन करना है, वह शास्त्र-चक्षुओं के माध्यम से ही करना है ।

देवी-देवता अवधिज्ञान रूपी चक्षुओं के धनी होते हैं । वे जो कुछ जानते अथवा देखते हैं, वह अवधिज्ञान रूपी आँखों से ही । मुनिवर्य, तुम अवधिज्ञानी

नहीं हो, अपितु शास्त्रज्ञानी हो... । तुम्हें जो कुछ जानना और देखना है, वह शास्त्र की आँखो से ही देखना और जानना है !

सिद्ध भगवन्तों का एक नेत्र केवलज्ञान है और दूसरा केवल दर्शन ! वे इन नयनों के माध्यम से ही चराचर विश्व को देखते हैं और जानते हैं ! जबकि मुनिराजों का शास्त्र ही चक्षु है । अतः सदैव अपनी आँखों को खुली रखकर ही विश्व-दर्शन करना, दुनिया दारी को जानना ! यदि आँखे बन्ध कर देखने जाओगे तो भटक जाओगे... ।

मुनि की दिनचर्या में २४ घंटे में से १५ घंटे शास्त्र-स्वाध्याय के लिए हैं ! ६ घंटे निद्रा के लिए रखे गये हैं, जबकि ३ घंटे आहार-विहार और निहार के लिये निश्चित हैं । शास्त्राध्ययन के बिना शास्त्रचक्षु खुलती नहीं ।

शास्त्रचक्षु नयी खोलने की है । उसके लिए विनयपूर्वक सद्गुरुदेव के चरणों में स्थिर हो, शास्त्राभ्यास करना पड़ता है और अभ्यास करते हुए यदि किसी प्रकार की शंका-कुशंका मन में जन्मे तो उनके पास विनम्र बन अपनी शंका का निराकरण करना चाहिए । निःशंक बने शास्त्र-पदार्थों का विस्मरण न हो जाएँ अतः बार-बार उनका परावर्तन करना चाहिए । परावर्तन से स्मृति स्थिर बन जाती है । तब उन पर चिंतन, मनन करना चाहिए । शास्त्रोक्त शब्दों का अर्थ-निर्णय करना है । विभिन्न 'नयों' से उसका विश्लेषण करना है और रहस्य तक पहुँचना है । ऐसा भी होता है कि एक ही शब्द अलग-अलग स्थान पर अर्थ-भेद प्रदर्शित करता है, उसे पूरी तरह से समझना चाहिये ! ठीक वैसे ही एक ही अर्थ सर्वत्र काम नहीं आता ! उसका निर्णय, तत्कालीन द्रव्य, क्षेत्र और काल के माध्यम से करना चाहिए और तत्पश्चात् अन्य जीवों को उसका अर्थ-बोध कराने का कार्य आरम्भ करना चाहिए... ।

परमात्मा जिनेश्वरदेव के धर्मशासन में किसी एक ग्रन्थ अथवा शास्त्र का पठन-पाठन करने से तत्त्वबोध नहीं होता, ना ही कोई काम चलता है । अन्य धर्मो में, सारांश एकाध धर्मग्रन्थ में उपलब्ध होता है, जैसे : गीता, बाइबल और कुरान । लेकिन जैनधर्म का सार एक ही ग्रन्थ तक सीमित हो जाएँ इतना वह संक्षिप्त नहीं है । जैनधर्मप्रणित पदार्थज्ञान, जीवविज्ञान, खगोल और भूगोल,

मोक्षमार्ग, शिल्प और साहित्य, ज्योतिषादि ज्ञान-विज्ञान इतना तो विस्तृत और विशाल-विराट है कि उसका संक्षेप किसी एक ग्रन्थ में समाविष्ट होना असम्भव है। कई लोग, जानना चाहते हैं कि भगवद् गीता, बाइबल और कुरान की तरह क्या जैनधर्म का भी कोई एक प्रमाणभूत ग्रन्थ है ? प्रत्युत्तर में उन्हें कहना पड़ता है कि जैनधर्म सम्बंधित ऐसा कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। जैनधर्म का अध्ययन, मनन और चिंतन करने के लिए व्यक्ति अपने जीवन का बहुत बडा भाग खर्च करे, व्यतीत करे, तभी इसकी गरिमा, ज्ञान और सिद्धांतो को समझ सकेगा।

साधु-मुनिराज के पीछे धनोपार्जन, भवन-निर्माण, परिवार-परिजनों की देख भाल आदि किसी प्रकार की कोई समस्या नहीं होती। भारत की प्रजा... उसमें भी विशेष रूप से जैनसंघ, मुनि की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति भक्ति-भाव से करता है। अतः श्रमणों का एक ही कार्य रह जाता हैं पंचमहाव्रतमय पवित्र जीवन जीना और शास्त्राभ्यास करना। इसके अतिरिक्त उन्हें किसी भी बात की चिंता नहीं, परेशानी नहीं। चर्मचक्षु की महत्ता से बढकर शास्त्र-चक्षु की तेजवस्विता का मूल्यांकन करना चाहिए। जितनी चिंता और सावधानी चर्मचक्षु के सम्बन्ध में बरती जाती है, उससे अधिक चिंता और सावधानी शास्त्र-चक्षु के सम्बन्ध में लेनी आवश्यक है। शास्त्र-दृष्टि के प्रकाश में विश्व के पदार्थ स्वरुप का दर्शन होगा, भ्रांतियों के बादल बिखर जाएँगे और विषय कषायों के विचारों से लिप्त चित्त को परम मुक्ति का साक्षात्कार होगा। इसलिए शास्त्रचक्षु प्राप्त कर उसका जतन करो।

पुरःस्थितानिवोर्ध्वाधस्तिर्थगलोकविवर्तिनः !
सर्वान् भावानवेक्षन्ते ज्ञानिनः शास्त्रचक्षुषा ॥२४॥२॥

अर्थ : ऊर्ध्व अधो एवं तिर्च्छालोक में परिणत सर्व भावों को साक्षात् सम्मुख हो इस तरह, अपने शास्त्ररुपी चक्षु से ज्ञानी पुरुष प्रत्यक्ष देखते हैं।

विवेचन : चौदह राजलोक का शास्त्रदृष्टि से साक्षात्कार ! मानो चौदह राजलोक प्रत्यक्ष सामने ही न हो ! शास्त्रदृष्टि की ज्योतिकिरण ऐसी तो प्रखर, प्रकाशमय और व्यापक है ! उसमें सर्व भावों का दर्शन होता है।

शास्त्रदृष्टि ऊपर उठती है तो समग्र ऊर्ध्वलोक का दर्शन होता है । यह सूर्य-चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारागण... असंख्य देवी-देवता और देवेन्द्रों का ज्योतिषचक्र ! उससे ऊपर सौधर्म और इशान, सनत्कुमार और माहेन्द्र देवलोक, तत्पश्चात् ब्रह्म, लांतक, महाशुक्र सहस्त्रार देवलोक । उसके उपर आनत और प्राणत, फिर आरण और अच्युत देवलोक ! क्या तुमने ये बारह देवलोक देखे हैं ? उससे भी ऊपर एक के बाद एक नवग्रैवेयक देवलोक को देखो ! अधीर न होकर, तनिक धीरज रखो । अब तुम लोकांत के निकट ही स्थित रमणीय प्रदेश का दर्शन करोगे । देखो उसे, यह 'पाँच अनुत्तर' के नाम से सुविख्यात है ! यहाँ से सिद्धशिला, जहाँ अनंत सिद्ध भगवन्त बिराजमान हैं, सिर्फ बारह योजन दूर है । सिद्ध भगवन्तो को कैसा सुख है ? अक्षय, अनंत और अव्याबाध ! खैर, अभी तो इसके दर्शन से ही संतुष्ट होइए, इसका अनुभव करने के लिए तो तुम्हें अशरीरी होना होगा ।

अब जरा नीचे देखिए ! सम्हलना, कम्पायमान न होना ! सबसे पहले नीचे रहे असंख्य व्यन्तरों के भवनों का दर्शन करो... और वन-उपवन में रमणीय उद्यानों में केलि-क्रीडा करते वाणव्यन्तरों को देखो । ये सभी देव हैं, इन्हें 'भवनवासी' कहा जाता है ।

इससे भी नीचे उतरिए !

यह रही पहली नरक । इसे 'रत्नप्रभा' के नाम से पहचाना जाता है । इसके नीचे शर्कराप्रभा है ! तीसरी नरक वालुकाप्रभा है । चौथी नरक को देखा ? उफ् ! कैसी भयानक, खौफनाक है ? उसे पंकप्रभा कहते हैं । पाँचमी नरक का नाम है घूमप्रभा । जबकि छठवीं तमःप्रभा और सातवीं महातमःप्रभा है । गाढा अन्धकार है सर्वत्र । कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता । जीव आपस में मार-काट और खून की नदियाँ बहाते नजर आते हैं । न जाने कैसी घोर वेदना... चीख... चित्कार... ! सिर फट जाए-ऐसा कोलाहल ! तुमने अच्छी तरह देखा न ? नरक के जीव मरना चाहते हैं, लेकिन मर नहीं सकते । हाँ, कट जाएँगे, पाँवों के तले कुचल जाएगे, लेकिन मरेंगे नहीं ! जब तक आयुष्य पूरा न हो तब तक मृत्यु कैसी ? किसी तरह सडते-गलते भी निर्धारित अवधि पूरी करना है । इसे अधोलोक कहा जाता है ।

अब तुम जहाँ हो, उसीको ध्यान से देखो। इसे 'मध्यलोक' कहते हैं। शास्त्रचक्षु के माध्यम से इसे भलीभाँति देखा जा सकता है। एक लाख योजन का जम्बुद्वीप.... उसके आस-पास दूर सुदूर तक दो लाख योजन परिधि में फैले 'लवण समुद्र' के इर्द-गिर्द है 'घातकी खंड!' इसका क्षेत्रफल चार लाख योजन है। उसके बाद कालोदधि समुद्र... पुष्कर द्वीप... फिर समुद्र, फिर द्विप, इस तरह मध्यलोक में असंख्य समुद्र और द्वीप फैले हुए हैं। अन्त में 'स्वयंभूरमण समुद्र' है।

चौदह राजलोक की अद्‌भुत और अनोखी रचना देखी ? उसके सामने खडे होकर यदि तुम उसे देखो तो उसका आकार कैसा लगेगा / जिस तरह कोई मानव अपने दो पाँव फैलाकर और दो हाथ कमर पर रखकर अदब से चुपचाप खडा हो ! क्यों हूबहू ऐसा लगता है न ?

यह चौदह 'राजलोक' है।★ 'राजलोक' क्षेत्र का एक माप है ! धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्‌गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय, ये पाँच द्रव्य शास्त्रदृष्टि से अच्छी तरह देखे जाते हैं।

जब श्रुतज्ञान के क्षयोपशम के साथ अचक्षु दर्शनावरण का क्षयोपशम जुडता है, तब शास्त्रचक्षु खुलते हैं और विश्वदर्शन होता है। विश्वरचना, विश्व के पदार्थ और पदार्थों के पर्यायों का परिवर्तन आदि का चिंतन-मनन ही 'द्रव्यानुयोग'★ का चिंतन है। द्रव्यानुयोग के चिंतन-मनन से कर्म-निर्जरा (क्षय) बहुत बड़े पैमाने पर होती है। मानसिक अशुभ विचार और संकल्प ठप्प हो जाते हैं। परिणामस्वरुप विश्व में घटित अद्‌भुत घटनाएँ, अकस्मात एवं प्रसंगोपात उत्पन्न होनेवाले आश्चर्य, कुतूहल आदि भाव रुक जाते हैं। आत्मा स्थितप्रज्ञ बन जाती है। अतः हे मुनिराज ! तुम अपने शास्त्रचक्षु खोलो। साथ ही ये मुंद न जाएँ, बन्ध न हो जाएँ इसकी सदैव सावधानी रखो। शास्त्र चक्षु का दर्शन अपूर्व आनन्द से भर देगा।

शासनात् त्राणशक्तेश्च बुधैः शास्त्रं निरुच्यते।
वचनं वीतरागस्य तत्तु नान्यस्य कस्यचित् ॥२४॥३॥

★ देखिए परिशिष्ट

अर्थ : हितोपदेश करने के साथ साथ उसकी रक्षा के सामर्थ्य से पडितगण 'शास्त्र' शब्द की व्युत्पत्ति करते हैं । अतः उक्त शास्त्र को वीतराग का वचन कहा जाता है । अन्य किसीका नहीं ।

विवेचन : वीतराग का वचन अर्थात् शास्त्र !

रागी और द्वेषी व्यक्ति के वचन 'शास्त्र' नहीं कहलाते । ऐसा व्यक्ति कितना भी दिग्गज विद्वान् हो, कुशाग्र बुद्धि का धनी हो, लेकिन वीतराग-वाणी की अवहेलना कर स्वयं की कल्पना एवं मान्यतानुसार ग्रन्थों का आलेखन करता हो, उसे शास्त्र नहीं कहते । क्योंकि कोई भी शास्त्र क्यों न हो, वह आत्म-हित का उपदेश करता है । सभी जीवों की रक्षा-सुरक्षा का आदेश देता है ।

शब्दशास्त्र के अनुसार 'शास्त्र' शब्द के निम्नांकित दो अर्थ ध्वनित होते हैं :

शासनसामर्थ्येन च संत्राणबलेनानवद्येन !
युक्तं यत् तच्छास्त्रं तच्चैतत् सर्वविद्वचनम् ॥ – प्रशमरति

'शास्त्र वही है, जिसमें हितोपदेश देने का सामर्थ्य और निर्दोष जीवों की रक्षा की अपूर्व शक्ति हो और वही सर्वज्ञ का वचन है, वाणी है ।

सर्वज्ञ वीतराग की वाणी में उपरोक्त दोनों तथ्यों का समावेश है । उनकी मंगलवाणी आत्म-हित का उपदेश प्रदान करती है और निर्दोष जीवों की निरंतर रक्षा करती है ।

राग-द्वेष से उद्दंड चित्तवाले जीवों का सम्यग् अनुशासन करनेवाले शास्त्र को नहीं माननेवाले मनुष्य को जरा पूछिए :

- "आत्मा को चर्मचक्षु से देखने का आग्रही प्रदेशी राजा जीवित जीवों को चीर कर आत्मा की खोज कर रहा था, सजीव जीवों को लोहे की पेटी (बक्से) में बन्ध कर... मौत के घाट उतारता था । ऐसे क्रूर और पैशाचिक प्रयोग करनेवाले प्रदेशी राजा को भला किसने दयालु बनाया ? केशी गणधर ने ! जिन वचनों / शास्त्रों का आधार लेकर प्रदेशी का हृदयपरिवर्तन कर जीवरक्षक बनाया ।

- अभिमान के मदोन्मत्त गजराज पर सवार इन्द्रभूति को किस ने परमविनयी, द्वादशांगी के प्रणेता एवं अनंत लब्धियुक्त बनाया ?
- भोगोपभोग एवं दुनिया के राग-रंग में खोये... परम वैभवशाली शालीभद्र को पत्थर की गर्म शिला पर सोकर अनशन करने का सामर्थ्य किसने प्रदान किया ?
- दृष्टि में से विष का लावारस छिड़कते चंडकौशिक को किस ने शान्त, प्रशान्त और महात्मा बनाया ?
- अनेक हत्याओं को करनेवाले अर्जुनमाली को किस ने परम सहिष्णु और महात्मा बनने की प्रेरणा दी ?

जिनशासन के इन ऐतिहासिक चमत्कारों को क्या तुम अकस्मात कहोगे ? आत्मा को महात्मा और परमात्मा बनानेवाली जिनवाणी के शास्त्रों की तुम अवहेलना कर सकोगे ? और अवज्ञा कर तुम क्या अपने दुःख दूर कर सकोगे ?

यस्माद् राग-द्वेषोद्धतचित्तान् समनुशास्ति सद्धर्मे ।
सन्त्रायते च दुखाच्छास्त्रमिति निरुच्यते सद्भिः ॥–प्रशमरति

जिस इतिहास में शास्त्र द्वारा सर्जित अनेकविध चमत्कारों की बातें संग्रहित हैं, उसका अध्ययन-अध्यापन आज के युग में भला, कौन करता है ? उसके बजाय हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, बलात्कार, परिग्रह और अशान्ति से छलकते इतिहास का पठन-पाठन आज के विद्यार्थियों को कराया जाता है । लेकिन अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की गंगा-जमुना बहानेवालों के इतिहास का स्पर्श तक करने में शर्म आती है !

असंख्य दुःखों को दूर कर, राग और द्वेष के औद्धत्य को नियंत्रित करनेवाले, साथ ही आत्मा का वास्तविक हित करनेवाले शास्त्रों के प्रति सन्मान की भावना अपनाने से ही मानव मात्र का आत्मकल्याण सम्भव है ।

शास्त्र एवं शास्त्रकारों पर गालियों की बौछार कर मानव-समाज का सुधार करने की डिंगें हाँकना आधुनिक सुधारकों का एक-सुत्री कार्यक्रम बन गया है। ठीक वैसे ही, शास्त्र और शास्त्रप्रणेता वीतराग महापुरुषों के प्रति घृणा और अपमान

की भावना पैदा कर क्या नेता अभिनेताओं के प्रति सन्मान की दृष्टि प्रस्थापित कर, मानवसमाज को सुधार रहे हो ? यह तुम्हारी कैसी अज्ञानदशा है ?

वास्तव में वीतराग भगवन्त के वचन / वाणी रूपी शास्त्रों को स्वदृष्टि बनानेवाला मानव ही आत्महित और परहित साधने में समर्थ है ।

शास्त्रे पुरस्कृते तस्माद् वीतरागः पुरस्कृतः ।
पुरस्कृते पुनस्तस्मिन् नियमात् सर्वसिद्धयः ॥२४॥४॥

अर्थ : शास्त्र का पुरस्कार करना मतलब वीतराग का पुरस्कार करना और वीतराग का पुरस्कार यानी निश्चित ही सर्व सिद्धि प्राप्त करना ।

विवेचन : शास्त्र—वीतराग ।

जिसने शास्त्र माना उसने वीतराग का स्वीकार किया !

जिसने वीतराग की हृदय–मन्दिर में प्रतिष्ठा की उसके साथ सर्व कार्य सिद्ध हो गये !

यह कैसी विडम्बना है कि शास्त्र का स्मरण हो और उसके कर्ता का विस्मरण ? सरासर झूठ है । कर्ता का स्मरण अवश्य होगा । एक बार वीतराग को स्मृति पथ में ले आये कि समझ लो उनकी सारी शक्ति तुम्हारी खुद की हो गयी । तब भला, ऐसा कौन सा कार्य है, जो वीतराग की अनन्त शक्ति के सामने असाध्य है ?

पूज्यपाद् हरिभद्रसूरिजी ने अपने **'षोडशक'** ग्रन्थ में कहा है :

अस्मिन हृदयस्थे सति हृदयस्थस्तत्त्वतो मुनिन्द्र इति ।
हृदयस्थिते च तस्मिन् नियमात सर्वार्थसिद्धयः ॥

"जब तीर्थंकर प्रणीत आगम हृदय में हो तब परमार्थ में तीर्थंकर भगवन्त स्वयं हृदय में विराजमान हैं, क्योंकि वे उसके स्वतंत्र प्रणेता हैं । इसी तरह तीर्थंकर भगवन्त साक्षात् हृदय में हैं तब सकल अर्थ की सिद्धि होती ही है ।

जो कुछ बोलना, सोचना, समझना और चिंतन करना वह जिन प्रणीत

आगम के आधार पर। "मेरे प्रभु ने इस तरह से सोचने, समझने और चिंतन करने का आदेश दिया है।" यह विचार रोम-रोम में समा जाना चाहिए।

क्षणार्ध के लिए भी जिनेश्वर भगवान का विस्मरण न हो... ! वे (भगवन्त) अचिंत्य चिंतामणि-रत्न हैं। भवसागर के शक्तिशाली जलयान हैं ! एकमेव शरण्य हैं। ऐसे परमकृपालु, दयासिंधु, करूणानिधि परमात्मा का निरंतर स्मरण शास्त्र-स्वाध्याय के माध्यम से सतत रहे। शास्त्र का स्मरण होते ही अनायास शास्त्र के उपदेशक परमात्मा का स्मरण होना ही चाहिए।

जिनेश्वर भगवान का प्रभाव अद्‌भुत है। राग और द्वेष से रहित परमात्मा, उनका स्मरण करनेवाले आत्मा को दु:ख की दाहक ज्वाला से बचाते हैं ! चिन्तामणि रत्न में भला कहाँ रागद्वेष होता है ? फिर भी विधिपूर्वक पूजापाठ और उपासना कर ध्यान करनेवाले की मनोकामना पूरी होती है। परमात्मा का आत्म-द्रव्य ही इतना प्रबल प्रभावी और शक्तिशाली है कि उनका★ नाम, स्थापना-द्रव्य और भाव से स्मरण करें तो नि:संदेह सर्व कार्य की सिद्धि होती है !

जिनेश्वर भगवान के सुमरन का उत्कट उपाय शास्त्राध्ययन और शास्त्र-स्वाध्याय है ! शास्त्र-स्वाध्याय के माध्यम से जिनेश्वर भगवन्त का जो स्मरण होता है, उनकी जो स्मृति जागृत होती है, एक प्रकार से वह अपूर्व और अद्‌भुत ही नहीं, उसमें गजब की रसानुभूति होती है।

"आगमं आयरंतेण अत्तणो हियकंखिणो।"
तित्थनाहो सयंबुद्धो सव्वे ते बहुमन्निया॥

"तुम ने आगम का यथोचित आदर-सत्कार किया मतलब आत्महित साधने के इच्छुक एवं स्वयंबुद्ध तीर्थंकरादि सभी का सन्मान-बहुमान किया है।"

वैसे आगम का यथोचित मान सन्मान करने का सर्वत्र कहा गया है। परन्तु शास्त्र को सर्वोपरी मानना / समझना तभी सम्भव है जब आत्मा हित साधने के लिए तत्पर हो। जब तक वह इन्द्रियों के विषय सुखों के प्रति आसक्त हो, कषायों के वशीभूत हो और संज्ञाओं से बुरी तरह प्रभावित हो, तब तक शास्त्र

★ चार निक्षेपों का स्वरुप परिशिष्ट में देखिए।

के प्रति अभिरूचि नहीं होती, ना ही शास्त्रों का यथोचित आदरसत्कार सम्भव है ।

आज के वैज्ञानिक युग और भौतिकवाद के झंझावात में शास्त्राध्ययन की प्रवृत्ति एक तरह से ठप्प सी हो गई है । शास्त्र के अतिरिक्त ढेर सारा साहित्य उपलब्ध है कि जीव में शास्त्राध्ययन और वांचन की रुचि ही नहीं रहती । आबाल-वृद्ध सभी के समक्ष देश-परदेश की कथा, राज कथा, रहस्य कथा, तंत्र-मन्त्र कथा, भोजन कथा, नारी कथा, काम कथा, इत्यादि से संबंधित ढेर सारी पठनीय सामग्री प्रकाशित होती जाती है कि शास्त्र कथाएँ उन्हें नीरस और दकियानूसी खयालात की लगती हैं । शास्त्र कथाएँ सर्वदृष्टि से निरूपयोगी और बकवास मालूम होती हैं ।

लेकिन जो साधु है श्रमण है और मुनि है, उसे तो शास्त्राध्ययन द्वारा परमात्मा जिनेश्वरदेव की अचिंत्य कृपादृष्टि का पात्र बनना ही चाहिए ।

अदृष्टार्थेऽनुधावन्तः शास्त्रदीपं विना जडाः ।
प्राप्नुवन्ति परं खेदं प्रस्खलन्तः पदे-पदे ॥२४।५॥

अर्थ : शास्त्र रुपी दीपक के बिना परोक्ष अर्थ के पीछे दौडते अविवेकी मानव, कदम-कदम पर ठोकर खाते अत्यधिक पीड़ा और दुःख (क्लेश) पाते हैं !

विवेचन : जो प्रत्यक्ष नहीं है, कान से सुना नहीं जाता, आँखों से देखा नहीं जाता, नाक से सुंघा नहीं जाता, जिह्वा से चखा नहीं जाता और स्पर्श से अनुभव नहीं किया जाता... ऐसे परोक्ष पदार्थों का ज्ञान भला, तुम कैसे पा सकते हो ? न जाने कब से तुम भटक रहे हो ? कितनी ठोकरें खायी हैं ? कितनी पीडा और क्लेश सहना पडा है ? अरे भाग्यशाली और कितना भटकोगे ?

ऐसे परोक्ष पदार्थों में मुख्य पदार्थ है आत्मा । परोक्ष पदार्थो में महत्त्वपूर्ण पदार्थ है मोक्ष । ठीक वैसे ही परोक्ष पदार्थों में नरक, स्वर्ग, पुण्य, पाप, महाविदेहादि अनेक क्षेत्र... आदि अनेक पदार्थों का समावेश होता है । इन परोक्ष पदार्थों की अद्‌भुत सृष्टि का एकमेव मार्ग दर्शक (Guide) है शास्त्र । परोक्ष पदार्थों को

सही अर्थ में बतानेवाला दीपक है शास्त्र । बिना शास्त्ररूपी 'गाइड' के तुम इन परोक्ष पदार्थों की सृष्टि में भटक जाओगे और हेरान-परेशान हो जाओगे । तुम इस तथ्य को अच्छी तरह जानते हो कि अन्धा मनुष्य अनजाने प्रदेश में भटक जाता है और तब तुम उद्विग्न होकर कह उठोगे कि 'यह सब निरी कल्पना है !'

शास्त्रों का स्पर्श किये बिना पाश्चात्य देशों की उच्चतम डिग्रियाँ प्राप्त कर विद्वान् कहलानेवाले और स्वयं को कुशाग्र बुद्धि के धनी समझनेवाले मनुष्य, परोक्ष विश्व को मात्र कल्पना मान कर उस ओर दृष्टिपात भी नहीं करते !

लेकिन हे महामुनि ! तुम तो परोक्ष विश्व के अद्‌भुत रहस्य जानने-समझने के लिए प्रतिबद्ध हो । तुम्हें तो इन अगम-अगोचर के रहस्यों को जानना ही होगा । उसके लिए शास्त्रज्ञान का दीपक अपनाना ही होगा, अपने पास रखना ही होगा । अन्धकार युक्त प्रदेश में विचरण करनेवाला अपने पास 'बेटरी' रखता ही है न ! किसी गड्ढे में पाँव न पड़ जाए, कोई कांटा पैर में चुभ न जाए, किसी पत्थर से टकरा न जाए, अत: बेटरी को महत्त्वपूर्ण साधन समझ कर साथ में रखता ही है । ठीक उसी तरह परोक्ष-पदार्थों की दुनिया में शास्त्र-दीप का प्रकाश फैलाती 'बेटरी' की गरज है ही, वर्ना अज्ञान के गड्ढे में पाँव पड जाएगा, राग का कांटा पाँव को आर-पार वींध देगा और मिथ्यात्व की चट्टानों से अनायास ही टकराने की नौबत आ जाएगी ! अत: सदा-सर्वदा शास्त्रज्ञान का दीप साथ में रखो ।

परोक्ष विश्व के रहस्यों का पता लगाना है न ? आत्मा, परमात्मा और मोक्ष की अपूर्व और अद्‌भुत सृष्टि का दर्शन करना है न ? तब आत्मा पर आच्छादित अनंत कर्मों के आवरण को उनकी जानकारी पाये बिना भला, कैसे हटा पाओगे ? कर्म-बन्धनों को छिन्न-भिन्न कैसे कर सकोगे ? शास्त्र-ज्ञान के दीप के बिना अनायास ही कर्म-बन्धनों की तिमिराच्छन्न दुनिया में खो जाना पडेगा ।

हाँ, सम्भव है कि परोक्ष-पदार्थों की परिशोध में तुम्हें जरा भी दिलचस्पी न हो, उनकी प्राप्ति के लिए तुम्हारे में उत्साह न हो और परोक्ष-पदार्थों के भण्डार को पाने के लिए आवश्यक हिम्मत तुम जुटा न पाते हों, तब शास्त्रज्ञान पाने की अभिरूचि तुम्हारे में कभी पैदा नहीं होगी ।

वास्तविकता तो यह है कि परोक्ष-पदार्थों को जानने, समझने और परखने के लिए रस-प्रचुरता चाहिए। अदम्य उत्साह चाहिए, प्राणों पर दाव लगाकर दुर्धष संघर्ष करने का साहस चाहिए। तभी शास्त्ररूप दीपक प्राप्त करने की इच्छा जगेगी न ? परोक्ष-पदार्थों का प्रमाण, स्थान, मार्ग, पर्वत-मालाएँ, नदियां, वन, उपवन... साथ ही आवश्यक साधन और सावधानी के बिना, परोक्ष-दुनिया का प्रवास भला कैसे सम्भव है ?

इसके लिए आवश्यक है शास्त्रज्ञान ! हाँ, शास्त्रज्ञान की प्राप्ति का क्षयोपशम सम्भव न हो तो शास्त्रज्ञानी महापुरुषों का अनुसरण करना हितकर है। उनके आदेश और वाणी को शिरोधार्य करना। तभी तुम परोक्ष अर्थ के भण्डार के निकट पहुँच पाओगे। अरे, द्राविड, वारिखिल्ल और पांडवों के साथ लाखों, करोंड़ो मुनि परोक्ष अर्थ के उच्चतम स्थान पर जा पहुँचे। किस तरह, जानते हो ? ज्ञानी महापुरुषों की सहायता से ! अतः मुनि के लिए शास्त्रज्ञान आवश्यक माना है, वह सर्वथा हेतुपूर्वक ही है ! क्योंकि मुनि तो परोक्ष-विश्व के अनन्य पथिक जो ठहरे।

शुद्धोञ्छाद्यपि शास्त्राऽऽज्ञानिरपेक्षस्य नो हितम् !
भौतहन्तुर्यथा तस्य पदस्पर्शनिवारणम् ॥२४॥६॥

अर्थ : शास्त्रा की आज्ञा की, अपेक्षा से रहित स्वच्छंदमति साधु के लिए शुद्ध भिक्षा वगैरह बाह्याचार भी हितकारी नहीं हैं, जैसे भौतमति की हत्या करनेवाले को उनके पाँवो को स्पर्श न करने की आज्ञा देना है।

विवेचन : एक घना जंगल !

जंगल में भीलों की छोटी-बडी वस्तियाँ।

उनका राजा भील्लराज।

भील्लराज ने एक गुरु बनाये। उनका नाम भौतमति। भौतमति बाबा के पास एक सुन्दर छत्र था। वह मयुरपिच्छ का बना हुआ था। देखते ही मन को मोह ले ऐसा। उत्तम कारीगिरी का वह एकमेव अद्‌भुत नमुना था। एक बार भील्लराज की पत्नी गुरु-दर्शन करने आयी, तो उसने बाबाजी का छत्र देखा ! मन ही मन वह उसे भा गया। उसने भील्लराज से वह छत्र ला देने के लिए कहा।

पत्नी-प्रेम में रंगा भील्लराज, बावाजी के पास गया ।

"गुरुदेव ! आपका यह छत्र भील्ल-रानी के मन भा गया है ! अतः आप मुझे दीजिए !" उसने विनीत भाव से कहा !

"अरे पगले, यह कैसे सम्भव है ?"

"क्यों नहीं गुरूदेव ?"

"यह छत्र साधु-संतो के काम का है ! तुम्हारे कोई काम का नहीं ! फिर देकर क्या लाभ ?"

"नहीं गुरुदेव, आपको देना तो पड़ेगा ही ! भील्ल-रानी के मन भा जो गया है ।"

बाबाजी ने साफ मना कर दिया !

भील्लराज नाराज हो उठा । वह पाँव पटकता बस्ती में गया और अपने अन्य भील साथियों को इकठ्ठा कर बोला : "जाओ भौतमति बाबा का वध कर छत्र छीन लो !"

साथी बाबाजी के मन्दिर की दिशा में वेग से निकल पड़े । वे अभी थोड़े दूर गये होंगे कि भील्लराज ने उन्हें आवाज देकर वापिस बुलाया और कहा : "ध्यान रहे, बाबाजी के पाँव-चरण पूज्य हैं, अतः उन पर वार न करना ।"

साथी, भील्लराज की आज्ञा शिरोधार्य कर निकले पडे ! बाबाजी विश्राम कर रहे थे । उन्होंने दूर से ही उन्हें लक्ष्य बनाकर तीरों की बौछार कर दी । गुरुदेव को छलनी-छलनी कर दिया और छत्र लेकर भील्लराज के पास लौट आये !

"गुरुदेव का चरणस्पर्श नहीं किया न ?"

"नहीं, हमने उन्हें दूर से ही तीरों की बौछार कर बींध दिया । चरणों पर वार करने का प्रसंग ही न आया ।"

जरा सोचो तो, भील्लराज की यह कैसी गुरुभक्ति ?

शास्त्राज्ञा का उल्लंघन कर, भले ही तुम ४२ दोषों से रहित भिक्षा ग्रहण

करो, अथवा किसी निर्दोष वस्ती में वास करो। पाँच महाव्रतों का कठोरतापूर्वक पालन करो, लेकिन जिनाज्ञा का उल्लंघन किया, यानी आत्मा की ही हत्या कर दी। आत्मा का ही हनन कर देने पर बाह्याचारों का पालन करने का क्या अर्थ? जिनाज्ञा-निरपेक्ष रह, पालन किये गये बाह्याचार आत्मा का हित साधने के बजाय अहित ही करते हैं। अतः जिनाज्ञा का परिज्ञान होना जरूरी है।

इसका अर्थ यदि कोइ मुनि यूँ ले लें कि, "हमें शास्त्र-स्वाध्याय करने की क्या आवश्यकता है? हम तो बयालीस[1] दोषरहित भिक्षा ग्रहण करेंगे! महाव्रतों का निष्ठापूर्वक पालन करेंगे। प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन आदि क्रियाएँ नियमित रूप से करते रहेंगे। आयंबिल, उपवासादि तपस्या करेंगे।" तो वह सरासर गलत और सर्वथा अनुचित है। ऐसी मान्यता रखनेवाले और तदनुसार आचरण करनेवाले मुनियों को सम्बोधित कर यहाँ कहा गया है : 'हे मुनिराज! बाह्य-आचार कभी आत्महित नहीं करेंगे। जिनाज्ञानुसार तुम्हारा व्यवहार नहीं है, आचरण नहीं है, यह सबसे बड़ा दोष है, अपराध है।"

वर्तमानकाल में जिनाज्ञा कुल ४५ आगमों में संकलित और संग्रहित है।[2] वह इस तरहः ११ अंग + १२ उपांग + ६ छेद + ४ मूल + १० पयन्ना + २ नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वार = कुल ४५ मूल सूत्र हैं। उन पर लिखी गयीं चूर्णियां, भाष्य, निर्युक्तियाँ और टीकाएँ! इस तरह पंचांगी आगमों का अध्ययन-मनन और चिंतन करने से जिनाज्ञा का बोध हो सकता है। मात्र मूल सूत्रों को केन्द्र-बिन्दु बनाकर स्व-मतानुसार उसका अर्थ निकालनेवाला जिनाज्ञा को हर्गिज समझ नहीं सकता! ठीक वैसे ही, ४५ आगमों में कुछ आगम मानें और कुछ नहीं मानें, उससे भी जिनाज्ञा का परिज्ञान नहीं हो सकता।

पंचांगी आगम के अलावा श्री सिद्धसेन दिवाकरसूरि, श्री उमास्वाति वाचक, श्री हरिभद्रसूरिह्याजी, श्री हेमचन्द्रसूरिजी, श्री वादिदेव सूरिजी, श्री शान्तिसूरिजी, श्री विमलाचार्य, श्री यशोदेवसूरिजी, उपाध्याय श्री यशोविजयजी आदि महर्षियों के मौलिक शास्त्र-ग्रन्थों का अध्ययन पठन और चिंतन-मनन

---

१. बयालीश दोष परिशिष्ट में देखिए!

२. ४५ आगम परिशिष्ट में देखिए!

करना परमावश्यक है । ईन पूर्वाचार्यों ने जिनाज्ञा को अपनी अनूठी शैली और तार्किक वाणी के माध्यम से उसमें रहे रहस्यों को अधिकाधिक मात्रा में उजागर करने का प्रयत्न किया है ।

जिनाज्ञा की ज्ञान प्राप्ति कर किया हुआ आचारपालन सदा-सर्वदा आत्महितकारी है । जिनाज्ञा-सापेक्षता सदैव कर्म-बन्धनों का नाश करती है । 'मैं अपनी हर प्रवृत्ति जिनाज्ञानुसार करूँगा ।' यह भाव प्रत्येक मुनि / श्रमण के मन में दृढ होना जरुरी है ।

अज्ञानाऽहिमहामंत्रं स्वाच्छन्द्यज्वरलङ्घनम् !
धर्मारामसुधाकुल्यां शास्त्रमाहुर्महर्षय : ॥२४॥७॥

अर्थ : ऋषिश्रेष्ठों ने, शास्त्र को अज्ञान रुपी सर्प का विष उतारने में महामन्त्र समान, स्वच्छन्दता रुपी ज्वर को उतारने में उपवास समान और धर्म रुपी उद्यान में अमृत की नींक समान कहै है ।

विवेचन : कहा गया है कि —

— सर्प का विष महामन्त्र उतार देता है ।

— उपवास करने से ज्वर / बुखार उतर जाता है ।

— पानी के सतत छिडकाव से उद्यान हराभरा रहता है ।

किसी साँप का जहर तुम्हारे अंग-अंग में फैल गया है, यह तुम जानते हो ? तुम विषम ज्वर से पीडित हो, इसका तुम्हें पता है ? तुम्हारा उद्यान जल बिना उजड गया है, इसका तुम्हें तनिक भी खयाल है ?

और इसके लिए तुम किसी महामन्त्र की खोज में हो ? किसी औषधि की तलाश में हो ? कोई पानी की नींक अपने उद्यान में प्रवाहित करना चाहते हो ? तब तुम्हें नाहक हाथ-पाँव मारने की जरूरत नहीं । इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नहीं,... चिंता और शोक से भयाकुल होने का कोई कारण नहीं !

तो क्या तुम निदान करना चाहते हो ? कोई बात नहीं ? आओ इधर बैठो और शान्त चित्त से सुनो :

'तुम्हें अज्ञान नामक 'सर्प' का विष चढ गया है। तुम्हें स्वच्छन्दता का ज्वर हो आया है... और पिछले कई दिनों से आ रहा है। सच है ना ? तुम्हारा 'धर्म' नामक उद्यान उजड रहा है न ?

यदि तुम्हें निदान सच लगे तो ही औषधि लेना। खयाल रहे, जैसा निदान सही है वैसे उसके उपचार भी जबरदस्त हैं, अकसीर और रामबाण हैं।

शास्त्ररूपी महामन्त्र का जाप करिए, शिध्र ही अज्ञान-सर्प का जहर उतर जाएगा ! 'शास्त्र' नामका उपवास कीजिए, बुखार दुम दबाकर भाग खड़ा होगा और 'शास्त्र' नाम की नींक को खुला छोड़ दीजिए, धर्मोद्यान नवपल्लवित होते देर नहीं लगेगी।

लेकिन सावधान ! एकाध दिन, एकाध माह... एकाध वर्ष तक शास्त्र का स्वाध्याय-जाप करने मात्र से अज्ञान रूपी साँप का जहर नहीं उतरेगा। आजीवन... अहर्निश शास्त्र-जाप करते रहना चाहिए। स्वच्छंदता का ज्वर दूर करने के लिए नियमित रूप से शास्त्र-स्वाध्याय रूप उपवास करने होंगे। यह कोई मामूली ज्वर नहीं है, तुम्हारे अंग-प्रत्यंग में वह बुरी तरह से समा गया है ! अतः उसे दूर करने के लिए अगणित उपवास और कठोर तपश्चर्या का आधार लेना होगा। उसी तरह उजड़ते धर्मोद्यान को हरा-भरा रखने के लिए सदैव 'शास्त्र' की नीक को निरंतर खुला रखना होगा, वर्ना उसे सूखते / वीरान होते पल की भी देरी नहीं लगेगी। शास्त्राध्ययन क्यों आवश्यक है, इसे तुमने अच्छी तरह समझ लिया न ? यदि इन तथ्यों को परिलक्षित कर शास्त्राध्ययन और शास्त्र-स्वाध्याय शुरु रखोगे तो निःसंदेह तुम्हारी आत्मा का कायाकल्प ही हो जाएगा। जहर के उतर ने, ज्वर के कम होने और धर्मोद्यान को फूला-फला देखकर तुम्हें जो आह्लाद और आनन्द होगा, उसकी कल्पना करें ! उद्यान के नवपल्लवित होने से तुम्हारा दिलो-दिमाग बाग-बाग हो उठेगा, सारा समाँ हँसता-खेलता नजर आएगा ! जब तुम विष रहित निरोगी बन धर्मोद्यान में विश्राम करोगे तब तुम्हें देवेन्द्र से भी अधिक आनन्द प्राप्त होगा !

हाँ, जब जहर सारे शरीर में फैल गया हो, ज्वर से तन-बदन उफन रहा हो, तब तुम्हें उद्यान में सुख और शान्ति नहीं मिलेगी। फलस्वरूप, उसकी

रमणीयता भी तुम्हें प्रसन्न नहीं करेगी, सुगंधित पुष्प तुम्हें सुवासित नहीं कर सकेंगे, ना ही उद्यान तुम्हें आह्लादित कर सकेगा। इसीलिए 'शास्त्र' कि जिसका अर्थ स्वयं तीर्थंकर भगवन्तों ने बताया है, जिसे श्री गणधर भगवन्तों ने लिपिबद्ध किया है और पूर्वाचार्यों ने जिसके अर्थ को लोकभोग्य बनाया है, का निरंतर-नियमित रुप से चिंतन-मनन करना चाहिए।

शास्त्र-स्वाध्याय अपने आप में व्यसन रूप बन जाना चाहिए। उसके बिना साँस लेना मुश्किल हो जाए। सब कुछ मिल जाए, लेकिन जब तक शास्त्र-स्वाध्याय नहीं होगा तब तक कुछ नहीं। ठीक उसी तरह जैसे-जैसे शास्त्रस्वाध्याय बढ़ता जाय वैसे-वैसे अज्ञान, स्वच्छन्दता और धर्महीनता की वृत्ति नष्ट होती जायेगी। अतः तुम्हें सदा खयाल रहे कि इसी हेतुवश शास्त्र-स्वाध्याय करना परमावश्यक है।

शास्त्रोक्ताचारकर्ता च शास्त्रज्ञः शास्त्रदेशकः !
शास्त्रैकदृग् महायोगी प्राप्नोति परमं पदम् ॥२४॥८॥

अर्थ : शास्त्रप्रणीत आचार का पालनकर्ता, शास्त्रों का ज्ञाता, शास्त्रों का उपदेशक और शास्त्रों में एकनिष्ठ महायोगी परमपद पाते हैं।

विवेचन : महायोगी !

शास्त्रों के ज्ञाता होते हैं, उसका उपदेश देनेवाले होते हैं और उसमें प्रतिपादित आचारों को स्व-जीवन में कार्यान्वित करनेवाले होते हैं।

जिसके जीवन में इस प्रकार की त्रिवेणी का संगम है, वह महायोगी कहलाता है और इन तीन बातों की एकमेव कुंञ्जी है शास्त्रदृष्टि। बिना इसके, शास्त्रों को समझना और जानना असम्भव है ! फलतः उपदेश देना और शास्त्रीय जीवन जीने का पुरुषार्थ कदापि नहीं होगा।

महायोगी बनने की पहली शर्त है शास्त्रदृष्टि। नजर शास्त्रों की ओर ही लगी रहनी चाहिए। स्वयं आचार-विचार वृत्ति और व्यवहार का विलीनीकरण शास्त्रों में ही कर देना चाहिए। शास्त्र से भिन्न उनकी वाणी नहीं और विचार नहीं। शास्त्रीय बातों से अपनी वृत्ति और प्रवृत्तियों को भावित कर दी हो, विचार

मात्र शास्त्रीय ढाँचे में ढल गये हों और मन ही मन दृढसंकल्प हो गया हो कि "शास्त्र से ही स्व और पर का आत्महित सम्भव है।" अर्थात् महायोगी ऐसी हितकारी शास्त्रीय बातों का ही उपदेश करें। शास्त्र निरपेक्ष होकर जन-मन को भानेवाले शास्त्र-विरोधी उपदेश देने की चेष्टा न करें। आमतौर से सामान्य जनता की अभिरूचि शास्त्रविपरीत ही होती है, फिर भी महायोगी / महात्मा जनाभिरुचि-पोषक शास्त्र-विरुद्ध उपदेश देने का उपक्रम न करें। अहितकारी उपदेश श्रमणश्रेष्ठ कदापि न दें।

वह खुद का हित भी शास्त्रों के मार्गदर्शन के अनुसार ही साधने का प्रयत्न करें। जीवन की वृत्ति और प्रवृत्ति के लिए शास्त्रों का मार्गदर्शन उपलब्ध है। छोटी-बडी प्रवृत्तियाँ किस तरह की जाए इसके सम्बन्ध में शास्त्र में स्पष्ट निर्देश दिये गये हैं। साथ ही, सरल सुगम और सुन्दर विधि का भी नियोजन किया गया है। मुनिराज उसे अच्छी तरह आत्मसात् करें और तदनुसार अपना जीवन जीयें। प्रसंगोपात सुपात्र को इसका उपदेश भी दें!

जिसे मोक्ष-मार्ग की आराधना करनी हो, आत्मा के वास्तविक स्वरुप को जिसे प्रगट करना हो, उसे शास्त्र का यथोचित आदर करना ही होगा। शास्त्र भले ही प्राचीन हो, लेकिन वे अर्वाचीन की भाँति नित्य नया संदेश देते हैं। जिसे आत्महित साधना है, उसके लिए सिवाय शास्त्र, दूसरा कोई मार्ग नहीं है। लेकिन, जिसे लौकिक जीवन ही जीना है और आत्मा, मोक्ष, परलोक आदि से कोई सरोकार नहीं है, ऐसे विद्वान, बुद्धिमान्, कलाकौशल्य के स्वामि और राष्ट्रनेता भले ही शास्त्र की तनिक भी परवाह न कर! शास्त्रों की सरेआम अवहेलना करें। उनके और तुम्हारे आदर्श भिन्न है, उसमें जमीन-आसमान का अन्तर है।

हे मुनिवर, तुम्हें तो शास्त्राधार लेना ही होगा। यही तुम्हारे लिए सर्वथा श्रेयस्कर और उपयुक्त है।

• • •

२५. परिग्रह-त्याग

परिग्रह ! बाकइ इस 'ग्रह' का प्रभाव सकल विश्व पर छाया हुआ है! आश्चर्य इस बात का है कि मानव अन्य ग्रहों के शिकंजे से मुक्त होने के लिए आकुल-व्याकुल है, जबकि इसकी प्राप्ति के लिए जमीन-आसमान एक कर देता है। मानव-मात्र पर इसका कितना जबरदस्त असर है - यह तुम्हें जानना ही होगा। दिल को कम्पायमान करनेवाली और धन-मुर्च्छा को कम्पायमान करनेवाली परिग्रह की अजीबो गरीब बातें पढ़कर तुम्हें एक नयी दिव्य दृष्टि प्राप्त होगी।

न परावर्तते राशेर्वक्रतां जातु नोज्झति ।
परिग्रहग्रहः कोऽयं विडम्बितजगत्त्रयः ॥२५॥१॥

अर्थ : न जाने परिग्रहरूपी यह ग्रह कैसा है, जो राशि से दुबारा लौट नहीं आता, कभी वक्रता का परित्याग नहीं करता और जिसने त्रिलोक को विडंबित किया है ?

विवेचन :-सौ... दो सौ, हजार... दो हजार, लाख... दो लाख, कोटि... दो कोटि, अरब... दस अरब ?

अंक के बाद अंक बढ़ते ही जाते हैं। पलटकर देखने का काम नहीं। वाकइ 'परिग्रह' नामक ग्रह ने प्राणी मात्र के जन्म-नक्षत्र को चारों ओर से घेर लिया है। उसके उत्पात, तृष्णा और व्याकुलता को कभी देखा है ? यदि तुम इस पापी ग्रह के असर तले होंगे तो निःसंदेह उन उत्पातों को, तृष्णा को और व्याकुलता को समझ नहीं पाओगे। नदी के तीव्र प्रवाह में डूबता मानव अन्य

को डूबते नहीं देख सकता, बल्कि तट पर खड़े लोग ही उसकी वेदना, विह्वलता और असहाय स्थिति समझ सकते है। 'परिग्रह' ग्रह से मुक्त महापुरुष ही उसे देख सकते हैं कि इस ग्रह के सर्वभक्षी जाल में फँसे जीव किस कदर तडपते हैं, छटपटाते हैं।

धन सम्पत्ति एवं वैभव के उत्तुंग शिखरों पर आरोहण करने के लिए प्रयत्नशील मानव को संबोधित कर पूज्य उपाध्ययजी महाराज कहते हैं : 'हे जीव! तुम इस निरर्थक प्रयत्न का परित्याग कर दो। आज तक कोई मानव अथवा देव-देवेन्द्र भौतिक सम्पत्ति के शिखर पर लाख प्रयत्नों के बावजूद भी पहुँच नहीं पाया है। कोई उसके शिखर पर पहुँच ही नहीं पाता... वह अनन्त है। दूर के ढ़ोल हमेशा सुहावने होते हैं। अतः तुम उसकी बुलंदी पर पहुँचने के अरमान दिल से निकाल दो। व्यर्थ की विडंबना क्यों मोल लेते हो ?

अरे, तुम उसकी वक्रता तो देखो। वह हमेशा जीव की इच्छा के विपरीत ही चलता है। जिसके हृदय में वैभव का जरा भी मोह नहीं, उसके इर्द-गिर्द श्री और सम्पत्ति की अभिनव दुनिया खडी हो जाती है। जबकि जो यश और संपदा के लिए निरंतर छटपटाता है अधीर और आतुर है, उससे वह लाखों योजन दूर रहती है। परिग्रह ही मानव की उदात्त भावनाओं को भस्मीभूत करता है... विवेक का विलीनीकरण करता है। फलतः मानव वक्रगति का पथिक बन जाता है... सरल चाल कभी चलता नहीं।

त्रिलोक को सदा-सर्वदा अशान्त और उद्विग्न करनेवाले परिग्रह नामक ग्रह का आजतक किसी खगोलशास्त्री ने संशोधन किया ही नहीं। उसके व्यापक प्रभावों का विज्ञान खोजा नहीं गया है। अलबत्ता, इसकी वास्तविकता को आज तक सिर्फ सर्वज्ञ परमात्मा ही जान पाये हैं। अतः उन्होंने इसकी भीषणता / भयानकता का वर्णन किया है।

असंतोषमविश्वासमारंभं दुःखकारणम्।
मत्वा मूर्च्छाफलं कुर्यात्, परिग्रहनियंत्रणम्॥ –योगशास्त्र

परिग्रह अर्थात् मूर्च्छा... गृद्धि... आसक्ति। इसका फल है : असंतोष, अविश्वास और आरम्भ-समारम्भ। मतलब, दुःख, कष्ट और अशान्ति। अतः सदैव

परिग्रह का नियंत्रण करना आवश्यक है ।

त्रिभुवन को अपनी अंगुलियों के इशारे पर नचानेवाले इस दुष्ट ग्रह को उपशान्त किए बिना जीव के लिए सुख-शान्ति असम्भव है । सगर चक्रवर्ती के कितने पुत्र थे ? कुचिकर्ण के यहाँ कितनी गायें थी ? तिलक श्रेष्ठि के भण्डार में कितना अनाज था ? मगध सम्राट नन्दराजा के पास कितना सोना था ? फिर भी उन्हें तृप्ति कहाँ थी ? मानसिक शान्ति कहाँ थी ?

वैसे परिग्रह की वृत्ति द्रव्योपार्जन, उसका यथोचित संरक्षण और संवर्धन कराने की प्रवृत्तियाँ कराती हैं । इससे परपदार्थों के प्रति ममत्व दृढ़ होता जाता है। परिणाम स्वरूप एक ओर धार्मिक क्रियायें सम्पन्न करने के बावजूद भी आत्मभाव निर्मल... पवित्र नहीं हो पाता । तामसभाव और राजसभाव में प्रायः बाढ आती ही रहती है । कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्यजी ने बताया है कि–

'दोषास्तु पर्वतस्थूलाः प्रादुष्यन्ति परिग्रहे ।'

परिग्रह के कारण पहाड़ जैसे बड़े और गंभीर दोष पैदा होते हैं । उससे आवर्जित मानव पिता की भी हत्या करते नहीं हिचकिचाता, सद्गुरु और परमात्मा की अवहेलना करते पीछे नहीं हटता, मुनि-हत्या करते नहीं घबराता । ठीक वैसे ही असत्य बोलते, चोरी करते नहीं रुकता ।

धन-धान्य, सम्पत्ति-वैभव, परिवार, भवन और वाहन आदि सब परिग्रह है । आत्मा से भिन्न पदार्थों के लिए मूर्च्छा-ममत्व परिग्रह कहलाता है । अतः परिग्रहपरित्याग किए बिना आत्मा प्रशान्त नहीं बनती ।

परिग्रहग्रहावेशाद्, दुर्भाषितरजः किराम् ।
श्रुयन्ते विकृताः किं न प्रलापा लिङ्गिनामपि ॥२५॥२॥

अर्थ : परिग्रह रुपी ग्रह के प्रवेश के कारण उत्सूत्रभाषण रुपी धूल सरेआम उडानेवाले वेशधारी लोगों की विकारयुक्त बकवास क्या तुम्हें सुनायी नहीं दे रही हैं ?

विवेचन : धन-सम्पत्ति और बंगला-मोटर आदि अतुल वैभव में गले

तक डूबे और परिग्रह के रंग में रंगे हुए सामान्य गृहस्थों की बात तो छोड़ दीजिए, लेकिन जिन्होंने सर्वदृष्टि से बाह्य परिग्रह का परित्याग कर दिया है, जो त्यागी, तपस्वी, मुनिवेशधारी हैं और आत्मानन्द की पूर्णता के राजमार्ग का अवलम्बन लिया है ऐसे महापुरुष परिग्रह के रंग में रंगे दृष्टिगोचर हों, तब भला ज्ञानी पुरुषों को खेद नहीं होगा तो क्या होगा ?

मुनि और परिग्रह ? परिग्रह के बोझ को आनन्द से ढोता मुनि, मुनि-जीवन के कर्तव्यों से भ्रष्ट होता है। महाव्रतादि के पुनीत पालन में शिथिल बनता है और जिनमार्ग की आराधना के आदर्श को कलंकित करता है। ज्ञान और चारित्र के विपुल साधनों का संग्रह करने के उपरान्त भी जिस मुनि को यह मान्यता है कि 'मैं जो भी कर रहा हूँ, सर्वथा अयोग्य है और मैं परिग्रह के पापमय बहाव में बहा जा रहा हूँ।' ऐसा मुनि भूलकर भी कभी दूसरों को परिग्रह के मार्ग पर चलने का प्रोत्साहन नहीं देगा। ठीक वैसे ही 'परिग्रह के माध्यम से अपना गौरव नहीं बढेगा।' ऐसा माननेवाला मुनि, उसका अनुकरण एवं अनुसरण करनेवाले अन्य मुनियों के कान में धीरे से कहेगा : "मुनिजन, ओप इस झंझट में कभी न फँसना। मार्ग-भ्रष्ट न होना। मैं तो इसके कीचड में सर से पाँव तक सन गया हूँ, लेकिन तुम हर्गिज न सनना, बल्कि सदा-सर्वदा निर्लेप रह आराधना के मार्ग पर गतिशील रहो।"

लेकिन जो साधु अपना आत्मनिरीक्षण नहीं करता है, ना ही अपनी त्रुटियों को समझता है... वह नि:सन्देह खुद तो परिग्रह का बोझ ढोनेवाला कुली बनेगा ही, साथ में अन्य मुनियों को भी परिग्रही बनने के लिए उकसायेगा। उसका उपदेश मार्गानुसारी नहीं, अपितु उन्मार्ग पोषक होगा। वह कहेगा : "हम तो सदा अपने पास सम्यग्ज्ञान के साधन रखते हैं... सम्यक्चारित्र के उपकरणों से युक्त हैं। हम भला कहाँ कंचन-कामिनी का संग करते हैं ? फिर पाप कैसा ? साथ ही, जो हमारे पास है, उसके प्रति हम में ममत्व की भावना कहाँ है ? ममत्व होगा, तभी परिग्रह !" इस तरह अपना बचाव करते हुए, 'ऐसा परिग्रह तो रखना चाहिए,' का नि:शंक उपदेश देगा।

उपदेश द्वारा लाखों की सम्पत्ति इकट्ठी कर और उस पर अपना अधिकार

प्रस्थापित कर उक्त रकम किसी भक्त की तिजोरी में बन्द रखना, क्या परिग्रह नहीं है ? उपाश्रय, ज्ञानमन्दिर, पौषधशाला और धर्मशाला निर्माण हेतु उपदेश के माध्यम से करोड़ों रूपये खर्च करवाकर उनकी व्यवस्था / प्रबन्ध के सारे सूत्र अपने हाथ में रखना, क्या परिग्रह नहीं है ? सहस्त्रावधि पुस्तकों की खरीदी करवाकर उस पर अपने नाम का ठप्पा मारकर उसका मालिक बनना, क्या परिग्रह नहीं है ? इतना ही नहीं, बल्कि इससे एक कदम आगे, इन कार्यो के प्रति अभिमान धारण कर उससे अपने बड़प्पन का डंका पिटवाना, क्या साधुता का लक्षण है ? ऐसे परिग्रही लोगों को पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने 'वेषधारी' की संज्ञा प्रदान की है। सिर्फ वेश मुनि का, लेकिन आचरण गृहस्थ का। अपरिग्रह का जयघोष करनेवाले जब परिग्रह के शिखर पर आरोहण हेतु प्रतिस्पर्धा करने लग जाएँ, तब ऐसा कौन-सा ज्ञानी पुरुष है, जिसका हृदय आर्त नाद से चीख न पड़ेगा ?

एक समय की बात है। किसी त्यागी पुरुष के पास एक धनिक गया। वन्दन-स्तवन कर उसने विनीत भाव से पूछा "गुरूवर, मुझे हज़ार रुपये गरीब, दीन-दरिद्र और मोंहताज लोगों में बाँटने हैं... आपको ठीक लगे-वैसे बांटवा दें तो बड़ी कृपा होगी।"

और भक्त ने सौ-सौ की दस नोट उनके सामने रख दीं। त्यागी पुरुष पल-दो पल के लिए मौन रहे। उन्होंने तीक्ष्ण नजर से एक बार उसकी ओर देखा और तब बोले : "भाग्यशाली, यह काम तुम अपने मुनीम को सौंप दो। मैं तुम्हारा मुनीम नहीं हूँ।" धनिक क्षणार्ध के लिये स्तब्ध रह गया। उसने चुपचाप नोट उठा लिये और क्षमायाचना कर नतमस्तक हो, चला गया। वह मन ही मन त्यागी पुरुष की महानता और विराट व्यक्तित्व से गद् गद् हो उठा।

परिग्रह इसी तरह आहिस्ता-आहिस्ता मुनि जीवन नें प्रवेश करता है। यदि ऐसे समय जरा भी सावधानी न बरती गयी तो समझ लो कि परिग्रह की दुष्ट चाल में फँस गये। श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यजी ने ठीक ही कहा है :

तपःश्रुतपरिवारां शमसाम्राज्यसंपदम् ।
परिग्रहग्रस्तास्त्यजेयुर्योगिनोऽपि हि ॥ — योगशास्त्र

परिग्रह का पाप-ग्रह जब योगी पुरुषों को ग्रसित करता है, तब वे त्याग, तप, ध्यान, ज्ञान, क्षमा, नम्रतादि आभ्यन्तर लक्ष्मी का सदा के लिये त्याग कर देते हैं । इतना ही नहीं, बल्कि जिनमत के अपरिग्रहवाद का विकृत ढंग से प्रतिपादन करते हैं । क्या तुमने कभी वेषधारियों को अपने परिग्रह का बचाव करते देखा नहीं है ? "**उपमिति**" ग्रन्थ में कहा गया है कि, 'ऐसे जीव अनंत काल तक संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं ।'

यस्त्यक्त्वा तृणवद् बाह्यमान्तरं च परिग्रहम् ।
उदास्ते तत्पदांभोजं पर्युपास्ते जगत्त्रयी ॥२५॥३॥

अर्थ : जो तृण के समान बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह का परित्याग कर, सदा उदासीन रहते हैं, उनके चरणकमलों की तीन लोक सेवा करते हैं ।

विवेचन : वे महापुरुष सदा वन्दनीय और पूजनीय हैं जो धन-संपदा पुत्र-परिवार, सोना-चाँदी, हीरे-मोती आदि का स्वेच्छा से त्याग करते हैं । वे महात्मा सदैव पूजन-अर्चन योग्य हैं, जो मिथ्यात्व, अविरति, कषाय गारव और प्रमादादि का सर्वथा त्याग करते हैं और निर्मम, निरहंकार बनकर संसार में विचरण करते हैं । ऐसे परम त्यागी योगी ही अहर्निश वन्दनीय हैं, जिनके वन्दन-स्तवन से अनन्त कर्मो का क्षय होता है, असंख्य दोष नष्ट हो जाते हैं और गौरवमय गुणों का निरंतर प्रादुर्भाव होता है ।

— धन-संपदा आदि बाह्य परिग्रह हैं ।

— मिथ्यात्व-अविरति आदि आभ्यन्तर परिग्रह हैं ।

इन दोनों परिग्रहों का मुनि तृणवत् त्याग करें, मलबे की तरह उठाकर बाहर फेंक दें । खयाल रहे, घर में रहे कूड़े को बाहर फेंकनेवाले को कभी उसका (कचरे का) अभिमान नहीं होता । अरे भाई, फेंकने लायक वस्तु फेंक दी, उसमें अभिमान कैसा ? जिस तरह कूडा और मलवा संग्रह करने की वस्तु नहीं है, वैसे ही परिग्रह भी संग्रह करने योग्य नहीं, अपितु त्याग करने जैसी वस्तु है । किसी जीच को कूड़ा समझकर फेंक देने के बाद उसके प्रति तिलमात्र भी आकर्षण नहीं होता, जबकि वस्तु को मूल्यवान समझ कर उसका त्याग करने

पर उसका आकर्षण सदा बना रहता है ।

"मैंने लाखों-करोडों का वैभव क्षणमात्र में त्याग दिया... मैंने विशाल परिवार का सुख सदा के लिये छोड़ दिया, मैंने महान् त्याग किया है ।" बार-बार ऐसे विचार मन में उठते रहें, तो समझ लो कि त्याग तृणवत् नहीं किया है। इस तरह त्याग करने से उसके प्रति उदासनीता पैदा नहीं होती । त्यागी भूलकर भी अपने त्याग की गाथा न गाये । अरे, अपने मन में भी त्याग का मूल्यांकन न करें ।

शालिभद्र ने ३२ पत्नियों के साथ-साथ नित्य प्राप्त दैवी ९९ पेटियों का त्याग किया... ममतामयी माता का त्याग किया... वह त्याग निःसन्देह तृणवत् त्याग था । वैभारगिरि पर उनके दर्शनार्थ आयी वात्सल्यमयी माता और प्रेमातुर पत्नियों की ओर आँख उठाकर देखा तक नहीं । उदासीनता और मोहत्याग की प्रतिमूर्ति सनत्कुमार ने चक्रवर्तीत्व का त्याग किया... सर्वोच्च पद का त्याग! लगातार ६ माह तक साथ चलनेवाले माता-पिता और पत्नी-परिवार की ओर देखा तक नहीं, अपितु विरक्त भाव और उदासीनता धारण कर निरन्तर आगे बढ़ते रहे।

सच तो यह है कि बाह्य परिग्रह के साथ-साथ आभ्यन्तर परिग्रह का भी त्याग होना चाहिये । तभी विरक्ति और उदासीनता का आविर्भाव सम्भव है। यदि आभ्यन्तर परिग्रह रुप मिथ्यात्व और कषायों का त्याग नहीं किया, तो पुनः बाह्य परिग्रह की लालसा जागते विलम्ब नहीं लगेगा ।

सम्भव है कि जीव मानव-जीवन के सुखों का परित्याग कर स्वर्गीय सुखों की प्राप्ति हेतु संयम भी ग्रहण कर ले, फिर भी वह अपरिग्रही नहीं बनता। क्योंकि आभ्यन्तर परिग्रह की उसकी भावना पूर्ववत् बनी रहती है ।

जबकि बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह का त्यागी पुरुष, निर्मम-निरहंकारी बन, आत्मानन्द की पूर्णता में स्वयं को पूर्ण समझता है । वह भूलकर भी कभी बाह्य पदार्थों के माध्यम से अपने को पूर्ण नहीं समझता, ना ही पूर्ण होने का प्रयत्न करता है। अपितु बाह्य पदार्थों के संयोग में अपनेआप को सदैव अपूर्ण ही समझता है । अतः वह बाह्य पदार्थों का त्याग कर उनके प्रति मन में रहे अनुराग को सदा के लिये मिटा देता है ।

बत्तीस कोटि सुवर्ण मुद्रायें और बत्तीस पत्नियों का तृणवत् परित्याग कर, आभ्यन्तर राग-द्वेष का त्याग कर, वैभारगिरि पर ध्यानस्थ रहे महामुनि धन्ना अणगार की जब भगवान महावीर ने देशना देते हुए भूरि-भूरि प्रशंसा की, तब समवसरण में उपस्थित देव-देवी, मनुष्य-तिर्यंच, पशु-पक्षी, कौन उन भाग्यशाली धन्ना अणगार को नत मस्तक नहीं हुआ था ? अरे, मगधाधिपति श्रेणिक तो वैभारगिरि की पथरीली, वीरान और भयंकर पगडंडी को रौंदते हुए धन्ना अणगार के दर्शनार्थ दौड़ पड़े थे और महामुनि के दर्शन कर श्रद्धासिक्त भाव से उनके चरणों में झुक पड़े थे । आज भी इस ऐतिहासिक घटना की साक्षी स्वरुप **'अनुत्तरोपपातिक सूत्र'** विद्यमान है । बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह के महात्यागी धन्ना अणगार के चरणों में तीन लोक श्रद्धाभाव से नतमस्तक हुए थे और आज भी उनका स्मरण कर हम नतमस्तक हो जाते हैं ।

चित्त की परम शान्ति, आत्मा की पवित्रता और मोक्ष-मार्ग की आराधना का सारा दार-मदार परिग्रह-त्याग की वृत्ति पर अवलंबित है । क्योंकि परिग्रह में निरन्तर व्याकुलता है, वेदना है और पाप-प्रचुरता है ।

चित्तेऽन्तर्ग्रन्थगहने, बहिर्निग्रन्थता वृथा ।
त्यागात् कञ्चुकमात्रस्य, भुजगो न हि निर्विषः ॥२५॥४॥

अर्थ : जब तक मन आभ्यन्तर परिग्रह से आकुल-व्याकुल है तब तक बाह्य निर्ग्रन्थवृत्ति व्यर्थ है । क्योंकि कंचुकी छोड़ देने से विषधर विषरहित नहीं बन जाता ।

विवेचन : भले ही तुमने वस्त्र-परिवर्तन कर दिया, निवास-स्थान को तजकर उपाश्रय अथवा धर्मशाला में बेठ गये, केशमुंडन कराने के बजाय केश-लोच कराने लगे, धोती अथवा पेंट के बदले 'चोल पट्टक' धारण करना शुरु कर दिया और जूते पहनने के बजाय नंगे पाँव रहने लगे, लेकिन इससे तुम्हारे मन की व्याकुलता, विवशता और अस्थिरता कभी दूर नहीं होगी ।

तब क्या करना चाहिये ?

एक काम करो । आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करने के लिए कटिबद्ध

हो जाओ। जिस परिग्रह को तुमने तज दिया है, दुबारा उसका स्मरण न करो। त्याग किये गये परिग्रह से बढ़कर परिग्रह की प्राप्ति के लिये तत्पर न बनो। तभी मन प्रसन्न और पवित्र रहेगा। जब तक अन्तरंग राग-द्वेष एवं मोह की ग्रन्थि का नाश न होगा, भौतिक पदार्थों का आन्तरिक आकर्षण खत्म नहीं होगा, तब तक मानसिक स्वस्थता असम्भव है। अतस्थ मलीन भावों का संग्रह, परिग्रह मन को सदैव रोगी ही रखता है।

"लेकिन अन्तरंग-परिग्रह का त्याग सर्वथा दुष्कर जो है ?" मानते हैं। लेकिन उसके बिना बाह्य निर्ग्रंथवेश वृथा है। साँप भले ही केंचुली उतार दे। लेकिन जब तक वह विष बाहर नहीं उगलेगा, तब तक वह निर्विष नहीं बन सकता। तुमने सिर्फ बाह्य-वेश का परिवर्तन कर दिया और बाह्याचार का परिवर्तन कर दिया। उससे भला क्या होगा ? क्या तुम उस लक्ष्मणा साध्वी के नाम से अपरिचित, अनभिज्ञ हो ?

प्राचीन समय की बात है। राजकुमारी लक्ष्मणा ने समग्र संसार के परिग्रह को त्याग दिया। वह संयममार्ग की पथिक बन गयी। भगवान के आर्यासंघ में सम्मिलित हो, घोर तपश्चर्या आरम्भ की। कैसी अदभूत तपश्चर्या ! ज्ञान और ध्यान का उसने अपूर्व संयोग साध लिया। विनय और वैयावृत्य की संवादिता साध ली। लेकिन एक दिन की बात है। अचानक उसकी दृष्टि एक चिडा-चिडिया के जोड़े पर पडी। दोनों मैथुन-क्रिया का आनन्द लूट रहे थे। लक्ष्मणा के मनःचक्षू पर यह दृश्य अंकित हो गया। वह दिग्मूढ हो सोचने लगी : "भगवान ने मैथुन का सर्वथा निषेध किया है। वे स्वयं निर्वेदी हैं। तब उन्हें भला वेदोदयवाले जीवों के सम्भोग-सुख का अनुभव कहाँ से होगा ?"

जातीय संभोगसुख के अन्तरंग परिग्रह ने लक्ष्मणा साध्वी का गला घोंट दिया। मैथुन क्रिया के दर्शन मात्र से संभोग सुख के परिग्रह की वासना जग पडी। परिग्रह-परित्याग के उद्घोषक साक्षात् तीर्थंकर उसे अज्ञानी लगे।

पल दो पल के पश्चात् साध्वी लक्ष्मणा सहज और स्वस्थ हो गइ। वह मन ही मन सोचने लगी : 'अरे रे, मैंने यह क्या सोचा और समझा ? भगवन्त तो सर्वज्ञ है। उनसे कोई बात छिपी हुई नहीं है। वे सब जानते है और समझते

है । वाकइ मैंने कितनी बडी मूर्खता करती और गुरुदेव के प्रति अपने मन में अशुभ चिन्तन किया ।"

उसके मन-मंच पर भगवान के समक्ष प्रायश्चित करने का विचार उभर आया । वह एक कदम आगे बढ़ी और फिर ठिठक गयी... । "प्रायश्चित करने के लिये मुझे अपना मानसिक पाप प्रभु के समक्ष निवेदन करना होगा... । समवसरण में अपस्थस्थित श्रोतावृंद मेरे बारे में क्या सोचेंगे... ? भगवान स्वयं क्या अनुभव करेंगे ? 'साध्वी लक्ष्मणा और ऐसे गंदे विचार ?' इसके बजाय तो मैं स्वयं अपने हाथों प्रायश्चित कर लूँगी ।" अवसर पाकर भगवान से पूछ लूँगी : "प्रभु कोई ऐसे गंदे विचार करे, तो उसका प्रायश्चित क्या है ?"

दूसरे अन्तरंग परिग्रह ने उसके मन को मथ लिया । चित्त चंचल हो उठा । माया भी अन्तरंग परिग्रह ही है । हालाँकि उसने अपना पाप स्वमुख से प्रकट नहीं किया, लेकिन आज सहस्त्रावधि वर्षो के पश्चात् भी हम उसे जान पाये हैं । भला कैसे ? यह सही है कि निर्ग्रन्थ भगवान से कोई बात छिपी नहीं रह सकती । आर्या लक्ष्मणा आज भी जन्म-मरण के चक्र में फँसी चक्कर काट रही है । यह सब अन्तरंग परिग्रह की लीला है ।

बाह्य परिग्रह का त्याग करते हुए यदि आभ्यन्तर परिग्रह की एकाध गाँठ भी रह जाए, तो संसार-परिभ्रमण के अतिरिक्त दूसरा कोई चारा नहीं है । उपाध्यायजी महाराज ने फरमाया है कि, "यदि तुम्हारा मन अन्तरंग परिग्रह से आकुल-व्याकुल है, तो बाह्य मुनिवेश व्यर्थ है, वह कोई कींमत नहीं रखता । ऐसा कहकर वे मुनिवेश का त्याग करने को नहीं कहते, परन्तु अन्तरंग परिग्रह के परित्याग की भव्य प्रेरणा देते हैं ।

त्यक्ते परिग्रहे साधोः, प्रयाति सकलं रजः ।
पालित्यागे क्षणादेव, सरसः सलिलं यथा ॥२५।५॥

अर्थ : परिग्रह का त्याग करते ही साधु के सारे पाप क्षय हो जाते हैं। जिस तरह पाल टूटते ही तालाब का सारा पानी बह जाता है ।

विवेचन : पानी से भरे सरोवर को खाली कर देना है ? उसके किनारे

को तोड़ दो। सरोवर खाली होते विलम्ब नहीं लगेगा। यह भी कोई बात हुई कि तट तोडना नहीं और सरोवर खाली हो जाए ? तब तो असम्भव है।

तुम्हारी मनीषा आत्म-सरोवर को पाप-जल से खाली करने की है न ? तब परिग्रह के तट को तोड दो... और तोड़ना ही पडेगा। इसके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है। मानता हूँ कि उक्त तट को बाँधने में / तैयार करने में तुमने दिन-रात पसीना बहाया है, कठोर परिश्रम किया है। संयम और स्वाध्याय को ताक पर रखकर तुमने अपना सर्वस्व दाव पर लगा दिया है। मुनि-धर्म की मर्यादाओं का उल्लंघन कर तट को सुशोभित... सुन्दर किया है। लेकिन मेरी मानो और तट को तोड दो। इसके बिना आत्म-सरोवर में रहा पाप-पानी बाहर नहीं जाएगा।

यह भी भली भाँति जानता हूँ परिग्रह के तट पर बैठ-कर तुम्हें नारी कथा, भोजन कथा, देश कथा और राजकथा वतियाने में अपूर्व आनन्द मिलता है। भोले-भाले अज्ञानी जीवों से मान-सम्मान स्वीकार करने में लीन हो, परिग्रह के तट पर प्रायः तुम्हारा दरबार लगता है और खुशामदखोर तथा चापलुसों के बीच बैठे तुम अपने आपको महान समझते हो। लेकिन याद रखना, तट पर से फिसल गये तो फिर अगाध पाप-पंक में समाधि लेनी होगी... और ऐसे समय उपस्थित खुशामदखोरों में से एक भी तुम्हें बचाने के लिये पाप-पंक से भरे सरोवर में छलांग नहीं लगाएगा।

परिग्रह के तट पर धूनी रमाकर बैठे तुम वहाँ के शाश्वत् नियमों को जानते हो ? तट पर बैठा यदि तट तोडने का कार्य न करें, तो उसका अगाध पाप-पंक में डूबना निश्चित है...। भले ही फिर तुम त्यागीवेश में हो, तुम्हारा उपदेश वैराग्य-प्रेरक हो, तुम्हारी क्रियायें जिनमार्ग की हों, लाखों भक्त तुम्हारी जय-जयकार करते हों, तुम आँखे मुँद, पद्मासन लगाये ध्यानस्थ हो अथवा घोर तपश्चर्या करते हो। ये सारी क्रिया-प्रक्रियायें किसी काम की नहीं, जब तक तुम परिग्रह के तट पर बैठे हुए हो। क्योंकि अन्त में तो तुम्हें तट पर से लुढक कर अगाध पाप-जलराशि में डूबकर मरना ही है।

परिग्रह के तट पर धूनी रमाकर तुम विश्व को अपरिग्रह का उपदेश देते

हो, यह कहाँ तक उचित है ? बजाय इसके तट को तोड दो... । न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी ! पाप की जलराशि को बह जाने दो... । क्या तुम्हें उस पानी की दुर्गंध नहीं आती ? खैर, आदत जो पड़ गयी है ! लेकिन ऐसे स्थान पर बैठकर साधुता को क्यों लजा रहे हो ? उसकी तनिक शान और आन तो रहने दो । तभी कहता हूँ भाई, उठाओ कुदाल और फावड़ा । देर न करो, तुरन्त परिग्रह के तट को तोड़ दो ।

जब तट टूट जाएगा, पाप का जल बहते देर नहीं लगेगी और तब निर्मल आत्म-सरोवर के किनारे खड़े कोई नई अभिनव अनुभूति का अनुभव करोगे । तुम्हें महसूस होगा कि अब तक परिग्रह में संयम का अमृत सुक गया था और अन्तःकरण की केसर-सुरभित महाव्रतों की वाटिका को किसी ने विरान बना दिया था । दृष्टि पर अन्धकार की परत किसी ने जमा दी थी । साधना-आराधना का सुहावना उद्यान उजड़ गया था और प्रांगण में कंटीली झाड़ियाँ ही पनप आयी थीं । परिग्रह के पापवश सर्वविरति-जीवन तहस-नहस हो गया था और सर्वविरति के वेश में तुम्हें आसक्ति ने अजीब उलझन में डाल दिया था ।

परिग्रह के पाप से ही तो साधु महाव्रतों का उल्लंघन करने के लिए प्रेरित होता है । परिग्रह का ममत्व ही उसे क्रोधादि कषाय और रस-ऋद्धि-शाता गारव का सेवन करने हेतु धक्का मारता है । जहाँ परिग्रह का परित्याग किया नहीं कि क्रोधादि कषाय उपशान्त होते विलम्ब नहीं लगता । गारव के प्रति घृणाभाव पैदा होगा... । महाव्रतों के पालन में अडिगता और स्थिरता आएगी ।

जबकि तुम धन-सम्पत्ति और परिवार का त्याग कर श्रमण बने हो तो अब साधु-जीवन में पैदा किए हुए परिग्रह का परित्याग करने में हिचकिचाहट क्यों ? अगाध जल-राशि तैर कर, किनारे लगते समय भला, डूबने की तैयारी क्यों कर रहे हो ? इसीलिए तो बार-बार आग्रह कर रहा हूँ कि परिग्रह के तट को तोड दो । पाप-जल बह जाएगा और तुम निर्मल, निर्मम बन जाओगे ।

त्यक्तपुत्रकलत्रस्य, मूर्च्छामुक्तस्य योगिनः ।
चिन्मात्रप्रतिबद्धस्य, का पुद्गल-नियंत्रणा ? ॥२५॥६॥

अर्थ : जिसने पुत्र और पत्नी को त्याग दिया है और जो ममत्व रहित है और ज्ञान मात्र में ही आसक्त है, ऐसे योगी को पुद्गल का बन्धन कैसा ?

विवेचन : अलख के गीत गाता... भौतिक सुखों से सर्वथा लापरवाह योगी भला, कभी किसी का बन्धन स्वीकार करता है ? वह तो निर्बंधन निर्मुक्त हो सदा-सर्वदा आत्मज्ञान की संगति में तल्लीन होता है ।

जोगी ! तेरे जोग को सम्भाल ! जोग पर भोग की शैवाल तो जम नहीं गया है न ? जोग पर भोग के भूतों का प्रभाव तो कहीं नहीं छा गया है न ? वर्ना तेरा त्याग व्यर्थ जाएगा । तुमने नारी-सुख को तज दिया... यहाँ तक कि तुमने मुलायम मखमली गद्दे और तकियों का सुख भी त्याग दिया ! अरे भला, अब तेरे लिए 'यह मेरा' जैसा क्या रह गया है ? तुने ममत्व के बन्धन तोड़ दिए। अब तुझ पर किसी जड-चेतन पदार्थ का आधिपत्य सम्भव नहीं ।

जोगी तुम्हारी चेतना जागृत हो उठी है । तुमने परिग्रह की शिलाओं को उखाड़ फेंक दिया है । फिर तुम पर पुद्गल का प्रभाव कैसे रह सकता है... ? द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावादि का बन्धन कैसे शक्य है ? ध्यान रखो, चेतना-शक्ति किसी बन्धन को नहीं मानती । साथ ही जबरन कोई उस पर नियंत्रण लाद नहीं सकता ।

"मुझे ऐसे ही, अमुक प्रकार के वस्त्र चाहिये, ऐसे ही पात्र चाहिए ऐसी ही पेन... घड़ी और लेटरपेड़ चाहिए, ऐसा ही आसन चाहिए, "आदि द्रव्याग्रह जोगी ! तुम्हें शोभा नहीं देता । क्या इन द्रव्यों के बिना तुम्हें नहीं चलता ? तब इन द्रव्यों को अपेक्षा तुम्हारे मन को निरंतर क्षुब्ध रखेगी ।

"मुझे तो देहात में अथवा नगर में ही रहना है, मुझे निर्जन स्थान पसंद नहीं... लोगों का सिलसिला, मुझे अच्छा लगता है... उनका निरन्तर आवागमन भाता है । मुझे सुन्दर सुख-सुविधाओं से युक्त उपाश्रय पसंद है । मैं ऐसे देहात में रहना पसंद करता हूँ, जहाँ अधिक गर्मी न पड़ती हो, यह है क्षेत्राग्रह । क्षेत्र का नियंत्रण जोगी पर ? या जोगी का नियंत्रण क्षेत्र पर ? अरे भाग्यशाली ! तुम्हें कहाँ एक ही क्षेत्र में वास करना है ? तुम क्षेत्र-निरपेक्ष बन विचरण करते रहो। देहात हो या घना जंगल, कठिनाई हो या सुलभता, तुम्हें सदैव ज्ञानानन्द में मस्त

रहना है । तुम अपने आपको कदापि अपूर्ण न मानो । ज्ञानी की परिपूर्णता का आभास होते ही पुद्‌गल से पूर्ण अथवा सुखी बनने की कल्पना / आकांक्षायें माप बनकर उड़ जायेंगी ।

"मुझे तो शरद-ऋतु ही भाती है । ग्रीष्म-ऋतु में तो बारह बज जाती है और वर्षा में लगातार बारिश होती है-ऐसे स्थान पर रहना मेरे लिए पूर्णतया असम्भव है ।" क्या ऐसा काल-प्रतिबन्ध तुम्हें अहर्निश सताता है ? ऐसे काल-सापेक्ष विकल्पों की प्रचण्ड लहरें रह-रहकर गहराती रहती हैं ? तब यह निःसंदिग्ध सत्य है कि तुम 'चिन्मय' नहीं बन पाये ! अब भी पुद्‌गलनियंत्रण के कारावास में तुम बन्द हो ।

तुम्हें भाव-सापेक्षता की पीड़ा तो नहीं सताती न ? "मेरा नित्य प्रति गुणानुवाद हो, लोग सदा मेरी जयजयकार करते रहें, प्रशंसा-गीत की झड़ी लग गई हो और मान-सन्मान के कार्यक्रमो का लम्बा सिल-सिला चलता हो । सुगन्धयुक्त सुरभित वातावरण हो ।" अर्थात् जीवों को अच्छी-बुरी भावनाओं का असर तुम पर पड़ता है और अच्छी-बुरी भावनाओं के अनुसार राग-द्वेष की भी उत्पत्ति होती है । तब भला तुम्हें योगी कौन कहेगा ?

कहने का तात्पर्य यही है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से तुम निरपेक्ष बनो । पुद्‌गलनिरपेक्ष बने बिना भवसागर पार नहीं कर सकोगे; तुम्हारी मानसिक पवित्रता नहीं बनी रहेगी, चित्त की स्वस्थता टिकेगी नहीं और सम्यग्‌ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना में तल्लीन नहीं रह सकोगे । तुम संसार तजकर साधु बने, मोह छोड़कर मुनि बने और अंगना तजकर अणगार बने । तुमने क्या नहीं किया ? कई अपेक्षायें तुमने पहले ही त्याग दी हैं, फिर भी अब तुम्हें मानसिक भूमिका पर बहुत कुछ त्याग करना है । स्थूल त्याग से सूक्ष्म त्याग की ओर गति करना है । तुमने आज तक जो त्याग किया है, उसमें ही संतुष्ट न रहो और ना ही इसे अपनी कल्पना-सृष्टि में कायम रखो । अभी मंजिल बहुत दूर है । अतः पुद्‌गलनियंत्रण में से तम्हें सर्वथा मुक्त होना है । यह न भूलो कि यह शरीर भी पौद्‌गलिक है । जहाँ इसके आधिपत्य से भी स्वतंत्र बनना है, तो अन्य पौद्‌गलिक पदार्थों की बात ही कहाँ है ? जिन पौद्‌गलिक पदार्थों का साथ अनिवार्य है, उनकी संगति में भी, उसका तुम पर नियंत्रण नहीं होना चाहिए । पुद्‌गल पर तुम्हारा

नियंत्रण प्रस्थापित कर, उससे निरपेक्ष बने रहो, तो ही ज्ञानानन्द में गोते लगा सकोगे।

चिन्मात्रदीपको, गच्छेत् निर्वातस्थानसंनिभैः ।
निष्परिग्रहतास्थैर्य, धर्मोपकरणैरपि ॥२५॥७॥

अर्थ : ज्ञान मात्र का दीपक, पवन रहित स्थान जैसे धर्म के उपकरणों द्वारा भी परिग्रह-परित्याग-स्वरुप स्थिरता धारणा करता है ।

विवेचन : दीपक !

दीये में घी भरा हुआ है और कपास की बत्ती है । दीया टिम-टिमाता है, उसकी लौ स्थिर है, हवा का कोई झोंका नहीं और प्रकाश में कोई अस्थिरता नहीं । वह स्थिर है और प्रकाशमान है ।

विश्व के तत्त्वचिन्तकों ने, दार्शनिकों ने और महर्षियों ने ज्ञान को दीपक की उपमा दी है । स्थूल जगत में जिस तरह दीप-प्रकाश की आवश्यकता है, ठीक उसी तरह आत्मा के सूक्ष्म जगत में ज्ञान-दीप के प्रकाश की आवश्यकता होती है । लेकिन निंद्रा में जीव ज्ञानप्रकाश पसंद नहीं करता । वैसे ही मोह निद्रा में जीव ज्ञान प्रकाश नहीं चाहता... अज्ञानांधकार में ही मोह रुपी गहरी नींद आती है ।

यहि दीपक स्थिर है, तो प्रकाश फैला सकता है । बशर्ते कि वह घी-तेल पूरित होना चाहिये और वायु रहित स्थान पर रखा गया हो । ज्ञानदीपक के लिए भी ये शर्तें अनिवार्य हैं ।

ज्ञान-दीपक का घी-तेल है-सुयोग्य भोजन ।

ज्ञान-दीपक का निरापाद स्थान है-धर्म के उपकरण ।

ज्ञानोपासना निरन्तर चलती रहे और धर्मध्यान तथा धर्म-चिन्तन निराबाध गति से होता रहे, इसके लिये तुम श्वेत और जीर्ण-शीर्ण वस्त्र धारण करते रहो, यह परिग्रह नहीं है । सतत स्वाध्याय का मधुर-गुंजन होता रहे, इसके लिये तुम वस्त्र-पात्र ग्रहण करो, यह परिग्रह नहीं है । हाँ, वस्त्र-पात्र ग्रहण करने की अपनी

शर्तें हैं :

— नि:स्पृह वृत्ति से ग्रहण करना,

— ज्ञान-दीपक को प्रज्वलित रखना ।

भले ही दिगंबर संप्रदाय की यह मान्यता हो कि, "तुम परिग्रही हो... ज्ञान मात्र की परिगतिवाले श्रमण-समुदाय को वस्त्र धारण नहीं करने चाहिये और ना ही अपने पास पात्र रखने चाहिएँ।" यह कहते हुए उनका तर्क है कि, "वस्त्र-पात्र का ग्रहण-धारण मूर्च्छा के बिना नहीं हो सकता । मूर्च्छा परिग्रह है ।"

सिर्फ उनकी मान्यता के कारण हम परिग्रही नहीं बन जाते, या वे अपरिग्रही नहीं हो जाते । यदि वस्त्र-पात्र के धारण करने मात्र से ही मूर्च्छा का उद्‌गम होता हो तो भोजन ग्रहण करने में मूर्च्छा क्यों नहीं ? क्या भोजन राग-द्वेष का निमित्त नहीं ? क्या कमण्डल मोरपंख ग्रहण करने और सतत अपने पास रखने में परिग्रह नहीं ? अरे, शरीर ही एक परिग्रह जो ठहरा... ! दिगम्बर मुनि भोजन करते हैं और कमण्डल तथा मोर-पंख अपने पास रखते हैं... । दांत किटकिटानेवाली सर्दी में घास-फूस की शय्या पर गहरी नींद सोते हैं... ! इसे शरीर पर की मूर्च्छा नहीं तो और क्या कहेंगे ? असंयमी संसारी जीवों को औषधि बताने की क्रिया अपरिग्रहता का लक्षण है ?

हे मुनिराज ! यदि तुम शास्त्र-मर्यादा में रहकर चौदह प्रकार के धर्मोपकरण धारण करते हो, उनका नित्य-प्रति उपयोग करते हो, उनसे तुम्हारा ज्ञान-दीप अखंड और स्थिर रहता है, तो नि:सन्देह तुम परिग्रही नहीं हो । नग्न रहने से सर्वथा अपरिग्रही नहीं बना जाता अथवा वस्त्र धारण करने से परिग्रही ! राह में भटकते कुत्ते और सूअर नग्न ही होते हैं न ? क्या उन्हें हम अपरिग्रही मुनि की संज्ञा देंगे ? ठीक वैसे ही विजयादशमी के दिन घोडे को सजाया जाता है, सोने और चांदी के कीमती गहने पहनाये जाते हैं, तो क्या उस घोडे को हम परिग्रही कहेंगे ? कुत्ता कोई मूर्च्छारहित नहीं है, ना ही घोडे को अपनी सजावट पर मूर्च्छा है !

यह लक्ष्य होना चाहिए कि कहीं ज्ञान-दीपक बुझ न जाए । ज्ञान-दीपक को निरन्तर प्रज्वलित-ज्योतिर्मय बनाये रखने के लिये तुम जो शास्त्रीय उत्सर्ग-

अपवाद का मार्ग अपनाते हो, उसमें तुम शत-प्रतिशत निर्दोष हो, लेकिन तनिक भी आत्म-प्रवंचना न हो, इस बात की सावधानी बरतना। ऐसा न हो कि एक तरफ शास्त्र-अध्ययन करने हेतु वस्त्र-पात्रादि ग्रहण करते हो और दूसरी तरफ वस्त्र-पात्रादि ग्रहण व धारण करने में मूर्च्छा-आसक्ति गाढ़ बनती जाय। जैसे-जैसे ज्ञानोपासना बढ़ती जाए, वैसे-वैसे पर-पदार्थ विषयक ममत्व क्षीण होता जाए, तो समझना चाहिए कि ज्ञानदीपक ने तुम्हारे जीवन-मार्ग को वास्तव में ज्योतिर्मय कर दिया है।

सिर्फ ज्ञानोपासना ! अन्य कोई प्रवृत्ति नहीं ! मन को भटकने के लिये अन्य कोई स्थान नहीं... । बस, एक ज्ञानोपासना में ही तल्लीनता ! फिर भले ही काया पर-पदार्थों को ग्रहण करे और धारण करे। आत्मा पर इसका क्या असर ?

मूर्च्छाछन्नधियां सर्वं, जगदेव परिग्रहः ।
मूर्च्छया रहितानां तु जगदेवापरिग्रहः ॥२५॥८॥

अर्थ : जिसकी बुद्धि मूर्च्छा से आच्छादित है, उसके लिये समस्त जगत परिग्रह स्वरुप है, जबकि मूर्च्छा-विहीन के लिये यह जगत अपरिग्रह स्वरुप है।

विवेचन : परिग्रह अपरिग्रह की न जाने कैसी मार्मिक व्याख्या की है। कितनी स्पष्ट और निश्चित ! धरातल एर ऐसी कौन सी वस्तु है, जिसे हम परिग्रह अथवा अपरिग्रह की संज्ञा दे सकते हैं ? मूर्च्छा यह परिग्रह और अमूर्च्छा अपरिग्रह। संयम-साधना में सहायक पदार्थ अपरिग्रह और बाधक पदार्थ परिग्रहा। पर-पदार्थों का त्याग किया। धन-सम्पत्ति, बंगले-मोटर बगैरह को सदा के लिये तज कर संयम-जीवन अंगीकार किया, श्रमण बने। अरे, शरीर पर वस्त्र नहीं और भोजन के लिये पात्र... और तुमने समझ लिया कि 'मैं अपरिग्रही बन गया।' ठीक है, क्षणार्ध के लिये तुम्हारी बात स्वीकार कर, पूछना चाहता हूँ—"जिन पर-पदार्थों का तुमने त्याग किया, उनके लिये तुम्हारे हृदय में राग-द्वेष की भावना पैदा होती है या नहीं ? अरे, शरीर तो पर पदार्थ जो ठहरा ! जब वह रोगग्रस्त / बीमार होता है, तब उसके प्रति क्या ममत्व जागृत नहीं होता ? शरीर को तज तो नहीं दिया ? पर-भाव का त्याग तो नहीं किया ? तनिक गंभीरता से सोचो, विचार करो कि वाकइ तुम अपरिग्रही बन गये ? भूलकर भी कभी स्थूल दृष्टि

से विचार न करना, बल्कि सूक्ष्म दृष्टि से चिन्तन करना... ! तभी परिग्रह-अपरिग्रह की व्याख्या साफ-साफ समझ में आएगी ।

मुनिराज ! ओ निर्मोही... निर्लेप मुनिराज ! परिग्रह को स्पर्श करनेवाली वायु भी तुम्हें छू नहीं सकती... परिग्रह की पर्वतमालाओं का बोझ ढोते श्रीमन्त / धनवान तुम्हारी प्रदक्षिणा कर छूमंतर होने में सदा तत्पर होते हैं... तुम्हारे मन में परिग्रह का आग्रह नहीं, ना ही भौतिक... सांसारिक पदार्थों की रंच मात्र स्पृहा ! तुमने जिस परिग्रह का मन-वचन-काया से त्याग किया है, उसका मूल्यांकन भी तुम्हारे मन पर प्रतिबिंबित नहीं । शरीर को ढँकनेवाले वस्त्र, भिक्षार्थ पात्र और स्वाध्याय हेतु संग्रहित पुस्तकों पर, 'ये मेरे हैं,' ऐसा ममत्व भी नहीं । अन्तरंग दृष्टि से तुम संयम के उपकरणों से भी निर्लेप हो ।

हाँ, राह भटकते, दीन-हीन बन भीख माँगकर जीवन बसर करते... विविध व्यसनों से घिरे भिखारियों को कभी देखा है ? जिन के पास 'परिग्रह' कहा जाए, ऐसा कुछ भी नहीं होता और यदि है तो भी जीर्ण-शीर्ण गुदडी और दुर्गंधित चोला । हाथ में एक-दो पैसे ! क्या इसे तुम 'परिग्रह' कह सकोगे और उसे परिग्रही ? या फिर अपरिग्रही महात्मा कहोगे या पहुँचे हुए साधु-संत ? नहीं, हर्गिज नहीं ।

क्यों ?

क्योंकि उन्हें तो '**जगदेव परिग्रह**' है । उनकी आकांक्षाओं का क्षेत्र होता है, निखिल विश्व । सारी दुनिया ही उनका परिग्रह है । चराचर सृष्टि में विद्यमान समस्त सम्पत्ति के प्रति उनमें गहरा ममत्व भरा पड़ा होता है ।

तुम्हारे पास क्या है और क्या नहीं, उस पर परिग्रह अपरिग्रह का निर्णय न करो । तुम क्या चाहते हो और क्या नहीं-उस पर परिग्रह अपरिग्रह का निर्णय न करो । हाँ, तुम अपनी तपश्चर्या, दान और चारित्र-पालन से क्या चाहते हो ? यदि तुम स्वर्गलोक का इन्द्रासन या फिर मृत्युलोक का चक्रवर्ती-पद चाहते हो, देवांगनाओं के साथ आमोद-प्रमोद अथवा मृत्युलोक की वारांगनाओं का स्नेहालिंगन चाहते हो तब तुम अपरिग्रही कैसे ?

सहस्त्रावधि लावण्यमयी नारी-समुदाय के मध्य आसनस्थ, वैभव के शिखर पर आरूढ, मणि-मुक्ता जिड़चित सिंहासन... रत्न जडित स्तंभो से युक्त भव्य महल, बहुमूल्य वस्त्राभूषण... आदि से घिरा हुआ होने के उपरान्त भी जिसका अन्तःकरण **'नाहं पुद्गलभावानांकर्ता कारयिताऽपि च'** इस भाव से आकण्ठ भरा हुआ है, जो त्याग और तपश्चर्या के लिये अधिर, आकुल-व्याकुल हैं और चार गति के सुखों से सर्वथा निर्लेप हैं, जिसकी दृष्टि में कंचन, कथीर समान है, सोना-चांदी-मिट्टी समान है और जिसे शिव, अचल, अरुज, अनंत, अक्षय, अव्याबाध मोक्ष के बिना ग्रन्थ किसी चीज की लालसा नहीं-क्या उसे भी तुम परिग्रही कहोगे ? जिसे किसी प्रकार की मूर्च्छा / आसक्ति नहीं, वह परिग्रही नहीं है। ठीक वैसे ही जो अनंत तृष्णा से आकुल-व्याकुल है, वह अपरिग्रही नहीं। अतः बुद्धि पर जमी मूर्च्छा की परतों को उखाडकर 'आपरेशन' करवाकर बुद्धि को मूर्च्छा-मुक्त करोगे, तभी पूर्णता का पंथ प्रशस्त होगा। तुम्हारा अन्तःकरण पूर्णानन्द से छलक उठेगा।

● ● ●

२६. अनुभव

यह कोई दुनिया के खट्टे-मीठे अनुभवों की चर्चा-वार्ता नहीं है, ना ही यह राजनैतिक-सामाजिक अनुभवों का अभिनव अध्याय है। यहाँ तो प्रस्तुत है आत्मा के अगम-अगोचर अनुभव की बात ! आज तक जो अनुभव हमें मिला नहीं है, उसे साकार रूप देने के लिए आवश्यक मार्ग दर्शन है और है प्रेरणा-प्रोत्साहन। जीवन में एकाध बार भी यदि आत्मा के परमानन्द का अनुभव हो जाए तो काफी है। अरे, मोक्ष-सुख का सेम्पल भी अभागिये के मार्ग में कहाँ से !

सन्ध्येव दिनरात्रिभ्यां केवलश्रुतयोः पृथक् ।
बुधैरनुभवो दृष्टः केवलार्कारुणोदयः ॥२६॥१॥

अर्थ : जिस तरह दिन और रात्रि से संध्या अलग है, ठीक उसी तरह ज्ञानी पुरुषों को केवलज्ञान और श्रुतज्ञान से भिन्न केवलज्ञानस्वरुप सूर्य के अरूणोदय समान अनुभव की प्रतीति हुई है।

विवेचन : यहाँ उस अनुभव की बात नहीं है, जिसे आमतौर से मनुष्य कहता है : "मेरा यह अनुभव है ! मैं अनुभव की बात कहता हूँ !" कहनेवाला मनुष्य सामान्यतः अपने जीवन में घटित घटना को 'अनुभव' की संज्ञा प्रदान कर कहता है। लेकिन ग्रन्थकार ने आम मनुष्य नहीं समझ सके वैसे 'अनुभव' की बात कही है !

एक समय की बात है। कोई एक सद्गृहस्थ मेरे पास आए। सात्त्विक प्रकृति और धार्मिक वृत्ति के थे। वंदन कर उन्होंने विनीत भाव से कहा :

"गुरूदेव, ध्यानस्थ अवस्था में मुझे अद्‌भुत अनुभव होते हैं !"

"किस तरह के अनुभवल ?"

"कभी-कभी मुझे अपने चारों ओर लाल-लाल रंग फैले नजर आते हैं। कभी भगवान श्री पार्श्वनाथ की मनोहारी मूर्ति के दर्शन होते हैं, तो कभी-कभार मैं किसी अज्ञात अपरिचित प्रदेश में अपने आपको भ्रमण करता महसूस करता हूँ... !" इस तरह उन्होंने ध्यान में स्फुरित विविध विचार... आदि आत्मानुभव कह सुनाये ! लेकिन ग्रन्थकार को ऐसे अनुभव भी यहाँ अभिप्रेत नहीं हैं। ग्रन्थकार तो 'अनुभव-ज्ञान' स्पष्ट करना चाहते हैं ! उसे समझाने के लिए और स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं :

संध्या तुमने देखी है ? क्या उसे दिन कहोगे ? या फिर उसे रात्री कहोगे ? नहीं ! यह सर्वविदित है कि संध्या, दिन-रात से एकदम भिन्न है। ठीक उसी तरह अनुभव भी श्रुतज्ञान नहीं है, ना ही केवलज्ञान ! वह इन दोनों से बिल्कुल भिन्न है ! हाँ, वह केवलज्ञान के सन्निकट अवश्य है ! सूर्योदय के पूर्व अरुणोदय होता है न ? बस, हम अनुभव को, सिर्फ केवलज्ञान रुपी सूर्योदय के पूर्व का अरूणोदय कह सकते हैं ! अर्थात् वहाँ मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न चमत्कार नहीं होता ! बुद्धि-मति की कल्पनासृष्टि नहीं होती और शास्त्रज्ञान के अध्ययन... चिंतन... मनन से पैदा हुए रहस्यों का अवबोध नहीं होता। 'मेरी बुद्धि में यह आता है अथवा अमुक शास्त्र में यों कहा गया है,' या 'मुझे तो अमुक शास्त्र का यह रहस्य समझ में आता है,' आदि सारी बातें 'अनुभव' से बिलकुल परे हैं। जबकि वास्तविकता यह है कि अनुभव तर्क से कई गुना उच्च स्तर पर है। अनुभव शास्त्रों के ज्ञान तले दबा हुआ नहीं है और ना ही बुद्धि अथवा शास्त्र से समझ में आये ऐसा है।

सावधान, किसीको अनुभव की बात तार्किक ढंग से समझाने का प्रयत्न न करना। हमेशा समझने और समझाने के लिए बुद्धि-मति, ज्ञान और तर्क... की आवश्यकता रहती है, जबकि 'अनुभव' दूसरों को समझाने की बात नहीं है।

'यथार्थवस्तुस्वरुपोपलब्धिपरभावारमणतदास्वादनैकत्वमनुभवः ।'

भगवान्, हरिभद्रसूरीश्वरजी ने अनुभव के वास्तविक स्वरूप की व्याख्या करते हुए कहा है :

(१) यथार्थ वस्तु स्वरुप का ज्ञान,

(२) पर-भाव में अरमणता,

(३) स्वरुपरमण में तन्मयता ।

सारे जगत के पदार्थ जिस स्वरुप में हैं, उसी स्वरूप में ज्ञान होता है... ज्ञान में राग-द्वेष का मिश्रण नहीं होता ! आत्मा से भिन्न, अन्य पदार्थों में रमणता नहीं होती ! योगी को तो आत्म-स्वरूप की ही रमणता होती है । उसका देह इस दुनिया की स्थूल भूमिका पर होता है और उसकी आत्मा दुनिया से परे सूक्ष्मातिसूक्ष्म भूमिका पर आरुढ होती है ।

अनुभवी आत्मा की स्थिति का गम्भीर शब्दों में किया गया यह संक्षिप्त लेकिन वास्तविक वर्णन है । हम स्वरुप में रमणता इसलिए नहीं कर सकते क्योंकि परभाव की रमणता में सिर से पाँव तक सराबोर हो गये हैं और परभाव की रमणता यथार्थ वस्तु-स्वरूप के अज्ञान को आभारी है । जिस गति से वस्तुस्वरुप--विषयक अज्ञान दूर होता जाएगा, उस गति से आत्म-रमणता आती रहेगी और परभाव में भटकने की क्रिया क्रमाशः कम होती जाएगी । फलतः 'अनुभव' तरफ की उर्ध्वगामी गति शुरु होगी । शाश्वत... परम ज्योति में विलीन होने की गहरी तत्परता प्रकट होगी और तब जीवन-विषयक जड़ता का उच्छेदन कर अनुभव के आनन्द को वरण करने का अप्रतिम साहस प्रकट होगा । ऐसी स्थिति में अज्ञान के निबिड़ अन्धकार तले दबी चेतना, ज्ञानज्योति की किरणों का प्रसाद प्राप्त कर परम तृप्ति का अनुभव करेगी ।

व्यापारः सर्वशास्त्राणां दिक्प्रदर्शनमेव हि ।
पारं तु प्रापयत्येकोऽनुभवो भववारिधेः ॥२६॥२॥

अर्थ : वस्तुतः सर्व शास्त्रों का उद्यम दिशा-दर्शन कराने का ही है। लेकिन सिर्फ एक अनुभव ही संसारसमुद्र से पार लगाता है ।

विवेचन : न जाने कैसा कर्कश कोलाहल मचा है ?

शास्त्रार्थ और शब्दार्थ के एकांतिक आग्रह ने हलाहल से भी भयंकर विष उगल दिया है... और इसके फूत्कार साक्षात् फणिधर के फूत्कारों को भी लज्जित कर रहें हैं... । कोई कहता हैं : "हम ४५ आगम मानते हैं !' कोई कहता है : "हम ३२ आगम ही मानते हैं !" जबकि कुछ का कहना है : "हम आगम ही नहीं मानते !"

कैसा घोर कोलाहल ? और किसलिये ? क्या उनके द्वारा मान्य शास्त्र उन्हें भव-पार लगानेवाले हैं ? क्या शास्त्र उन्हें निर्वाण-पद के अधिकारी बनानेवाले हैं ? यदि शास्त्रों के बल पर ही भव-सागर पार उतरना सम्भव होता तो आज तक हम यों भटकते नहीं ! क्या भूतकाल में कभी हम शास्त्रों के ज्ञाता, निर्माता और पण्डित नहीं बने होंगे ? अरे, नौ 'पूर्व' का ज्ञान प्राप्त किया था, फिर भी उक्त पूर्वों का ज्ञान, 'शास्त्रज्ञान' हमें भवपार नहीं उतार सका ! भला, क्यों ? इस पर कभी गहरायी से सोचा है ? चिंतन-मनन किया कभी कारण जानने का ? तब शास्त्र को लेकर शोरगुल मचा, अशान्ति क्यों फैला रहे हो ? शास्त्र का भार उठाकर भव-सागर में डूबने की चेष्टा क्यों कर रहे हो ? शास्त्र तुम्हें अनंत, अव्याबाध सुख कभी नहीं देगा ।

मेरे इस कथन को शास्त्र के प्रति अरूचि अथवा उसकी पवित्रता का अपमान न समझो... बल्कि उसकी मर्यादा का भान कराने के लिए मैं यह सब कह रहा हूँ ! शास्त्र पर ही दार-मदार बांधे बैठे तुम्हें, अपनी जडता को तिलाञ्जलि देने के लिए ही सिर्फ कह रहा हूँ ।

शास्त्र ? इस का कार्य है मार्गदर्शन देना, दिशा-दर्शन कराना । यह तुम्हें सही और गलत दिशा का अहसास कराएगा ! इससे अधिक वह कुछ नहीं करेगा ।

शास्त्रों के उपदेश हमारी आत्मभूमि पर हकार भरते भले ही घावा बोल दें लेकिन विषय-कषाय का तोपखाना क्षणार्ध में ही आग उगलते हुए उनको धराशायी कर देता है । उनका नामोनिशान शेष नहीं रखता ! निगोद में मूर्च्छित पडे किसी चौदह पूर्वधर को पूछकर देखो कि उनका सर्वोत्कृष्ट शास्त्रज्ञान उन्हें क्यों नहीं बचा सका ? विषय-कषाय के मिथ्याभिमान से छूटा तीर जब सीना भेद कर आर-पार हो जाता है तब शास्त्र का कवच तुच्छ सिद्ध होता है । अतः

यूं कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी की अब तक कुकर्मो के साथ सम्पन्न युद्ध में केवल शास्त्र को ही एक मात्र आधार मान और उस पर विश्वास रख बैठे रहने से आजीवन पश्चात्ताप के आँसू बहाने की नौबत आयी है। तभी शास्त्रकार प्रस्तुत में स्पष्ट शब्दों में कहते हैं :

"शास्त्र तो तुम्हें सिर्फ दिशाज्ञान ही देंगे !"

फिर तुम्हें भवसागर से पार कौन लगाएगा ?

निश्चिंत रहिए। 'अनुभव' तुम्हें भव-पार लगाएगा !

हाँ, 'अनुभव' तक पहुँचने का मार्ग शास्त्र बतायेंगे। यदि भूलकर कभी मन:कल्पित मार्ग पर निकल पडे तो 'अनुभव' नामक मंजिल तक पहुँच नहीं पाओगे ? ठीक वैसे ही किसी मानसिक 'भ्रम' को 'अनुभव' समझ अपने आपको कृतकृत्य समझोगे तो आत्मोन्नति से वंचित रह जाओगे। अत: हमेशा शास्त्र से ही दिशाज्ञान प्राप्त करना ! फलत: जैसे-जैसे तुम 'अनुभव' के उत्तुंग शिखर पर आरोहण करते जाओगे वैसे-वैसे तुम्हारी पर-परिणति निवृत्त होती जाएगी और पर-पुद्गलों का आकर्षण नामशेष होता जाएगा। आत्म-रमणता की सुवास सर्वत्र फैल जाएगी। आत्म-परिणति की मीठी सौरभ वातावरण को सुरभित कर देगी। तभी यथार्थ वस्तु-स्वरुप के अवबोधपरक 'अनुभव'-शिखर तुम सर कर लोगे।

लेकिन 'अनुभव' शिखर के आरोहण का प्रशिक्षण लिये बिना ही यदि भावना से प्रेरित होकर प्रयत्न किये तो नि:संदेह अगमनिगम की किसी पहाडी की गहरी खाई में पटक दिये जाओगे और तब लाख खोजने के बावजूद भी तुम्हारा अता-पता नहीं मिलेगा ! अत: प्रशिक्षित होना अनिवार्य है। अध्ययन करना आवश्यक है। बाद में 'अनुभव' शिखर पर आरोहण करो। सफलता तुम्हारा पाँव छुएगी।

बोलो, इच्छा हैं ?

अरे भाई, केवल तुम्हारी इच्छा से ही नहीं चलेगा। इसके लिए आवश्यकता है दृढ़ संकल्प की, **निर्धार-शक्ति** की। साधना के मार्ग पर कठोर निर्णय के बिना नहीं चलता। विघ्नों को पाँव तले रौंदने हेतु दाँत पीस निरंतर आगे बढो... ! आभ्यंतर विघ्नों की श्रृंखलाओं को तोड दो... ! उसकी कमर ही

तोड दो कि दुबारा अपनी टाँग अडाकर निर्धारित कार्यक्रम में विघ्न नहीं करें। इतनी निर्भयता, दृढता और खुमारी के बिना अनुभव का शिखर सर करने की कल्पना करना निरी मूर्खता है ।

अतीन्द्रियं परं ब्रह्म विशुद्धानुभवं विना !
शास्त्रयुक्तिशतेनापि न गम्यं यद् बुधा जगुः ॥२६॥३॥

अर्थ : पण्डितों का कहना है कि इन्द्रियों से अगोचर परमात्म-स्वरुप विशुद्ध अनुभव के बिना समझना असम्भव है, फिर भले ही उसे समझने के लिए तुम शास्त्र की सैंकडों युक्तियों का प्रयोग करो ।

विवेचन : शुद्ध ब्रह्म !

विशुद्ध आत्मा !

इन्द्रियों की इतनी शक्ति नहीं कि वे शुद्ध ब्रह्म को समझ सकें । किसी प्रकार के आवरण-रहित विशुद्ध आत्मा का अनुभव करने की क्षमता बेचारी इन्द्रियों में कहाँ सम्भव है ? अर्थात् कान शुद्ध ब्रह्म की ध्वनि सुन न सके, आँखें उसके दिव्य रुप को देख न सकें, नाक उसकी मधुर सुरभि सूंघ न सकें, जिह्वा उसका स्वाद न ले सकें और चमडी उसका स्पर्श न कर सके !

शास्त्रों की युक्ति-प्रयुक्तियाँ और तर्क भले ही आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करें, बौद्धिक कुशाग्रता भले ही नास्तिक-हृदय में आत्मा की सिद्धि प्रस्थापित कर दें, लेकिन यह निर्विवाद सत्य है कि आत्मा को जानना यह शास्त्र के बस की बात नहीं है । जानते हो, शास्त्र और बुद्धि का आधार लेकर राजा प्रदेशी की सेवा में उपस्थित महानुभाव कैसे निस्तेज, निष्प्राण बन गये थे ? लाख प्रयत्न के बावजूद भी वे शास्त्र और बुद्धि के बल पर राजा प्रदेशी को आत्मा की वास्तविक पहचान नहीं करा सके और फलस्वरुप इन्द्रियों के माध्यम से आत्मा को पहचान ने के हठाग्रही राजा प्रदेशी ने कुपित हो, न जाने कैसा जुल्म गुजारा था ? लेकिन जब केशी गणधर से उसकी भेंट हुई, इन्द्रियों को अगोचर, इन्द्रियों से अगम्य आत्मा का दर्शन कराया कि राजा प्रदेशी, राजर्षि प्रदेशी में परिवर्तित हो गया ।

आत्मा को समझा विशुद्ध अनुभव से। आत्मा का अनुभव किया इन्द्रियों के उत्माद से मुक्त हो कर। आत्मा को पा लिया शास्त्र और तर्क से ऊपर उठकर!

जिस ने आत्मा को जानने-समझने और पाने का मन ही मन दृढ़ संकल्प किया है उसे इन्द्रियों के कर्णभेदी कोलाहल को शान्त-प्रशान्त करना चाहिए। किया भी, इन्द्रिय को हस्तक्षेप नहीं करने देना चाहिए! शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श की दुनिया से मन को दूर-सुदूर अनजाने प्रदेश में ले जाना चाहिए। तभी विशुद्ध अनुभव की भूमिका का सर्जन होता है।

साथ ही, आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसीको जानने समझने की कामना नहीं होनी चाहिए। आत्मा के अलावा दूसरे को पहचान ने जिज्ञासा नहीं होनी चाहिए, आत्म-प्राप्ति के सिवाय अन्य कोई प्राप्ति की तमन्ना नहीं चाहिए जब तक आत्मानुभव का पावन क्षण प्रकट होना दुर्लभ है।

आत्मानुभव करने हेतु इस प्रकार का जीवन-परिवर्तन किये बिना अन्य कोई मार्ग नहीं। इसके लिए गिरिकन्दरा अथवा आश्रम-मठों में भटकने की आवश्यकता नहीं है। बल्कि आवश्यकता है अन्तरंग साधना की, शास्त्रार्थ और वितंडावाद-वादविवाद से उपर उठने की और शंका-कुशंका तथा तर्क-कुतर्क के भँवर से बहार निकलने की।

साथ ही, आत्मानुभव करने के लिए आत्मानुभवियों के सतत संपर्क और संसर्ग में रहने की जरूरत है। आसपास की दुनिया ही बदल जानी चाहिए। सारी आशा-आकांक्षाएँ, कामनाएँ और अभिलाषाओं को जमीन में गाड देना चाहिए! इस तरह किया गया आत्मानुभव नि:संदेह भवसागर से पार लगाता है।

हाँ, आत्मानुभव का ढोंग करने से बात नहीं बनेगी! प्रतिदिन विषय-कषाय और प्रमाद में लिप्त मानव, एक-आध घंटे के लिए एकांत स्थान में बैठ, विचारशून्य बन और 'सोऽहं' का जाप जप, यह मान लें कि उसे आत्मानुभव हो गया है, तो वह निरी आत्म-वंचना है। जबकि आत्मानुभवी का समग्र जीवन ही परिवर्तित हो जाता है, उसमें आमूलाग्र परिवर्तन आ जाता है। उसके लिए विषय, विष का प्याला और कषाय फणिधर की प्रतिकृति प्रतीत होते हैं। प्रमाद उससे कोंसों दूर भागेगा। आहार-विहार में वह सामान्य मनुष्य से बहुत उंचा उठा

होता है । साथ ही, आत्मा की अनुभूति का उसे ऐसा तो असीम आनन्द होगा, जिस की तुलना में दूसरे आनन्द तुच्छ लगेंगे । परमात्म स्वरुप की प्राप्ति के लिये आत्मानुभव के बिना अन्य सब प्रयत्न व्यर्थ हैं ।

ज्ञायेरन् हेतुवादेन पदार्था यद्यतीन्द्रियाः ।
कालेनैतावता प्राज्ञैः कृतः स्यात् तेषु निश्चयः ॥२६॥४॥

अर्थ : यदि युक्ति से इन्द्रियों को अगोचर पदार्थों का रहस्य ज्ञान हो सकता तो पण्डितों ने इतने समय में अतीन्द्रिय पदार्थों के सम्बन्ध में निर्णय कर लिया होता ।

विवेचन : विश्व में दो प्रकार के तत्त्व विद्यमान हैं :

— इन्द्रियों से अगोचर - इन्द्रियातीत और

— इन्द्रिय गोचर, - इन्द्रिय गम्य ।

जिस तरह समस्त विश्व इन्द्रियातीत नहीं है, ठीक उसी तरह सकल विश्व इन्द्रियों द्वारा जाना नहीं जा सकता ! विश्व सम्बंधित ऐसी कई बातें हैं, जिनका साक्षात्कार हमारी अथवा अन्य किसी की भी इन्द्रियों के द्वारा नही हो सकता। ऐसे ही तत्त्व और पदार्थों को 'अतींद्रिय' कहा गया है ।

ऐसे अतींद्रिय पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का निर्णय मानव किस तरह कर सकता है ? भले ही वह विद्वान् हो या अत्यन्त बुद्धिमान ! विद्वत्ता अथवा बुद्धि, अतीन्द्रिय पदार्थों का दर्शन नहीं करा सकती । तब क्या यह माना जाएँ कि आजपर्यंत इस धरती पर विद्वानों और बुद्धिशालियों का जन्म ही नहीं हुआ ? क्या वे एकाध अतीन्द्रिय पदार्थ का निर्णय सर्व-सम्मति से नहीं कर सके ?

आज के युग में किसी भी बात अथवा घटना को तर्क या बुद्धि के माध्यम से समझने का आग्रह बढ़ता जा रहा है । बुद्धि और तर्क से समझा जाए और इन्द्रियों से जिस का अनुभव किया जा सकें उसे ही स्वीकार करने की वृत्ति प्रबल होती जा रही है । ऐसे समय पूज्य उपाध्यायजी महाराज का यह कथन प्रकाशित करना आवश्यक है !

बुद्धि से समझ में न आ सकें ऐसा कोई तत्त्व क्या इस अनंत विश्व में है ही नहीं ? क्या इस धरती पर ऐसी कोई समस्या विद्यमान नहीं, जो बुद्धि से सुलझ न सकी हो ? कोई प्रश्न नहीं है ? जबकि सच्चाई यह है कि आधुनिक युग के वैज्ञानिकों के समक्ष ऐसी कई समस्याएँ हैं, जिसका हल / निराकरण वे बुद्धि अथवा तर्क के बल पर करने में असमर्थ हैं !

सम्भवत: तुम यह कहोगे : "जैसे बुद्धि का विकास होता जाएगा, समस्याओं का निराकरण भी होता रहेगा ।"

बुद्धि अपने आप में कभी परिपूर्ण नहीं होती । वह अपूर्ण ही होती है। अत: पूर्ण चैतन्य के साक्षात्कार के बिना अथवा उस पर श्रद्धा प्रस्थापित किये बिना, किसी समस्या का हल असम्भव है ।

आकाश से उस पार के संशोधन-अन्वेषण में रत विज्ञान, पृथ्वी पर रहे मानव-प्राणी की समस्याएँ हल करने में असमर्थ सिद्ध हुआ है । वह अनाज, आवास और रोटी-रोजी का प्रश्न हल नहीं कर सका है और मानसिक अशान्ति दूर नहीं कर सका है । फिर भी विज्ञान की परिपूर्णता का गीत गाता अर्धदग्ध मानव उसकी सर्वोपरिता पर अन्धश्रद्धा रख, मुस्ताक है । बुद्धि का दुराग्रह जब मनुष्य को अतीन्द्रिय पदार्थों के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करने देता तब उसके साक्षात्कार की बात ही कहाँ रही ?

आत्मा-परमात्मा इन्द्रियातीत तत्त्व हैं ! हालाँकि तर्क एवं बुद्धि से उसका अस्तित्व सिद्ध है, फिर भी वह इन्द्रियों से प्रत्यक्ष में अनुभव न किया जाए ऐसा तत्त्व है । इस का अनुभव करने के लिए इन्द्रियातीत शक्ति और सामर्थ्य होना आवश्यक है । उन तत्त्वों का साक्षात्कार नि:संदेह पर शान्ति प्रदान करनेवाला एकमेव उपाय है । वह मानव की समस्त समस्याओं का रामबाण समाधान / निराकरण है, जो अन्य किसी साधन-सामग्री से अशक्य है । इसका साक्षात्कार होते ही मानव अपने आपको 'दु:खी, पीडीत और अशान्त' नहीं समझता । कष्ट, अशान्ति और पीडा उसे स्पर्श तक नहीं कर सकती ।

अत: अतींद्रिय पदार्थों का निर्णय करने हेतु बुद्धि के जाल में फंस मानव-जीवन की अमूल्य पलों को व्यर्थ गँवाने के बजाय अनुभव के राजमार्ग

पर प्रयाण कर और आत्मानुभूति कर दु:ख अशान्ति के गहराये बादलों को छिन्न-भिन्न करना यही श्रेष्ठ सार है और परमार्थ है। 'अतीन्द्रिय पदार्थों का निर्णय करने में आज तक दिग्गज पण्डित और बुद्धिमान सफल नहीं हुए हैं!' कहकर ग्रन्थकार ने हमें अपना मार्ग परिवर्तित करने की प्रेरणा दी है। साथ ही सुयोग्य मार्गदर्शन किया है और हमें आत्मानुभव के प्रशस्त-मार्ग पर निरंतर गतिशील होने के लिये प्रोत्साहित किया है। शास्त्र और विद्वान् तो मात्र दीप-स्तम्भ हैं! अत: सिर्फ उनसे जुड़े रहने से कार्य सिद्ध नहीं होता। साथ उनके मार्गदर्शन में हमें अपना मार्ग खोजना है।

केषां न कल्पनादर्वी शास्त्रक्षीरान्नगाहिनी !
विरलास्तद्रसास्वादविदोऽनुभवजिह्वया ॥२६॥५॥

अर्थ : किस की कल्पना रुपी कलछी शास्त्र रुपी खीर में प्रवेश नहीं कर सकती ? लेकिन अनुभव रुपी जीभ से शास्त्रास्वाद को जाननेवाले विरले ही होते हैं।

विवेचन : मान लो कि गृह-कार्य में सदैव खोयी भारतीय नारी को अनुभव-ज्ञान का विज्ञान न समझाते हो, इस तरह पूज्य उपाध्यायजी महाराज रसोईघर के उपकरणों को माध्यम बनाकर समझाने बैठ जाते हैं!

चुल्हे पर उफनती खीर को देखो! उसमें कलछी डाल कर तुम खीर को अच्छी तरह से हिला सकते हो। उसे जलने नहीं देते... लेकिन कलछी से खीर हिलाने मात्र से तुम उसका स्वाद ले सकते हो ? नहीं, यह असम्भव है।

खीर का स्वाद लेने के लिए तो उसे जीभ पर रखना पड़ता है! फलत: जीभ और खीर का संयोग होता है और बडे चाव से चटकारे लेते हैं, तब उसकी रसानुभूति होती है!

— शास्त्र खीर का भोजन है,
— कल्पना (तार्किकता) कलछी है,
— और अनुभव जीभ है!

उपाध्यायजी महाराज फरमाते हैं : "तार्किक बुद्धि से शास्त्रों को उलटते-पुलटते रहोगे, उससे कोई शास्त्रज्ञान का रसास्वाद अनुभव नहीं कर सकोगे। इतना ही नहीं, बल्कि शास्त्रों को तार्किकता के पडले में तौलने में ही जीवन पूर्ण हो गया तो अंतिम समय खेद होगा कि "सचमुच मैं दुर्भागी-अभागा हूँ कि कडी महेनत कर खीर पकायी, लेकिन उसका स्वाद लूटने का मौका ही न मिला !"

खीर इसलिये पकायी जाती है कि उसका यथेष्ट उपभोग ले सकें। जी भरकर रसास्वादन कर सकें। कलछी तो केवल साधन है खीर पकाने का। एक साधन के रुप में वह अवश्य महत्त्वपूर्ण है ! उक्त साधन से जब खीर तैयार हो जाएँ, हमारा पूरा लक्ष्य खीर की ओर हो, ना कि कलछी की और।

यहाँ तार्किकता की मर्यादा स्पष्ट कर दी गयी है। शास्त्रों का अर्थ निर्णय हो गया कि भोजन तैयार हो गया ! तत्पश्चात् कलछी को एक ओर रख देना चाहिए। तार्किकता के लिए कोई स्थान नहीं ! फिर तो अर्थ निर्णय का रसास्वादन करने हेतु उसे अनुभव-जीभ पर रख दो और चटकारें लेते हुए उसका यथेष्ट रसास्वादन करो।

ग्रन्थकार ने यहाँ शास्त्रज्ञान एवं 'अनुभव' का पारस्परिक संबन्ध बताया है। खीर के बिना मनुष्य उसके रसास्वादन की मौज नहीं लूट सकता। जीभ कितनी भी अच्छी हो, लेकिन यदि खीर ही न हो तो ? ठीक उसी तरह शास्त्रज्ञान के अभाव में अनुभव की जीभ भला क्या कर सकती है ? अतः शास्त्रज्ञान की खीर पकाना नितांत आवश्यक है। उसकी उपेक्षा करने से काम नहीं चलेगा।

खीर की तरह कलछी का भी अपना महत्त्व है। खीर की हंडिया को चुल्हे पर रख देने से ही खीर तैयार नहीं होती। बल्कि वह जल जाती है और बेस्वाद भी हो जाती है। अतः उसे कलछी से निरंतर हिलाते रहना चाहिए। ठीक उसी तरह, बिना तार्किकता से शास्त्र-ज्ञान की खीर पका नहीं सकते। जब तक शास्त्रार्थ के ज्ञान की खीर नहीं पकती तब तक तार्किकता की कलछी से उसे लगातार हिलाते रहना चाहिए और खीर के पकते ही, कलछी को एक ओर रख दो ! तब जीभ को तैयार रखो... रसास्वादन और रसानुभूति के लिए !

घरेलु भाषा के माध्यम से उपाध्यायजी ने 'अनुभव की कैसी स्पष्ट

परिभाषा हमारे सामने रख दी है !

उन्होंने बुद्धिशाली पण्डितों के लिए उनकी बुद्धि की मर्यादा स्पष्ट कर दी है और बुद्धि तथा तर्क की अवहेलना करनेवालों के लिए उसकी अनिवार्यता समझा दी है । ठीक वैसे ही सिर्फ अनुभव के गीत गानेवालों को शास्त्र और उसके रहस्य प्राप्त करने की बात गले उतार दी ! जबकि आजीवन शास्त्रों के बोझ को सर पर ढोकर, विद्वत्ता और कुशाग्र बुद्धि में ही कृतकृत्यता समझनेवालों को अनुभव की सही दिशा इंगित कर दी । इस तरह सबका सुन्दर और मोहक समन्वय साधकर, न जाने कैसा अप्रतिम अव्वल दर्जे का आत्मविज्ञान प्रगट किया है !

चलिए, हम भी जीवन के पाकगृह में चलकर चूल्हे पर शास्त्रज्ञान की खीर पकाये... तार्किक बुद्धि की कलछी से खीर पकाकर अनुभव जिह्वा द्वारा उसका रसास्वादन कर, जीवन को सार्थक और सुन्दर बनायें ।

पश्यतु ब्रह्म निर्द्वन्द्वं निर्द्वन्द्वानुभवं विना !
कथं लिपिमयी दृष्टिर्वाङ्मयी वा मनोमयी ॥२६॥६॥

अर्थ : क्लेशरहित शुद्ध अनुभव के बिना पुस्तक रुप, वाणी रुप, ग्रन्थ के ज्ञान रुप दृष्टि, राग-द्वेषादि से सर्वथा रहित विशुद्ध आत्म-स्वरुप को कैसे देख सकते हैं ?

विवेचन : चर्म-दृष्टि, शास्त्र-दृष्टि और अनुभव-दृष्टि !

जिस पदार्थ का दर्शन अनुभव-दृष्टि से ही सम्भव है, उस पदार्थ को चर्म-दृष्टि अथवा शास्त्र-दृष्टि से देखने का प्रयत्न करना शत-प्रतिशत व्यर्थ है । कर्म-कलंक से मुक्त विशुद्ध ब्रह्म का दर्शन चर्म-दृष्टि से सर्वथा असम्भव है और शास्त्र-दृष्टि से भी । उसके लिए आवश्यक है अनुभव-दृष्टि !

लिपिमयी दृष्टि, वाङ्मयी दृष्टि, मनोमयी दृष्टि ! इन तीनो दृष्टि का समावेश शास्त्र-दृष्टि में होता है । साथ ही, ये तीनों दृष्टि विशुद्ध आत्म-स्वरुप को देखने में सर्वदा असमर्थ हैं ।

'लिपि' संज्ञाक्षर रुप होती है। भले वह लिपि हिंदी हो, संस्कृत हो, गुजराती हो अथवा अंग्रेजी हो। केवल अक्षर-दृष्टि से परम ब्रह्म का दर्शन नहीं होता है। वाङ्मयी-दृष्टि व्यंजनाक्षर स्वरूप है-अर्थात् अक्षरों का उच्चारण करने मात्र से परम ब्रह्म का दर्शन नहीं होता है। जबकि मनोमयी दृष्टि अर्थ के परिज्ञान रूप है,—मतलब, कितना ही उच्च श्रेणी का अर्थज्ञान हमें प्राप्त हो जाए, लेकिन उसके माध्यम से क्लेशरहित विशुद्ध आत्म-स्वरुप का प्रत्यक्ष में दर्शन असम्भव ही है।

यदि कोई यह कहता है : "पुस्तक-गठन से और ग्रन्थाध्ययन करने से परम ब्रह्म के दर्शन होते हैं!" तो यह निरा भ्रम है। कोई कहता है कि 'श्लोक, शब्द अथवा अक्षरों का उच्चारण करने से आत्मा का दर्शन होता है', तो यह भी यथार्थ नहीं। कोई कहता हो कि 'शास्त्रों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अर्थ को समझने से आत्मा का साक्षात्कार होता है', तो यह भी सरासर मिथ्या है।

आत्मा का... कर्मों से मुक्त विशुद्ध आत्मा के दर्शन हेतु आवश्यक है केवलज्ञान की दृष्टि। अनुभव की दृष्टि। जब तक अपनी दृष्टि कर्मों के रोग से प्रभावित है तब तक कर्म-मुक्त आत्मा के दर्शन नहीं होंगे। लाल रंग की ऐनक लगाने से सिवाय लाल ही लाल रंग के और कुछ दिखायी नहीं देगा। वैसे ही कर्मों के प्रभाव तले रही दृष्टि से सब कर्म-युक्त ही दिखायी देगा, कर्म-रहित कुछ नहीं।

राग-युक्त और द्वेष-प्रचुर दृष्टि क्या वीतराग को देख सकेगी? वीतराग के शरीर को भले देख ले, लेकिन वीतराग की आत्मा को देख न पाएगी। अपनी वीतराग-आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए तो दृष्टि राग-द्वेषरहित ही होनी चाहिए।

कहने का तात्पर्य सिर्फ इतना ही है की अपनी दृष्टि को निर्मल, विमल करो। दृष्टि निर्मल करने का अर्थ है मानसिक विचारों को विमल, विशुद्ध करना। हर पल और हर घडी राग-द्वेष के द्वंद्व में उलझे विचार आत्मचिंतन नहीं कर सकते। जब तक वैचारिक प्रवाह राग-द्वेष की गिरि-कंदराओं से अबाध गति से प्रवाहित है तब तक कोलाहल होना स्वाभाविक है! आंतरिक राग-द्वेष से मुक्ति

पाने हेतु पाँच इन्द्रियों पर संयम, चार कषायों पर अंकुश, पाँच आस्रवों से विराम और तीन दण्ड से विरति-कुल सत्तरह प्रकार के संयम का पालन करना ही पडेगा। केवल बाह्य संयम नहीं, अपितु आंतरिक संयम ! अपनी मनःस्थिति का ऐसा सर्जन करें कि विचार विषय-कषाय, आस्रव और दण्ड की तरफ मुड़े ही नहीं।

विश्व में कदम-कदम पर उपस्थित समस्याएँ और घटनाएँ, जो अनुकूल-प्रतिकूल होती हैं, उसके प्रति हमारा मन-राग-द्वेष से भर न जाएँ, बल्कि तटस्थता धारण करें, तभी आत्म-स्वरुप की सन्निकटता सम्भव है। वर्ना निरंतर क्रोधादि कषाय में अन्धे बने, शब्दादि विषय के प्रति आकर्षित और हिंसादि आस्रवों में लीन हम, विशुद्ध आत्मस्वरूप के दर्शन की बात करने भी क्या योग्य हैं ? वास्तव में चर्मदृष्टि में उलझे हुए अपन 'आत्म दर्शन' पर धुआँधार भाषण सुनते रहें फिर भी हम पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

न सुषुप्तिरमोहत्वान्नापि च स्वापजागरौ ।
कल्पनाशिल्पविश्रान्तेस्तुर्ये वानुभवो दशा ॥२६॥७॥

अर्थ : मोहरहित होने से गाढ निद्रा रुपी सुषुप्ति-दशा नहीं है, ठीक वैसे ही स्वप्न और जागृत-दशा भी नहीं है। वह कल्पना रुपी कला-कौशल्य के अभाव के कारण, अनुभव रूपी चतुर्थ अवस्था है।

विवेचन : अनुभवदशा ! ! !

क्या वह सुषुप्ति-दशा है ? क्या वह स्वप्न-दशा है ? क्या वह जागृत-दशा है ? इन तीन दशाओं में से क्या किसी में भी अनुभव-दशा का समावेश हो, ऐसा नहीं हैं ? क्यों नहीं ? आइए, इस मसले पर विचार करें।

(१) सुषुप्ति दशा निर्विकल्प है, अर्थात् सुषुप्तावस्था में मानसिक कोई विकार अथवा विचार नहीं होता। वह इन सब से निर्लिप्त होती है। लेकिन इस अवस्था में भी आत्मा मोह के बन्धनो से मुक्त नहीं होती। अनुभवदशा तो मोह के प्रभाव से सर्वथा मुक्त ही होती है। फलतः अनुभव का समावेश सुषुप्ति में नहीं हो सकता।

(२) स्वप्न के साथ अनुभव की तुलना कर सकते हैं ? स्वप्न भले कितना ही भव्य, सुन्दर, मनमोहक हो... फिर भी सिवाय कल्पना के उसमें वास्तविकता का अंश भी नहीं होता। जबकि अनुभवदशा में कल्पना का अंश भी नहीं होता ! अतः स्वप्नावस्था में भी अनुभव का समावेश असम्भव है, ना ही स्वप्नदशा को अनुभवदशा कह सकते ।

(३) जाग्रतावस्था भी कल्पना-शिल्प का ही सर्जन है । उसे अनुभव दशा नहीं कह सकते । अनुभवदशा इन तीनों अवस्थाओं से भिन्न चौथी दशा ही है ।

विश्व में एक वर्ग ऐसा भी है, जो 'सुषुप्ति' को आत्मानुभव के रुप में समझता है । उसका कहना है : "शून्य हो जाओ, सभी इच्छा, आकांक्षा और अभिलाषाओं से मुक्त बन जाओ... और ऐसी अवस्था में जितनी अवधि तक रह सको तब तक रहो ! उस दौरान तुम्हें आत्मानुभव होगा !" सुषुप्तावस्था-गाढ निद्रा में कोई विचार नहीं होता, परन्तु इस अवस्था में तुम्हारा मन मोहशून्य भी नहीं होता । अल्पावधि के लिए मोह-मायादि के विकल्पों से मुक्त हो जाने मात्र से मोहावस्था दूर नहीं हो जाती । घंटे, दो घंटे के लिये शून्यता के समुद्र में गोता लगा देने से, भीतर में घरकर गयी मोहावस्था धुल नहीं जाती । बल्कि शून्य में से वास्तविकता में पदार्पण करेत ही पुनः नारी, धन-सम्पत्ति, भोजन, परिवारादि के प्रति मोहजन्य वृत्तियाँ दुगुने वेग से उमड़ आती हैं । लेकिन अनुभवदशा में ऐसी स्थिति कभी नहीं बनती । अनुभवदशा में तो दिन-रात... निर्जन जंगल या नगर-परिसर में हर कहीं सदा-सर्वदा एक ही अवस्था... ! मोहशून्य अवस्था ! वहाँ होता है केवल वास्तविक आत्मदर्शन का अपूर्व आनन्द और एक-सी आत्मानुभूति !

शून्यावस्था में आत्म-साक्षात्कार की डिंगें हाँकनेवाले जब शून्यता के समुद्र में गौता लगाकर बाहर निकलते हैं, तब उनका मन संसार के शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का भौगोपभोग करने के लिए, आनन्द लूटने के लिए कितने आतुर, अधीर एवं आकूल-व्याकूल होते हैं—इसका बीभत्स दृश्य तुम्हें 'आधुनिक भगवानों' के आश्रमों में दृष्टि गोचर होगा । तनिक वहाँ जाकर देखो ? भोग-विलास और काम-वासना-प्रचुर उस जघन्य विश्व में 'आत्मानुभूति' की खोज में

निकल पडे उन बुद्धिशाली, दिग्गज पण्डितों को धन्यवाद दें या उनका धिक्कार करें ?

कभी-कभार उक्त प्राध्यापक (भगबान ?) महोदय प्राकृतिक... नैसर्गिक कल्पनासृष्टि का सृजन, अपनी अनूठी प्रभावशाली साहित्यिक भाषा में करते हैं और उक्त कल्पना के माध्यम से आत्मदर्शन... आत्मानुभूति कराने का आडम्बर रचाते है । क्या विचार शून्यता = आत्मानुभूति ? क्या नैसर्गिक मानसिक कल्पनाचित्र मतलब आत्मानुभूति ? तब तो विचारशून्य एकेन्द्रिय जीवों को आत्म-साक्षात्कार हुआ समझना चाहिए और सदा-सर्वदा निसर्ग की गोद में किल्लोल / केलि करते पशु-पक्षियों को आत्मानुभूति के फिरस्ते समझने चाहिए!

तात्पर्य यह है कि आत्मानुभव सुषुप्तावस्था, स्वप्नावस्था और जागृतावस्था नहीं है, बल्कि इससे बिल्कुल भिन्न कोई चौथी दशा है । जिसकी प्राप्ति हेतु हमें सही दिशा में पुरुषार्थ करना चाहिए ।

अधिगत्याखिलं शब्द-ब्रह्म शास्त्रदृशा मुनिः ।
स्वसंवेद्यं परं ब्रह्मानुभवेनाधिगच्छति ॥२६॥८॥

अर्थ : मुनि शास्त्र-दृष्टि से समस्त शब्दब्रह्म को अवगत कर, स्वानुभव से स्वयं प्रकाश ऐसे परब्रह्म... परमात्मा को जानता है ।

विवेचन : "यदि अनुभव-दृष्टि से ही विशुद्ध आत्म-स्वरुप का साक्षात्कार सम्भव है, तब फिर शास्त्रों का क्या प्रयोजन ? शास्त्राध्ययन, चिंतन मनन किसी काम का नहीं न ?"

इस प्रश्न का यहाँ निराकरण किया गया है । शास्त्र-दृष्टि से समस्त शब्द-ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करना है और उस ज्ञान से परमात्म-स्वरुप का रहस्य समझना है ? बिना शास्त्र-दृष्टि के शब्द-ब्रह्म का ज्ञान असम्भव है और अनुभव-दृष्टि विकसित नहीं होती ।

शास्त्रों का अध्ययन और चिंतन-मनन अनुभव-दृष्टि के लिए आवश्यक है । हाँ, शास्त्राध्ययन का ध्येय 'अनुभव' होना चाहिए शास्त्रों की जलमें अटकने से कोई लाभ नहीं । यश-कीर्ति की पताका सर्वत्र लहराने के लिए शास्त्राध्ययन

कर विद्वता अर्जित करनेवाले जीव अनुभव दृष्टि से वंचित रह जाते है ।

शास्त्रों का ज्ञान इस दृष्टि से प्राप्त करना चाहिए कि 'शास्त्र' ही हमारी 'दृष्टि' बन जाएँ । 'चर्मदृष्टि' पर 'शास्त्रदृष्टि' की ऐनक ऐसी तो व्यवस्थित बैठ जानी चाहिए की जो कुछ देखें, सुनें-समझें और चिंतन-मनन करें उसका एकमेव आधार शास्त्र ही हो ।

लगातार चार-चार माह के उपवास करनेवाले मुनियों ने कुरगडु मुनि के पात्र में थूँक दिया, तब कुरगडु मुनि ने उसे 'शास्त्रदृष्टि' में देखा था ! तपस्वियों के तिरस्कार-युक्त वाणी-शरों को शास्त्रदृष्टि से शान्त रह झेले थे । घृणायुक्त नयन-बाणों का समता-भाव से सामना किया था !

(१) 'चर्मदृष्टि' ने जिसे 'थूँक' बताया 'शास्त्र-दृष्टि' ने उसे 'घी' समझा ! 'यह तो रुखे-सूखे भोजन में मुनिश्री ने कृपा कर 'घी' डाल दिया है ! तपस्वियों के मुख का अमृत !'

(२) चर्मदृष्टि से जो वचन असह्य पीडा के कारण थे, शास्त्रदृष्टि ने उन्हें 'पवित्र प्रेरणा का प्रवाह' माना ! 'संवत्सरी के पवित्र दिन भी मैं पेट भरनेवाला हूँ... मुझे इन तपस्वियों ने अनाहारी पद की प्रेरणा दी है ।'

(३) मुनियों के दुर्व्यवहार और अपमानास्पद प्रवृत्ति को चर्मदृष्टि जहाँ 'क्रोधी-मिथ्याभिमानी' समझती थी, वहाँ शास्त्र दृष्टि उन्हें मोक्ष-मार्ग के अनन्य यात्रिक निर्देशित कर रही थी ! मोक्षमार्ग के पथ प्रदर्शन मान रही थी !

शास्त्रदृष्टि के बल पर कुरगडु मुनि ने ज्यों ही अनुभव का अमृत-लाभ प्राप्त किया, कि शीघ्र अनुभव-दृष्टि से उन्होंने विशुद्ध परम ब्रह्म का दर्शन किया ! ऐसा अनुपम कार्य करती है शास्त्रदृष्टि !

एक पाँव पर खड़े, दोनों हाथ आकाश की और उठाये तथा सूर्य की और निर्निमेष दृष्टि से स्थिर देखते प्रसन्नचन्द्र राजर्षि के कान पर जब राज-मार्ग से गुजरते सैनिकों के ये शब्द पडे : "देखो, तो विधि की कैसी घोर विडम्बना ? बाल राजकुमार को छोड, यहाँ जंगल में प्रसन्न चन्द्र राजर्षि कठोर तपस्या में लीन हैं और वहाँ राजकुमार के काका उसका राज्य हडपने के फिराक में है !"

बस, इतनी सी बात ! लेकिन प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने उसे शास्त्रदृष्टि से नहीं देखा और ना ही सुना ! तत्काल उन्होंने अपनी मनोभूमि पर शत्रु के साथ संघर्ष छेड दिया ! युद्धोन्माद से रुद्र रूप धारण कर दिया । घोर हिंसा का तांडव मच गया... और सातवीं नर्क की ओर ले जानेवाले कर्म-बन्धन का जाल गूँथने में प्रवृत्त बन गये ! उसी समय समवसरण में रहे भगवान महावीर प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की उक्त चर्मदृष्टि की अपरम्पार लीला शान्त भाव से देखते रहे ! उसी समवसरण में उपस्थित सम्राट श्रेणिक जब राजर्षि की घोर तपस्या की भूरी-भूरी प्रशंसा करने लगे तब भगवान ने केवल इतना ही कहा : "हे श्रेणिक ! यदि इसी क्षण राजर्षि का अन्त हो जाएँ तो वह सातवीं नरक में जाएगा !"

राजर्षि मुनिवेश में थे ! ध्यानस्थ मुद्रा में थे । कठोर तपश्चर्या के गजराज पर आरूढ थे... ! लेकिन थे शास्त्र-दृष्टि से रहित ! फल स्वरूप उनकी श्रमण-शक्ति अधोगमन का निमित्त बन गयी ! लेकिन जैसे ही उन्हें 'शास्त्र-दृष्टि' प्राप्त हुई कि ध्यान में परिवर्तन आया ! शत्रु को मारने हेतु मुकुट लेने मस्तक की ओर दोनों हाथ गये और अपने मुंडित मस्तक का आभास होते ही, अविलम्ब दृष्टि-परिवर्तन हुआ । शास्त्र-दृष्टि ने उन्हें अधोगति के नरक-कुंड में गिरते हुए थाम लिया... । यकायक पूरे वेग से... और क्षणार्ध में ही उन्हें 'केवलज्ञान' की रमणीय भूमि पर ला रखा ! वे केवलज्ञान के अधिकारी बन गये । अत: शास्त्रदृष्टि से शास्त्राध्ययन और चिंतन-मनन कर, उसके द्वारा विश्वदर्शन करने से ही परब्रह्म परमात्मावस्था को प्राप्त कर सकेंगे ।

• • •

२७. योग

यदि तुमने कभी किसी मुनि, योगी पहुँचे हुए सन्यासी अथवा विद्वान् अध्यापक के योगविषयक प्रवचन सुने होंगे, तो प्रस्तुत अष्टक निःसन्देह तुम्हारा वास्तविक मार्गदर्शन करेगा। आधुनिक युग में योग के नाम पर कई प्रकार की भ्रामक बातें देश-विदेश में प्रचलित-प्रसारित हैं। योग-संबंधित विविध प्रयोगों को परिलक्षित कर चित्र उतर रहे हैं। कामभोगी पाखंडी, योगी का स्वांग रच, योग-क्रियायें शिखा रहे हैं।

इसे अवश्य पढो, एकाग्र-चित्त से इसका चिन्तन-मनन करो। प्रस्तुत प्रकरण के आठ श्लोक, शताब्दियों पूर्व एक निष्काम महर्षि की लेखनी से प्रसृत हैं। योग-विषयक तुम्हारा यथार्थ पथ-प्रदर्शन करते हुए अनन्य मार्ग-दर्शक सिद्ध होंगे।

मोक्षेण योजनाद् योगः सर्वोऽप्याचार इष्यते।
विशिष्य स्थानवर्णार्थालिम्बनैकाग्र्यगोचर : ॥२७॥१॥

अर्थ : मोक्ष के साथ आत्मा को जोड देने से समस्त आचार योग कहलाता है, विशेष रुप से स्थान (आसनादि), वर्ण (अक्षर), अर्थज्ञान, आलम्बन और एकाग्रता विषयक है।

विवेचन : भोग और योग !

भोग पर से दृष्टि हटे तो योग पर दृष्टि जमे। जब तक भोग के भूत-पलित जीव के पीछे हाथ धोकर पड़े हैं, उस पर अपना जबरदस्त वर्चस्व जमाये बैठे हैं, तब तक योग-मार्ग दृष्टिगत होगा ही नहीं। सामान्यतः विषयभोगी योगमार्ग

को दुःखपूर्ण महसूस करता है ।

अलबत्त, वैषयिक सुखों से सर्वथा विरक्त बना, शास्त्रदृष्टियुक्त साधक, उसमें से भी ऐसा मार्ग खोज निकालता है कि जिस पर विचरण करते हुए सरलता से परम सुख प्राप्त कर सके । मार्ग में आनेवाली मुश्केलियाँ और कठिनाईयाँ व भय उसके मन तुच्छ होते हैं । उसके मन में निरन्तर उमड़ रहा सत्वभाव विघ्नों को कुचल कर प्रगति के पथ पर अग्रसर करता है ।

मोक्ष और संसार को जोड़नेवाला मार्ग है-योगमार्ग । **'मोक्षेण योजनाद् योगः'** मोक्ष के साथ आत्मा का जो सम्बन्ध कराता है, उसे योग कहते हैं । जिस मार्ग का अवलम्बन कर आत्मा मोक्ष-मँजिल पर पहुँच जाए, वह योग-मार्ग कहलाता है ।

'योगविंशिका' ग्रन्थ में आचार्य श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी ने कहा है-

'मुक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वो वि धम्मवावारो ।'

'मोक्ष के साथ जोड़नेवाला होने के कारण समस्त धर्म-व्यापार योग है ।' मोक्ष के कारणभूत जीव का पुरुषार्थ यानी योग । लेकिन यहाँ बिशेष रूप से पाँच प्रकार के योग का वर्णन किया गया है :

*(१) स्थान, (२) वर्ण, (३) अर्थ, (४) आलम्बन, (५) एकाग्रता ।

(१) सकल शास्त्र-प्रसिद्ध कायोत्सर्ग, पर्यंकबन्ध, पद्मासन आदि आसन, यह स्थान-योग है ।

(२) धर्मक्रिया में प्रयुक्त शब्द, यह वर्णयोग है ।

(३) शब्दाभिधेय का व्यवसाय, यह अर्थयोग है ।

(४) बाह्य प्रतिमादि विषयक ध्यान, यह आलम्बन योग है ।

(५) रूपी द्रव्य के आलम्बन से रहित निर्विकल्प चिन्मात्र समाधि, यह एकाग्रता-योग है ।

★ देखिए परिशिष्ट में 'समाधि'

इन पाँच योगों में पहले चार योग 'सविकल्प समाधि'—स्वरुप हैं जबकि पाँचवा योग 'निर्विकल्प-समाधि' स्वरुप है ।

इन पाँचो प्रकार में पहला प्रकार 'आसन' है । प्रत्येक योगाचार्य ने योग का आरम्भ आसन से ही निर्दिष्ट किया है । अष्टांग योग में भी प्रथम स्थान आसन का ही है । 'आसन' के माध्यम से शारीरिक चंचलता, अस्थिरता और उद्विग्नता दूर करनी होती है । जब तक शारीरिक स्थिरता नहीं आती, तब तक मानसिक स्थिरता भी प्राय: असम्भव है ।

हमारी समस्त धार्मिक क्रियायें, उदाहरणार्थ:सामायिक, चैत्यवंदन प्रतिक्रमण आदि में 'आसन' का महत्त्व है । सामायिक में सुखासन, पद्मासन अथवा सिद्धासन में बैठा जाय और स्वाध्याय, जाप व ध्यानादि क्रियायें सम्पन्न की जायें, तो उक्त क्रियायें नि:सन्देह प्रभावोत्पादक सिद्ध होती हैं । प्रतिक्रमण में 'कायोत्सर्ग' किया जाता है, वह भी एक प्रकार का आसन ही है । अत: कायोत्सर्ग के दोष टालने का लक्ष्य होना चाहिये ।

ठीक उसी तरह मुद्राओं का भी लक्ष्य होना चाहिये । किस क्रिया में किस मुद्रा का प्रयोग किया जाए, उसका यथेष्ट ज्ञान होना आवश्यक है । वैसे ही सूत्रार्थ का पर्याप्त ज्ञान और उसका उपयोग चाहिए । उच्चारण भी शुद्ध होना चाहिए । हमारे सामने प्रतिमा / स्थापनाजी आदि जो आलम्बन हो, उसके प्रति दृष्टि स्थिर होना जरुरी है । इस प्रकार यदि धर्मक्रिया की जाये, तो क्रिया ही महान् योग बन जाती है । यही योग आत्मा को मोक्ष के साथ जोड़ देता है ।

बैठने का ढंग नहीं, सूत्रोच्चारण में शुद्धि नहीं, अर्थोपयोग के प्रति उपेक्षाभाव, मुद्राओं का ख्याल नहीं और आलम्बन के संबन्ध में पूरी लापरवाही ! ऐसा योग आत्मा को मोक्ष के साथ नहीं जोड़ पाता ! अरे, योग के बल पर भोग-प्राप्ति के नित्यप्रति जो स्वप्न देखते हैं, ऐसे रजो-तमो गुण से आच्छादित जीव योग की कदर्थना करते देखे जाते हैं ।

कर्मयोग द्वयं तत्र, ज्ञानयोग त्रयं विदुः ।
विरतेष्वेव नियमाद्, बीजमात्रं परेष्वपि ॥२७॥२॥

अर्थ : उसमें सोदो कर्मयोग और शेष तीन ज्ञानयोग, जाननेवाले विरति वन्तों में अवश्य होते हैं, जबकि अन्यों मे भी बीजरुप हैं ।

विवेचन : **'ज्ञान-क्रियाभ्यां मोक्षः'** ज्ञान और क्रिया के संयोग से मोक्ष होता है । इन पाँच योगों में दो क्रियायोग हैं और तीन ज्ञानयोग ।

- स्थान और शब्द, क्रियायोग हैं ।

- अर्थ, आलम्बन और एकाग्रता ज्ञानयोग हैं ।

कायोत्सर्ग, पद्मासनादि आसन, योग-मुद्रा, मुक्तासुक्ति-मुद्रा एवं जिनमुद्रा आदि मुद्राओं का समावेश क्रियायोग में है । यदि हम आसन और मुद्राओं की सावधानी बरते बिना प्रतिक्रमण, चैत्यवन्दनादि धार्मिक क्रियायें सम्पन्न करें, तो क्या वह क्रिया-योग कहलायेगा ? क्या हम क्रियायोग की भी सांगोपांग आराधना करते हैं ? प्रतिक्रमणादि में कायोत्सर्ग करते हैं, क्या वह नियमानुसार होता है ? कायोत्सर्ग कैसे किया जाय, इसका प्रशिक्षण लिये बिना कायोत्सर्ग करनेवाले क्या 'स्थान योग' की उपेक्षा नहीं करते ? अरे, उन्हें यह भी ज्ञात नहीं कि कायोत्सर्ग भी एक तरह का योग है ! पद्मासनादि आसन भी योग ही हैं । योगमुद्रादि मुद्रायें भी योग का ही प्रकार है । किस समय किन मुद्राओं का उपयोग करना चाहिये, इसका ख्याल कितने जीवों को है ? **'वर्ण-योग'** की आराधना भी क्रिया योग है । सामायिकादि के सूत्रो का उच्चारण किस पद्धति से करते हैं ? क्या उसमें शुद्धि का लक्ष्य है ? उनमें रही संप्रदायों (अल्पविराम, अर्धविराम और पूर्णविराम) का ख्याल है ? क्या एक नवकारमन्त्र का उच्चारण भी शुद्ध है ? यदि इसी तरह स्थानयोग एवं वर्णयोग का पालन न करें और क्रियायें करते रहें, तो क्या क्रियायोग के आराधक कहलायेंगे ?

'ज्ञान-योग' में प्रत्येक सूत्र का अर्थबोध होना नितान्त आवश्यक है । मानसिक स्थिरता और चित्त की प्रसन्नता क्रियायोग में तभी सम्भव है, यदि उसका सही-सही अर्थबोध होता हो । अर्थज्ञान इस तरह प्राप्त करना चाहिये कि, जिससे सूत्रों का आलम्बन लिये बिना अर्थों का संकलन अबाध रूप से चलता रहे और उसके भाव-प्रवाह में जीव अपने आप प्रवाहित हो उठे ।

आमतौर पर यह शिकायत सुनने में आती है कि 'धर्म-क्रियाओं में हमें आनन्द नहीं आता ।' लेकिन प्रश्न तो यह है कि आनन्दप्राप्ति के लिये भला कौन धार्मिक-क्रियायें करता है ? अलबत्त, धर्म-क्रियायें असीम आनन्द की केन्द्रबिन्दु बन सकती हैं, अगर उनमें से आनन्द प्राप्ति की आन्तरिक तमन्ना हमारे में हो । सिनेमा, नाटक, सर्कस आदि में खोकर आन्द लूटने की प्रवृत्ति जब तक प्रबल है, तब तक धर्मक्रियायें निष्प्रयोजन ही प्रतीत होंगी । अरे भाई, भोगी भी क्या कभी योग को पसन्द करता है ? भोग में नीरसता आए बिना योग में सरसता कहाँ से आयेगी ? योगक्रियाओं में जुड़े हुए भोगी का मन जब भोग की भूलभूलैया में उलझ जाता है, तब वह यौगिक क्रियाओं में दोष देखता है ।

'**आलम्बन**' माध्यम से योगी अपने मन को स्थिर रखता है । परमात्मा की प्रतिमा उसका सर्वश्रेष्ठ आलम्बन है । पद्मासनस्थ मध्यस्थ भावधारक प्रतिमा, योगी के मन को स्थिर रखती है । योगी के लिए जिनप्रतिमा प्रेरणा-स्रोत बनी रहती है । उसकी आँखें बन्द होने के उपरान्त भी उसका मन निरन्तर उक्त प्रतिमा के दर्शन करता रहता है । उसकी जिह्वा शान्त होने पर भी मन ही मन वह परमात्म स्तुति में लीन रहता है । मतलब यह कि, परमात्मादशा के प्रेमी जीव के लिए प्रतिमा, स्नेहसंवनन करने का श्रेष्ठ साधन सिद्ध होती है ।

जिसके लिए मानव-मन में राग-अनुराग, स्नेह और प्रीति हो, उसके विरहकाल में उसकी प्रतिकृति / छबि, उसकी मूर्ति का क्या महत्त्व है—यह उसे पूछे बिना पता नहीं लगेगा । उक्त छबि / प्रतिकृति के माध्यम से परमात्मप्रेमी उसकी निकटता का एहसास करता है । फलतः उसकी स्मृति तरोताजा रखता है और उसके स्वरूप का यथेष्ट ख्याल रखता है । साथ ही जब उक्त आलम्बन द्वारा उसके प्रेम की उत्कटता प्रकट होती है, तब वह (प्रेमी) पाँचवे योग में पहुँच जाता है ।

'**रहित**' योग में किसी विकल्प, विचार अथवा कल्पना के लिये स्थान नहीं । वह पूर्णरूप से एकाकार बन जाता है, तब भेला, विचार किस बात का करना ?

इस तरह ज्ञानयोग एवं क्रियायोग में पूर्णतः समरस हो, मुनि उसकी

आराधना करते हैं, जबकि अपुनर्बन्धक, श्रावक वगैरह में इसका प्रारंभ होने से उनमें सिर्फ योगबीज ही होता है ।

कृपानिर्वेदसंवेग-प्रशमोत्पत्तिकारिणः ।
भेदाः प्रत्येकमत्रेच्छा-प्रवृत्तिस्थिरसिद्धयः ॥२७॥३॥

अर्थ : प्रत्येक योग की इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता एवं सिद्धि-चार भेद होते हैं । जो कृपा, संसार का भय, मोक्ष की कामना और प्रशम की उत्पत्ति करनेवाले हैं ।

विवेचन : कुल पाँच योग हैं । प्रत्येक योग के चार-चार भेद अर्थात् सब मिलाकर बीस प्रकार होते हैं । हर एक योग के इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता और सिद्धि-ये चार भेद हैं ।

प्रथम योग है-'स्थान' । इससे आसन और मुद्राओं की इच्छा जागृत होती है । तत्पश्चात् उसमें प्रवृत्ति होती है, अर्थात् जिस धर्मक्रिया में जो आसन और मुद्रा आवश्यक है, उसे करें । तब उसमें स्थिरता का प्रादुर्भाव होता है । मतलब आसन / मुद्रा के द्वारा चंचलता, अरुचि और उदासीनता दूर होती है । इस तरह आसन और मुद्रा सिद्ध होती है ।

द्वितीय योग है -'**उर्ण**' । जिस क्रिया में जिन सूत्रों का उच्चारण करना हो, उन सूत्रों का पर्याप्त अध्ययन करने की इच्छा प्रकट होती है । तत्पश्चात् सम्बन्धित क्रियाओं में सूत्रों का उच्चारण करने की प्रवृत्ति करें । सूत्रों के उच्चारण में स्थिरता आती है, यानी कभी तेज गति तो कभी मंद गति, ऐसी अस्थिरता नहीं रहे । इस तरह सूत्रोच्चार की सिद्धि प्राप्त होती है ।

तृतीय योग है-'**अर्थ**' । सम्बन्धित सूत्रों के अर्थ का ज्ञान आत्मसात् करने की भावना पैदा हो । अर्थज्ञान प्राप्त करने की प्रवृत्ति करे । अर्थ-ज्ञान स्थिर बने, यानी दुबारा वह विस्मरण न हो जाए, इस तरह अर्थज्ञान की ऐसी सिद्धि प्राप्त करें कि वह जो-जो धर्म क्रियायें करे, स्वाभाविक रुप से उसका अर्थोपयोग होता रहे ।

चतुर्थ योग है 'आलम्बन' । आलम्बन-स्वरुप जिन-प्रतिमादि के प्रति

प्रीतिभाव पैदा हो, उसका आलम्बन ग्रहण करने की प्रवृत्ति करें और मन निःशंक, निर्भय बन उसमें स्थिर हो जाए, साथ ही ऐसी स्थिरता प्राप्त करें कि दूसरों को भी उसके प्रति आकर्षित करें ।

'रहित' निर्विकल्प समाधि-स्वरुप है । अर्थात् उसमें इच्छादि का प्रश्न ही नहीं पैदा होता । परन्तु वैसे निर्विकल्प योगी-पुरुषों की सदैव प्रशंसा करे और खुद वैसा बनने के उपायों मे प्रवृत्ति करें । इससे मन स्थिरता प्राप्त करता रहे और वह ऐसा निरालम्बन योगी बन जाए कि अन्य जीवों को भी अपने योग की तरफ आकर्षित कर दे ।

इन योगों से आत्मा में अनुकंपा, निर्वेद, संवेग और प्रशम भाव पैदा होते हैं; अर्थात् आत्मा का संवेदन ही ऐसा बन जाता है ।

दीन-दुःखी जीवों को देखकर, मन ही मन उनका दुःख-दर्द दूर करने की उत्कट भावना पैदा हो । द्रव्य से दुःखी जीवों का दुःख दूर करने की इच्छा प्रकट हो जाए कि वह दीन-दुःखियों की कभी उपेक्षा न कर सके ।

सांसारिक सुखों से विरक्त बन जाए । उसे वह कारावास समझे । निर्जन स्मशान समझे । सदा कर्म-बन्धनों से मुक्त होने की ही पैरवी करे । संसार के सुख भले ही चक्रवर्ती या इन्द्र के हों, भूल कर भी उनकी तरफ आकर्षित नहीं होता ।

योगी का मन सदा-सर्वदा आत्मा की परिशुद्ध अवस्था प्राप्त करने के लिये तरसता है । 'मैं कब मोक्ष पाऊँगा ?' यह तमन्ना निरंतर बनी रहती है । सदैव वह मोक्ष-सुख की ओर ही आकर्षित होता है ।

उपशम का वह शान्त-प्रशान्त सागर होता है । कषायों का उन्माद उसके मन को स्पर्श तक नहीं कर सकता और ना ही उसे कभी अपने ध्येय से विचलित कर सकता है । उसका मुखमण्डल अहर्निश शान्त निश्चल भावों से देदीप्यमान होता है । इच्छादि योगों का यह फल है ।

अणुकंपा निव्वेओ, संवेगो होइ तह य पसमु त्ति ।
एएसिं अणुभावा, इच्छाईणं जहा संखं ॥-योगविंशिका

इच्छादि-योगों के अनुभाव हैं-अनुकंपा, निर्वेद, संवेग और प्रशम । इन अनुभावों के प्रकटीकरण हेतु योगी को निरन्तर पुरुषार्थ करना चाहिए । इनसे आत्मा अपूर्व आनन्द का अनुभव करती है ।

हमेशा ज्ञान और क्रिया द्वारा आत्म-भावों में परिवर्तन लाने का लक्ष्य होना चाहिये । न भूलो कि हमें लौकिक भाव से लोकोत्तर भावो की और जाना है। स्थूल में सें सूक्ष्म की ओर जाना है ।

इच्छा तद्वत् कथाप्रीतिः प्रवृत्तिः पालनं परम् ।
स्थैर्यं बाधकभीहानिः, सिद्धिरन्यार्थसाधनम् ॥२७॥४॥

अर्थ : योगी की कथा में प्रीति होना, यह इच्छा-योग है । उपयोग का पालन करना प्रवृत्ति-योग है । अतिचार के भय से मुक्ति, स्थिरता योग है और दूसरों के अर्थ का साधन करना सिद्धि-योग है ।

विवेचन : यहाँ इच्छादि चार योगों की स्वतंत्र परिभाषा दी गयी है :

१. **इच्छा योग** योगी पुरुषों की कथाओं में रुचि पैदा करता है । अर्थात् योग और योगी की कथायें बहुत प्रिय लगती हैं । निर्जन, उज्जड स्मशान में कायोत्सर्ग-ध्यान में निमग्न अवन्ती सुकुमाल मुनि की कहानी सुनाइए, वह तन्मय / तल्लीन हो जाएगा । कृष्ण-वासुदेव के भ्राता गजसुकुमाल-मुनि की कथा कहिए, वह सब कुछ भूलकर निमग्न हो जाएगा । उसे आप खंधक मुनि अथवा झांझरिया मुनि की वार्ता कहिए, वह खाना पीना तक छोड़ देगा । ऐसा मनुष्य इच्छायोगी होता है । साथ ही यह मत मानना कि कथायें सबको पसन्द हैं । सबको ऐसी कथायें पसन्द नहीं होतीं, इच्छायोगी को ही पसन्द होती हैं । इच्छायोगी को आधुनिक युग की कपोल-कल्पित कहानियाँ, जासूसी कथायें, सामाजिक श्रृंगारिक कथायें एवं वैज्ञानिक अद्‌भुत कथायें नीरस लगती हैं । यह साहित्य न तो उन्हें रुचिकर लगता है और ना ही उन्हें पढ़ना पसन्द होता है । उन्हें देश-विदेश की कथायें, राजा और मन्त्री की सत्तालोलुपता भरी कपट-कथाये, पढ़ना कतइ पसन्द नहीं । ठीक वैसे ही विभिन्न राष्ट्रों की नारी-कथायें फेसन-परस्ती के किस्से-कहानियाँ और भूत-प्रेत की कथायें, मन्त्र-तंत्र की कथायें तथा

अपराध-जगत की अभिनव कथायें भी उन्हें पसन्द नहीं होतीं । भोजन की विविधता का वर्णन करती बातें भी अच्छी नहीं लगती ।

२. जिसे जो पसन्द होता है, उसे प्राप्त करने अथवा उस जैसा बनने के लिए वह प्रायः प्रयत्नशील रहता है और इच्छयोगी ऐसे हर शुभ उपाय का पालन करने में सदैव तत्पर रहते हैं । ऐसा करते हुए कोई 'योगी' उनका आदर्श बन जाता है, फिर भले ही वे आनन्दघनजी हों अथवा उपाध्याय यशोविजयजी हों, उन जैसा अपने आपको ढालने के लिए वह शुभ / पवित्र उपायों का पालन करता है ।

३. सम्भव है, पारंभ के पुरुषार्थ में कुछ गलतियाँ / त्रुटियाँ रह जायें और अतिचार भी लग जायें । फिर भी सजग योगी के लक्ष्य से बाहर से त्रुटियाँ अथवा अतिचार नहीं रहते । वह अतिचार टालने का हर सम्भव प्रयत्न करता है और अपनी भूलों को समय पर सुधार लेता है । वह ऐसा अप्रमत्त बन जाता है कि निरतिचार आचार-पालन करने लगता है । फलतः किसी अतिचार के लगने का उसे कोई भय नहीं रहता ।

४. ऐसे महान् धुरंधर योगी को अहिंसादि विशिष्ट गुण सिद्ध हो जाते हैं कि उसके सान्निध्य में रहनेवाले अन्य जीव भी इन गुणों को सहज में प्राप्त कर लेते हैं । मानव की वैर-वृत्ति शान्त हो जाती है, पशुओं की हिंसक-वृत्ति शान्त हो जाती है ।

सर्व प्रथम योग '**कथा-प्रीति**' अनन्य महत्त्व रखता है । योगी को कथा-वार्ता का श्रवण करते हुए प्रीतिभाव पैदा होता है, यह प्रीति / प्रेम स्वाभाविक होता है । ऐसे प्रीति-भावयुक्त मानव को स्थानादि योगों में प्रवृत्ति करना पसन्द होता है । अतः वह हमेशा योगी पुरुषों के सान्निध्य की खोज में रहता है और जब ऐसे योगीश्वर की भेट हो जाती है, तब उसके आनन्द की अवधि नहीं रहती ।

लेकिन वर्तमान समय में प्रायः मुनि-वर्ग में स्थानादि योग के प्रति प्रवृत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती और आमतौर पर सबकी धारणा बन गयी है कि जैसे वह अन्य लोगों के लिये ही हैं । अलबत्त, शास्त्र-स्वाध्याय एवं तपश्चर्या की परंपरा कायम है, लेकिन उसमें स्थानादि योगों का समावेश नहीं दिखता । अतः शास्त्र-

स्वाध्याय और तपश्चर्यायें सविकल्प से निर्विकल्प में जीव को नहीं ले जा सकतीं।

हालाँकि मोक्ष के साथ जोड़ने की क्षमता रखनेवाले धर्म-योगों की आराधना निर्विकल्प अवस्था तक ले जा सकती है। लेकिन जिन विधि-विधानों और पद्धतियों से धर्मक्रिया सम्पन्न होनी चाहिए, उस तरीके से ही होनी चाहिये। ठीक उसी तरह उक्त धर्मक्रियाओं को उत्तरोत्तर विशुद्ध एवं अतिचाररहित बनाने की सावधानी होनी चाहिये।

अर्थालंबनयोश्चैत्यवन्दनादौ विभावनम्।
श्रेयसे योगिनः स्थान वर्णयोर्यत्न एव च ॥२७॥५॥

अर्थ : चैत्यवन्दनादि क्रिया करते समय अर्थ एवं आलम्बन का स्मरण करना तथा स्थान और वर्ण में उद्यम करना योगी के लिए कल्याण-कारक है।

विवेचन : योगी !

ऊर्ध्वगामी गतिशीलता !

परम ज्योति में विलीन होने की गहन तत्परता !

तिमिराच्छन्न वातावरण में प्रकाश की तेजस्वी ज्योति को मुखरित करनेवाले, असत्य को मिटाकर सत्य की प्रतिष्ठा करनेवाले और मृत्यु की जड़ता का उच्छेदन कर अमरता का वरण करनेवाले अप्रतिम साहसी योगी !

योगी कल्याण की कामना रखता है ! सुख की चाह रखता है ! लेकिन वह जिस कल्याण एवं सुख का ग्राहक है वह सुख विश्व के बाजार में कहीं भी प्राप्त नहीं होता। लेकिन बाजार में सुख-क्रय करनेवालों की भीड़ अवश्य जुटी हुई है। योगी वहाँ जाता है, लेकिन वहाँ का कोलाहल, शोर गुल, भीड-भडक्का और अपाधापी निहार, आगे निकल जाता है। तब उसके आश्चर्य और निराशा की सीमा नहीं रहती। वह व्यथित... दुःखी हो उठता है, संसार के नज़ारे को देखकर। बाजार में सजाकर रखे गये सुखों की वास्तविकता को उसकी तीक्ष्ण नजीर परख लेती है। फलस्वरुप उसका हृदय द्रवित हो उठता है... 'अरे यह तो हलाहल विष से भी ज्यादा दारूण है। उस पर सिर्फ सुख का मिथ्या शृंगार

किया गया है, सुख का मुखौटा पहनाया गया है। खरीददार आन्तरिक विषैलेपन को समझ नहीं पाते, अनभिज्ञ जो है। जो कुछ भी चमक-दमक है, वह ऊपरी तौर पर है। लोग-बाग बड़े चाव से खरीदकर जाते हैं, उसका यथेष्ट उपभोग करते हैं और अन्त में मिट जाते हैं, मटियामेट हो जाते हैं।

योगी सुख अवश्य चाहता है, लेकिन उसे पुद्गलों की आसक्ति नहीं। वह आनन्द चाहता है, लेकिन मन का उन्माद नहीं। वह सागर सा शान्त और उत्तुंग शिखरों की तरह स्वस्थ है। वह बाह्य विश्व से सुख शान्ति और आनन्द-प्राप्ति की कामना का परित्याग कर, अपने आन्तर विश्व में झांकता है और तब उसे वहाँ अथाह सुख, परम शान्ति और असीम आनन्द के मुक्ता-मणि, हीरा-मोती अत्र तत्र बिखरे दृष्टिगोचर होते हैं।

वह आन्तर-सृष्टि में प्रवेश करने का दृढ़ संकल्प करता है। उसके लिये वह सर्वज्ञ के शास्त्र-कोष से मार्गदर्शन खोजता है। मार्गदर्शन प्राप्त होते ही उसका दिल बाग-बाग हो उठता है, हृदय गद्गद् हो उठता है। उसके नयन से हर्षाश्रु उमड़ आते हैं। फलतः वह स्थान, वर्ण, अर्थ और आलम्बन-इन चार योगों की अनन्य आराधना आरम्भ कर देता है।

सर्व प्रथम आसन-मुद्राओं का अभ्यास करता है। सुखासन, पद्मासन, सिद्धासनादि आसन सिद्ध कर, प्रदीर्घ समय तक एक आसन पर ध्यानस्थ बैठ, अपने शरीर को नियंत्रित करता है। योग मुद्रा के सहयोग से मुद्रायें सिद्धकर शरीर को स्वाधीन बनाता है। उसके लिये आवश्यक आहार-विहार और नीहार का चुस्ती के साथ पालन करता है। प्रमाद... अशक्ति से अपने शरीर को सुरक्षित रख **'स्थानयोग'** के लिये सुयोग बनाता है।

तत्पश्चात् अपनी दिनचर्या से जुड़ी धार्मिक क्रियायें-चैत्यवन्दन, प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन वगैरह क्रिया में बोले जाते सूत्रों का अध्ययन इस तरह करता है कि जिसका उच्चारण करनेवाला और सुननेवाला, दोनों तन्मय हो जायें। उसके सशक्त और सुरीले गले से फूटी स्वर-लहरियाँ बाह्य कोलाहल, शोर गुल को खदेड़ देती हैं। इस स्वर-व्यंजना के नियमों का कठोर पालन करनेवाला योगी **'वर्णयोग'** को भी सिद्ध कर देता है।

उपर्युक्त पद्धति से तन-वचन पर असाधारण काबू पा मन को नियंत्रित करने की क्रिया (आराधना) में लग जाता है । उसके लिये वह आवश्यक क्रियाओं के सूत्रों का अर्थज्ञान प्राप्त करता है । अर्थज्ञान में से एकाध मनोहर कल्पना-सृष्टि का सर्जन करता है और सूत्रोच्चारण के साथ-साथ उक्त कल्पना-सृष्टि का 'रील' भी शूरू कर देता है । वह जो उच्चारण करता है, उसके प्रतिध्वनि का श्रवण करता है और इस तरह भावालोक का अवलोकन करता है । फलतः उसका मन उसमें सध जाता है, उसमें पूर्णरुपेण ओत-प्रोत हो जाता है और उसमें उसे आत्मानन्द की अनुभूति होती है । साथ ही साथ जिन-प्रतिमादि का आलम्बन ग्रहण कर आनन्द में उत्तरोत्तर वृद्धि करता है । जिन-प्रतिमा में उसका मन प्रवेश करता है । फलतः वीतरागता एवं सर्वज्ञता के संग मुहब्बत हो जाती है ।

इस तरह योगी अपना कल्याण-मार्ग प्रशस्त बनाता है । योगी का आभ्यन्तर सुख योगी खुद ही अनुभव करता है । भोगी उसे देख नहीं सकता, ना ही कह सकता है और यदि कभी कह भी दे तो भोगी को वह नीरस लगता है । योगी का सुख भोगी को आकर्षित नहीं कर सकता और ना ही भोगी का सुख योगी को कभी ललचा सकता है ।

आलंबनमिह ज्ञेयं, द्विविधं रुप्यरुपि च ।
अरूपिगुणसायुज्य योगोऽनालम्बनः परः ॥२७॥६॥

अर्थ : यहाँ आलम्बन रुपी और अरुपी, दो प्रकार के हैं । अरुपी सिद्ध स्वरुप के साथ तन्मयतारुप योग, वह उत्कृष्ट निरालम्बन योग है ।

विवेचन : आलम्बन के दो भेद हैं-रुपी आलम्बन और अरूपी आलम्बन। रुपी आलम्बन में जिन-प्रतिमा का समावेश है, जबकि अरुपी आलम्बन का मतलब सिद्ध स्वरुप का तादात्म्य । वह आलम्बन होते हुए भी निरालम्बन योग माना जाता है । श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी ने अपने ग्रन्थ 'योगविंशिका' में कहा है-

आलंबणं पि एयं रुविमरुवि य इत्थ परमुत्ति ।
तग्गुण परिणइरुवो सुहुमो अणालंबणो नाम ॥

यहाँ रुपी और अरुपी, इस तरह आलम्बन के दो भेद हैं। उसमें भी अरुपी परमात्मा के केवलज्ञानादि गुणों के तन्मयता स्वरूप सूक्ष्म अनालम्बन (इन्द्रियों से अगोचर होने के कारण) योग कहा है।

पाँचवाँ एकाग्रता-योग(रहित) ही अनालम्बन योग है। स्थान, वर्ण, अर्थ और आलम्बन-ये चार योग सविकल्प-समाधि स्वरूप हैं, जबकि पाँचवाँ अनालम्बन योग निर्विकल्प समाधिस्वरूप है। आत्मा को क्रमशः इस निर्विकल्प दशा में पहुँचना है।

अशुभ भावों से शुभ भाव में जाना पड़ता है और शुभ से शुद्ध भाव में प्रवेश सम्भव है। अशुभ भाव से सीधा शुद्ध भाव में जाना असम्भव है। कंचन और कामिनी, मानव जीवन के ऐसे आलम्बन हैं, जो आत्मा को सदैव राग-द्वेष और मोह में फँसाते हैं। दुर्गतियों में भटकाते हैं। अतः उनके स्थान पर अन्य शुभ आलम्बनों को ग्रहण करने से ही उन आलम्बनों से मुक्ति मिल सकती है। उदाहरणार्थ-एक बालक है। मिट्टी खाने की उसे आदत है। माता-पिता उसके हाथ से मिट्टी का ढेला छीनने का प्रयत्न करते हैं। लेकिन बालक उक्त ढेलो छोड़ने के बजाय जोर-जोर से रोने लगता है। जब माता उसके हाथ में खिलौना अथवा मिठाई का टुकडा देती है, तब वह मिट्टी का ढेला उठाकर फेंक देता है। ठीक उसी तरह अशुभ पापवर्धक आलम्बनों से मुक्त होने के लिए शुभ पुण्यवर्धक आलम्बनों को ग्रहण करना चाहिये।

एक बात और है, जैसा आलम्बन सामने होता है, वैसे ही विचार / भाव हृदय में पैदा होते हैं। राग-द्वेष-प्रेरक आलम्बन हमेशा राग-द्वेष ही पैदा करेंगे, जबकि विराग-प्रशम के आलम्बन आत्मा में विराग-प्रशम की ज्योति फैलाते हैं। अतः परमकृपालु परमात्मा की वीतराग-मूर्ति का आलम्बन लेने से चित्त में विराग की मस्ती जग पड़ेगी। श्री आनन्दघनजी महाराज ने गाया है :

"अमीय भरी मूर्ति रची रे, उपमा न घटे कोय,
शान्त सुधारस झीलती रे, निरखत तृप्त न होय,
विमल-जिन दीठां लोयण आज

जिनमूर्ति का आलम्बन मानव-मन में किस तरह के अद्‌भुत / अभिनव

स्पन्दन प्रकट करते हैं-यह तो अनुभव करने से ही ज्ञात हो सकता है। इस तरह नित नियमानुसार प्रवृत्ति करते रहने से अन्त में परमात्मा में स्थिरता प्राप्त होगी। ध्यानावस्था में परमात्म-दर्शन होगा। हमारी आत्मा परमात्म-स्वरूप के साथ ऐसा अपूर्व तादात्म्य साध लेगी कि आत्मा-परमात्मा का भेद ही मिट जाएगा ! अभेद भाव से अनिर्वचनीय मिलन होगा। तब न कोई विकल्प शेष रहेगा और ना ही कोई अन्तर ! भेद में विकल्प होता है जबकि अभेद में निर्विकल्पावस्था।

तत्पश्चात् उसे रूपी-मूर्त आलम्बन की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। सूक्ष्म में प्रवेश करने पर स्थूल की अपेक्षा नहीं रहती। सूक्ष्म आत्मागुणों का तादात्म्यसाधक योगी 'योग-निरोध' के सन्निकट पहुँच जाते हैं। 'योग निरोध' स्वरुप सर्वोत्तम योग का पूर्वभावी ऐसा यह अनालम्बन योग है। अर्थात् तेरहवें गुणस्थान पर योग-निरोध होता है। उसका पूर्ववर्ती अनालम्बन योग १ से ७ गुणस्थानों में सम्भव नहीं है। अर्थात् अपने जैसे साधक (१ से ७ गुणस्थानों में) जीवों के लिये तो आरम्भ के चार योग ही आराधनीय हैं। फिर भी अनालम्बन योग का स्वरुप जानना और समझना आवश्यक है, जिससे हमारा आदर्श, ध्येय और उद्देश्य स्पष्ट हो जाए।

यह अनालम्बन योग **'धारावाही प्रशान्तवाहिता'** भी कहलाता है।

प्रीति-भक्ति-वचोऽसंगैः स्थानाद्यपि चतुर्विधम्
तस्मादयोगयोगाप्तेर्मोक्षयोगः क्रमाद् भवेत ॥२७॥७॥

अर्थ : प्रीति, भक्ति, वचन एवं असंग अनुष्ठान द्वारा स्थानादि योग भी चार प्रकार के हैं। अतः योग के निरोध स्वरुप योग की प्राप्ति होने से क्रमशः मोक्षयोग प्राप्त होता है।

विवेचन : ५ योग (स्थान, वर्ण, अर्थ, आलम्बन, अनालम्बन)
× ४ योग (इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता, सिद्धि)

२०
× ४ (प्रीति, भक्ति, वचन, असंग)

८०

यह है योग के भेद-प्रभेदों का गणित । इस प्रकार योग का आराधक योगी अयोगी घनता है, "शैलेशी" प्राप्त कर मोक्षगामी बनता है ।

चैत्यवन्दनादि धर्मयोग के प्रति परम आदर होना चाहिये । भाव शून्य हृदय से आराधित धर्मयोग आत्मा की प्रगति नहीं कर सकता, ना ही उसे प्रीति-अनुष्ठान में कोई स्थान मिलता है । अनुष्ठान में ऐसी प्रीति हो कि अनुष्ठान कर्ता के हित का उदय हो जाय । संसार के अन्य सभी प्रयोजनों का परित्याग कर निष्ठापूर्वक धर्मानुष्ठान आराधना करे । साथ ही सर्वत्र उसके मन में धर्मनुष्ठान के प्रति प्रीति भाव बना रहे ।

भक्ति अनुष्ठान में भी इसी प्रकार का आदर, उत्कट प्रीति और अन्य प्रयोजनों का परित्याग होता है । अलबत्त, यहाँ एक विशेषता होती है कि जिस धर्मयोग की वह आराधना करता हो, उसका महत्त्व सदैव उसके मन पर अंकित होता है । मन-वचन-काया के योग विशेष विशुद्ध होते हैं ।

प्रीति और भक्ति के पात्र भिन्न होते हैं । जैसे पत्नी और माता । जिस तरह किसी युवक को पत्नी प्रिय होती है, ठीक उसी तरह परम हितकारिणी माता भी अत्यन्त प्रिय होती है । पालन-पोषण का कार्य दोनों का भी एक-सा ही होता है । लेकिन पुरुष पत्नी कार्य प्रीतिवश करता है, जबकि माता का भक्तिभाव से ।

तृतीय अनुष्ठान है वचनानुष्ठान । सभी धर्मानुष्ठान शास्त्रानुसार करते हुए औचित्यपूर्वक करें । चारित्रवान मुनिवर वचनानुष्ठान की आराधना अवश्य करें । वे शास्त्राज्ञा का भूलकर भी उल्लंघन न करें । साथ ही औचित्य का पालन भी न भूलें । यदि बिना औचित्य के शास्त्रादेश का पालन किया जाए, तो अन्य जीवों की दृष्टि में शास्त्र घृणा के पात्र बन जाते हैं ।

चतुर्थ अनुष्ठान है - असंगानुष्ठान । जिस धर्मानुष्ठान का अभ्यास अच्छी तरह हो गया हो, वह सहज भावसे होता है, जैसे चन्दन से सौरभ स्वाभाविक रूप से फैलती है ।

वचनानुष्ठान और असंगानुष्ठान में एक भेद है । कुम्हार अपना पहिया डंडे से घुमाता है, बाद में बिना डंडे के आलम्बन के भी पहिया निरंतर घूमता रहता

है । ठीक वैसे ही वचनानुष्ठान भी शास्त्राज्ञा से ही सम्भव है । लेकिन शास्त्र की अपेक्षा के बिना सिर्फ संस्कार मात्र से सहज भाव से प्रवृत्ति करे, वह असंगानुष्ठान कहलाता है ।

गृहस्थवर्ग में प्रीति और भक्ति-अनुष्ठान का प्राधान्य होना चाहिए । भले ही वह शास्त्राज्ञा से अनभिज्ञ हो, लेकिन इतना अवश्य ज्ञात कर ले कि, 'उक्त धर्ममार्ग तीर्थंकरों द्वारा आचरित और प्रदर्शित है । इसके अनुसरण से ही सर्व सुखों की प्राप्ति होगी । पाप-क्रियाओं में रात-दिन अठखेलियाँ करते अनन्त भव भटकते रहे, चार गति की नारकीय यातनाएँ और असह्य दुःख सहते रहे । अब मुझे पापक्रिया से कोसों दूर रहना है, उसके भँवर में फँसना नहीं है, बल्कि हितकारी क्रियायें करते हुए अपने जीवन को सफल बनाना है ।

प्रीति-भक्ति के भाव से आराधित धर्मानुष्ठान तो ऐसा अपूर्व पुण्यानुबन्धी पुण्य उपार्जन कराता है कि एक नौकर, राजा कुमारपाल बन सकता है । उसने पाँच कोडी के पुष्पों से जो अनन्य अद्‌भुत जिन पूजा का अनुष्ठान किया वही तो वास्तविक प्रीति-अनुष्ठान था ! उस अनुष्ठान से ही तो उसका अभ्युदय सम्भव हुआ ।

'अभ्युदयफले चाद्ये, निःश्रेयससाधने तथा चरमे ।' षोडशके

पहले तो अनुष्ठान अभ्युदयसाधक हैं, जबकि अन्त के दो निःश्रेयस के साधक हैं ।

स्थानाद्ययोगिनस्तीर्थोच्छेदाद्यालम्बनादपि ।
सूत्रदाने महादोष इत्याचार्याः प्रचक्षते ॥२७॥८॥

अर्थ : आचार्यों का कहना है कि स्थानादि योगरहित को 'तीर्थ का उच्छेद हो' आदि आलम्बन से भी चैत्यवंदनादि सूत्र सिखाने / पढाने में महादोष है ।

विवेचन : किसी भी वस्तु के आदान-प्रदान में योग्यता-अयोग्यता का विचार करना अत्यन्त आवश्यक है । लेनेवाले और देनेवाले की योग्यता पर ही लेन-देन के व्यवहार की शुद्धि रह सकती है ।

दाता योग्य हो, लेकिन लेनेवाला अयोग्य हो;
दाता अयोग्य हो, लेकिन ग्रहणकर्ता योग्य हो;
दाता और ग्राहक दोनों अयोग्य हों ।
उपरोक्त तीनों प्रकार अशुद्ध हैं और अनुपयुक्त भी ।

दाता और ग्राहक दोनों योग्य हों-यह प्रकार शुद्ध है । सामायिक सूत्र, चैत्यवन्दन सूत्र, प्रतिक्रमण सूत्रादि सिखाने की चर्चा यहाँ की गयी है । सूत्र किसे सिखाये जाए ? सूत्रों का अर्थ किसे समझाया जाए ? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है । पूज्य उपाध्यायजी महाराज अपने पूर्ववर्ती प्रामाणिक-निष्ठावन्त आचार्यों की साक्षी के साथ उक्त प्रश्नों का निराकरण / समाधान करते हैं ।

जिस व्यक्ति को स्थान, इच्छा, प्रीति आदि विषयक कोई योग प्रिय नहीं और जो किसी योग की आराधना नहीं करता, उसे सूत्रदान न किया जाए ।

प्रश्न : आधुनिक काल में ऐसे योगप्रिय अथवा योगाराधक मनुष्य मिलने अत्यन्त कठिन हैं, यहाँ तक कि संघ / समाज में भी नहीं के बराबर ही हैं । सौ में से पाँच मिल जाएं तो बस । तब चैत्यवन्दनादि सूत्र क्या जन इने-गिने लोगों को ही सिखाये जाएँ ? अन्यों को नहीं सिखाये जाएँ तो क्या धर्मशासन का विच्छेद सम्भव नहीं है ? किसी भी तरह, भले ही अविधि से क्यों न ही कोई धर्माराधना करता हो, परन्तु धर्मक्रिया नहीं करनेवालों से तो बेहतर ही है न ?

समाधान : सर्व प्रथम धर्म-शासन-तीर्थ को समझ लो ! तीर्थ किसे कहा जाए ? उसकी परिभाषा क्या है ? उसकी तह में पहुँचो, तभी तीर्थ की वास्तविक व्याख्या आत्मसात् कर सकोगे । जिनाज्ञारहित मनुष्यों का समुदाय तीर्थ नहीं कहलाता । जिनाज्ञा का पक्षपात और प्रीति तो हर एक मनुष्य में होनी चाहिए। शास्त्राज्ञा-जिनाज्ञा के प्रति आदर, प्रीति-भक्ति और निष्ठा रखनेवाले साधु-साध्वी-श्रावक श्राविकाओं का समूह ही धर्मशासन है, तीर्थ है । ऐसों को सूत्रदान करने में कोई दोष नहीं । लेकिन भूलकर भी अविधि को प्रोत्साहन न दिया जाए । अविधि-पूर्वक धर्मक्रियायें करनेवालों की पीठ न थपथपायी जाए । उनकी अनुमोदना न की जाए । क्योंकि अविधि को उत्तेजन देने से शास्त्रोक्त क्रिया का

ह्रास होता है और तीर्थ का विच्छेदन ।

"धर्मक्रिया न करनेवालों से तो अविधिपूर्वक धर्मक्रिया करनेवाले बेहतर ।' यों कहकर अविधि का समर्थन करना सरासर गलत और अनुचित है। एक बार अविधि की परंपरा चल पड़ी, तो अविधि 'विधि' में परिणत होते विलम्ब नहीं लगता । तब यदि कोई शास्त्रोक्त विधि का प्रतिपादन करेगा, तो भी वह '**अविधि**' ही प्रतीत होगी । तुम्हारी तसल्ली के लिये पूज्य उपाध्यायजी के ही शब्दों में पढ़ो ।

"शास्त्रविहित क्रिया का लोप करना यह कडवे फल देनेवाला है । स्वयं मृत्यु को प्राप्त हुए और खुद के हाथों मारने में कोई विशेषता नहीं, ऐसी बात नहीं; लेकिन इतनी विशेषता है कि स्वयं मृत्यु पाता है, तब उसमें उसका दुष्टाशय निमित्त रुप नहीं, जबकि अपने (उसके) हाथों मारना इसमें दुष्टाशय निमित्त रूप है । ठीक उसी तरह क्रिया में प्रवृत्ति नहीं करनेवाले जीव की अपेक्षा से गुरु को कोई दोष नहीं । पन्तु अविधि के प्ररूपण का अवलम्बन कर श्रोता अविधिपूर्वक प्रवृत्ति करे, तो उन्मार्ग में प्रवृत्ति कराने के परिणामवश अवश्य महादोष है । इस बात पर (तीर्थ-उच्छेदन) धर्मभीरु जीव को अवश्य विचार करना चाहिए । (-'योगाष्टक' श्लोक ८ का टब्बा)

तात्पर्य यह है कि स्थानादि ५ योग, इच्छादि ४ योग और प्रीति आदि ४ योग का मार्ग दिखाकर पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने मोक्ष मार्ग के इच्छुक जीवों को सुन्दर सरस मार्गदर्शन दिया है । भोग की भूलभूलैया से बाहर निकल, योग के मार्ग पर प्रयाण करने के लिए प्रस्तुत योगाष्टक का गंभीर चिन्तन करना चाहिए । साथ ही साथ '**योगविंशिका**' ग्रन्थ का भी गहरा अध्ययन करना चाहिए, जिससे विशेष अवबोध प्राप्त होगा ।

● ● ●

२८. नियाग (यज्ञ)

सम्भव है कि आधुनिक युग में तूमने यज्ञ का अनुष्ठान नहीं देखा होगा !

भूतकाल की तरह आज इतने बड़े पैमाने पर, व्यापक रुप में यज्ञ का आयोजन कहीं देखने में नहीं आता । फिर भी जो यज्ञनियाग होते हैं, क्या वह वास्तविक हैं ? सच्चा यज्ञ कैसे होता है, उनकी क्रियाएँ क्या हैं ?

यहाँ तुम्हें यज्ञ में प्रयोग किये जानेवाले शब्द पठन हेतु मिलेंगे और तुम स्वयं स्वतंत्र रूप से यज्ञ कर सकोगे बिना किसी बात साधना और सहायता से ! ऐसी प्रक्रियाएँ इस अष्टक मैं बतायी गयी हैं । ऐसा महाकल्याणकारी यज्ञ हम नित्यनियम से करने का संकल्प करें तो... !!!

यः कर्म हुतवान् दिप्ते ब्रह्माग्नौ ध्यानध्याय्या !
सो निश्चितेन यागेन नियागप्रतिपत्तिमान् ॥२८॥१॥

अर्थ : प्रदीप्त बाह्य रुपी अग्नि में जिसने ध्यान रुपी वेद की ऋचा (मन्त्र) द्वारा कर्मों का होम कर दिया है, ऐसा मुनि निर्धारित भावयज्ञ द्वारा नियाग को प्राप्त हुआ है ।

विवेचन : यज्ञ-याग !

जैन धर्म और यज्ञ-याग ?

अरे भाई ! चौंक न पडो ! यहाँ ऐसे दिव्य यज्ञ का वर्णन किया गया है कि जिसे आत्मसात् कर तुम मन्त्रमुग्ध हो उठोगे ! यहाँ वेदों की विकृति में से उत्पन्न यज्ञ की बात नहीं है । ना हीं अश्वमेघ यज्ञ है, ना हि पितृमेघ यज्ञ

की बात है ! ठीक वैसे ही जड़ हिंसात्मक क्रियाकाण्ड नहीं है, अज्ञान जीवों की बलि चढाने का कोई प्रपंच नहीं है ।

कलिकालसर्वज्ञ आचार्य भगवन्त श्री हेमचन्द्राचार्य ने, अपने मूल्यवान् ग्रन्थ 'त्रिषष्टीशलाका पुरुष चरित्र' में, हिंसक यज्ञों की उत्पत्ति का रहस्य नारद मुनि के मुख से लंकेश रावण को बताया है। वैर का बदला लेने की तीव्र लालसा के कारण उत्पन्न कषायों द्वारा हिंसक यज्ञों के पैदा होने का मर्मभेदी इतिहास बताया है ।

जैनेतर संप्रदायों में यज्ञ की उत्पत्ति को लेकर विविध मंतव्य प्रचलित हैं ! उनमें से एक मंतव्य यह भी है : प्रलय से पृथ्वी के बच जाने के बाद वैदस्विद् मनु ने सर्वप्रथम यज्ञ किया था ! तब से आर्य प्रजा में, पृथ्वी पर सूर्य के प्रतिनिधि अग्निदेव को प्रसन्न करने हेतु आहुति देने की प्रथा चल पडी है! सामान्यतः ब्राह्मण-ग्रन्थ यज्ञ की सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्रियाओं का विधान करते हैं ।

जिस तरह उपनिषदों में यज्ञ को, जड क्रियाविधि के बजाय अध्यात्म का रूप प्रदान किया गाया है, ठीक उसी तरह पूज्य उपाध्याय जी महाराज भी यज्ञ का एक अभिनव रूपक सबके समक्ष उपस्थित करते हैं !

जाज्वल्यमान ब्रह्म साक्षात् अग्नि है !

ध्यान (धर्म-शुक्ल) वेद की ऋचाएँ हैं !

कर्म (ज्ञानावरणादि) समिध (लकडियाँ) हैं !

ब्रह्म रूपी प्रदीप्त अग्नि में ध्यान रूपी ऋचाओं के उच्चारण के साथ ज्ञानावरणादि कर्मों का होम करना ही नियाग है ! नियाग यानी भावयज्ञ ! केवल् क्रिया-काण्ड द्रव्य-यज्ञ है ! नियाग (भावयज्ञ) के कर्ता मुनि कैसा हो... उसके समग्र व्यक्तित्व का वर्णन **'उत्तराध्ययन'** सूत्र में किया गया है :

सुसंवुडापंचहिं संवरेहिं इह जीवियं अणवकंखमाणा ।
वोसट्ठकाया सुचइत्तदेहा जहाजवं जयइ जन्नसेट्ठं ॥

"पाँच संवरों से सुसंवृत्त, जीवन के प्रति अनाकांक्षी / उदासीन, शरीर के प्रति ममत्वहीन, पवित्र और देहाध्यास के त्यागी, कर्म-विजेता मुनि सर्व श्रेष्ठ

यज्ञ करते हैं !"

प्रस्तुत अष्ट में 'यज्ञ' के वास्तविक एवं मार्मिक स्वरुप का वर्णन किया गया है ।

पापध्वंसिनि निष्कामे ज्ञानयज्ञे रतो भव !
सावद्यैः कर्मयज्ञैः किं भूतिकामनयाऽऽविलैः ॥२८॥२॥

अर्थ : पापों का नाश करनेवाले और कामनारहित ऐसे ज्ञान-यज्ञ में आसक्त हो ! सुखेच्छाओं से मलीन पापमय कर्म-यज्ञों का क्या प्रयोजन है ?

विवेचन : तुम्हारे जीवन का लक्ष्य क्या है ? मन-वचन-काया के पुरुषार्थ की दिशा कौन सी है ? कौन सी तमन्ना मन में संजोये जीवन बसर कर रहे हो ? क्या पाप-क्षय करना तुम्हारा उद्देश्य है ? अपनी आत्मा को निर्मल / विमल बनाने की उत्कट महेच्छा है ? यदि यह सच है तो अविलम्ब ज्ञान-यज्ञ में जुड जाओ !

ऐसी परिस्थिति में पाँच इन्द्रियों को क्षणिक तृप्ति देनेवाले सुख की कामना हृदय के किसीकोने में भी नहीं होनी चाहिए । 'मुझे परलोक / स्वर्गलोक में दिव्य सुखों की प्राप्ति होगी !' ऐसी सुप्त कल्पना तक कहीं छिपी नहीं होनी चाहिए ! यह कभी न भूलो कि समस्त सुखों के प्रति निःस्पृह-निरागी बनकर ही ज्ञानयज्ञ करना है ॥

क्या तुम्हें यह कहना है कि 'पापों का नाश करना, क्षय करना यह भी एक प्रकार की कामना ही है न ?' अवश्य है, लेकिन उसमें निष्काम भावना का तत्त्व अखंड रहा हुआ है । अतः उक्त कामना तुम्हें पापाचरण की दिशा में कभी अग्रेसर नहीं करेगी ! निःशंक, निश्चल और निर्भय बनकर पाप-क्षय के लिये ज्ञान यज्ञ आरम्भ करो ।

इस धरती पर स्वर्ग, पुत्र-परिवार, धन-संपदा आदि क्षुद्र कामनाओं की पूर्ति हेतु किये जानेवाले यज्ञ की अग्नि में आत्मा उज्ज्वल नहीं बनती अपितु जल जाती है ? ऐहिक-पारलौकिक सुखेच्छाओं के वशीभूत आत्मा मलिन और पापी बनती है । भोगैश्वर्य की कुटिल कामना आत्मा को मूढ बनानेवाली है । ऐसी

कामनाओं की पूर्ति हेतु यज्ञ मत करो। भोगैश्वर्य के तीव्र प्रवाह में प्रवाहित जीव घोर हिंसक यज्ञ करने के लिए तत्पर बनता है।

घू-घू जलती आग की प्रचंड ज्वालाओं में निरीह पशुओं की बलि देकर (देवी-देवताओं को प्रसन्न करने की मिथ्या कल्पना से) मानव स्वर्गीय सुख की कामना करता है। क्योंकि '**भूतिकामः पशुमालभेत**' सदृश मिथ्या श्रुतियों का आधार जो उसे उपलब्ध हो जाता है ! यज्ञ करनेवाला और करानेवाला प्रायः मांसाहार का सेवन करता है ! शराब के जाम गले में उंडेलता है... और मिथ्या शास्त्रों का आलम्बन ले, अपना बचाव करता हैं। परनारी-गमन को भी वे धर्म के ही एक आचरण की मिथ्या संज्ञा देते हैं ! इस तरह महाविनाशकारी रौरव नरक में ले जानेवाले पापों का, यज्ञ के नाम पर आचरण करते हैं !

हमें ऐसे घृणित हिंसक यज्ञ का सरेआम प्रतिपादन करनेवाले मिथ्या शास्त्रों से सदा दूर रहना चाहिए। ज्ञान-यज्ञ में हीं सदैव लीन रहना चाहिए। अपना जीव यज्ञ कुंड है। तप अग्नि है। मन-वचन-काया का पुरुषार्थ घृत उंडेलनेवाली कलछी है ! शरीर अग्नि को प्रदीप्त / प्रज्वलित करने का साधन है, जबकि कर्म लकडिया हैं ! संयम साधना शान्ति-स्तोत्र है... 'श्री उत्तराध्ययन' सूत्र के 'यज्ञीय-अध्ययन में ज्ञान-यज्ञ का इस तरह वर्णन किया गया है !

वेदोक्तत्वान् मनःशुद्ध्या कर्मयज्ञोऽपि योगिनः !
ब्रह्मयज्ञ इतिच्छन्तः श्येनयागं त्यजन्तन्ति किम् ? ॥२८॥३॥

अर्थ : "वेदों में कहा गया होने से मनः शुद्धि द्वारा किया गया कर्मयज्ञ भी ज्ञानयोगी के लिए ब्रह्म यज्ञ-स्वरुप है।" ऐसी मान्यतावाले भला 'श्येनयज्ञ' का त्याग क्यों करते हैं ?

विवेचन : 'वेदोक्त है अतः सच्चा', यह मान्यता कैसे स्वीकार की जाए ? भले ही मनःशुद्धि हो और सत्त्वशुद्ध भी हो, फिर भी ऐसा कर्म यज्ञ कदापि उपादेय नहीं है, जिस में घोर हिंसा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है और जिस में अज्ञानता की दृष्टि रही हुई है !

वेदोक्त यज्ञ के आयोजकों से कोई प्रश्न करें कि, 'यदि हम मानसिक -

शुद्धि सह 'श्येनयज्ञ' का आयोजन करें तो ?' वे उसका निषेध करेंगे ! वास्तव में वेदोक्त यज्ञों के परमार्थ को आत्मसात् किये बिना ही सिर्फ अपनी ही मति-कल्पना के वशीभूत हो, हिंसाचार-युक्त पापप्रचुर यज्ञ कदापि स्वीकार्य नहीं हो सकते, ना ही कर्मयज्ञ को ब्रह्मयज्ञ कह सकते हैं ।

सर्वप्रथम ध्येय की शुद्धि करो । कहाँ जाना है ? क्या पाना है ? इसका स्पष्टीकरण होना आवश्यक है ! क्या मोक्ष में जाना है ? मोक्ष का ध्येय स्पष्ट हो गया है ? विशुद्ध आत्म-स्वरुप प्राप्त करना है ? तब पाप-प्रचुर कर्मयज्ञ करने का क्या प्रयोजन ? अर्थात् ऐसे यज्ञ का कोई प्रयोजन नहीं है । अपने जीवन का हर पल, हर क्षण ज्ञान-यज्ञ में लगा दो ? बस, दिन-रात अहर्निश ज्ञान-यज्ञ शुरू रहना चाहिए ।

ब्रह्मयज्ञः परं कर्म गृहस्थस्याधिकारिणः ।
पूजादि वीतरागस्य ज्ञानमेव तु योगिनः ॥२८॥४॥

अर्थ : अधिकारी गृहस्थ के लिए केवल वीतराग का पूजन-अर्जन आदि ब्रह्म यज्ञ है, जबकि योगी के लिए ज्ञान ही ब्रह्मयज्ञ है ।

विवेचन : क्या ब्रह्मयज्ञ करने का अधिकार सिर्फ मुनिवरों को ही है ? क्या योगीजन ही ब्रह्मयज्ञ कर सकते हैं ? जो गृहस्थ हैं, उन्हें क्या करना चाहिए ? क्या गृहस्थ ब्रह्मयज्ञ नहीं कर सकते ? अवश्य कर सकते हैं, लेकिन इसके वे अधिकारी होने चाहिए, योग्यता प्राप्त करनी चाहिए ! योग्यता प्राप्त किये बिना वे ब्रह्मयज्ञ नहीं कर सकते और वह योग्यता है मार्गानुसारी के पैंतीस गुणों की। 'न्यायसम्पन्न-वैभव' से लगाकर 'सौम्यता' पर्यंत मार्गानुसारी के पैंतीस गुणों से मानव-जीवन सुरभित होना चाहिए । तभी वह ब्रह्मयज्ञ करने का अधिकारी है।

गृहस्थ-जीवन में थोड़े-बहुत प्रमाण में हिंसादि पाप अनिवार्य होते हैं । फिर भी अगर जीवन मार्गानुसारी है तो वह ब्रह्मयज्ञ कर सकता है ! उसका ब्रह्मयज्ञ है वीतराग का पूजन-अर्चन, सुपात्रदान और श्रमण-सेवा । हालाँकि इस तरह का ब्रह्मयज्ञ करने से दो प्रश्न उपस्थित होते हैं ! लेकिन उसका सरल / सहज भाव से समाधान करने से और उसे मान्य करने से मन निःशंक बनता है ।

प्रश्न : परमात्म-पूजन या सुपात्र-दान, साथ ही साधुसेवा और साधर्मिक भक्ति में राग अवश्यम्भावी है जबकि जिनेश्वरदेव ने राग को हेय कहा है, तब परमात्म-पूजनादि स्वरुप ब्रह्मयज्ञ भला उपादेय कैसे सम्भव है ?

समाधान : राग दो प्रकार का होता है : प्रशस्त और अप्रशस्त । नारी, धनसम्पदा, यश-वैभव और शरीर जैसे पदार्थों के प्रति जो राग होता है वह अप्रशस्तराग कहा गया है ! जबकि परमात्मा, गुरु और धर्म विषयक राग प्रशस्त-राग कहलाता है । अप्रशस्त राग के मुक्ति पाने हेतु प्रशस्त राग का अवलम्बन ग्रहण करना ही पड़ता है । प्रशस्त-राग के दृढ़ होने पर अप्रशस्त-राग की शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होती जाती है । प्रशस्त-राग में पाप-बन्धन नहीं होता ! अतः जिन जिनेश्वर देवने अप्रशस्त राग को हेय बताया है, वे ही जिनेश्वर भगवन्त ने प्रशस्त राग को उपादेय कहा है । यह सर्व सापेक्षदृष्टि की देन है !

प्रश्न : माना कि प्रशस्त-राग उपादेय है, लेकिन परमात्म-पूजन में प्रयोजित जल, पुष्प, धूप, दीपादि पदार्थों के उपयोग से हिंसा जो होती हे, तब ऐसी हिंसक-क्रिया का अर्थ क्या है ? साथ ही हिंसक क्रियाओं से युक्त अनुष्ठान को 'ब्रह्मयज्ञ' कैसे मान लें ?

समाधान : हालाँकि परमात्मा की द्रव्यपूजा में **'स्वरूपहिंसा'** सम्भवित है । लेकिन अनेक आरम्भ-समारम्भ में रत गृहस्थ के लिए द्रव्य-पूजा आवश्यक है । स्वरूपहिंसा से सम्पन्न कर्म-बन्धन नहीं के बराबर होते हैं । द्रव्य पूजा के कारण उत्पन्न शुभ भावों से वे पापकर्म नष्ट हो जाते हैं । गृहस्थ शुद्ध ज्ञानदशा में रमण नहीं कर सकता है, अतः उसके लिए द्रव्य-क्रिया करना अनिवार्य है। द्रव्य-पूजा के माध्यम से परमात्मा के प्रति जीव का प्रशस्त-राग का अनुबन्धन होता है । साथ ही उक्त रागानुबन्धन से प्रेरित हो, परमात्मा की आज्ञा का पालन करने की शक्ति प्राप्त होती है और शक्ति बढने पर, क्रमशः वृद्धि होने पर वह गृहस्थ-जीवन का परित्याग कर मुनि-जीवन का स्वीकार कर लेता है । तब उसके लिए द्रव्य-क्रिया आवश्यक नहीं होती, जिससे स्वरूपहिंसा सम्भव है ।

एक प्रवासी ! गर्मी का मौसम ! मध्याहन का समय ! सतत प्रवास

से श्रमित । मारे प्यास के गला सुख रहा है । भीषण आतप से अंग-प्रत्यंग झुलस रहा है ! आकुल-व्याकुल हो चारों ओर दृष्टि-पात करता है । नजर पहुँचे वहाँ तक न कोई पेड़ है, ना ही प्याऊ अथवा कुआँ मन्थर गति से आगे बढ़ता है। यकायक नदी दिखायी देती है । प्रवासी राहत की सांस लेता है । लेकिन नजदीक जाने पर वह भी सुखी नजर आती है । वह मन ही मन विचार करता है : "थक गया हूँ ! पानी का कहीं ठोर-ठिकाना नहीं । प्यास की वेदना सही नहीं जाती ! यह नदी भी सुखी है । अगर गड्ढा खोदूं तो पानी मिल भी जाए, लेकिन थकावट के कारण इतनी शक्ति नहीं रही । साथ ही गड्ढा खोदते हुए वस्त्र भी गन्दे हो जाएँगे... तब क्या करूँ ?" कुछ क्षण वह शून्यमनस्क खड़ा रहा । विचार-तरंगें फिर उठने लगीं । "भले थक गया हूँ, वस्त्र मलिन हो जाएँगे, लेकिन गड्ढा खोदने के पश्चात् जब पानी मिलेगा तब मेरी प्यास बुझ जाएगी, राहत की साँस ले सकूँगा; शान्ति का अनुभव होगा और मलिन वस्त्र स्वच्छ भी कर सकुँगा; सहसा उसमें अदम्य उत्साह का संचार हुआ ! उसने गड्ढा खोदा ! थोड़ी-सी मेहनत से ठंडा पानी मिल गया ! जी भर कर पानी पिया, अंग-प्रत्यंग पर पानी छिडक कर राहत की साँस ली, दिल खोल कर नहाया और कपड़े धोये ।

ठीक वैसे ही जिनपूजा करते हुए स्वरुपहिंसा के कारण भले ही आत्मा तनिक मैली हो जाएँ । लेकिन जिनपूजा के कारण जब शुभ और शुद्ध अध्यवसाय का प्रगटीकरण होगा तब निःसन्देह आत्मा का सर्व मल धुल जाएगा ! भव-भ्रमण का सारा श्रम क्षणार्ध में शान्त हो जाएगा और परमानन्द की प्राप्ति होगी । गृहस्थ को यों ब्रह्मयज्ञ करना है, जबकि संसार-त्यागी अणगार को तो ज्ञान का ही ब्रह्मयज्ञ करना है ! उसके लिए जिनपूजा का द्रव्य-अनुष्ठान आवश्यक नहीं ।

भिन्नोद्देशेन विहितं कर्म कर्मक्षयाक्षमम् ।
कल्पितभिन्नाधिकारं च पुत्रेष्ट्यादिवदिष्यताम् ॥२८॥५॥

अर्थ : भिन्न उद्देश्य को लेकर शास्त्र में उल्लेखित अनुष्ठान कर्म-क्षय करने में असमर्थ है । कल्पित है भिन्न अधिकार जिसका, ऐसा पुत्र प्राप्ति के लिये किया जाता यज्ञ वगैरह की तरह मानो ।

विवेचन : तुम्हारा उद्देश्य क्या स्पष्ट है ? तुम्हारा ध्येय निश्चित है ? तुम्हें

क्या प्राप्त करना है ? क्या बनना है ? कहाँ जाना है ? जो तुम्हें प्राप्त करना है और जिसके लिए तुम पुरुषार्थ कर रहे हो क्या वह प्राप्त होगा ? जो तुम बनना चाहते हो, वैसे क्या तुम्हारी प्रवृत्ति से बन पाओगे ? जहाँ तुम्हे जाना है, वहाँ तुम पहुँच सकोगे क्या ?

वास्तव में देखा जाएँ तो तुम्हारे सारे कार्य-कलाप इच्छित उद्देश्य / ध्येय से शत-प्रतिशत विपरीत हैं। तुम्हें सिद्धि प्राप्त करनी है न ? परम आनन्द, परम सुख की प्राप्ति हेतु तुच्छ आनन्द और क्षणिक सुख से मुक्ति चाहते हो ? तुम्हें परमगति प्राप्त करनी है क्या ? तब चार गति के परिभ्रमण से मुक्त होना चाहते हो ? तुम्हें सिद्ध-स्वरूपी बनना है ? तब निरंतर परिवर्तनशील कर्म-जन्य अवस्था से छूटने का पुरुषार्थ करते हो ? तुम्हें शाश्वत्-शान्ति की मंजिल पहुँचना है न ? तब सांसारिक अशान्ति, सन्ताप और क्लेश से परिपूर्ण स्थानों का परित्याग करने की तत्परता रखते हो न ?

तुम्हारा लक्ष्य है इन्द्रियजन्य विषय-भोगों का और पुरुषार्थ करते हो धर्म का ! तुम्हें चार गति में सतत परिभ्रमण करना है और प्रयत्नशील हो धर्म-ध्यान के लिए ! तुम्हें आकण्ठ डूबे रहना है कर्मजन्य प्रयत्नशील अवस्था में और मेहनत करते हो धर्म की ! उफ् कैसी विडम्बना है कथनी और करनी में ? यदि हमारा ध्येय और पुरुषार्थ परस्पर विरोधी होगा तो कार्य-सिद्धि असम्भव है।

कर्मक्षय के पुरुषार्थ और पुण्य-बन्धन के पुरुषार्थ में जमीन-आसमान का अन्तर है। पुण्य-बन्धन हेतु आरम्भित पुरुषार्थ से कर्म-क्षय असम्भव है। हालाँकि पुण्य-बन्धन के विविध उपाय शास्त्रों में अवश्य बताये गये हैं। लेकिन उन उपायों से कर्म-क्षय अथवा सिद्धि नहीं होगी, पुण्य-बन्धन अवश्य होगा !

कोई कहता है : "हिंसक यज्ञ में भी विविदिषा (ज्ञान) विद्यमान है।" लेकिन यह सत्य नहीं है। हिंसक यज्ञ का उद्देश्य अभ्युदय है, नि:श्रेयस् नहीं। साथ ही नि:श्रेयस के लिए हिंसक यज्ञ नहीं किया जाता ! पुत्र-प्राप्ति के लिए सम्पन्न यज्ञ में विविदिषा नहीं होती, ठीक उसी तरह सिर्फ स्वर्गीय सुखों की कामना से सम्पन्न दानादि क्रियाएँ भी सुख-प्राप्ति हेतु नहीं होतीं।

अलबत्त, दानादि क्रियाओं को यहाँ हेय नहीं बतायी गयी हैं, परन्तु उससे

पुण्य-बन्धन होता है, यह बताया गया है। यदि तुम्हारा ध्येय कर्मक्षय ही है, तो ज्ञान-यज्ञ करो ! लेकिन ऐसी भूल कदापि न करना की पुण्य-बन्धन की क्रियाओं का परित्याग कर पाप-बन्धन की क्रियाओं में सुध-बुध खो बैठो और कर्म-क्षय का उद्देश्य ही भूल जाओ।

ब्रह्मार्पणमपि ब्रह्मयज्ञान्तर्भावसाधनम् ।
ब्रह्माग्नौ कर्मणो युक्तं स्वकृतत्वस्मये हुते ॥२८॥६॥

अर्थ : ब्रह्म यज्ञ में अन्तर्भाव का साधन, ब्रह्म को समर्पित करना, लेकिन ब्रह्मरूप अग्नि में कर्म का और स्व-कर्तृत्व के अभिमान का योग करते हुए भी युक्त है।

विवेचन : गीता में श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं :

कांक्षतः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मणा ॥

—अध्याय, ४ श्लोक १२

"मानव-लोक में जो लोग कर्मों की फलसिद्धि को चाहते हुए देवी-देवताओं का पूजन करते हैं, उन्हें कर्म-जन्य फलसिद्धि ही प्राप्त होती है।"

प्राकृत मनुष्य सदैव कर्म करता रहता है और फल की इच्छा संजोये निरंतर दुःखी रहता है। इस दुर्दशा में से जीवों को मुक्त करने उपदेश दिया जाता है कि कर्म के कर्तृत्व का मिथ्याभिमान हमेशा के लिए छोड दो ! 'यह मैंने किया है, इसका कर्ता मैं हूँ !' आदि कर्तृत्व के अहंकार को ब्रह्मरूप अग्नि में स्वाहा कर दो, होम दो और नित्य प्रति यह भावना जागृत रखो कि 'मैं कुछ भी नहीं करता।' इसी भावना से कर्मक्षय सम्भव है। यही कर्मयज्ञ ब्रह्मयज्ञ का मूल साधन है। गीता में कर्तृत्व के अभिमान को तजने को कहा गया है :

ब्रह्मोर्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥—अध्याय ४, श्लोक २४.

"अर्पण करने की क्रिया ब्रह्म है। होमने की वस्तु ब्रह्म है। ब्रह्मरूप

अग्नि में ब्रह्मरूप होमनेवाले ने जो होमा है वह भी ब्रह्म है और ब्रह्मरूप कर्म-समाधिवाले का प्राप्ति-स्थान भी ब्रह्म है ।

अर्थात् 'जो कुछ है, वह ब्रह्म है... ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं । न मैं हूँ और ना ही कुछ मेरा है ! इस तरह 'अहं' को भूलने के लिए ही यज्ञ करना है । जो कुछ भी है, उसे ब्रह्म में ही होम देना है । 'अहं' को भी ब्रह्म में स्वाहा कर देना है । यही वास्तविक ब्रह्मयज्ञ है । 'अहं' रुपी पशु को ब्रह्म में स्वाहा कर यज्ञ करने का उपदेश दिया गया है ।

जो कुछ बुरा हुआ तब 'में क्या करूँ भगवान की यही मर्जी थी ।' कह कर जीव उसे भगवान को अर्पण कर देता है, उनके नाम पर थोप देता है । लेकिन जो अच्छा होता है, इच्छानुसार होता है और मन-पसंद भी, 'वह मैंने किया है... मेरे पुण्योदय के कारण हुआ है ।' कह कर मिथ्याभिमान का सरेआम ढिंढोरा पीटना निरी मूर्खता और मूढता है । जबकि भगवान के अस्तित्व के प्रति अटूट श्रद्धाधारक तो प्रायः यही कहता है कि 'जो कुछ होता है भगवान की मर्जी से होता है ।' उसके हर विचार, हर चिंतन और प्रत्येक व्यवहार का सूत्र भगवान के साथ जुडा हुआ है ! उसमें अपना कुछ भी नहीं होता, ना ही अहंकार का नामोनिशान !

'नाहं पुद्गलभावानां कर्ता कारयितापि च ।'

"मैं पुद्गलभावों का कर्ता नहीं हूँ, ना ही प्रेरक भी ।' यह विचार ग्रन्थकार महर्षिने हमें पहले ही बहाल कर दिया है । अतः कर्तृत्व का मिथ्याभिमान ब्रह्मयज्ञ में नष्ट कर दो-यही इष्ट है, इच्छनीय भी ।

ब्रह्मण्यर्पितसर्वस्वो ब्रह्मदृग् ब्रह्मसाधनः ।
ब्रह्मणा जुह्वदब्रह्म ब्रह्मणि ब्रह्मगुप्तिमान् ॥२८॥७॥

ब्रह्माध्ययननिष्ठावान् परब्रह्मसमाहितः !
ब्रह्मणो लिप्यते नाऽघैर्नियागप्रतिपत्तिमान् ॥२८॥८॥

अर्थ : जिसने अपना सर्वस्व ब्रह्मार्पण किया है, ब्रह्म में ही जिसकि

दृष्टि है और ब्रह्मरूप ज्ञान ही जिसका एकमात्र साधन है-ऐसा (ब्राह्मण) ब्रह्म में अज्ञान (असंयम) को नष्ट करता ब्रह्मचर्य का गुप्ति धारक, 'ब्रह्माध्ययन'★ का मर्यादावान् और पर ब्रह्म में समाधिस्थ भावयज्ञ को स्वीकार करनेवाला निर्ग्रन्थ किसी भी पाप से लिप्त नहीं होता ।

विवेचन : खुद का कुछ भी नहीं ! जो कुछ है सब ब्रह्म-समर्पित ! धन-धान्य, ऐश्वर्य-वैभवादि तो अपना नहीं ही, यहाँ तक कि शरीर भी अपना नहीं... । अरे, शरीर तो स्थूल है, लेकिन सूक्ष्म ऐसे मन के विचार भी अपने नहीं... । किसी विचारविशेष के लिए हठाग्रह नहीं ! उसकी दृष्टि सिर्फ ब्रह्म की ओर ही लगी रहती है । सिवाय ब्रह्म के कुछ दृष्टिगोचर नहीं होता ! भले ही फिर उसकी ओर अनगिनत नजरें लगी हों... लेकिन उसकी निर्निमेष दृष्टि सिर्फ ब्रह्म की ओर ही लगी रहती है ! साथ ही उसके पास जो ज्ञान होता है वह भी ब्रह्मज्ञान ही होता है । ब्रह्मज्ञान अर्थात् आत्म-ज्ञान ! उपयोग सिर्फ आत्म-ज्ञान का हीं, अर्थात् सदैव मानसिक जागृति के माध्यम से ब्रह्म में लीनता ही अनुभव करें ।

और जबतक उसके पास अज्ञान के इंधन हो तबतक वह उसे ब्रह्म में ही स्वाहा करता रहे । जलाकर भस्मीभूत कर दें । साथ ही ब्रह्म की लीनता में बाधक ऐसे हर तत्त्व को ब्रह्माग्नि में स्वाहा करते तनिक भी हिचकिचाहट अनुभव न करें ।

दृढ संकल्प के साथ आचरित ब्रह्मचर्य-व्रत से योगी के आत्मबल में वृद्धि होती है । वह आत्मज्ञान की अग्नि में कर्मबलि देते जरा भी नहीं थकता ! कोई आचार-मर्यादा के पालन में उसे अपने मन को नियंत्रित नहीं करना पड़ता, बल्कि वह सहज ही उसका पालन करता रहता है । **'आचारांगसूत्र'** के प्रथम श्रुतस्कंध के नौ अध्ययनों में उल्लिखित मुनि-जीवन की निष्ठाएँ वह अपने जीवन में सरलतापूर्वक कार्यान्वित करता है । क्योंकि परब्रह्म के साथ उसने एकता की कड़ी पहले ही जोड़ ली होती है ।

वास्तव में ऐसा है ब्रह्मयज्ञ और ऐसा है ब्रह्मयज्ञ का कर्ता / करनेवाला ब्राह्मण ! ब्राह्मण भला, क्या पाप-लिप्त होगा ? ऐसा ब्राह्मण भला कर्मबन्धनों में

★ परिशिष्ट में देखिए 'ब्रह्माध्ययन'

जकड जाएगा क्या ? नहीं, हर्गिज नहीं । किसी ब्राह्मणी की कुक्षी से उत्पन्न हुआ वह ब्राह्मण ? नहीं नहीं... जो ब्रह्मयज्ञ करे वह ब्राह्मण ! ब्राह्मण बनने के लिए निरे अज्ञानतापूर्ण यज्ञ-कर्म करने से काम नहीं चलता ! पूज्यपाद उपाध्यायजी महाराज ने ब्राह्मण को ही श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ कहा है । फिर भले वह श्रमण हो भिक्षु हो या निर्ग्रंथ हो-वह सिर्फ ब्रह्मयज्ञ का कर्ता और करानेवाला होना आवश्यक है ! उसके जीवन में सिवाय ब्रह्म और कोई तत्त्व न हो, पदार्थ न हो और ना ही कोई वस्तु ! उसकी तन्मयता, तल्लीनता, प्रसन्नता... जो भी हो वह ब्रह्म हो ।

सारांश : भाव-यज्ञ करो !

—निष्काम यज्ञ करो !

—हिंसक यज्ञ वर्ज्य हो !

—गृहस्थ के लिए वीतराग की पूजा ब्रह्मयज्ञ है ।

—कर्म-क्षय के उद्देश्य से भिन्न आशय को लेकर किया गया पुरुषार्थ कर्म-क्षय नहीं करता ।

—स्व-कर्तृत्व के मिथ्याभिमान को ब्रह्मयज्ञ की अग्नि में स्वाहा कर दो !

—ब्रह्मार्पण का वास्तविक अर्थ समझो !

—ब्रह्म की परिणतिवाला ब्राह्मण कहलाता है ।

● ● ●

२९. भावपूजा

मुनिराज ! आत्मदेव की आपको पूजा करनी है । स्नान करना है और ललाट-प्रदेश पर तिलक भी लगाना है ! देव के गले में पुष्पमाला अर्पित करनी है और धूप-दीप भी करना है ।

किसी प्रकार के बाह्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं, ना ही कोई बाह्य प्रवृत्ति ! यह है मानसिक भूमिका का पूजन-अर्चना । वैसे, ऐसा पूजन-अर्चन करने का अधिकार सिर्फ साधु-श्रमणों को ही है, लेकिन गृहस्थ नहीं कर सकते, ऐसी बात नहीं है । गृहस्थ भी बेशक कर सकते हैं... । परन्तु वे साधना-आराधना की दृष्टिवाले हों ।

कभी-कभार तो कर लेना ऐसी अद्‌भुत भावपूजा ! अपूर्व आह्लाद की अनुभूति होगी ।

दयाम्भसा कृतस्नानः संतोषशुभवस्त्रभृत ।
विवेकतिलकभ्राजी, भावनापावनाशयः ॥२९॥१॥

भक्तिश्रद्धानघुसृणोन्मिश्रपाटीरजद्रवैः ।
नवब्रह्मांड गतो देवं, शुद्धमात्मानमर्चय ॥२९॥२॥

अर्थ : दया रूपी जल से स्नात, संतोष के उज्ज्वल वस्त्र का धारक, विवेक, तिलक से सुशोभित, भावना से पवित्र आशयवाला और भक्ति तथा श्रद्धा-स्वरूप केसरमिश्रित चन्दन से शुद्ध आत्मा रुप देव की, नौ प्राकर के ब्रह्मचर्य रुपी नौ अंगो का पूजन करें ।

विवेचन : पूजन ? तुम्हें किस का पूजन करना है ? पूजन कर क्या प्राप्त करना है ? इस का कभी विचार भी किया है ? नहीं किया है न ? तुम पूजन करना चाहते हो; अरे, तुम किसी का पूजन कर भी रहे हो...! अगणित इच्छाएँ, कामनाएँ और अभिलाषाओं को झोली फैलाकर पूजन का फल माँग रहे हो... सच है न ? लेकिन यह तो सोचो, तुम स्वयं पूजक तो हो ना ? पुजारी हो न ? पूजक अथवा पुजारी बने बिना तुम्हारी पूजा कभी सफल नहीं होगी, ना ही तुम्हारी मनोकामनायें पूरी होंगी । तुम्हारी आकांक्षा और अभिलाषायें सफल नहीं हो सकेंगी । तभी तो कहता हूँ, सर्व प्रथम पूजक बनो, पुजारी बनो ।

इसके लिये पहला काम स्नानादि से निवृत्त होना है, नहाना है । अरे भाई, स्नान से पाप नहीं लगेगा । मैं भली-भाँति जानता हूँ कि तुम मुनि हो और सचित जल के प्रयोग से पाप के भागीदार बनोगे, यह भी हो मेरे ख्याल से बाहर की बात नहीं है । फिर भी कहता हूँ कि स्नान कर लो । हाँ, तुम्हे ऐसा जल बताऊँगा कि जिसके उपयोग से पाप नहीं लगेगा !

'दया' के जल से स्नान कर । इससे भी बेहतर है-दया के स्वस्थ, शीतल जलाशय में गोता लगा ले ! याद रख, सरोवर में स्नान करने का निषेध करनेवाले ज्ञानी पुरुष... भी तुम्हें दयासागर में गोता लगाने से रोकेंगे नहीं और ना ही तुम्हारा मार्ग अवरुद्ध करेंगे ।

हाँ, जब तुम स्नान कर दयासागर के किनारे पर आओगे, तब तुम्हारी प्रसन्नता का ठिकाना न रहेगा । क्रूरता का मल पूरी तरह धुल गया होगा और उसके स्थान पर करुणा की कोमलता छा गयी हो गयी । तुम हर प्रकार से स्वच्छ-पवित्र बन गये होंगे ।

हे साधक ! स्नान के बाद तुम्हें नये वस्त्र धारण करने हैं-शुद्ध और श्वेत वस्त्र ! धारण करोगे न ? उन वस्त्रों में तुम सुशोभित-आकर्षक लगोगे और तब तुम्हें स्वयं ही एहसास होगा कि, तुम पूजक हो । जानते हो, वस्त्रों का नाम क्या है ? वस्त्र का नाम है-'संतोष' । सचमुच, कितना प्यारा नाम है ! तुम्हें पसन्द आया ? पुद्गलभावों की तृष्णा के वस्त्र परिधान कर कोई पूजक नहीं बन सकता । क्योंकि तृष्णा में रति-अरति का द्वंद्व है और है आनन्द-उद्वेग की अगणित

तरंगें । ऐसी तृष्णा के रंग-बिरंगे वस्त्र धारण कर तुम पूजक नहीं बन सकते । अतः तुम्हें 'संतोष' के वस्त्र परिधान करने हैं । एक बार इन्हें धारण कर तू पूजक बन जा ! यदि पसन्द आ जाएँ, तो दुबारा पहनना । अर्थात् तुम्हें पौद्गलिक पदार्थों की तृष्णा का त्याग करना ही होगा, यदि तुम पूजक बनना चाहो तो ।

अरे भाई, कहाँ चल दिये ? पूजन करने ? जरा रुक जाओ । देव मन्दिर में प्रवेश करने से पूर्व तुम्हें तिलक करना होगा । ललाट-प्रदेश पर तिलक अंकित किये बिना तुम देव-मन्दिर में प्रवेश नहीं पा सकते । तुम्हारी काया दयासागर में स्नान करने से कैसी सुन्दर और लुभावनी हो गयी है ! संतोष-वस्त्र परिधान करने से तुम कैसे मोहक, आकर्षक लग रहे हो ? अब तुम 'विवेक' का तिलक लगाकर देखो । देवराज इन्द्र भी तुम्हारे सौन्दर्य की स्तुति करते नहीं थकेगा !

'विवेक' का तिलक ! विवेक यानी भेद-ज्ञान । जड़-चेतन का भेद समझ, चेतन आत्मा की ओर मुड़ना । जड-पदार्थ शरीर में रही आत्मबुद्धि का परित्याग कर, 'शरीर से मैं (आत्मा) भिन्न हूँ ।' इस तरह की श्रद्धा दृढ़ करना। **'शुद्धात्मद्रव्यमेवाहम्,' 'मैं ही शुद्ध-विशुद्ध आत्म-द्रव्य हूँ ।'** ऐसे ज्ञान से आत्मा को भावित करने का नाम ही विवेक है । ऐसे विवेक का तिलक लगाना पूजक के लिये परमावश्यक है । सदा स्मरण रखना, इस विवेक-तिलक से तुम्हारी शोभा / सुन्दरता के साथ-साथ आत्मविश्वास भी बढ़ेगा और तुम्हें प्रतीत होगा कि तुम पूजक हो ।

अब तुम्हें अपने विचारों को पवित्र बनाना है । जिस परम आत्मा का पूजन करने की तुम्हारी उत्कट इच्छा है, उनके (परमात्मा के) गुणों में तन्मयता साधने की भावनाओं के द्वारा अपने विचारों को पवित्र बनाना है । अर्थात्, शेष सभी भौतिक कामनाओं की अपवित्रता तज कर केवल परमात्मगुणों की ही एक अभिलाषा लेकर तुम्हें परमात्म-मन्दिर के द्वार पर पहुँचना है । जब तक परमात्म-गुणों का ही एक मात्र आकर्षण और ध्यान दृढ़ न हो जाए, तब तक आशय-पावित्र्य की अपेक्षा करना वृथा है... और देवपूजन के लिये आशय-पवित्रता के बिना चल नहीं सकता ।

चलो, अब केशर का सुवर्णपात्र भर लो । अरे भई, यह केशर लो और

यह चन्दन । शिला पर घिसना शुरू कर दो । भक्ति का केशर श्रद्धा के चन्दन से खूब घिसो, जी भरकर घिसो । भक्ति का लाल रंग और श्रद्धा की मोहक सौरभ। केशरमिश्रित चन्दन से पूरा सुवर्ण-पात्र भर दो ।

परमाराध्य परमात्मा की आराधना के अंग-प्रत्यंग में अदम्य उत्साह और अपूर्व आनन्द । साथ ही 'यह परमात्मा-आराधना ही परमार्थ है,' ऐसा दृढ़ विश्वास । अरे, उस प्रेम-दीवानी मीरा का तो तनिक स्मरण करो । कृष्ण के प्रति उसके हृदय में रही अपूर्व श्रद्धा और भक्ति के कारण वह प्रसिद्ध हो गयी । उसकी दुनिया ही कृष्णमय बन गयी थी ।

अब मन्दिर में चलो ।

मन्दिर को बाहर कहीं खोजने की आवश्यकता नहीं, ना ही दूर-सुदूर उसकी खोज में जाने की आवश्यकता है । तुम अपनी देह को ही स्थिर दृष्टि से, निर्निमेष नजर से निरखो । यही तो वह मन्दिर है । जानते हो, देव इसी देह-मन्दिर में बिराजमान हैं, प्रतिष्ठित हैं । लो, तुम तो आश्चर्य चकित हो गये ? वैसे, आश्चर्य करने जैसी ही बात है । देह के मन्दिर में ही शुद्ध आत्मदेव प्रतिष्ठित हैं। उनके दर्शनार्थ आँखें मूंदनी होंगी... आन्तर दृष्टि खोलनी होगी... । दिव्य विचारों का आधार लेना होगा ।

शुद्ध आत्मा का तुम्हें नवांग-पूजन करना होगा । नवविध ब्रह्मचर्य ही शुद्धात्मा के नौ अंग हैं ।

हे पुजारी । तुम शुद्ध आत्म-स्वरूप की ओर अभिमुख हो गये; दया, संतोष, विवेक, भक्ति और श्रद्धा से तरबतर हो गये । अब तो ब्रह्मचर्यपालन तुम्हारे लिए सरल हो गया । अब्रह्म की असह्य दुर्गन्ध तुम सह नहीं सकोगे । तुम्हारी दृष्टिरूप-पर्याय में स्थिर होना सम्भव नहीं; ना ही शरीर-पर्याय में लुब्ध । बल्कि तुम्हारी दृष्टि सदा-सर्वदा विशुद्ध आत्म-द्रव्य पर ही स्थिर होगी । फिर भला, नारी-कथायें सुनना और सुनाना, उनके आसन पर बैठना और नर-नारी की काम-कहानियाँ, कान लगाकर सुनने का तुम्हारे जीवन में हो ही नहीं सकता । मेवा-मिठाई, छप्पन प्रकार के भोग और रसीले फलों का स्वाद लूटने की महेफिलें जमाना अथवा इष्ट भोजन पर अकाल-पीडितों की तरह टूट पड़ना, हाथ मारने

का तुम्हारी कल्पना में हो ही नहीं सकता। शरीर का शृंगार कर या अन्य जीवों को अपनी ओर आकर्षित करने का ख्याल स्वप्न में भी कहाँ से हो ?

हे प्रिय पूजक ! पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने न जाने हमें कैसा रोमांचकारी पूजन बताया है ? यह है भाव-पूजन। यदि हम दीर्घावधि तक सिर्फ द्रव्य-पूजन ही करते रहें और एकाध बार भी भाव-पूजन की ओर ध्यान न दिया, तो क्या हम पूर्णता के शिखर पर पहुँच सकेंगे ? अतः हमें यह दिव्य-पूजन नित्य प्रति करना है।

किसी एकान्त, निर्जन भू-प्रदेश पर बैठ, पद्मासन लगाकर और आँखें मूंदकर पूजन प्रारंभ करो। फिर भले ही इसमें कितना भी समय व्यतीत हो जाए, तुम इसकी तनिक भी चिन्ता न करो। शुद्ध आत्मा-द्रव्य का घंटों तक पूजन-अर्चन चलने दो। फलतः तुम्हें अध्यात्म के अपूर्व आनन्द का-पूर्णानन्द का अनुभव होगा। साथ ही तुम साधना-पथ का महत्त्व और मूल्य समझ पाओगे। भाव-पूजा की यह क्रिया कपोलकल्पित नहीं है, बल्कि रस से भरपूर कल्पनालोक है। विषय-विकारों का निराकरण करने का प्रशस्त पथ है।

स्नान से लगाकर नवांग-पूजन तक का क्रम ठीक से जमा लो।

क्षमापुष्पस्त्रजं धर्मयुग्मक्षौमद्वयं तथा।
ध्यानाभरणसारं च, तदङ्गे विनिवेशय ॥२९॥३॥

अर्थ : क्षमा रुपी फूलों की माला, निश्चय और व्यवहार-धर्म रुपी दो वस्त्र और ध्यानरुप श्रेष्ठ अलंकार आत्मा के अंग पर परिधान कर।

विवेचन : आत्मदेव के गले में आरोपण करने की माला गूंथ ली है? तैयार कर ली है ? वह माला तुम्हें ही गूंथनी है। क्षमा की मृदु सुरभि से युक्त प्रफुल्लित पुष्पों की माला गूँथकर तैयार रख !

क्षमा के एक-दो पुष्प नहीं, बल्कि पूरी माला ! अर्थात् एकाध बार क्षमा करने से काम नहीं चलेगा, अपितु बार-बार क्षमा की सौरभ फैलानी होगी। क्षमा को सदैव हृदय में बिठाये रखो...। क्षमा-पुष्प की मीठी महक ही तुम्हारे अंग-प्रत्यंग से प्रस्फुरित होती रहे ! जिस मनुष्य के गले में गुलाब के पुष्पों की माला

हो, उसके पास यदि कोई जाए तो भला किस चीज की सुवास आएगी ? गुलाब की न ? इसी तरह हे साधक ! यदि कोई तुम्हारे निकट आए तो वह क्षमा की सौरभ से तरबतर हो जाना चाहिये । फिर भले ही वह साधु हो या कोई खूँखार डकैत, ज्ञानी हो या अज्ञानी, निर्दोष हो या दोषी !

ध्यान रखना, कहीं क्षमा के पुष्प मुरझा न जाएँ । उन्हें सदैव-तरोताजा, पूर्ण विकसित रखना । क्षमा प्रदान करने का प्रसंग भला कब उपस्थित होता है ? जब कोई हमारे साथ वैर-वृत्तियुक्त व्यवहार करता है, हम पर क्रोध करता है और सरेआम हमारी निन्दा-अपमान करते नहीं अघाता । ऐसे समय हम किसी पर क्रोध न करें, पलट कर उस पर प्रहार न करें... ना ही उसके प्रति जरा भी अरूचि व्यक्त करें ! इसी का नाम क्षमा है । जानते हो न तुम : **'क्षमा वीरस्य भूषणम्'** क्षमा वीर पुरुष का अनमोल आभूषण है । यही तो रहस्य है-आत्मा के गले में क्षमा के सुगंधित पुष्पों की माला आरोपित करने का । आत्मा की यह पुष्प-पूजा है... । इसी रहस्य के प्रतीक स्वरूप मनुष्य परमात्मा की मूर्ति को पुष्प अर्पित करता है... पुष्पमाला पहनाता है ।

निश्चय धर्म और व्यवहार धर्म-ये दो सुन्दर वस्त्र हैं, जिन्हें हमें आत्म देव को परिधान कराना है । कम से कम दो वस्त्र तो शरीर पर होने चाहिए न ? एक अधो वस्त्र और दूसरा उत्तरीय और आतम-देव के दो वस्त्र हैं : **निश्चय और व्यवहार** । अकेले निश्चय से भी काम नहीं बनता, ना ही अकेले व्यवहार से । व्यवहार-धर्म आत्म देव का अधोवस्त्र है, जबकि निश्चय धर्म उत्तरीय वस्त्र ! दोनों का होना अत्यावश्यक है ।

माला और वस्त्र परिधान कराने के पश्चात् अलंकार पहनाने जरूरी हैं । बिना इनके आतमदेव की शोभा में चार चाँद नहीं लग सकते । **अलंकार का नाम है-'ध्यान'** । धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान आतमदेव के अलंकार हैं । अलंकार कीमती होने से धारण करने पर चोर-डकैतों का डर प्रायः बना रहता है । फलस्वरूप हमारा धर्मध्यान कोई चोर डकैत लूट न ले जाए, इसकी सावधानी बरतना निहायत जरूरी है ।

कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा की श्री और शोभा ध्यान से है ।

धर्म-ध्यान के चार आलम्बन : वाचना, पृच्छना (पृच्छा), परावर्तन और धर्म-कथाओं में तन्मय रहना है। श्रुतज्ञान में रमणता पाना है। चार प्रकार की अनुप्रेक्षाओं का अनुसरण करना है। अनित्य भावना भाते रहो और अशरण भावना से भावित बनो। एकत्व भावना और संसार भावना का चिन्तन-मनन करो। साथ ही आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय का निरंतर चिन्तन करो।

ख्याल रहे, हमें आत्मा का पूजन निम्नानुसार करना है—

- क्षमा-पुष्पों की माला आरोपित करना है
- निश्चय-धर्म और व्यवहार-धर्म रूपि दो वस्त्र परिधान कराना है,
- धर्म-ध्यान और शुक्लध्यान के अलंकारों से सजाना है !

आतमदेव कैसे तो सुशोभित दृष्टिगोचर होंगे ! उनके दर्शनमात्र से मन-मयूर नृत्य कर उठेगा, झूम उठेगा और तब अन्य किसी के दर्शन करने की इच्छा ही नहीं होगी !

मदस्थानभिदात्यागैर्लिखाग्रे चाष्टमंगलम् ।
ज्ञानाग्नौ शुभसंकल्पकाकतुण्डं च धूपय ॥२९॥४॥

अर्थ : आत्मा के आगे मदस्थानक के भेदों का परित्याग करते हुए अष्टमंगल (स्वस्तिकादि) का आलेखन कर और ज्ञानरूपी अग्नि में शुभसंकल्प-स्वरुप कृष्णागुरु धूप कर !

विवेचन : वर्तमान में प्रचलित पूजन-विधि में अष्टमंगल का आलेखन नहीं किया जाता। लेकिन अष्ट मंगल की पट्टी का पूजन किया जाता है।

करना है आलेखन और उद्देश्य है-आठ मदों के त्याग का। एक एक मंगल का आलेखन करते हुए एक-एक मद का त्याग करने की भावना प्रदर्शित करते रहना।

- कर्माधीन जीवों का एक गति से दूसरी गति में निरन्तर आवागमन होता

रहता है, तब भला किसकी जाति शाश्वत् रहती है ? अतः मैं जाति का अभिमान नहीं करूँगा ।

- यदि शील अशुद्ध है तो कुलाभिमान किस काम का ? साथ ही अगर मेरे पास गुण-वैभव का भण्डार है, तो भी कुलाभिमान किस काम का ?
- हड्डी-मांस और रूधिर जैसे गंदे पदार्थों के भण्डारसदृश और व्याधि वृद्धावस्था से ग्रस्त इस शरीर के सौन्दर्य का भला गर्व किसलिये ?
- बलशाली क्षणार्ध में निर्बल बन जाता है और निर्बल बलशाली ! बल अनियत है, शाश्वत नहीं है... तब उसका गर्व किसलिये ?
- भौतिक पदार्थों की प्राप्ति-अप्राप्ति कर्माधीन है तब लाभ में फलकर कुप्पा क्यों होना ?
- जब मैं पूर्वधर महान् आत्माओं के अनन्त विज्ञान की कल्पना करता हूँ, तब उनकी तुलना में अपनी बुद्धि तुच्छ लगती है। अतः बुद्धि का अभिमान किसलिये ?
- और तप का घमंड ? अरे बाह्य-आभ्यन्तर तपश्चर्या की घोर और उग्र आराधना करनेवाले तपस्वी-महर्षियों का दर्शन करता हूँ, तब अनायास मैं नतमस्तक हो जाता हूँ ।
- ज्ञान का मद हो ही नहीं सकता । जिसका आधार ग्रहण कर पार उतरना है, भला उसका आलम्बन लेकर डूबना कौन चाहेगा ? श्री स्थूलिभद्रजी का ज्वलन्त उदाहरण भूलकर भी ज्ञानमद नहीं करने देगा ।

यह है अष्टमंगल★ का आलेखन ! सुन्दर, सुगम और सरल ! आतम-देव के पूजन में इस विधि का उपयोग सही अर्थ में होना चाहिए ।

अब हमें धूप-पूजा करनी है । इसके लिए ऐसा-वैसा धूप नहीं चाहिये । कृष्णागरु धूप ही चाहिए । वह है-शुभ संकल्प । ज्ञानाग्नि में शुभ संकल्पस्वरूप

★ अष्ट मंगल में श्रीवत्स, स्वस्तिक नन्दावर्त, मत्स्ययुगल, दर्पण, भद्रासन, सरावला और कुम्भ का समावेश है ।

धूप डालकर आत्म मन्दिर में सुगन्ध फैलानी है ।

आत्मा के शुभ स्वरूप का ज्ञान ! सिर्फ आत्म-रमणता ! अशुभ का वहाँ स्थान नहीं और शुभ संकल्प की भी आवश्यकता नहीं । परमात्म-पूजन में प्रशस्त अनुराग होता है । परमात्मा के प्रति राग-अनुराग... पूजन-क्रिया की अभिरुचि यही तो शुभ संकल्प है । इन शुभ संकल्पों का आत्म-रमणता में विलीनीकरण करने की कृष्णागरू धूप की मीठी महक आत्म-मन्दिर में फैल जाती है ।

कैसी अद्‌भुत, अनोखी और अभिनव धूप-पूजा बताई है ! परमात्मा के मन्दिर में जाकर धूप-पूजा करनेवाले भाविकजन अगर प्रस्तुत दिव्य धूप-पूजा करने लगे तो ? अरे, मन्दिर की बात तो ठीक, लेकिन आत्ममन्दिर में स्थिर चित्त से धूप पूजा में मग्न हो जाए तो उक्त साधक के इर्द-गिर्द, चारों ओर कैसी मनभावन सुगन्ध फैल जाए !

आठ प्रकार के मदों के त्याग की भावना ही अष्टमंगल के आलेखन की पूजा है ।

शुभ संकल्पों का आत्मज्ञान में विलीनीकरण ही धूपपूजा है । न जाने कब ऐसा अपूर्व अवसर आएगा कि ऐसी पूजा कर परमानन्द का आस्वादन कर सकेंगे ?

प्राग्धर्मलवणोत्तारं, धर्मसन्यासवह्निना ।
कुर्वन् पूरय सामर्थ्यराजन्नीराजनाविधिम् ॥२९॥५॥

अर्थ : धर्मसन्यास रुपी अग्नि द्वारा पूर्ववर्ती क्षायोपशमिक धर्मस्वरुप लवण उतारते (उसका परित्याग करते) सामर्थ्य-योगरूपी आरती की विधी पूरी करो ।

विवेचन : धर्म-सन्यास अग्नि है ।

औदयिक धर्म और क्षायोपशमिक धर्म लवण है ।

सामर्थ्य योग सुन्दर, सुशोभित आरती है ।

पूजन-विधि में निम्नांकित दो विधियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती हैं—१. लवण उतारना और २. आरती उतारना ।

उपर्युक्त दोनों क्रियाओं को यहाँ कैसा तात्त्विक स्वरूप प्रदान किया गया है ! लेकिन इस तरह का पूजन क्षपकश्रेणि पर चढनेवाला ही कर सकता है ! जब क्षपकश्रेणी में जीव दूसरा अपूर्वकरण करता है तब तात्त्विक दृष्टि से **'धर्मसन्यास'** नामक सामर्थ्ययोग होता है, अर्थात् ऐसे प्रसंग पर योगीजन क्षमा, आर्जव और मार्दवादि क्षायोपशमिक धर्म से पूर्णतया निवृत्त होते हैं ।

लेकिन जो क्षपकश्रेणि पर आरूढ नहीं हो सकते, ऐसे जीवों के लिए भी **'धर्मसन्यास'** बताया गया है और वह है—औदायिक धर्मों का सन्यास । सन्यास का अर्थ है-त्याग । अज्ञान, असंयम, कषाय और वासनाओं के त्याग को 'धर्म-सन्यास' कहा गया है । ऐसा त्याग करना यानी लवण उतारना । ऐसा धर्म-सन्यास पाँचवें-छठे गुणस्थान पर रहे श्रावक-श्रमणों को होता है, जबकि पहले प्रकार का धर्म-सन्यास केवल क्षपकश्रेणि में ही होता है ।

धर्म-सन्यास की अग्नि में क्षायोपशमिक धर्मों को स्वाहा कर नोन (लवण) उतारने के उपरान्त ही कवि का यह कथन सिद्ध होता है :

'जिम जिम तड़ तड़ लूण ज फूटे,
तिम तिम अशुभ कर्मबन्ध ज टूटे'

लूण उतारने की स्थूल क्रिया, तात्त्विक मार्ग का एक मात्र प्रतीक है ।

अब आरती कीजिए । **सामर्थ्ययोग की आरती उतारिए** । सामर्थ्ययोग क्षपकश्रेणि में होता है । उसके दो भेद हैं-धर्म-सन्यास और योग-सन्यास । धर्म-सन्यास में लवण उतारने की क्रिया का समन्वय क्रिया, जबकि आरती में 'योगसन्यास' का समन्वय कीजिए ।

योग-सन्यास का अर्थ है-योग का त्याग । यानी कायादि के कार्यों का त्याग । कायोत्सर्गादि क्रियाओं का भी त्याग । अलबत्ता, ऐसा उच्च कोटि का त्याग केवलज्ञानी भगवन्त ही करते हैं... । हम तो सिर्फ उनके कल्पनालोक में विचरण कर क्षणार्ध के लिये केवलज्ञानियों की अनोखी दुनिया के दर्शन का

आस्वाद करते हैं ।

आतमदेव की आरती करने के लिये भले ही हम 'सामर्थ्ययोगी' न बन सकें लेकिन **'इच्छायोगी'** बन धर्म-सन्यास और योग-सन्यास की मधुरता का लाभ तो अवश्य उठा सकते हैं ।

नि:सन्देह यहाँ आत्मा की उच्चतम अवस्था का प्रतिपादन है । पूजा के माध्यम से उक्त अवस्था का यहाँ दर्शन कराया गया है । ज्ञानयोगी किस तरह पूजन करते हैं, इसकी झाँकी बतायी गयी है । ठीक वैसे ही इस प्रकार का पूजन केवल ज्ञानयोगी ही कर सकते हैं, ना कि सामान्य योगी । विशेषत: प्रस्तुत पूजन-विधि ज्ञानपरायण मुनिश्रेष्ठों के लिए ही प्रदर्शित की गयी है । संयमशील और ज्ञानी महात्मा ही ऐसा अपूर्व पूजन कर अनहद और अद्‌भुत आनन्द का अनुभव करते हैं ।

स्फुरन्मंगलदीपं च, स्थापयानुभवं पुरः ।
योगनृत्यपरस्तौर्यत्रिक-संयमवान् भव ॥२९॥६॥

अर्थ : अनुभव रुप स्फुरायमान मंगलदीप को समक्ष (आत्मा के सामने) प्रस्थापित कर । संयमयोग रुपी नृत्य-पूजा में तत्पर बन, गीत, नृत्य और वाद्य-इन तीन के समूह जैसा संयमशील बन । (किसी एक विषय में धारणा, ध्यान और समाधि को संयम कहा जाता है)

विवेचन : अब दीपकपूजा करें ।

आतमदेव के समक्ष दीपक प्रस्थापित करना है । इस दीपक का नाम है-अनुभव । पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने 'अनुभव' की अनोखी परिभाषा दी है।

'सन्ध्येव दिनरात्रिभ्यां, केवलश्रुतयोः पृथक् ।
बुधैरनुभवो दृष्टः केवलार्करुणोदयः ॥'

जिस तरह दिन और रात्रि से सन्ध्या अलग है, ठीक उसी तरह 'अनुभव' केवलज्ञान और श्रुतज्ञान से सर्वथा भिन्न, सूर्य के अरुणोदय समान है । ज्ञानी भगवन्तों ने 'अनुभव' की परिभाषा / व्याख्या इस तरह की है । केवलज्ञान के अत्यन्त समीप की अवस्था । इस 'अनुभव' को लेकर श्री आत्मदेव की दीपपूजा

करनी है ।

इस दीपक के दिव्य प्रकाश में ही आतमदेव का सत्य स्वरुप देखा जा सकता है । अतीन्द्रिय परमब्रह्म का दर्शन विशुद्ध अनुभव से ही सम्भव है । शास्त्रों के माध्यम से हमें सिर्फ 'अनुभव' की कल्पना ही करनी रही ! केवलज्ञान के अरुणोदय की मन को मुग्ध करनेवाली लालिमा की कल्पना कैसी तो मोहक और चित्ताकर्षक है ।

और अब पूजन करना है-गीत, नृत्य एवं वाद्य से । आतमदेव के समक्ष अनूठी धुन छेड़ दो । गीत की ऐसी लहरियाँ विस्फारित हो जाएँ कि जिसमें मन की समस्त वृत्तियाँ केन्द्रीभूत हो जाएँ । गाते-गाते नृत्यारंभ कर दो । हाथ में साज लेकर नृत्य करना और करना भावाभिनय । वाद्य-वादन के मीठे सुर तुम्हारे कण्ठ-स्वरों को बहका दें और नृत्यकला सोलह कलाओं से विकसित हो उठे ।

धारणा, ध्यान और समाधि, इन तीनों की एकता-स्वरूप संयम, यह आतमदेव का सर्वश्रेष्ठ पूजन है । एक ही विषय में इन तीनों की एकता होनी चाहिये । हमें अपनी आत्मा में धारणा, ध्यान और समाधि की अपूर्व एकता साधनी है ।

संयम का यह उच्चतम, उत्तुंग शिखर है और योग की सर्वोत्कृष्ट भूमिका । इस तरह आत्मा के पूजन का यह अनोखा रहस्य प्रकट कर दिया गया है । जिस तरह मन्दिर के रंग-मंडप में कोई स्वर-सम्राट झूम-झूम कर अद्वितीय सूरावलियाँ बहा रहा हो, कोई नृत्यांगना अपनी अभिनय कला का प्रदर्शन कर रही हो और इस गीत-नृत्य को साथ देनेवाला कोई महान् वाद्यवादक अद्‌भुत वीणावादन कर रहा हो; ऐसे प्रसंग पर जिस तरह सर्वत्र तन्मयता-तादात्मय का वातावरण निर्मित होता है, ठीक उसी तरह धारणा, ध्यान और समाधि के ऐक्य में संयम का अपूर्व वातावरण जम जाता है ।

ऐसे समय आतमदेव का मन्दिर कैसा पवित्र, प्रसन्न और प्रफुल्लित बन जाता होगा, इसकी स्थिर चित्त से कल्पना करें ।... इस कल्पनालोक में खो जाने पर ही उसकी वास्तविक झांकी सम्भव है ।

स्वरुप में तन्मय होने का यह उपदेश है और स्वभाव अवस्था में गमन

करने की प्रेरणा है। आत्ममस्ती और ब्रह्म-रमणता की ये अनोखी बातें हैं। यहाँ परम पूज्य उपाध्यायजी महाराज पूजन के स्थूल साधनों के आधार से मोक्षार्थी का सर्वोत्तम मार्गदर्शन कर रहे हैं।

उल्लसन्मनसः सत्यघण्टां वादयतस्त्व ।
भावपूजारतस्येत्थं, करक्रोडे महोदयः ॥२९॥७॥

अर्थ : उल्लसित मनवाला सत्य रुपी घंट बजाता और भावपूजा में तल्लीन, ऐसे तेरी हथेली में ही मोक्ष है।

विवेचन : भक्ति और श्रद्धा का केशर घोलकर आतम देव की नवांगी पूजा की, क्षमा की पुष्पमाला गूँथकर उनके अंग सुशोभित किये, निश्चय और व्यवहार के बहुमूल्य, सुन्दर वस्त्र परिधान करवा कर उन्हें सजाया और ध्यान के अलंकारों से उस देव को देदीप्यमान बनाया।

आठ मद के परित्याग रुप अष्ट मंगल का आलेखन किया। ज्ञानाग्नि में शुभ संकल्पों का कृष्णागरू धूप डाल कर आतमदेव के मन्दिर को मृदु सौरभ से सुगंधित कर दिया... । धर्म-सन्यास की अग्नि से लवण उतारा और सामर्थ्य योग की आरती की। उनके समक्ष अनुभव का मंगलदीप प्रस्थापित कर धारणा, ध्यान और समाधि स्वरुप गीत, नृत्य एवं वाद्य का अनोखा ठाठ जमाया।

मन के उल्लास की अवधि न रही... मानसिक मस्ती ने... मन्दिर में लटकते विराटकाय घंट को बजाया... और सारा मन्दिर घंटनाद से गूँज उठा... सारा नगर गूँज उठा। घंटनाद की ध्वनि ने विश्व को विस्मित कर दिया। देवलोक के देव और महेन्द्रों के आसन तक हिल उठे। 'यह क्या है ? कैसी ध्वनि है ? यह कैसा घंटनाद ?" अवधिज्ञान से देखा।

ओहो ! यह तो सत्य की ध्वनि ! परम सत्य का गुँजारव ! अवश्य आतमदेव के मन्दिर में सत्य का साक्षात्कार हुआ है-उसकी यह प्रति-ध्वनि है। आतमदेव आतम पर प्रसन्न हो उठे हैं। पूजन-अर्चन का सत्य फल प्राप्त हो गया है। उसकी खुशी का यह घंटनाद है।

चराचर विश्व में सत्य सिर्फ एक ही है और परमार्थ भी एक ही है और

वह है आत्मा । अनंत, असीम और अथाह । एक मात्र परम ब्रह्म । शेष सब मिथ्या है । परम सत्य का विश्व ही मोक्ष है ।

पूज्य उपाध्याय श्री यशोविजयजी मोक्ष हथेली में बतातें हैं । भाव पूजा में खो जाओ... मोक्ष तुम्हारे बस में है । द्रव्य पूजा के अनन्य प्रतीकों के माध्यम से मोक्षगति तक पहुँचाने के साधनस्वरुप यहाँ भाव पूजा बतायी है । इसी तात्त्विक पूजा हेतु शास्त्राध्ययन और शास्त्र परिशीलन अत्यावश्यक है । शास्त्र-ग्रन्थों में उल्लेखित क्रमिक आत्मविकास के साथ कदम मिलाकर चलना जरूरी है ।

ओह ! आतमदेव के भावपूजन की कैसी अनोखी दुनिया है ! स्थूल दुनिया से एकदम निराली । वहाँ न तो संसार के स्वार्थजन्य प्रलाप हैं और ना ही कषायजन्य कोलाहल । न राग-द्वेष के दवानल हैं, ना ही अज्ञान और मोह के आंधी-तुफान । न वहाँ स्थूल व्यवहार की गुत्थियाँ हैं और ना ही चंचलता-अस्थिरता के संकल्प-विकल्प ।

मोक्षगति की चाहना रखनेवाला और साधना-पथ पर गतिशील जीव जब प्रस्तुत भावपूजा में प्रवृत्त होता है, तब उसे अपनी चाह पूर्ण होती प्रतीत होती है । वह अनायास हथेली में मोक्ष के दर्शन करता है ।

सारा दारमदार भावपूजा पर निर्भर है । तल्लीनता-तन्मयता के लिये लक्ष्य की शुद्धि आवश्यक है । यदि आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था के लक्ष्य को लेकर भावपूजा में प्रवृत्ति हो, तो तन्मयता का आविर्भाव हुए बिना नहीं रहता। अतः साधक आत्मा का यही एकमेव लक्ष्य हो और प्रवृत्ति भी । तभी साधना के स्वर्गीय आनन्द का अनुभव सम्भव है, साथ ही प्रगतिपथ पर अग्रसर हो सकते हैं ।

द्रव्यपूजोचिता भेदोपासना गृहमेधिनाम् ।
भावपूजा तु साधूनां भेदोपासनात्मिका ॥२९॥८॥

अर्थ : गृहस्थों के लिये भेदपूर्वक उपासना रुप द्रव्यपूजा योग्य मानी गयी है । अभेद उपासना स्वरुप भावपूजा साधु के लिये योग्य है । (अलबत्त, गृहस्थों के लिए 'भावनोपनीत मानस' नामक भावपूजा होती है)

विवेचन : पूजा के दो प्रकार हैं - द्रव्यपूजा और भावपूजा । जिसके मन में जैसा आए, वैसे पूजा नहीं करनी है, अपितु योग्यतानुसार पूजा करनी है। आत्मा के विकास के आधार पर पूजन-अर्चन करना है । क्योंकि योग्यता न होने पर भी अगर पूजा की जाए, तो वह हानिकारक है ।

घर में रहे हुए और पापस्थानकों का सेवन करनेवाले गृहस्थों के लिए द्रव्य-पूजा ही योग्य है । अतः उन्हें सदैव द्रव्यपूजा करनी चाहिये । द्रव्यपूजा भेदोपासनारुप है ।

परमात्मा सदा-सर्वदा पूज्य हैं, आराध्य हैं । वे अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, वीतरागता और अनंत वीर्य के एकमेव स्वामी हैं, साथ ही अजर, अमर एवं अक्षय गति को प्राप्त हैं । स्व आत्मा से भिन्न ऐसे परमात्मा का आलम्बन ग्रहण करना चाहिए । वे उपास्य हैं और गृहस्थ उपासक है, वे सेव्य हैं और गृहस्थ सेवक है । वे आराध्य हैं और गृहस्थ आराधक है । वे ध्येय हैं और गृहस्थ ध्याता है।

गृहस्थ उत्तम कोटि के द्रव्यो से परमात्मा की प्रतिमा का भक्ति-भाव से पूजन करे । इस कार्य के लिए यदि उसे जयणायुक्त आरम्भ-समारम्भ करने पड़े, तो भी अवश्य करे ! परमात्मा के गुणों की प्राप्ति हेतु उनकी अनन्य भक्ति और उत्कट उपासना करें ।

प्रश्न : तब क्या गृहस्थ के लिये भावपूजा निषिद्ध है ?

उत्तर : नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है । वह चाहे तो भावनोपनित मानस, नामक पूजा कर सकता है । अर्थात् परमात्मा का गुणानुवाद गुण-स्मरण और परम-तत्त्व का सम्मान, गृहस्थ कर सकता है । यह एक प्रकार की भावपूजा ही है, लेकिन 'सविकल्प' भावपूजा । वह गीत, संगीत और नृत्य के द्वारा भक्ति में लीन हो सकता है ।

अलबत्त, अभेद उपासना रूप भावपूजा तो साधु ही कर सकता है । आत्मा की उच्च विकास-भूमिका पर स्थित निर्ग्रन्थ परमात्मा के साथ अभेदभाव से मिल सकता है । परमात्मा के संग स्व-आत्मा का तादात्म्य, तन्मयता प्राप्त करे, यही है वास्तविक भावपूजा !

द्रव्यपूजा और भावपूजा के भेद यहाँ भेदोपासना और अभेदोपासना की दृष्टि से बताये गये हैं। साथ हो अभेदोपासना रूपी भावपूजा के एकमात्र अधिकारी केवल निर्ग्रन्थ मुनिश्रेष्ठों को ही माना है।

परमात्म-स्वरूप के साथ आत्मगुणों की एकता की अनुभूति करनेवाला मुनि कैसा परमानन्द अनुभव करता है, उसका वर्णन करने में शब्द और लेखनी दोनों असमर्थ हैं। वस्तुतः अभेदभाव के मिलन की मधुरता तो संवेदन का ही विषय है, ना कि भाषा का !

प्रस्तुत अष्टक में पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने भावपूजा के सम्बन्ध में उत्कृष्ट मार्गदर्शन किया है। साथ ही भावपूजा में प्रयुक्त होने का उपदेश मुनिश्रेष्ठों को दिया है। अभेदभाव से परमात्मस्वरुप को अनन्य उपासना का मार्ग बताया है।

साथ ही साथ, गृहस्थ वर्ग के लिये भावपूजा का प्रकार बताकर गृहस्थ मात्र को भी भेदोपासना की उच्च कक्षा बतायी है। ताकि वह परमात्मोपासना में प्रवृत्त हो, आत्महित साध सके। अरे, आत्महितार्थ आत्म-कल्याणार्थ ही जो जीवन व्यतीत कर रहा है-उसे यह विविध उपासना का मार्ग काफी पसन्द आएगा और इस दिशा में निरन्तर गतिशील होगा।

• • •

३०. ध्यान

मुनि-जीवन में ध्यान का स्थान कैसा महत्त्वपूर्ण है, यह बात प्रस्तुत अष्टक में अवश्य पढो ! ध्याता-ध्येय और ध्यान की एकता में मुनि को दुःख नहीं होता !

परन्तु ध्याता जितेन्द्रिय, धीर-गंभीर प्रशान्त और स्थिर होना आवश्यक है ! आसनसिद्ध और प्राणायाम-प्रवीण होना चाहिए ! ऐसा ध्याता मुनि, चिदानन्द की मस्ती का अनुभव करता है और पाता है परम ब्रह्म-आनन्द का असीम, अक्षय सुख !

कल्पना, विकल्प और विचारों के शिकंजे से मुक्त हो जाओ ! विचारों के बोझ से मन को नियंत्रित न करो ! पार्थिव जगत के झंझावात से अपने मन को बचा लो। निर्बंधन बन, ध्येय के साथ एकाकार हो जाओ। ध्यान-सम्बन्धित प्रस्तुत अध्याय का चिंतन-मनन करते हुए गहरायी से अभ्यास करो !

ध्याता ध्येयं तथा ध्यानं त्रयं यस्यैकतां गतम् !
मुनिरनन्यचित्तस्य तस्य दुःखं न विद्यते ॥३०॥१॥

अर्थ : जिसे ध्यान करनेवाला, ध्यान धरन योग्य और ध्यान-तीनों की एकता प्राप्त हुई है (साथ ही) जिसका चित्त अन्यत्र नहीं है, ऐसे मुनिवर को दुःख नहीं होता !

विवेचन : मुनिवर्य ! आपको भला दुःख कैसा ? आप दुःखी हो ही नहीं सकते। आप तो इस विश्व के श्रेष्ठ सुखी मानव हैं।

पाँच इन्द्रियों का कोई भी विषय आपको दुःखी नहीं कर सकता। आपने

तो वैषयिक सुखों की प्राप्ति के बजाय उसके त्याग में ही सुख माना है न? वैषयिक सुखों की अप्राप्ति के कारण ही सारी दुनिया दुःख से चित्कार कर रही है। जबकि आपने तो, अपने जीवन का आदर्श ही सुख-त्याग को बना लिया है। इन्द्रियों के आप स्वामी हो... आपने पाँचो इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया है... ! आपकी आज्ञा के बिना उनकी कोई हरकत नहीं ! ठीक वैसे ही आपने अपने मन को भी वैषयिक सुखों से निवृत्त कर दिया है।

सांसारिक भावों से निवृत्त मन सदा-सर्वदा ध्यान में लीन रहता है ! ध्याता, ध्येय और ध्यान की अपूर्व एकता आपने सिद्ध कर ली है... फिर भला, दुःख कैसा और किस बात का ?

मुनिराज ! आपकी साधना, वैषयिक सुखों से निवृत्त होने की साधना है। जैसे जैसे आप इन सुखों से निस्पृह बनते जायें वैसे वैसे कषायों से भी निवृत्ति ग्रहण करते जायें। आप यह भलीभाँति जानते हैं कि वैषयिक सुखों की स्पृहा की कषायोत्पत्ति का प्रबल कारण है। शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के सुखों की इच्छा को ही नामशेष करने के लिए आपकी आराधना है। अतः आप अपने मन को एक पवित्र तत्त्व से बाँध लें ! ध्येय के ध्यान में आप आकण्ठ डूब जाएँ ! साथ ही अपनी मानसिक सृष्टि में इस महान् ध्येय के अतिरिक्त किसीको घुस पैठ न करने दें।

हाँ, यदि आपका मन अपने ध्येय से हट गया और किसी अन्य विषय पर स्थिर हो गया तो आपका सुख छिनते देर नहीं लगेगी ! जानते हैं न विश्वामित्र ऋषि का चित्त अपने ध्येय से च्युत हो कर रुपयौवना मेनका पर स्थिर हो गया; होते ही क्या स्थिति हुई ? उनकी सुख-शान्ति और परम ध्येय ही नष्ट हो गया ! नंदिषेण मुनि और आषाढाभूति मुनि के उदाहरण कहाँ आपसे छिपे हुए हैं ?

अतः आप सिर्फ एक ही काम कीजिए-भौतिक सुखों की स्पृहा को बहार खदेड़ दीजिए और भूलकर भी वैषयिक सुखों का कभी विचार न करिए। वैषयिक सुखों की संहारकता का और असारता का भी चिंतन न करिए। अब आप अपने निर्धारित 'ध्येय' में स्थिर होने का प्रयत्न कीजिए। जिस गति से आपकी ध्येय-तल्लीनता बढती जाएगी, ठीक उसी अनुपात में आपके सुख में वृद्धि

होती जाएगी और तब आप अनुभव करेंगे कि, 'मैं सुखी हूँ, मेरे सुख में निरंतर वृद्धि होती जा रही है ।'

आपने जब मुनि-पद प्राप्त कर लिया है तब यह शिकायत नहीं होनी चाहिए कि, 'संकल्पित ध्येय में मन स्थिर नहीं रहता ।' जिस ध्येयपूर्ति के लिए आपने भरा-पूरा संसार छोड दिया, ऋद्धि-सिद्धियों का परित्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण की, उस ध्येय में आपका मन स्थिर न हो यह सरासर असम्भव बात है । जिस ध्येय का अनुसरण करने हेतु आपने असंख्य वैषयिक सुखों का त्याग कर दिया, उस ध्येय के ध्यान में आपको आनन्द न मिले, यह असम्भव बात है ।

हाँ, सम्भव है कि आप अपने ध्येय को ही विस्मरण कर गये हो और ध्येयहीन जीवन व्यतीत करते हो तो आपका मन ध्येय-ध्यान में स्थिर होना असम्भव है । साथ ही, ऐसी स्थिति में आप सुखी भी नहीं रह सकते । आपको अपना मन ही खाता रहता है । फिर भले ही इसके लिए आप 'पापोदय' का वहाना करें अथवा अपनी भवितव्यता को दोष दें ।

ध्याता, ध्येय और ध्यान की एकता का समय ही परमानन्द-प्राप्ति की मंगल-बेला है, परम ब्रह्म-मस्ती का सुहाना समय है और है मुनिजीवन जीने का अपूर्व आह्लाद ।

ध्याताऽन्तरात्मा ध्येयस्तु परमात्मा प्रकीर्तितः ।
ध्यानं चैकाग्र्यसंवित्तिः समापत्तिस्तदेकता ॥३०॥२॥

अर्थ : ध्यान-कर्ता अन्तरात्मा है, ध्यान करने योग्य परमात्मा हैं और ध्यान एकाग्रता की बुद्धि है । इन तीनों की एकता ही समापत्ति है ।

विवेचन : अन्तरात्मा बने बिना ध्यान असम्भव है । बहिरात्मदशा का परित्याग कर अन्तरात्मा बनकर ध्यान करना चाहिए । यदि हम सम्यग्दर्शन से युक्त हैं तो निःसंदिग्धरुप से अन्तरात्मा हैं ।

जिसकि दृष्टि सम्यग् हो, वहा ध्येयरूपी परमात्मा के दर्शन कर सकता है अर्थात् एकता साध सकता है । इसी दृष्टि से सम्यग्दृष्टि जीव को ही ध्यान का अधिकार दिया गया है ।

ध्यान करने योग्य यदि कोई है, तो सिद्ध परमात्मा। आठ कर्मों के क्षय से जिन आत्माओं का शुद्ध-विशुद्ध स्वरुप प्रकट हुआ है, ऐसी शुद्धात्माएँ ध्येय हैं। अथवा वे आत्माएँ जो कि घाती कर्मों के क्षय से अरिहंत बने हैं वे ध्येय हैं। 'प्रवचनसार' ग्रन्थ में ठीक ही कहा है :

जो जाणइ अरिहंते दव्वत-गुणत्त-पज्जवत्तेहिं ।
सो जाणइ अप्पाणं मोहो खलु जाइ तस्स लय ॥

'जो अरिहंत को द्रव्य-गुण एवं पर्याय रूप में जानता है, वह आत्मा को जानता है और उसका मोह नष्ट होता है।'

अरिहंत को लक्ष्य बनाकर अन्तरात्मा ध्यान में लीन होती है। ध्यान का अर्थ है एकाग्रता की बुद्धि, सजातीय ज्ञान की धारा। अन्तरात्मा ध्येय रूपी अरिहंत में एकाग्र हो जाए। अरिहंत के द्रव्य, गुण और पर्याय सजातीय ज्ञान है। तात्पर्य यह है कि द्रव्य, गुण और पर्याय से अरिहंत का ध्यान करना चाहिए।

'**ध्यान शतक**' में ध्यान का स्वरूप दर्शाया है :

जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं चलं तयं चित्तं ।
तं होज्ज भावणा वा अणुप्पेहा वा अहव चिंता ॥

'अध्यवसाय यानी मन और स्थिर मन यही ध्यान है। चंचल मन को चित्त कहा जाता है। ध्यान की वह क्रिया भावना, अनुप्रेक्षा अथवा चिंतन स्वरुप होती है।'

हे जीव, तू अन्तरात्मा बन। विभावावस्था से सर्वथा निवृत्त हो जा। स्वभावावस्था की ओर गमन कर। आत्मा से परे... आत्मा से भिन्न ऐसे द्रव्यों की ओर दृष्टिपात भी न कर। अर्थात् जड़ द्रव्य एवं उसके विविध पर्यायों के आधार से राग-द्वेष करना बन्धकर। जब तक तुम बहिरात्मदशा में भटकते रहोगे, निःसंदेह तब तक ध्येय रुपी परमात्मा के साथ एकाकार नहीं हो सकोगे। इसीलिए कहता हुँ कि अन्तरात्मा बन। अन्तरात्मा ही एकाग्र बन सकती है। परमात्मस्वरुप की एकाग्रता बहिरात्मा के भाग्य में नहीं है।

हे आत्मन्। यदि तुम सम्यग्दृष्टि हो तो ध्यान में लीन-तल्लीन बन सकते

हो । लेकिन अगर अन्तरात्मा नहीं हो और केवल सम्यग्दृष्टि होने का ही दावा करते हो तो तुम एकाग्र नहीं बन सकते । ध्येय का ध्यान नहीं कर सकते । सम्यग्दृष्टि के साथ-साथ अन्तरात्मदशा होना निहायत आवश्यक है ।

अरिहंत के विशुद्ध और परम प्रभावी आत्म-द्रव्य का ध्यान कर । उनके अनंत-ज्ञानादि गुणों का चिंतन कर । अष्ट प्रातिहार्य आदि पर्याय का निरंतर ध्यान धर । अरिहंत-पुष्प के चारों और मधुर गुंजारव करता भ्रमर बन जा । सिवाय अरिहंत के, दुनिया की कोई चीज अच्छी न लगे । ना ही अरिहंत के सिवाय कोई ध्येय हो । भावार्थ यह कि तुम्हारी मानसिक-सृष्टि में अरिहंत के अतिरिक्त कुछ भी न हो ।

यही है ध्याता, ध्यान और समाधि की समापत्ति ।

मणीविव प्रतिच्छाया समापत्तिः परमात्मनः ।
क्षीणवृत्तौ भवेद् ध्यानादन्तरात्मनि निर्मले ॥३०॥३॥

अर्थ : मणि की भाँति क्षीणवृत्तिवाले शुद्ध अन्तरात्मा में ध्यान से परमात्मा का प्रतिबिम्ब दमक उठे, उसे 'समापत्ति' कहा है ।

विवेचन : मणि कभी देखा है ? उत्तम स्फटिक में कभी प्रतिबिम्ब उभरते देखा है ? यदि यह न देखा हो तो भी निःसंदेह, तुमने दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब उभरते तो अवश्य देखा होगा ?

मणि हो, स्फटिक हो अथवा दर्पण हो-वह गन्दे या अस्वच्छ नहीं चाहिए, बल्कि निर्मल-स्वच्छ होने चाहिये । तभी उसमें किसी का प्रतिबिम्ब उभर सकता है ।

यदि आत्मा अस्वच्छ, गन्दी और मैली हो तो उसमें परमात्मा का प्रतिबिम्ब क्या उभरेगा ? नाहक हाथ-पाँव मारने से काम नहीं चलेगा । यह सही है कि मलीन आत्मा में कभी परमात्मा का प्रतिबिम्ब नहीं उभरेगा । तब प्रश्न यह उठता है कि हमारी आत्मा में परमात्मा का प्रतिबिम्ब उभरे-ऐसी क्या हमारी हार्दिक इच्छा है ? तब हमें अपनी आत्मा को उज्ज्वल / दीप्तिमान बनानी चाहिए !

हम क्षीणवृत्ति बन जाएँ । मतलब, वृत्तियों का क्षय कर दें ! समग्र इच्छाओं का क्षय ! क्योंकि इच्छाएँ ही एकाग्रता में सर्वाधिक अवरोधक हैं । ज्यों ज्यों हम मलीनता-धुमिलता दूर करते जाएँगे त्यों त्यों हमारी आत्मा मणि की भाँति अपूर्व कांतिमय और पारदर्शक होती चली जाएगी और तब परमात्मा का प्रतिबिम्ब अवश्य उभर आएगा ।

अन्तरात्मा निर्मल हो और एकाग्रता भी हो तो परमात्मा का प्रतिबिम्ब अवश्य उभरेगा । यह 'समापत्ति' है ।

इसके लिए एक महत्त्वपूर्ण बात है क्षीणवृत्ति बनने की । समस्त इच्छा-आकांक्षाओं से मुक्ति ! एकाग्रता में सबसे बडा विघ्न है-ये इच्छाएँ । इच्छा ही परमात्मा-स्वरुप के साक्षात्कार में अवरोधक है ।

'मणेरिवाभिजातस्य क्षीणवृत्तेरसंशयम् ।
तात्स्थ्यातष्ठ तदञ्जनत्वाच्च समापत्तिः प्रकीर्तिता ॥'

'सर्वोत्तम मणि की तरह क्षीणवृत्ति आत्मा में परमात्मा के संसर्गारोप से और परमात्मा के भेद आरोप से निःसंशय 'समाप्ति' होती है !'

तात्स्थय : अन्तरात्मा में परमात्मगुणों का संसर्गारोप ।

तदञ्जनत्व : अन्तरात्मा में परमात्मा का अभेदारोप ।

'संसर्गारोप, किसे कहते हैं ? यही जानना चाहते हो न ? आरोप के दो प्रकार हैं । संसर्ग और अभेद । सिद्ध परमात्मा के अनंत गुणों में अन्तरात्मा का आरोपी यानी संसर्ग-आरोप । परमात्मा के अनंत गुणों में एकाग्रता का प्रादुर्भाव होते ही समाधि प्राप्त होती है । समाधि ही ध्यान का फल है, यही अभेद-आरोप है ।

प्रश्न : इसे भला, 'आरोप' की संज्ञा क्यों देते हो ?

उत्तर : इसका यही कारण है कि यह तात्त्विक अभेद नहीं है । परमात्मा का आत्म-द्रव्य और अन्तरात्मा का आत्म-द्रव्य, दोनों भिन्न हैं । इन दोनों के स्वतंत्र अस्तित्व का विलीनीकरण असम्भव है । दो भिन्न द्रव्य एक नहीं बन सकते । अतः भावदृष्टि से जब दोनों आत्म-द्रव्यों का संगम होता है, समरस होकर

परस्पर विलीन हो जाते हैं, तब अभेद का आरोप किया जाता है ।

हम अन्तरात्मा बनें । समस्त इच्छाओं का क्षय करें । परमात्मा का ध्यान धरें ! तब मणि सदृश हमारी विशुद्ध आत्मा में नि:संशय परमात्मा का प्रतिबिम्ब उभरेगा... ! न जाने वह क्षण कैसा धन्य होगा । क्षणार्ध के लिए आत्मा अनुभव करती है, जैसे 'मैं परमात्मा हुँ ।' '**अहं ब्रह्मास्मि !**' यह बात इस भूमिका पर सही होती है ।

आपत्तिश्च ततः पुण्यतीर्थ कृत्कर्मबन्धतः ।
तद्भावाभिमुखत्वेन सम्पत्तिश्च क्रमाद् भवेत् ॥३०॥४॥

अर्थ : उक्त समाप्ति से पुण्य-प्रकृत्तिस्वरुप 'तीर्थंकर-नामकर्म' के उपार्जन रुप फल की प्राप्ति होती है और तीर्थंकरत्व के अभिमुखत्व से क्रमशः आत्मिक सम्पत्तिरुप फल की निष्पत्ति होती है ।

विवेचन : समापत्ति ! आपत्ति ! सम्पत्ति !

समापत्ति से आपत्ति और आपत्ति से सम्पत्ति ।

'आपत्ति' का मतलब आफत नहीं, कोई दु:ख या कष्ट नहीं ! किसी प्रकार की वेदना अथवा व्याधि नहीं, बल्कि कभी भी नहीं सुना हो ऐसा अर्थ है ! यहाँ 'आपत्ति' शब्द का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ में किया गया है !

'**तीर्थंकर-नामकर्म**' उपार्जन करना यह आपत्ति है ! हाँ, समाप्ति से तीर्थंकर नामकर्म का बन्धन होता है और वह 'आपत्ति' है। जो आत्मा यह नामकर्म का उपार्जन करती है, वही तीर्थंकर बनती है और धर्मतीर्थ की स्थापना कर विश्व में धर्म-प्रकाश फैलाती है ।

कर्म आठ प्रकार के होते हैं, जिनमें से एक 'नामकर्म' है । यह नामकर्म १०३ प्रकार का है, जिसमें से एक प्रकार 'तीर्थंकर नामकर्म' है । जो आत्मा इस कर्म का बन्धन करती है, वह तीसरे भव में तीर्थंकर बनती है ।

तीसरे भव में जब उसका जन्म होता है तब से ही सम्पत्ति ! गर्भावस्था में ही तीन ज्ञान से युक्त ! स्वाभाविक वैराग्य ! यही उनकी आत्मिक सम्पत्ति

है। जबकि भौतिक सम्पत्ति भी विपुल होती है... यश, कीर्ति और प्रभाव भी अपूर्व होता है।

इत्थं ध्यानफलाद् युक्तं विंशतिस्थानकाद्यपि ।
कष्टमात्रं त्वभव्यानामपि नो दुर्लभं भवे ॥३०॥५॥

अर्थ : इस तरह ध्यान के परिणामस्वरुप 'बीस-स्थानक' आदि तप भी योग्य है, जबकि कष्टमात्ररुप (तप) अभव्यों को भी इस संसार में दुर्लभ नहीं है।

विवेचन : शास्त्रों में ऐसा उल्लेख है कि '**बीस स्थानक**' तप तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। अर्थात् तीर्थंकर भगवान् अपने पूर्व के तीसरे भव में इस तप की आराधना साधना कर तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन करते हैं।

'समाप्ति' का फल यदि अप्राप्य है। कष्ट रूप तप की आराधना अभव्य भी करते हैं। लेकिन उन्हें समापत्ति का फल कहाँ उपलब्ध होता है? अर्थात् तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन सिर्फ कष्टप्रद क्रियाएँ करने से सम्भव नहीं है। उसके लिए चाहिए समापत्ति !

जिस बीस स्थानक की आराधना करनी होती है वे निम्नानुसार होते है :

१. तीर्थंकर, २. सिद्ध, ३. प्रवचन, ४. गुरु, ५. स्थविर, ६. बहुश्रुत, ७. तपस्वी, ८. दर्शन, ९. विनय, १०. आवश्यक, ११. शील, १२. व्रत, १३. क्षणलव-समाधि, १४. तप-समाधि, १५. त्याग (द्रव्य से), १६. त्याग (भावपूर्वक), १७. वैयावच्च, १८. अपूर्व ज्ञान-ग्रहण, १९. श्रुत-भक्ति, २०. प्रवचन-प्रभावना

चौबीस तीर्थंकरों में से प्रथम ऋषभदेव एवं अंतिम महावीरदेव ने इन बीस स्थानकों की आराधना अपने पूर्वभवों मे की थी, जबकि बीच के २२ तीर्थंकर-जिनेश्वरों में से किसीने दो, किसीने तीन इस तरह अनियमित संख्या में आराधना की थी। अलबत्त, तमाम आराधना-साधना में ध्याता, ध्येय और ध्यान की एकतास्वरुप 'समाप्ति' तो थी ही। इसके बिना 'तीर्थंकर नामकर्म' बांध नहीं

सकते ।

सिर्फ तपाराधना कर संतोष करनेवाले जीवों को अवश्य सोचना चाहिए कि भले ही वे मासक्षमण कर एक-एक स्थानक की आराधना करते हों और नवकारवाली का जाप जपते हों, लेकिन जब तक ध्येय में लीनता नहीं, तब तक तप कष्टक्रिया से अधिक कुछ भी नहीं ।

देवाधिदेव महावीर देव चार-चार महीने के उपवास जैसी घोर तपस्या कर दिन-रात ध्यानावस्था में लीन रहते थे । ध्याता, ध्येय और ध्यान की एकता साधते थे... । धन्ना अणगार छठ्ठ तप के पारणे छठ्ठ तप की आराधना करते थे... और राजगृह के वैभारगिरि पर ध्यानस्थ रह, 'समापत्ति' साधते थे ।

ऐसा भी देखा गया है कि जिन-जिनों को मोक्षपद् प्राप्त करने की मनीषा नहीं है अथवा जो मोक्षगामी बननेवाले ही नहीं हैं ऐसे जीव भी बीस स्थानकादि तपों की आराधना तो करते रहते हैं... लेकिन उससे क्या होता है ? क्योंकि समापत्ति का फल जो तीर्थंकर नामकर्म है, उन्हें प्राप्त नहीं होता । यदि तपस्या की कोई फल-निष्पत्ति न होती हो तो अकारण ही तपश्चर्या का पुरुषार्थ करने से भला क्या लाभ... ? तात्पर्य यही है कि तपश्चर्या के साथ-साथ ध्याता, ध्येय और ध्यान की एकता सिद्ध करना नितान्त आवश्यक है । यदि ऐसी एकता का एकमेव लक्ष्य हो तो एक समय ऐसा आता है जब एकता सिद्ध हो जाती है । इस प्रकार का लक्ष्य ही न हो तो एकता असम्भव ही है ।

बीस स्थानक की तपश्चर्या के साथ-साथ उन-उन पदों का जाप और ध्यान धरना आवश्यक है ! अर्थात् उन पदो में लीनता प्राप्त करनी चाहिए । यह तभी सम्भव है जब इच्छा-आकांक्षाओं से मुक्ति मिल गयी हो । जब तक हमारा मन भौतिक, सांसारिक पदार्थों की चाह से किलबिलाता रहेगा तब तक ध्येय-लीनता प्रायः असम्भव ही है । अतः 'समापत्ति' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आराधना है।

जितेन्द्रियस्य धीरस्य प्रशांतस्य स्थिरात्मनः ।
सुखासनस्थस्य नासाग्रन्यस्तनेत्रस्य योगिनः ॥३०॥७॥

रुद्धबाह्यमनोवृत्तेर्धारणाधारयारयात् !
प्रसन्नस्याप्रमत्तस्य चिदानन्दसुधालिहः ॥३०॥८॥

सामाज्यमप्रतिद्वन्द्वमन्तरेव वितन्वतः ।
ध्यानिनो नोपमा लोके सदेवमनुजेऽपि हि ॥३०॥९॥

अर्थ : जो जितेन्द्रिय है, धैर्ययुक्त है और अत्यन्त शान्त है, जिसकी आत्मा अस्थिरतारहित है, जो सुखासन पर बिराजमान है, जिसने नासिका के अग्रभाग पर लोचन स्थापित किये हैं और जो योगसहित हैं,

ध्येय में जिसने चित्त की स्थिरता रुप धारा से वेग-पूर्वक बाह्य इन्द्रियों का अनुसरण करनेवाली मानसिकवृत्ति रोक लिया है, जो प्रसन्नचित्त हैं, प्रमादरहित हैं और ज्ञानानन्द रुपी अमृतास्वादन करनेवाला है;

जो अन्त:करण में ही विपक्षरहित चक्रवर्तित्व का विस्तार करता है, ऐसे ध्याता की, देवसहित मनुष्यलोक में भी सचमुच, उपमा नहीं है !

विवेचन : ये तीनों श्लोक, ध्याता-ध्यानी महापुरुष की लक्षण-संहिता की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं ।

१. जितेन्द्रिय : ध्यान करनेवाला पुरुष जितेन्द्रिय हो । इन्द्रियों का विजेता हो ! किसी इन्द्रिय का वह गुलाम न हो । कोई इन्द्रिय उसे हैरान-परेशान न करें। इन्द्रियाँ सदा महात्मा की आज्ञानुवर्ती बनकर रहें । इन्द्रिय-परवशता की दीनता कभी उसे स्पर्श न करे । इन्द्रियों की चंचलता से उत्पन्न राग-द्वेष का उनमें अभाव हो । ऐसा जितेन्द्रिय महापुरुष ध्यान से ध्येय में तल्लीन हो सकता है ।

२. धीर : सात्त्विक महापुरुष ही ध्यान की तीक्ष्ण धार पर चल सकता है । सत्वशाली ही दीर्घावधि तक ध्यानावस्था में टिक सकता है । ठीक वैसे ही आंतर-बाह्य उपद्रवों का सामना भी सत्वशील ही कर सकता है । जानते हो न महर्षि बने रामचन्द्रजी को सीतेन्द्र ने कैसे उपद्रव किये थे ? फिर भी रामचन्द्रजी ध्यानावस्था से विचलित नहीं हुए ! कारण ? उनके पास सत्व था और थी चित्त की दृढता ! इन्द्रिय-जन्य कोई मोहक विषय आकर्षित न कर सके, उसे सत्व

कहा गया है ! कोई भय, उपद्रव और उपसर्ग भयभीत न कर सके, उसे धीरता कहते हैं ! ध्येय के साथ एकाकार होने के लिए धीर बनना ही चाहिए ।

३. प्रशान्त : समता का शीतल कुण्ड ! ध्याता की आत्मा अर्थात् उपशम के कलकल नाद करते झरनों का प्रदेश ! वहाँ सदैव शीतलता होती है । काम, क्रोध और लोभ-मोह का वहाँ नामोनिशान नहीं । भले ही कषायों की धधकती अग्नि के शोलों की बारिश हो, उपशम के कुण्ड में गिरते ही शान्त ! वह दृढप्रहारी महात्मा... ध्याता, ध्यान और ध्येय की एकता साधते खड़े थे न ? क्या नागरिकों ने उन पर अंगारों की वृष्टि नहीं की थी ? लेकिन परम तपस्वी महात्मा को वे अंगारे जला न सके ! भला, ऐसा क्यों हुआ ? कारण साफ है, धधकते अंगारे उपशम-रस के कुण्ड में बुझ जो जाते थे ! जब हम ध्यानी ज्ञानी पुरुषों का पूर्व-इतिहास निहारते हैं, तब उपशम-रस की अद्वितीय महिमा के दर्शन होते हैं । लेकिन ध्यान के समय प्रशान्त रहें और तत्पश्चात् कषायों को खेलने की स्वतंत्रता दे दो, यह अनुचित है । ऐसा मत करना । इसके बजाय जीवन की प्रत्येक पल उपशमरस की गागर बन जानी चाहिए । दिन हो या रात, जंगाल हो या नगर, रोगी हो या निरोगी किसी भी काल, क्षेत्र और परिस्थिति में ध्यानी पुरुष शान्त रस का सागर ही होता है ।

४. स्थिर : ध्येय के उपासक में चंचलता न हो ! जिस ध्येय के साथ ध्यान द्वारा एकत्व प्राप्त करना है, आखिर वह ध्येय है क्या ? अनन्तकालीन स्थिरता और निश्चलता ! वहाँ मन-वचन-काया के कोई योग न हो... ! फिर भला, ध्याता चंचल, अस्थिर कैसे हो सकता है ? अस्थिरता और चंचलता ध्यानमार्ग के अवरोधक तत्त्व हैं ! ध्यानं में ऐसी सहज स्थिरता होनी चाहिए कि कभी उसमें विक्षेप न पडे !

५. सुखासनी : ध्यानी महापुरुष प्रायः सुखासन पर बैठे ! मतलब ध्यानावस्था में उसका आसन (बैठने की पद्धति) ऐसा होना चाहिए कि बार-बार ऊँचा-नीचा होने का प्रसंग न आये । एक ही आसन पर वह दीर्घावधि तक बैठ सके ।

६. नासाग्रन्यस्तदृष्टि : ध्यानी की दृष्टि इधर-उधर स्वच्छन्द बन न

भटके ! बल्कि नासिका के अग्रभाग पर उसकी दृष्टि स्थिर रहनी चाहिए ! काया की स्थिरता के साथ-साथ दृष्टि की स्थिरता भी होना आवश्यक है । ऐसा न होने पर दुनिया के अन्य तत्त्व मन में घुसपैठ करने से बाज नहीं आएगें और ध्यान-भंग होते विलम्ब नहीं लगेगा ! द्रौपदी का पूर्वभव इसका साक्षी है । जब वह साध्वी ध्यान-ध्येय की पूर्ति हेतु नगर बहार गयी थी, तब उसकी दृष्टि सामनेवाले भवन में स्थित वेश्या पर पडी ! पाँच पुरुषों के साथ वह वेश्या रतिक्रीडा में रत थी। साध्वी की दृष्टि में यकायक वह दृश्य प्रतिबिम्बित हुआ । वह उसमें खो गयी और अपने उद्देश्य का विस्मरण कर गयी । क्षणार्ध के लिए वह मन में बुदबुदायी : "यह कितनी सुखी है ? एक नहीं, दो नहीं, पाँच-पाँच प्रेमियों की एक मात्र प्रेमिका ।" ध्येय रूप परमात्मा के बजाय वह दृश्य उसे अत्यन्त प्रिय लगा । फलस्वरूप वही उसका ध्येय बन गया ! आगे चल कर द्रौपदी के भव में वह पाँच पांडवों की पत्नी बनी ! परमात्मा के साथ तादात्म्य साधने के लिए दृष्टि-संयम अनिवार्य है । दृष्टिसंयम न रखनेवाला साधक परमात्म-स्वरूप की साधना नहीं कर सकता ! अतः उसे हमेशा अपनी दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर स्थिर करनी चाहिये ।

७. मनोवृत्तिनिरोधक : मन के विचार इन्द्रियों का अनुसरण करते हैं। निज चित्त को ध्येय में स्थिर करनेवाला साधक मनोवृत्तियों का निरोध करता है ! तीव्र वेग से प्रवाहित विचार-प्रवाह में अवरोध पैदा करता है ! लेकिन जहाँ ध्येय में चित्त लीन हो गया... इन्द्रियों के पीछे दौडते मन पर प्रतिबन्ध आ जाता है, वह भागना बन्द करता है । आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध जुडते ही अनायास इन्द्रियों के साथ रहे उसके सम्बन्ध टूट जाते हैं । ऐसी परिस्थिति में, 'मैं परमात्मा का ध्यान करूँ !' सोचते हुए, राह देखने की जरूरत नहीं । स्वयं परमात्मा-स्वरुप में आपको लीन कर दो । बस, इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध-विच्छेद हुआ ही समझो !

८. प्रसन्न : न जाने कैसी अद्वितीय प्रसन्नता ठूस ठूस कर भरी होती है ध्यानी पुरुष के मन में । परमात्म-स्वरुप में लीन होने का आदर्श ध्येय रखनेवाला ज्ञानी-ध्यानी महापुरुष जब अपनी मंजिल पर पहुँचता है और अपने आदर्श को सिद्ध होता अनुभव करता है, तब उसकी प्रसन्नता की अवधि नहीं रहती । वह एक तरह के दिव्य आनन्द में डूब जाता है । उसका रोम-रोम विकस्वर

हो उठता है । हृदय अकथ्य आनन्दोर्मियों से छलक उठता है और मुखमण्डल अपूर्व सौम्यता से देदीप्यमान नजर आता है । तब उसे विषय-भोग की स्पृहा नहीं होती, ना ही काम-वासनाओं का संताप । अर्थात् आनन्द ही आनन्द का वातावरण छाया रहता है सर्वत्र ! '**भिक्षुरेकः सुखी लोके ।**' यह कैसा सत्य का सत्य और सनातन सत्य है । जो ध्यानी है, वह भिक्षु / मुनि ऐसा अनिर्वचनीय सुख का अनुभव कर सकता है !

९. अप्रमत्त : प्रमाद ! आलस ! व्यसन ! इस भूतावलि को तो कोसों दूर रख, वह परमात्म-स्वरुप के सन्निकट पहुँच जाता है । वह इसका कभी शिकार नहीं होता, बल्कि उसके अंग-प्रत्यंग से स्फूर्ति की किरणें प्रस्फुटित होती रहती हैं । निरंतर मन अपूर्व-असीम उत्साह से भरा-भरा रहता है । वह आसनस्थ हो या खड़ा... भव्य विभूति महामानव ही प्रतीत होता है । साथ ही ऐसा भास होता है जैसे वह परमात्मा की प्रतिकृति न हो ? अरे, वैभारगिरि पर ध्यानस्थ धन्ना अणगार के जब मगधाधिपति श्रेणिक ने दर्शन किये थे, तब वे ऐसी ही भव्य विभूति लगे थे, सहसा वे उनके समक्ष नतमस्तक हो गये ! उनके हृदय में सहसा भक्ति का प्रवाह प्रकट हो उठा ! अप्रमत्त ध्यानी महात्मा के दर्शन से श्रेणिक गद्‌गद् हो उठे थे और उसी क्षण अप्रमाद का अपूर्व प्रताप, मगध-नरेश श्रेणिक के भव-ताप को दूर करनेवाला साबित हुआ । ध्यानी के आगे अभिमानी का अभिमान पानी हो जाता है और उसकी मौन वाणी प्राणी के प्राणों को नवपल्लवित कर देती है ।

१०. चिदानन्द-अमृत अनुभवी : ध्यानी महापुरुष को सर्वदा एक ही अभिरूचि होती है ज्ञानानन्द का जी भर रसास्वादन करने की । सिवाय इसके उसे इस संसार से कोई दिलचस्पी नहीं । ज्ञानानन्द का अमृत हो उसका पेय होता है । आत्मज्ञान का आस्वाद लेते वह जरा भी नहीं अघाता ।

ऐसे ध्यानी महात्मा अपने अन्तरंग-साम्राज्य का विस्तार करते हुए न जाने कैसा आत्म-तत्त्व बनाते हैं ! उसके साम्राज्य का वही एक मात्र अधिकारी और स्वामी ! अन्य कोई भूल कर भी उनकी इर्ष्या नहीं कर सकता । साथ ही उक्त साम्राज्य का ना ही कोई विपक्ष-शत्रु पक्ष है !

ऐसे ध्यानी नरपुंगव को भला, किस उपमा से अलंकृत किया जाए ? उसके लिए देवलोक में कोई उपमा नहीं है, ना ही मृत्युलोक में । ऐसी कोई पूर्णोपमा उपलब्ध नहीं त्रिभुवन में, जिसका उपयोग ध्यानी-ज्ञानी महापुरुष के लिए उपयुक्त हों ।

घ्याता, ध्यान और ध्येय की एकता साधनेवाला योगी चर्मचक्षुओं से दृष्टिगोचर नहीं होता, ना ही परखा जाता है । ऐसे महान् ध्याता महात्मा, अन्तरंग आनन्द का अनुभव करते हैं । ऐसी उच्चतम श्रेणि प्राप्त करने के लिए जीवात्मा को ऊपर निर्दिष्ट विशेषताओं का सम्पादन करना आवश्यक है ।

ध्याता बनने के लिए यह एक प्रकार की आचार-संहिता ही है । ऐसा ध्याता ही ध्येय प्राप्त करने का सुयोग्य अधिकारी बन सकता है ।

हे आत्मन् ! तू ऐसा सर्वोत्तम ध्याता बन जा । प्रस्तुत पार्थिव जगत से सदा-सर्वदा के लिए अलिप्त हो जा । ध्येयरूप परमात्म स्वरूप का अनन्य पूजारी, पूजक बन जा ! इतना ही नहीं, बल्कि इसका ही प्रेमी बन जा । अपने जीवन के हर पल को तू इसमें ही लगा दे ! ध्येय में ध्यान से निमग्न हो जा और अनुभव कर ले इस अपूर्व आनन्द का !

• • •

३१. तप

वासनाओं पर कुपित योगी, अपने शरीर पर क्रोध करता है, रोष करता है और तपश्चर्या के माध्यम से शरीर पर आक्रमण कर देता है, टूट पड़ता है !

अरे, आत्मन् ! शरीर पर टूट पडने से क्या लाभ ? क्या तुम नहीं जानते कि शरीर तो धर्म-साधना का एकमेव साधक है ? काम-वासनाएँ शैतान हैं, शरीर नहीं ! अतः तपश्चर्या का लक्ष्य शरीर नहीं, बल्कि काम-वासनाएँ होना चाहिए। प्रस्तुत प्रकरण में ग्रन्थकार ने हमें यही विवेकदृष्टि प्रदान की है । इन्द्रियों को नुकसान हो, ऐसी तपश्चर्या नहीं करने की है ।

बाह्य तप की उपयोगिता आभ्यन्तर तप की दृष्टि से है और आभ्यन्तर तप को आत्मविशुद्धि का अनन्य साधन बताया है ।

हे तपस्वीगण ! तुम्हें इस अध्याय का ध्यान-पूर्वक पठन मनन करना होगा !

ज्ञानमेव बुधाः प्राहुः कर्मणां तापनात् तपः ।
तदाभ्यन्तरमेवेष्टं बाह्यं तदुपबृंहकम् ॥३१॥१॥

अर्थ : पण्डितों का कहना है कि कर्मों को तपानेवाला होने से तप, ज्ञान ही है । यह अन्तरंग तप ही इष्ट है, उसे वृद्धिगत करनेवाला बाह्य तप भी इष्ट ही है ।

विवेचन : भला, ऐसा कौन भारतीय होगा, जो 'तप' शब्द से अनभिज्ञ अपरिचित हो ? तप करनेवाला तो तप से परिचित है ही, लेकिन जो तप नहीं

करता है वह भी इससे भलीभाँति परिचित है ! वेसे आम तौर पर समाज में 'तप' शब्द अमुक प्रकार के बाह्य तप के रूप में ही प्रसिद्ध है । तपश्चर्या क्यों की जाए ? तप कैसा किया जाय ? तपश्चर्या कब की जाए ? आदि कइ बातें हैं, जिन पर सोचना प्रायः बन्ध हो गया है ।

इस संसार में सुखी लोगों की तरह दुःखी लोग भी पाये जातें हैं ! उसमें भी सुखी कम, दुःखी ज्यादा ! वास्तविकता यह भी है कि सुखी सदा के लिय सुखी नहीं, वैसे दुःखी सदा के लिये दुःखी नहीं... ! यही तो यक्ष-प्रश्न है । भला ऐसा क्यों ? तो क्या आत्मा का स्वभाव ही ऐसा है ? नहीं, आत्मा का स्वभाव तो अनंत सुख है, शाश्वत सुख है ! तब क्या है ? शास्त्रकारों का कहना है कि आत्मा पर 'कर्म' का आवरण छाया हुआ है, अतः जीव के जिस बाह्य रूप के हमें दर्शन होते हैं, वह कर्मजन्य रूप है ! आत्मा के इस रूप-स्वरूप का निर्णय केवलज्ञानी वीतराग ऐसे परमात्मा द्वारा बहुत पहले ही किया गया है।

परम सुख और अक्षय शान्ति प्राप्त करने के लिए आत्मा को कर्मबन्धन से मुक्त करना ही पड़ता है । यह कर्मबन्धन को तोड़ने का अपूर्व, एकमेव साधन तप है ! कर्म-क्षय के लिए तपश्चर्या करनी होती है । कहा गया है : **'कर्मणां तापनात् तपः'** अर्थात् कर्मों को जो तपाये, वह तप है । तपाने का अर्थ है नाश करना ।

तपस्वी का लक्ष्य हमेशा कर्म-क्षय ही होना चाहिए । तप के मुख्य दो भेद हैं : बाह्य और आभ्यन्तर ।

वैसे कर्मक्षय करनेवाला तप आभ्यन्तर ही होता है । 'प्रशमरति' में भगवान उमास्वातिजी ने कहा है :

"प्रायश्चितध्याने वैयावृत्यविनयाथोत्सर्गः ।
स्वाध्याय इति तपः षट्प्रकारमभ्यन्तरं भवति ॥"

प्रायश्चित, ध्यान, वैयावच्च, विनय, कायोत्सर्ग और स्वाध्याय आभ्यन्तर तप के छह मुख्य भेद हैं । इनमें भी 'स्वाध्याय' को श्रेष्ठ तप कहा गया है ।

'सज्झायसमो तवो नत्थि ।'

स्वाध्याय के समान अन्य कोई तप नहीं है । यह श्रेष्ठता कर्मक्षय की अपेक्षा से है । स्वाध्याय से विपुल प्रमाण में कर्मक्षय होता है जो अन्य तपों से नहीं होता ।

'तब क्या बाह्य तप महत्त्वपूर्ण नहीं है ?' है, आभ्यन्तर-तप की प्रगति में सहायक हो-ऐसे बाह्य-तप की नितान्त आवश्यकता है । उपवास करने से यदि स्वाध्याय में प्रगति होती हो तो उपवास करना ही चाहिए । कम खाने से यदि स्वाध्यायादि क्रियाओं में स्फूर्ति का संचार होता हो तो अवश्य कम खाना चाहिए । भोजन में कम व्यंजनो-वस्तुओं के उपयोग से, स्वाद का त्याग करने से, काया को कष्ट देने से और एक स्थान पर स्थिर बैठने से यदि आभ्यन्तर तप में वेग आता हो और सहायता मिलती हो तो निःसंदेह ऐसा बाह्य-तप जरूर करना चाहिए । तात्पर्य यह है कि बाह्यतप, आभ्यन्तर तप का पूरक बनना चाहिये ।

हे मानव, केवल तुम ही आभ्यन्तर तप की आराधना कर कर्मक्षय करने में सर्वदृष्टि समर्थ हो । अतः कर्मक्षय कर आत्मा का स्वरूप प्रगट करने हेतु तप करने तत्पर बन जाओ । जब तक कर्मक्षय कर आत्म-स्वरुप प्रगट नहीं करोगे, तब तक तुम्हारे दुःखों का अन्त नहीं आयेगा ।

आनुश्रोतसिकी वृतिर्बालानां सुखशीलता !
प्रातिश्रोतसिकी वृतिर्ज्ञानिनां परमं तपः ॥३१॥२॥

अर्थ : लोकप्रवाह का अनुसरण करने की अज्ञानी की वृत्ति, उसकी सुखशीलता है । जबकि ज्ञानी पुरुषों की, विरुद्ध प्रवाह में चलने रुप वृत्ति उत्कृष्ट तप है ।

विवेचन : संसार के तीव्र गतिवाले महाप्रवाह !

महाप्रवाह की प्रचंड बाढ में जो बह गये, उनका इतिहास निहायत रोंगटे खडा कर देनेवाला है । अरे, राव-रंक तो क्या, अपनी हुँकार से धरती को एक छोर से दूसरे छोर तक कंपानेवाले, भयभीत करनेवाले रथी-महारथी, चक्रवर्ती, वासुदेव और प्रतिवासुदेव, राजा-महाराज इस महाकाल की बाढ में बह गये... । इसके बावजूद भी प्रलयङ्कारी महा प्रवाह थमा कहाँ है ? आज भी पूर्ववत् बह

रहा है... और वह भी एक प्रकार का नहीं, बल्कि अनेक प्रकार का है ।

'खाना-पीना और मौज-मस्ती मारना ! ऐसा ही चलता है और चलता रहेगा ! हम तो संसारी जो ठहरे ! सब चलता है ! अरे भाई, अपना मन शुद्ध-साफ रखो, तप करने से और क्या होना है ?' संसार में ऐसे कई लोकप्रवाह हैं और उसके बहाव में प्रबाहित होकर तप की उपेक्षा करनेवाले अज्ञानी जीवों की इस दुनिया में कमी नहीं है । मानव की सुखशीलता उसे ऐसे बहाव में खींच ले जाती है और वह हमेशा ऐसी ही प्रवृत्ति का अनुसरण करता हैं; जिसमें अधिक कष्ट न हो, दिमागपच्ची न हो और शरीर को किसी प्रकार की तकलीफ न पड़े।

लेकिन जो विद्वान हैं, विचारक हैं और चिंतक हैं, वे प्रचलित लोकप्रवाह के विपरीत चलनेवाले होते हैं ! उन्होंने सुखशीलता का त्याग किया होता है । नानाविध आपत्ति, वेदना, यातनाएँ और कष्टों को हँसते-हँसते झेलने की उनकी तैयारी होती है ! वे धर्मबुद्धि और धार्मिकवृत्ति से प्रेरित होकर उत्कृष्ट तपश्चर्या करते हैं । वे मन ही मन चिंतन करते हैं : "प्रव्रज्या ग्रहण कर तीर्थंकर स्वयं भी तप करते हैं... अलबत्ता, उन्हें भली-भाँति ज्ञान है कि वे केवलज्ञान के अधिकारी बनेंगे, फिर भी घोर तपश्चर्या का आलम्बन ग्रहण करते हैं ! तब हे जीव ! तुम्हें तो तप करना ही चाहिये ।"

यहाँ मूल श्लोक में 'वृत्ति' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ 'विचार' होता है, अर्थात् अज्ञानी जीवों की लोकप्रवाह का अनुसरण करने की वृत्ति (विचार) सुखशीलता है । लेकिन ग्रन्थकार ने स्वयं ही 'वृत्ति' का अर्थ 'प्रवृत्ति' करते हुए मासक्षमण (एक महिने का उपवास) सदृश उग्र तपश्चर्या की प्रवृत्ति प्रदर्शित की है । मतलब, तपश्चर्या को मात्र विचार रूप नहीं, बल्कि आचाररुप निर्दिष्ट कर बाह्य तप पर भार दिया है !

'बाह्यं तदुपबृंहकम् ।' का प्रयोग कर बाह्य तप अन्तरंग तप का सहायक है-ऐसा आभास पैदा किया था कि कर्मक्षय के लिए अन्तरंग तप सर्वथा आवश्यक है ! अलबत्ता, बाह्य तप करना हो तो करें । लेकिन तुरंत ही दूसरे श्लोक में अपने कथन का स्पष्टीकरण किया है । लोकप्रवाह... लोकसंज्ञा के

अधीन बन अगर तप की ही उपेक्षा करते हो तो यह तुम्हारी सुखशीलता को आभारी है और तुम अज्ञानी हो ।

अन्तरंग तप सुदृढ़ बनने के लिए बाह्यतप नितान्त जरूरी है । अतः टीका में ग्रन्थकार ने तद्भवमोक्षगामी तीर्थंकरों का उदाहरण देकर कहा है कि, 'वे स्वयं बाह्य तप का आचरण करते हैं ।' तब हम भला, यह भी नहीं जानते हैं कि 'किस भव में हमारी मुक्ति है । हम मोक्षपद के अधिकारी बननेवाले हैं या नहीं, तो तप क्यों न करें ?

करो, जितना भी सम्भव है, अवश्य बाह्य तप करो... ! शरीर का मोह त्याग कर तपश्चर्या करो । घोर, वीर और उग्र तपश्चर्या कर अपनी अनन्य आत्मशक्ति का इस संसार को परिचय कराओ । लोकप्रवाह के विपरीत प्रवाह में तैर कर अपनी धीरता और वीरता का प्रदर्शन कर, आगे बढते रहो । कर्मक्षय का आदर्श अपने सामने रख, तप करते ही रहो ।

धनार्थिनां यथा नास्ति शीततापादि दुस्सहम् ।
तथा भवविरक्तानां तत्त्वज्ञानार्थिनामपि ॥३१॥३॥

अर्थ : जिस तरह धनार्थी को सर्दी-गरमी आदि कष्ट दुस्सह नहीं है, ठीक उसी तरह संसार से विरक्त तत्त्वज्ञान के चाहक को भी शीतातपादि कष्ट सहन करने रुपी तप दुस्सह नहीं हैं ।

विवेचन : धन-सम्पत्ति के लालची मनुष्य को, दांत किटकिटानेवाली तीव्र सर्दी और आग बरसानेवाली गरमी की भरी दोपहरी में भटकते देखा होगा ? उससे तनिक प्रश्न करना : "अरे भई, इतनी तीव्र सर्दी में भला तुम क्यों भटक रहे हो ? तन-बदन को ठिठुरन से भर दे ऐसी कडाके की सर्दी क्यों सहन कर लेते हो ? आग-उगलती तीव्र गर्मी के थपेड़े क्यों सहते हो ?"

प्रत्युत्तर में वह कहेगा : "कष्ट झेले बिना, तकलीफ और यातनाओं को सहे बिना धन-सम्पत्ति नहीं मिलती ! जब ढेर सारा धन मिल जाता है तब सारे कष्ट भूल जाते हैं ।"

ना खाने का ठिकाना, ना पीने का ! कपड़ों का ठाठ-बाठ नहीं ! एशो-

आराम का नाम निशान नहीं ? धन-संपदा के पीछे दीवाना बन, घूमनेवाले को कष्ट कष्टरूप नहीं लगता, ना ही दुःख दुःखरूप लगता है ! तब भला, जिसे परम तत्त्व के बिना सब कुछ तुच्छ प्रतीत हो गया, ऐसे भवविरक्त परमत्यागी महात्मा को शीत-तापादि कष्टरूप लगेंगे क्या ? पादविहार और केशलुँचन आदि कष्टदायी प्रतीत होंगे क्या ?

अरे, परमतत्त्व की प्राप्ति हेतु भवसुखों से विरक्त वन राजगृह की पहाड़ियों में प्रस्थान कर... उत्तप्त चट्टान पर नंगे बदन सोनेवाले धन्नाजी और शालिभद्र को वे कष्ट कष्टरूप नहीं लगे थे ! उनके मन में वह सब स्वाभाविक था !

जो मनुष्य भव से विरक्त नहीं, सांसारिक-सुखों से विरक्त नहीं, ना ही परमतत्त्व-आत्मस्वरुप प्राप्त करने को हृदय में भावना जाग्रत हुई, ऐसे मनुष्य के गले यह बात नहीं उतरेगी। जिसे भव-संसार के सुखों में ही दिन-रात खोये रहना है, भौतिक सुखों का परित्याग नहीं करना है और परम तत्त्व की अनोखी बातें सुन, उसे प्राप्त करने की चाह रखता है, वैसा मनुष्य प्रायः ऐसा मार्ग खोजता है कि कष्ट सहे बिना ही आसानी से परम तत्त्व की प्राप्ति हो जाय ।

भव-विरक्ति के बिना परम तत्त्व की प्राप्ति असम्भव ही है। ठीक वैसे ही भव-विरक्ति और परम तत्त्व की प्राप्ति की तीव्र लालसा के बिना उपसर्ग और परिसह सहना भी असम्भव है ! इतिहास साक्षी है कि जिन महापुरुषों ने उपसर्ग और परिसह सहन किये थे, वे सब भव विरक्त थे, एवं परम तत्त्व की प्राप्ति के चाहक थे !

गजसुकुमाल मुनि, खंधक मुनि आदि मुनिश्रेष्ठ एवं चन्द्रावतंसक जैसे राजा-महाराजाओं को याद करो... ! परिसह और उपसर्ग उनको उपद्रव रुप नहीं लगे थे ।

हाँ, सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ध्येय का निर्णय हो जाना चाहिये ! धन संपदा की भाँति ही तुम्हारे मन में परम तत्त्व की प्राप्ति की भावना उजागर हो जानी चाहिये । जिस तरह धन के बिना धनार्थी को कोई प्रिय नहीं, ठीक उसी तरह मुमुक्षु को बिना परमतत्त्व के कोई प्रिय नहीं, यह सोचकर वह परमतत्त्व

की प्राप्ति के लिए तपश्चर्या करें ! परिणाम यह होगा कि एकाध-दो उपवास क्या, महिने-दो महिने के उपवास भी उसे सरल लगेंगे ! घंटों तक ध्यानस्थ रहना उसके लिए कष्टप्रद नहीं होगा ।

जिस तरह इस विश्व में सब से प्रिय वस्तु पैसा है, उसी तरह विवेकशील मुमुक्षु के लिए अत्यधिक प्रिय वस्तु परम तत्त्व ही है । उसे पाने के लिए जो कोई कष्ट सहे, एक तरह से वह तप ही है । ऐसा तप उसे सरल, सुगम और उपादेय प्रतीत होता है और वह अदम्य उत्साह के साथ उसकी आराधना करता है !

सदुपायप्रवृत्तानानुपेयमधुरत्वतः ।
ज्ञानिनां नित्यमानन्दवृद्धिरेव तपस्विनाम् ॥३१॥४

अर्थ : अच्छे उपाय में प्रवृत्त ज्ञानी ऐसे तपस्वियों को मोक्ष रुपी साध्य की स्वादुता से उसके आनन्द में सदैव अभिवृद्धि होती है ।

विवेचन : जहाँ मीठापन वहाँ आनन्द !

जहाँ मिष्टान्न का भोजन वहाँ आनन्द ! जहाँ मीठे शब्दों की खैरात वहाँ आनन्द ! जहाँ मधुर-मिलन वहाँ आनन्द ! अरे, मीठेपन में ही आनन्द का अनुभव होता है । लेकिन ज्ञानियों को मिष्टान्न आनन्द नहीं देता ! मृदु शब्दों के श्रवण में उन्हें रस नहीं और ना ही मधुर-मिलन की उन्हें उत्कण्ठा होती है । तब भला, उनका जीवन कैसा नीरस, आनन्द विहीन उल्लासहीन होगा ?

नहीं, नहीं ! उनका जीवन आनन्द से भरपूर होत है ! रसभीना होता है ! उल्लास से परिपूर्ण होता है । जानते हो वे, यह आनन्द कहाँ से प्राप्त करते हैं ? साध्य की मधुरता में से और उनका एकमेव साध्य है मोक्ष ! मोक्ष-प्राप्ति ! शिवरमणी के मधुर मिलन की कल्पना मात्र से माधुर्य बरसता है ! यह माधुर्य तपस्वीगण को आनन्द से भर देता है ! शिवरमणी से मिलने का तपस्वीजनों ने एक अच्छा उपाय पकड लिया है तपश्चर्या का, देह-दमन का और वृत्तियों के शमन का ।

तपस्वीजनों के पास ज्ञानदृष्टि जो होती है, वे इस उपाय से साध्य की

निकटता खोज निकालते हैं । जैसे जैसे साध्य सन्निकट होगा, माधुर्य में भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है और वे अपूर्व आनन्द का अनुभव करते हैं । क्रमशः वह आनन्द बढ़ता ही जाता है ।

"**वैराग्यरति**" ग्रन्थ में कहा गया है :

रतेः समाधावरतिः क्रियासु नात्यन्ततीव्रास्वपि योगिनां स्यात् ।
अनाकुला वह्निकणाशनेऽपि न किं सुधापानगुणाच्चकोराः ॥"

"योगीजनों को समाधि में रति-प्रीति होने से अत्यन्त तीव्र क्रिया में भी अरति-अप्रीति कभी नहीं होती ! चकोर पक्षी सुधारसपान करने का चाहक होने से अग्नि-कण भक्षण करते हुए भी क्या व्याकुलता-विरहित नहीं होता ?"

मधुरता के बिना आनन्द नहीं और बिना आनन्द के कठोर धर्मक्रिया दीर्घावधि तक टिकती नहीं ! वैसे मधुरता और आनन्द, कठोर धर्माराधना में भी जीव को गतिशील बनाता है : प्रगति कराता है ।

यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि तपस्वी को ज्ञानी होना नितान्त आवश्यक है ! यदि तपस्वी अज्ञानी और गँवार होगा तो उसे कठोर धर्म-क्रिया के प्रति अप्रीति होगी, अरति होगी । भले ही वह धर्म-क्रिया करता होगा, लेकिन वह मधुरता का अनुभव नहीं करेगा । ज्ञान उसे साध्य-मोक्ष के सुख की कल्पना देता है और वह कल्पना उसे मधुरता प्रदान करती है । उससे वह आनन्द भरपूर बन जाता है ! यही आनन्द उसकी कठोर तपश्चर्या को जीवन देता है । ज्ञानयुक्त तपस्वी की जीवनदशा का यहाँ कैसा अपूर्व दर्शन कराया है । हम ऐसे तपस्वी बनने का आदर्श रखें । उसके लिए साध्य की कल्पना स्पष्ट करें । वह इतनी स्पष्ट होनी चाहिये कि जिसमें से माधुर्य का स्फुरण होता रहे ! इसके लिये तपश्चर्या के एकमेव उपाय का अवलम्बन करें ! बस, निरन्तर आनन्द-वृद्धि होती रहेगी और उस आनन्द में नित्यप्रति क्रिडा करते रहेंगे ।

इत्थं च दुःखरुपत्वात् तपोव्यर्थ मितीच्छताम् ।
बौद्धानां निहता बुद्धिर्बौद्धानन्दापरिक्षयात् ॥३१॥५॥

अर्थ : इस मंतव्य के साथ कि 'इस तरह दुःखरुप होने के कारण तप

निष्फल है,' ऐसा कहनेवाले बौद्धों की बुद्धि कुन्ठित हो गई है। क्योंकि बुद्धिजनित अन्तरंग आनन्द-धारा कभी खंडित नहीं होती ! तात्पर्य यह कि तपश्चर्या में भी आत्मिक आनन्द की धारा सदैव अखंड रहती है ।

विवेचन : 'कर्म-क्षय हेतु, दुष्ट वासनाओं के निरोधार्थ तपश्चर्या एक आवश्यक क्रिया है । जो करनी ही चाहिए ।' इस शाश्वत्, सनातन सिद्धान्त पर भारतीय धर्मों में से केवल बौद्ध धर्म ने आक्रमण किया है ! अलबत्त, चार्वाक-दर्शन भी इसी पथ का पथिक है ! परन्तु वह आत्मा और परमात्मा के सिद्धान्त में ही विश्वास नहीं करता । अतः वह तपश्चर्या के सिद्धान्त को स्वीकार न करे-यह समझ में आने जैसी बात है । परन्तु आत्मा एवं निर्वाण को मान्यता प्रदान करनेवाला बौद्ध दर्शन भी तपश्चर्या की अवहेलना करे, अमान्य करे, तब सामान्य जनता में संदेह उत्पन्न होता है और तपश्चर्या के प्रति अश्रद्धा का प्रादुर्भाव होता है ।

फलतः सामान्य जनता के हितचिंतक और मार्गदर्शक महात्माओं को दुःख होना स्वाभाविक है ! तपश्चर्या को लेकर बौद्ध-दर्शन का अपलाप कैसा है, यह जानने जैसी बात है ! वह कहता है :

'दुःखात्मकं तपः केचिन्मन्यते तन्न युक्तिमत् ।
कर्मोदयस्वरुपत्वात् बलिवर्दादि-दुःखवत् ॥

'कित्येक (जैनादि) बैल आदि पशु के दुःख की तरह अशाता वेदनीय के उदय-स्वरूप होने से तपश्चर्या को दुःखप्रद मानते हैं, जो युक्तियुक्त नहीं है! बौद्ध कहते हैं : "तप क्यों करना चाहिए ? पशुओं की तरह दुःख सहने से भला क्या लाभ ? वह तो अशाता वेदनीय कर्म के उदय-स्वरुप जो है ! हरिभद्रसूरीजी ने कहा है कि :

विशिष्टज्ञान-संवेगशमसारमतस्तपः ।
क्षयोपशमिकं ज्ञेयमव्याबाधसुखात्मकम् ॥

'विशिष्टज्ञान-संवेग-उपशमगर्भित तप क्षायोपशमिक और अव्याबाध सुखरूप है !' अर्थात् चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से सम्पन्न परिणति-स्वरुप है, ना कि अशातावेदनीय के उदय-स्वरुप है ।

पूज्य उपाध्यायजी महाराज का कथन है कि तपश्चर्या में अन्तरंग आनन्द की धारा अखंडित रहती है, उसका नाश नहीं होता । अतः तपश्चर्या मात्र कष्टप्रद नहीं है । पशुपीडा के साथ मानव के तप की तुलना करना कहाँ तक उचित है ? पशु के हृदय में क्या कभी अन्तरंग आनन्द की धारा प्रवाहित होती है ? पशु क्या स्वेच्छया कष्ट सहन करता है ?

क्योंकि तपश्चर्या की आराधना में प्रायः स्वेच्छया कष्ट सहने का विधान है ! किसी के बन्धन, भय अथवा पराधीनावस्था के कारणं नहीं ! स्वेच्छया कष्ट सहन करने में अन्तरंग आनन्द छलकता है, उफनता है ! इस आनन्द के प्रवाह को दृष्टिगोचर नहीं करनेवाले मात्र बौद्ध ही तप को दुःखरुप मानते हैं ! उन्होंने केवल तपस्वी का बाह्य स्वरुप देखने का प्रयत्न किया है । उसके कृश देह को निहार, सोचा कि 'बेचारा कितना दुःखी है ? ना खाना, ना पीना,... सचमुच शरीर कैसा सुखकर काँटा हो गया हैं !' इस तरह तपश्चर्या के कारण शरीर पर होनेवाले प्रभाव को देखकर उसके प्रति घृणा-भाव पैदा करना आत्मवादी के लिए कहाँ तक उचित हैं ? योग्य हैं ?

घोर तपश्चर्या की, अनन्य एवं अद्‌भुत आत्म-बल से आराधना करनेवाले महापुरुष के... आंतरिक आनन्द का यथोचित मूल्यांकन करने के लिए, उनका घनिष्ट परिचय होना अत्यावश्यक है । अरे, चंपा सदृश सुश्राविका के छह मास के उपवास के बदौलत परधर्मी और हिंसक बादशाह अकबर को आनन-फानन में अहिंसक बना दिया था ! लेकिन कब ? जब अकबर ने खुस होकर चंपा श्राविका का परिचय प्राप्त किया था । तपस्विनी चंपा के आंतरिक आनन्द को नजदीक से देखा और समझा ! तपश्चर्या को कष्टप्रद नहीं बल्कि सुखप्रद मानने की चंपा श्राविका की महानता को परखा ! फलतः अकबर जैसा बादशाह तपश्चर्या की खिदमत में झुक पडा !

यत्र ब्रह्म जिनार्चा च कषायाणां तथा हतिः ।
सानुबन्धा जिनाज्ञा च तत्तपः शुद्धमिष्यते ॥३१॥६॥

अर्थ : जहाँ ब्रह्मचर्य हो, जिनपूजा हो, कषायों का क्षय होता हो और

अनुबन्धसहित जिन-आज्ञा प्रवर्तित हो, ऐसा तप शुद्ध माना जाता है !

विवेचन : बिना सोचे-समझे तप करने से नहीं चलता, ना ही कोई लाभ होता है । यानी उसके परिणाम को जानना चाहिये ! यह परिणाम इसी जीवन में आना चाहिए । सिर्फ परलोक के रमणीय सुखों को कल्पनालोक में गूंथकर तप करने से कोई लाभ नहीं ! तनिक ध्यान से सोचो । जैसे-जैसे तुम तपश्चर्या करते जाओ, वैसे-वैसे उसके निम्नांकित चार परिणाम आने चाहिये :

(१) ब्रह्मचर्य में वृद्धि होती है ?
(२) जिन-पूजा में प्रगति होती है ?
(३) कषायों में कटौती होती है ?
(४) सानुबन्ध जिनाज्ञा का पालन होता है ?

तपश्चर्या का आरम्भ करते समय इन चार आदर्शों को दृष्टि के समक्ष रखना परमावश्यक है । जिस तरह तपश्चर्या करते चलें उसी तरह इन चार बातों में प्रगति हो रही है या नहीं-इसका निरीक्षण करते रहें । इसी जीवन में इन चारों ही बातों में हमारी विशिष्ट प्रगति होनी चाहिए । यही तो तपश्चर्या का तेज है और अद्‌भुत प्रभाव !

ज्ञानमूलक तपश्चर्या ब्रह्मचर्य में दृढता प्रदान करती है ! उससे अब्रह्म... मैथुन की वासनाएँ मंद हो जाती हैं और दिमाग में भूलकर भी कामभोग के विचार नहीं आते । मन-वचन-काया से ब्रह्मचर्य का पालन होता है ! तपस्वी के लिए ब्रह्मचर्य-महाव्रत के पालन में सुगमता आ जाती है । मैथुन-त्याग तपस्वी के लिए आसान हो जाता है ! तपस्वी का एक ही लक्ष्य होता है : "मुझे ब्रह्मचर्य-पालन में निर्मलता, विमलता, पवित्रता और दृढता लाना है ।"

जिन-पूजा में निरन्तर प्रगति होती जाती है । जिनेश्वरदेव के प्रति उसके हृदय में श्रद्धाभाव और भक्ति की अनूठी वृद्धि होती रहती है ! शरणागति का भाव दृढतर होता रहता है । समर्पण-भाव में उत्कटता का आविर्भाव होता है । जिनेश्वरदेव की द्रव्य-पूजा और भाव-पूजा में उत्साह की तरंगे छलकती रहती हैं ।

कषायों का क्षयोपशम होता रहता है । क्रोध, मान, माया और लोभ में क्षीणता आती है । कषायों को उदय में नहीं आने देता है । साथ ही उदित कषायों को सफल नहीं होने देता है । 'तपस्वी के लिए कषाय शोभाजनक नहीं,' यह उसका मुद्रालेख बन जाता है । क्योंकि कषाय में खोया तपस्वी, तपश्चर्या की निंदा में निमित्त होता है । उससे तपश्चर्या की कींमत कम होती है । अतः कषायों का क्षयोपशम, यह तपश्चर्या का मूल हेतु / उद्देश्य होना चाहिए !

सानुबन्ध जिनाज्ञा का पालन ! किसी प्रकार की प्रवृत्ति करने के पूर्व 'इसके लिये जिनाज्ञा क्या है ? कहीं जिनाज्ञा का भंग तो नहीं होता !' आदि विचारों की जागृति जरूरी है ।

"आज्ञा की आराधना कल्याणार्थ होती है, जबकि उसकी विराधना संसार के लिए होती है ।' जिनाज्ञा की सापेक्षता के लिए तपस्वी सदैव सजग-सावधान रहे । यदि इन चार बातों की सावधानी बरत कर तपश्चर्या की जाय तो तपश्चर्या का कितना उच्च मूल्यांकन हो ? ध्येयविहीन... दिशाशून्य बनकर परलोक के भौतिक सुखों के लिए शरीर को खपाते रहने में कोई विशेष अर्थ निष्पन्न नहीं होगा । साथ ही किसी जन्म में तो मोक्ष-प्राप्ति होगी ही,' आदि आशय से की गयी कम-ज्यादा तपश्यर्या से आत्मा का उद्धार असम्भव है ! अतः चार बातों का होना अत्यन्त आवश्यक है । ब्रह्मचर्य का पालन, जिनेश्वरदेव का पूजन, कषायों का क्षय और जिनाज्ञा का पारतंत्र्य ! वह भी ऐसा अलौकिक पारतंत्र्य चाहिए कि भवोभव जिनचरण का आश्रय / शरण प्राप्त हो और भवभ्रमण की शृंखला टूट जाएँ, छिन्न-भिन्न हो जाएँ ।

तदेव हि तपः कार्यं दुर्ध्यानं यत्र नो भवेत् ।
येन योगा न हीयन्ते क्षीयन्ते नेन्द्रियाणि च ॥३१॥७॥

अर्थ : वास्तव में जहाँ दुर्ध्यान हो, जिससे मन-वचन-काया के योगों को हानि न पहुँचे और इन्द्रियों का क्षय न हो (क्रिया करने में अशक्त न बने) ऐसा तप ही करने योग्य है ।

विवेचन : ऐसी दृढ़ता कि, 'कुछ भी हो जाए, लेकिन यह तप तो करना

ही है !' किसे हर्षित नहीं करेगी ? ऐसी दृढता प्रकट करनेवाला मुमुक्षु सभी के आदर का पात्र और अभिनन्दनीय होता है !

तपस्वी के लिए दृढता आवश्यक है ! नियोजित तप को पूर्ण करने की क्षमता चाहिए। लेकिन सिर्फ तपश्चर्या पूर्ण करने की दृढता से ही उसे वीरता प्राप्त नहीं होती ! उसके लिए निम्नांकित प्रकार की सावधानी भी जरूरी है :

दुर्ध्यान नहीं होना चाहिए।

मनोयोग-वचनयोग-काययोग को किसी प्रकार की हानी नहीं पहुँचनी चाहिए, अथवा मुनि-जीवन के कर्तव्य-स्वरूप किसी योग को नुकसान न पहुँचे।

इन्द्रियों को किसी प्रकार की हानी नहीं पहुँचनी चाहिए।

दुर्ध्यान के कई प्रकार हैं। कभी-कभी दुर्ध्यान करनेवाले को कल्पना तक नहीं होती कि वह दुर्ध्यान कर रहा है। दुर्ध्यान का मतलब है दुष्ट विचार, अनुपयुक्त विचार। तपस्वी को कैसे विचार नहीं करने चाहिए, यह भी कोई कहने की बात है ? 'यदि मैंने यह तप नहीं किया होता तो अच्छा रहता... मेरी तपश्चर्या की कोई कदर नहीं करता... कब पूर्णाहूति होगी ?' ऐसे विचार हैं, जो दुर्ध्यान कहलाते हैं।

यदि तपश्चरष्टर्या करते हुए शारीरिक अशक्ति-कमजोरी आ जाए तब कोई सेवा-भक्ति न करे तो दुर्ध्यान होते देर नहीं लगती। लेकिन यह नहीं होना चाहिए। हमेशा आर्तध्यान से बचना चाहिए। योगों की किसी प्रकार की हानी न हो। दुर्ध्यान से मन की, कषाय से वचन की और प्रमाद से काया की हानि होती है।

प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, स्वाध्याय, गुरुसेवा, ग्लानसेवा, शासनप्रभावनादि साधु-जीवन के योग हैं। इनमें किसी प्रकार की शिथिलता पैदा नहीं होनी चाहिए! ऐसी तपश्चर्या भूलकर भी नहीं करनी चाहिए कि जिससे योगों की आराधना में किसी प्रकार की बाधा पहुँचे। प्रातःकालीन प्रतिक्रमण के समय साधु को जब तप-चिंतन का कार्योत्सर्ग करना होता है, तब भी निरन्तर यह चिंतन-मनन करना चाहिए कि, 'आज के मेरे विशिष्ट कर्तव्यों में कहीं यह तप

बाधक तो सिद्ध नहीं होगा ?' 'आज मेरा उपवास है... अट्ठम है, अतः मुझसे स्वाध्याय नहीं होगा, मैं ग्लानसेवा... गुरुसेवा आदि नहीं कर पाऊंगा !' ऐसा तप किसी काम का नहीं ।

इन्द्रियों की शक्ति का हनन नहीं होना चाहिए । जिन इन्द्रियों के माध्यम से संयम की आराधना करनी है, उनका हनन हो जाने पर संयम की आराधना खंडित हो जाएगी । आँख की ज्योति चली जाए तो ? कान से सुनना बन्ध हो जाए तो ? शरीर को लकवा मार जाए तो ? क्या होगा ? साधु-जीवन तो स्वाश्रयी जीवन है । खुद के काम खुद ही करने होते हैं ! पादविहार करना, ठीक वैसे ही गोचरी से जीवन-निर्वाह करना होता है ! यदि इन्द्रियों को क्षति पहुँचेगी तो निःसंदेह साधु के आचारों को भी क्षति पहुँचे बिना नहीं रहेगी ।

कर्तव्यपालन और इन्द्रिय-सुरक्षा का लक्ष्य तपस्वी को चूकना नहीं चाहिए । दुर्ध्यान से मनको बचाना चाहिए । ऐसी सावधानी विशेष रूप से बाह्य तप की आराधना (अनशन, उणोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रस-परित्याग, काया-क्लेश और संलीनता) करनेवाले को रखनी चाहिए ।

साथ ही, सावधानी के नाम पर कहीं प्रमाद का पोषण न हो जाए, इसके लिए सावधानी वरतना जरूरी है ।

मुलोत्तरगुणश्रेणि-प्राज्यसाम्राज्यसिद्धये ।
बाह्यमाभ्यन्तरं चेत्थं तपः कुर्यान्महामुनिः ॥३१॥८॥

अर्थ : मूलगुण एवं उत्तरगुण की श्रेणिस्वरूप विशाल साम्राज्य की सिद्धि के लिये श्रेष्ठ मुनि बाह्य और अन्तरंग तप करते हैं ।

विवेचन : मुनीश्वर भी साम्राज्य के चाहक होते हैं । राजेश्वर के साम्राज्य से विलक्षण, विशाल एवं व्यापक साम्राज्य ! यह साम्राज्य है मूलगुण एवं उत्तरगुणों का !

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चरित्र मूल गुण हैं । मूल गण है पाँच प्रकार के महाव्रत । प्राणातिपात-विरमण-महाव्रत, मृषावाद विरमण महाव्रत,

अदत्तादान-विरमण महाव्रत, मैथुन-विरमण महाव्रत और परिग्रह विरमण महाव्रत।

और उत्तरगुण है : पाँच समिति एवं तीन गुप्ति। दस प्रकर का श्रमण-धर्म और बारह प्रकार का तप ! संक्षेप में यह कहना उपयुक्त होगा की सिद्धि के लिये वह तपश्चर्या करता है। बाह्य तप और आभ्यन्तर तप करता है।

वह छट्ठ-अठ्ठम-अट्ठाई और मासक्षमण जैसा अनशन तप करता है। जब आहार-ग्रहण करे तब क्षुधा (भूख) से कम ग्रहण करे। जहाँ तक सम्भव हो कम से कम द्रव्यों का उपयोग करे। सरस व्यंजनों का परित्याग करें। काया को कष्ट दे अर्थात् उग्रविहार करे ! ग्रीष्मकाल में मध्याह्न के समय सूर्य की ओर निर्निमेष दृष्टि लगाकर आतापना करे ! शरदऋतु में वस्त्रहीन हो कड़ाके की सर्दी में ध्यानस्थ रहे ! एक ही स्थानपर निश्चल बन घंटों तक बैठकर ध्यानादि क्रिया करे ! किंचित् भी हलन-चलन न हो, मानों साक्षात् पाषाणमूर्ति !

छोटी या बड़ी कोई भूल हो जाए, संयम को किसी प्रकार का अतिचार लग जाए कि वह तुरंत प्रायश्चित करे ! परमेष्ठी भगवन्तो का... ओंकार का ध्यान धरे। कोई गुरुजन हो, बालमुनि हो अथवा ग्लानमुनि हो, उनकी सेवा-सुश्रूषा और भक्ति में सदा तत्पर बना रहे। ऐसा कोई सेवा का अवसर हाथ से न जाने दें ! लाख काम हों, विविध प्रकार की व्यस्तता से घिरा हो, फिर भी उसे एक ओर रख, सेवा वैयावच्च के कार्य में अविलम्ब जूड जाए। ग्लानमुनि की सेवा को वह परमात्मा की सेवा समझे ! विनय और विवेक तो उसके प्राण हो ! आचार्य-उपाध्यादि का मान-सन्मान करें, उनके प्रति विनीत-भाव अपने हृदय में संजोये रखे। अतिथि से अदब और विनय से पेश आए। उसका समस्त कार्यकलाप विनयभाव से सुशोभित हो। उसमें मृदुता का ऐसा पुट हो कि जिससे मिथ्याभिमान स्पर्श तक न कर सके।

रात्रि के समय.... निद्रा का त्याग कर निरंतर कायोत्सर्ग में निमग्न रहे। ध्यानस्थ मुद्रा में षड्द्रव्यों का चिंतन करे और दिन-रात के आठ प्रहर में पाँच प्रहर (२४ घंटों में से १५ घंटे) स्वाध्याय में रत रहे ! गुरुदेव के सान्निध्य एवं मार्गदर्शन में शास्त्राभ्यास करे, उस पर चिंतन मनन करे और शंका-कुशंकाओं का समाधान प्राप्त करे। पठन किया हुआ विस्मरण न हो जाए, अतः नियमित

रूप से उसकी आवृत्ति करे। साथ ही उस पर अनुप्रेक्षा (चिंतन-मनन) करता रहे और चिंतन-मनन से स्पष्ट हुए पदार्थों का अन्य जीवों को उपदेश दे। सदैव उसका मन स्वाध्याय में खोया रहे !

इस तरह गुणों के विशाल साम्राज्य की प्राप्ति के लिये मुनीश्वर बाह्य-आभ्यन्तर १२ प्रकार के तप की आराधना में नित्यप्रति उद्यमशील बना रहे। कर्मों के अटूट बन्धनों को तोडने के लिए कटिबद्ध बना महामुनि अपने जीवन को ही तपश्चर्या के अधीन कर दे। तप के व्यापक स्वरूप की आराधना ही उसका एकमेव जीवन-ध्येय बन जाए।

उन्मत्त वृत्तियों के शमन हेतु और उत्कृष्ट वृत्तिओं को जागृत करने के लिए तप, त्याग एवं तितिक्षा का मार्ग ही जीवन का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। आराधना-उपासना का श्रेष्ठतम मार्ग है।

• • •

३२. सर्वनयाश्रय

जब एकाध विद्वान्, किसी एक नय-वाद की डोर पकड़, उसे समझाने के लिए आम जनता के बीच में आता है, तब किस प्रकार का कोलाहल, शोर-गुल और वाद-विवाद का समाँ बँध जाता है ? विश्व के हर क्षेत्र में एकान्तवाद अभिशाप स्वरुप ही सिद्ध हुआ है ।

यहाँ पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने अनेकान्तवाद का प्रतिपादन किया है। लोगों को अनेकान्तवाद का प्रतिपादन किया है । लोगों को अनेकान्त दृष्टि प्रदान की है । किसी एक व्यक्ति, वस्तु अथवा प्रसंग को अनेकान्त दृष्टि से देखने-परखने की अद्‌भुत कला सिखायी है । इसे प्राप्त कर मन में उठती सभी शंका-कुशंकाओं का, प्रश्नों का समाधान ढूंढा जाय, तो कैसी अपूर्व शान्ति मिलेगी !

प्रस्तुत अन्तिम अध्याय अत्यन्त महत्त्व पूर्ण है । गंभीरता के साथ उसका परिशीलन करना न चूकना ।

धावन्तोऽपि नयाः सर्वे, स्युर्भावे कृतविश्रमाः ।
चारित्रगुणलीनः स्यादिति सर्वनयाश्रितः ॥३२॥१॥

अर्थ : अपने-अपने अभिप्रायानुसार गतिमान्, लेकिन वस्तुस्वभाव में जिसकी स्थिरता है, सभी नय ऐसे होते हैं । चारित्र-गुण में आसक्त साधु सर्व नयों का आश्रय करनेवाला होता है ।

विवेचन : नयवाद !

कोई भी वस्तु अनन्त धर्मात्मक होती है । उसमें से किसी एक धर्म

को ही नय मानता है, स्वीकार करता है। वह अन्य धर्मों का स्वीकार नहीं करता। उनका अपलाप करता है। अतः नयवाद को मिथ्यावाद की संज्ञा दी गयी है। पूज्य उपाध्यायजी महाराज उसे **'नयाभास'** कहते हैं।

नय के कुल सात प्रकार हैं : नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत।

प्रत्येक नय का अपना-अपना अभिप्राय होता है। एक का अभिप्राय दूसरे से कदापि मेल नहीं खाता। प्रत्येक नय का हर एक पदार्थ के सम्बन्ध में अपना पूर्व-निर्धारित ठोस मत होता है। अतः सातों नयों का एक-सा अभिप्राय-निर्णय होना असम्भव होता है। हाँ, एकाध समदृष्टि चिन्तक महापुरुष ही इनका समन्वय साध सकता है...। ऐसा महापुरुष प्रत्येक नय को उनकी भूमिका से ही न्याय देता है।

ऐसे महामानव चारित्रगुणसम्पन्न महामुनि ही हो सकते हैं। जब कभी एकाध नय के मन्तव्य का स्वीकार करते हैं, तब अन्य नय की उपेक्षा नहीं करते, बल्कि उन्हें वे कहते हैं कि, 'यथाअवसर तुम्हारा मन्तव्य भी स्वीकार करेंगे, फिलहाल प्रस्तुत नय का ही काम है, उसका ही प्रयोजन है।' परिणाम स्वरुप वैचारिक टकराहट नहीं होती, पारस्परिक संघर्ष नहीं होता। महामुनि की चारित्र सम्पत्ति लूटे जाने की सम्भावना पैदा नहीं होती। वर्ना उत्तेजित आक्रमक नय, चारित्र-सम्पत्ति को धूल में मिलाते विलम्ब नहीं करते।

पृथग्नयाः मिथः पक्षप्रतिपक्षकदर्थिताः।
समवृत्तिसुखास्वादी, ज्ञानी सर्वनयाश्रितः ॥३२॥२॥

अर्थ : विविध नय पारस्परिक वाद-विवाद से विडंबित हैं। समभाव के सुख का अनुभव करनेवाले महामुनि (ज्ञानी) सर्व नयों के आश्रित हैं।

विवेचन : कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्यजी ने परमात्मा की स्तुति करते हुए कहा है–

'परस्पर और पक्ष-विपक्ष के भाव से अन्य प्रवाद द्वेष से युक्त हैं। लेकिन सभी नयों को समभाव से चाहनेवाला आपका सिद्धान्त पक्षपाती नहीं है।'

वेदान्त में कहा है–'आत्मा नित्य ही है।' जबकि बौद्धदर्शन कहता है : 'आत्मा अनित्य है।'

यह बात हुई पक्ष-विपक्ष की ! लेकिन दोनों आपस में टकराते हैं, वाग्युद्ध खेलते हैं और निज की समय-शक्ति का सर्वनाश करते हैं। उसमें न तो शान्ति है, ना ही क्षमता ! न उसमें मित्रता है और ना ही प्रमोद !

जबकि महामुनि वेदान्त और बौद्ध की मान्यताओं का समन्वय करते हुए कहते हैं : 'आत्मा नित्य भी है और अनित्य भी ! द्रव्य दृष्टि के अनुसार नित्य है, जबकि पर्याय दृष्टि से अनित्य है। अतः द्रव्य दृष्टि से वेदान्त दर्शन की मान्यता को बौद्ध दर्शन मान्य कर ले और पर्याय-दृष्टि से बौद्ध दर्शन की मान्यता को वेदान्त दर्शन स्वीकार कर ले, तो पक्ष-प्रतिपक्ष का वाद खत्म हो जाए, संघर्ष टल जाए और आपस में मित्रता हो जाय।

इसी तरह ज्ञानवन्त व्यक्ति, सभी नयों का समुचित आदरकर और उनके प्रति समभाव प्रस्थापित कर सुखानुभव करता है। साथ ही कौन सा नय किस अपेक्षा से तत्त्व का निरुपण करता है, उस अपेक्षा को जानकर यदि सत्य का निर्णय किया जाय, तो समभाव सलामत रह सकता है। अतः आवश्यक है... सर्व नयों के अभिप्रायों का यथार्थ ज्ञान होना तभी तो कहा है : **'ज्ञानी सर्वनयाश्रितः।'**

नाप्रमाणं प्रमाणं वा, सर्वमप्यविशेषितम्।
विशेषितं प्रमाणं स्यादिति सर्वनयज्ञता ॥३२॥३॥

अर्थ : यदि सर्व वचन विशेषरहित हों तो वे सर्वथा अप्रमाण नहीं हैं और प्रमाण भी नहीं है। विशेषसहित हों तो प्रमाण हैं। इस तरह सभी नयों का ज्ञान होता है।

विवेचन : विशेषरहित यानी निरपेक्ष।
विशेषसहित यानी सापेक्ष।

किसी भी शास्त्रवचन की वास्तविकता-प्रामाणिकता का निर्णय करने की यह सच्ची पद्धति है। तनिक सोचिये और समझने का प्रयत्न कीजिये। 'यह

वचन अपेक्षायुक्त है, अन्य नयों के सापेक्ष कहा गया है, तब सच्चा और यदि अन्य नयों से निरपेक्ष कहा गया है, तो झूठ और अप्रमाणिक है ।'

'उपदेशमाला' में कहा गया है–

अपरिच्छियसुयनिहसस्स, केवलमभिन्नसुत्तचारिस्स ।
सव्वुज्जमेण वि कयं अन्नाणतवे बहुं पडई ॥

"श्रुत-सिद्धान्त के रहस्य को समझे बिना ही केवल सूत्र के अक्षरों का अनुसरण कर जो अपनी प्रवृत्ति रखता है, उसका तीव्र प्रयत्नों से किया गया बहुत भी क्रियानुष्ठान, अज्ञान तप माना गया है ।"

जो शास्त्रवचन अपने सामने आता है, वह वचन किस आशय एवं अपेक्षा से कहा गया है–यह अवगत करना निहायत जरूरी है । क्योंकि अपेक्षा और आशय को समझे बिना निरपेक्ष वृत्ति से उसका अनुसरण करना नितान्त अप्रमाण है, मिथ्या है ।

सर्व नयों का ज्ञान तभी कहा जाता है, जब वचन की अपेक्षा का ज्ञान हो, तभी साधक आत्मा को अपूर्व समता का अनुभव होता है । ज्ञानप्रकाश सोलह कलाओं से खिल उठता है ।

लोके सर्वनयज्ञानां, ताटस्थ्यं वाऽप्यनुग्रहः ।
स्यात् पृथग्नयमूढानां, स्मयार्तिर्वाऽतिविग्रहः ॥३२॥४॥

अर्थ : लोक में सर्व नयों के ज्ञाता को मध्यस्थता अथवा उपकारबुद्धि होती है, जबकि विभिन्न नयों में मोहग्रस्त बने व्यक्ति को अभिमान की पीड़ा अथवा अत्यन्त क्लेश होता है ।

विवेचन : मध्यस्थदृष्टि ! उपकारबुद्धि !

सभी नयों के ज्ञान के ये दो फल हैं । जैसे-जैसे नयों की अपेक्षा का ज्ञान होता जाता है, वैसे-वैसे उसकी एकान्त दृष्टि मन्द होती चली जाती है । परिणामतः मध्यस्थ दृष्टि की किरणें ज्योतिर्मय हो उठती हैं । वह किसी पक्षविशेष की ओर झुकता नहीं, किसीके मत का दुराग्रही नहीं बनता । बल्कि उसकी दृष्टि

समन्वय की हो जाती है ।

व्यवहार पक्ष में वह अपनी मध्यस्थता का परोपकार में उपयोग करता है । ठीक वैसे ही नयवाद को लेकर जहाँ वाद-विवादात्मक वाग्युद्ध पूरे जोश से खेला जाता हो, वहाँ मध्यस्थदृष्टि महात्मा अपनी विवेकदृष्टि से सम्बन्धित पक्षों को समझाने का प्रयत्न करता है ।

विभिन्न नयों के आग्रही बने जीव, मिथ्याभिमान से पीडित होते हैं, अथवा आत्मिक-क्लेश से निरन्तर दग्ध होते हैं और उनके लिये यह स्वाभाविक भी होता है । इन्द्रभूति गौतम का जब भगवान महावीर के पास आगमन हुआ था, तब यही परिस्थिति थी । वे मिथ्याभिमान के ज्वर से उफन रहे थे । मन में क्लेश कितना था ? क्योंकि वे एक ही नय के दृढ़ आग्रही थे। भगवन्त ने उन्हें सर्व नयों की समन्वयदृष्टि प्रदान की । उन्हें सभी नयों का आश्रित होना सिखाया ।

किसी एक मत... एक ही वाद... एक ही मन्तव्य के प्रति मोहित न बन, सर्वनयों का आश्रित बनना ही जीवन का एकमेव शान्ति मार्ग है ।

श्रेयः सर्वनयज्ञानां विपुलं धर्मवादतः ।
शुष्कवादात् विवादाच्च परेषां तु विपर्ययः ॥३२॥५॥

अर्थ : सर्व नयों के ज्ञाताओं का धर्मवाद से बहुत कल्याण होता है, जबकि एकान्तदृष्टिवालों का तो शुष्कवाद एवं विवाद से विपरीत (अकल्याण) ही होता है ।

विवेचन : किसी प्रकार का वाद नहीं चाहिये, ना ही विवाद चाहिए। संवाद ही चाहिये । वाद-विवाद में अकल्याण है, संवाद में कल्याण है । ऐसे संवाद का समावेश सिर्फ धर्मवाद में है ।

तत्त्वज्ञान का अर्थी मनुष्य हमेशा धर्मवाद की खोज में रहता है । तत्त्वज्ञान-विषयक जिज्ञासा व्यक्त करता है और तत्त्ववेत्ता का कर्तव्य है कि वह उसकी जिज्ञासा का निवारण करे, उसे संतुष्ट करे । यही तो धर्मवाद है । सिर्फ अपना ही मत-अभिप्राय दूसरे पर आरोपित करने के लिये शुष्क वाद विवाद-

वितंडावाद करना धर्मवाद नहीं कहलाता । निज की विद्वत्ता का मिथ्या प्रदर्शन करना और अन्यों को पराजित करने हेतु तत्त्वचर्चा करना धर्मवाद नहीं है ।

ऐसे महात्मा जो सर्व नयों के ज्ञाता हैं, भूलकर भी कभी वितंडावाद करते ही नहीं । वे हमेशां मुमुक्षु ऐसे जिसासु की शंका-कुशंकाओं का निवारण करते हैं । इसीमें कल्याण है और परम शान्ति का अनुभव होता है ।

जिनभट्टसूरिजी ने जिज्ञासु हरिभद्र पुरोहित के साथ धर्मवाद किया था, फलतः हरिभद्र पुरोहित हरिभद्र सूरि बन गये और जैन शासन को एक महान् विद्वान्, समर्थ आचार्य की प्राप्ति हुई... । लेकिन वे ही हरिभद्रसूरिजी बौद्धों के साथ धर्मचर्चा में उतरे, तब ? उनमें कितना रोष और संताप व्याप्त था ? फलतः याकिनी महत्तरा को गुरुदेव के पास जाना पड़ा और गुरुदेव ने उन्हें वाद-विवाद से रोक दिया ।

धर्मवाद के संवाद में से ही कल्याण का पुनीत प्रवाह प्रवाहित होता है। अतः सर्व नयों का ज्ञान प्राप्त कर मध्यस्थ बन धर्मवाद में सदैव प्रवृत्त रहना चाहिए ।

प्रकाशितं जिनानां यैर्मतं सर्वनयाश्रितम् ।
चित्ते परिणतं चेदं, येषां तेभ्यो नमोनमः ॥३२॥६॥

अर्थ : जिन महापुरुषों ने सर्व नयों के माध्यम से सामान्य जनों के लिए आश्रित प्रवचन प्रकाशित किया है और जिनके हृदय में परिणत हुआ हैं, उन्हें बार-बार नमस्कार हो ।

विवेचन : पूज्य उपाध्यायजी महाराज उन महापुरुषों पर मुग्ध हो जाते हैं, निछावर होते हैं, जिन्होंने सामान्य जनों के लिये सर्व नयों से आश्रित ऐसा अद्वितीय प्रवचन प्रकाशित किया है, साथ ही जिन पुण्य पुरुषों ने उसे माना है, बड़े प्यार से उसे (प्रवचन) हृदय में धारण किया है और मन ही मन प्यार किया है । ऐसे महात्माओं को बार-बार वन्दन करते हुए पूज्यश्री गद्‌गद् हो उठते हैं ।

त्रिभुवनपति श्रमण भगवान महावीर को बार-बार नमस्कार हो कि जिन्होंने ऐसा सर्वनयाश्रित प्रवचन प्रकाशित-अभिव्यक्त कर जीव मात्र पर असंख्य उपकार

किये हैं। वे सिद्धसेन दिवाकर, जिनभद्रगणि, मल्लवादी, हरिभद्रसूरिजी आदि महान् आचार्यप्रवरों को पुनः पुनः वन्दना हो कि जिन्होंने सर्वनयाश्रित धर्मशासन की सुन्दर प्रभावना की साथ ही अपने रोम-रोम में उसे परिणत कर अद्‌भुत दृष्टि प्राप्त की है।

'भवभावना' ग्रन्थ में ऐसे महान् आचार्यों का इसी दृष्टि से गुणानुवाद किया गया है :

भद्दं बहुसुयाणं बहुजणसंदेहपुच्छणिज्जाणं ।
उज्जोइअ भुवणाणं झिणंमि वि केवलमयंके ॥

"केवलज्ञान रुपी चन्द्र के अस्त होते ही जिन्होंने समस्त भूमण्डल को प्रकाशित किया है और बहुत लोगों के संदेह जिनको पूछे जा सकें, ऐसे बहुश्रुतों का भद्र हो।"

इस प्रकार बहुश्रुत सर्वनयज्ञ महापुरुषों के प्रति भक्ति-बहुमान प्रदर्शित किया गया है...। उन्हें बार-बार वन्दन किया है। उनका सर्वोपरि महत्त्व बताया गया है।

निश्चये व्यवहारे च, त्यक्त्वा ज्ञाने च कर्मणि ।
एकपाक्षिक विश्लेषमारुढाः शुद्धभूमिकाम् ॥३२॥७॥

अमूढलक्ष्याः सर्वत्र पक्षपातविवर्जिताः ।
जयन्ति परमानन्दमयाः सर्वनयाश्रयाः ॥३२॥८॥

अर्थ : निश्चयनय में, व्यवहारनय में, ज्ञाननय में और क्रियानय में, एक पक्ष में रहे भ्रान्ति के स्थान को छोडकर शुद्ध भूमिका पर आरुढ कभी लक्ष्य नहीं चूकते, ऐसी सभी पक्षपातरहित परमानन्द-स्वरुप सर्व नयों के आश्रयभूत (ज्ञानीजन) सदा जयवन्त हैं।

विवेचन : उनका निश्चय नय के सम्बन्ध में पक्षपात न हो और ना ही व्यवहार नय के सम्बन्ध में ! वह ज्ञान नय का कभी मिथ्या आग्रह न करे और ना ही क्रियानय के विषय में।

निश्चयनय प्रायः तात्त्विक अर्थ को स्वीकार करता है, जबकि व्यवहारनय आम जनता में प्रचलित अर्थ को स्वीकार करता है। निश्चय नय हमेशा सर्वनयों को अभिमत अर्थ का अनुसरण करता है, जबकि व्यवहार नय किसी एक नय के अभिप्राय का अनुसरण करता है।

अतः सर्वनयों के आश्रित ज्ञानी पुरुष को इसमें से किसी एक नय के पचड़े में नहीं पड़ना चाहिए, ना ही किसी भ्रम-जाल में फँस जाए। वह भूलकर भी कभी निश्चय नय की मान्यता को अपनी गाँठ में बाँध न रखे और व्यवहार की मान्यता का हठाग्रही न बने। वह प्रत्येक नय के तर्क अवश्य श्रवण करे, लेकिन किसी एक नय के तर्क को आत्मसात् न करे।

मात्र ज्ञान को प्राधान्य देनेवाले ज्ञाननय की भूलभुलैया में वह अटक न पड़े और ना ही क्रिया की महत्ता स्वीकार करनेवाले क्रियानय का कट्टर समर्थक बन, ज्ञाननय का तिरस्कार करे। दोनों नयों की ओर देखने की उसकी दृष्टि मध्यस्थदृष्टि हो और हर नय की मान्यता का मूल्यांकन वह उनकी अपेक्षा से ही करे।

नयों के एकान्त आग्रह से परे रहे... अलिप्त हुए महाज्ञानी, सर्वोच्च आत्मा की विशुद्ध भूमिका पर आरुढ़ हो, अपने अन्तिम लक्ष्य की ओर निरन्तर एकाग्र हो अग्रेसर होते हैं। उनके मन में किसी के प्रति पक्षपात नहीं और ना ही कोई दुराग्रह।

मानों साक्षात् परमानन्द की मूर्ति। उनके पावन दर्शन करते ही परम आनन्द की उत्कट अनुभूति होती है। सर्वनयों के आश्रित ऐसे सर्वोत्कृष्ट परमानन्दी आत्मा सदा जयवन्त हैं।

जिन सर्वोत्कृष्ट परमानन्दी आत्माओं की हम सोत्साह जयजयकार करते हैं, उनके पदचिह्नों पर चलने के लिये कृतनिश्चयी बनना चाहिये। एकान्तवाद के लोह-बन्धनों को तोडकर अनेकान्तवाद के सार्वभौम स्वतंत्र प्रदेश में विचरण करने का सौभाग्य प्राप्त करना चाहिए।

वास्तव में पूर्णानन्दी ही परमानन्दी है। पूर्णानन्दी बनने के लिये जितने सोपान चढने की आवश्यकता है, उतने ही सोपान चढ़ने पर परमानन्दी बन जाते

हैं । अत: जीवन का एकमात्र लक्ष्य पूर्णानन्दी बनने का बना, दिशा-परिवर्तन कर अपने लक्ष्य की ओर गतिमान होना चाहिए । विचारों में सर्वनयदृष्टि का आविर्भाव हो जाए, बस ! परमानन्द की शीतल धारा हमारे आत्म-प्रदेश को प्लावित कर देगी और रोग-शोक की बंजर भूमि हरियाली से लद जाएगी ।

'ज्ञानसार' ग्रन्थ के ३२ अष्टकों में से प्रस्तुत अन्तिम श्लोकों में एकान्तदृष्टि का परित्याग कर अनेकान्त दृष्टि अपनाने की सीख दी गयी है । किसी प्रकार के वाद-विवाद और वितंडावाद के झंझट में फँसे बिना, संवादी धर्मवाद का आश्रय ग्रहण करने का उपदेश दिया गया है । परमानन्द का यही परम पथ है। पूर्णानन्दी बनने का यही एकमेव अद्‌भुत उपाय है । आत्मा को परम शान्ति प्रदान करने का यही एक राजमार्ग है ।

परमानन्दी सदा-सर्वदा जयवन्त हों !

● ● ●

विषयक्रम-निर्देश

पूर्णो मग्नःस्थिरोऽमोहो ज्ञानी शान्तो जितेन्द्रियः ।
त्यागी क्रियापरस्तृप्तो निर्लेपो निःस्पृहो मुनिः ॥१॥

विद्याविवेकसम्पन्नो मध्यस्थो भयवर्जितः ।
अनात्मशंसकस्तत्त्वदृष्टिः सर्वसमृद्धिमान् ॥२॥

ध्याता कर्मविपाकानामुद्विग्नो भववारिधेः ।
लोकसंज्ञाविनिर्मुक्तः शास्त्रदृग् निष्परिग्रहः ॥३॥

शुद्धानुभववान् योगी नियागप्रतिपत्तिमान् ।
भावार्चाध्यानतपसां भूमिः सर्वनयाश्रितः ॥४॥

अर्थ : ज्ञानादि से परिपूर्ण, ज्ञान में निमग्न योगी की स्थिरता से युक्त, मोहविरहित, तत्त्ववेत्ता, उपशमवन्त, जितेन्द्रिय, त्यागी, क्रिया-तत्पर, आत्म-संतुष्ट, निर्लेप और स्पृहा रहित मुनि होता है ।

वह (मुनि) विद्यावान्, विवेकसम्पन्न, पक्षपात से परे, निर्भय, स्वप्रशंसा नहीं करनेवाला, परमार्थ की दृष्टिवाला और आत्म-सम्पत्तिवाला होता है ।

वह कर्मफल का विचार करनेवाला, संसार-सागर से भयभीत, लोक-संज्ञा से रहित, शास्त्रदृष्टिवाला और अपरिग्रही होता है ।

शुद्ध अनुभववाला, योगी, मोक्ष को प्राप्त करनेवाला, भाव-पूजा का आश्रय, ध्यान का आश्रय, तप का आश्रय और सर्व नयों का आश्रय करनेवाला होता है ।

विवेचन : आठ-आठ श्लोकों का एक अष्टक !

— कुल बत्तीस अष्टक और बत्तीस ही विषय !

— विषयों का क्रमशः संयोजन किया गया है। संयोजन में संकलन है ! संयोजन में साधना का मार्गदर्शन है। इन चार श्लोकों में बत्तीस विषयों की नामावली दी गयी है ! ग्रन्थकार ने गुर्जर-टीका (टबा) में सोद्देश्य क्रम समझाने का प्रयत्न किया है।

★ पहला अष्टक है पूर्णता का।

लक्ष्य बिना की प्रवृत्ति की कोई कीमत नहीं होती। अतः पहले अष्टक में ही पूर्णता का लक्ष्य प्रदर्शित किया है ! आत्म-गुणों की पूर्णता का लक्ष्य समझाया है। जो जीव इस लक्ष्य से 'मुझे आत्म-गुणों की पूर्णता हासिल करनी ही है।' ऐसा दृढ संकल्प करे तो वह ज्ञान में निमग्न हो सकता है, अतः

★ दूसरा अष्टक है मग्नता का।

ज्ञान में निमग्न ! परब्रह्म में लीन ! आत्मज्ञान में ही मग्नता ! ऐसी परिस्थिति पैदा होने पर ही जीव की चंचलता-अस्थिरता दूर होती है और वह स्थिर बनता है। अतः मग्नता के पश्चात्

★ तीसरा अष्टक है स्थिरता का।

मन-वचन-काया की स्थिरता। सबसे पहले मानसिक स्थिरता प्राप्त करना आवश्यक है ! तभी क्रिया-औषधि का उपयोग है ! स्थिरता का रत्न-दीया प्रज्वलित करते ही मोह-वासनाएँ क्षीण हो सकती हैं ! इसलिए

★ चौथा अष्टक है निर्मोह का !

मोहराजा का एकमेव मन्त्र है 'अहं' और 'मम्' ! मन्त्र-जाप से चढे मोह के विष को 'नाहं' 'न मम्' के प्रतिपक्षी मन्त्र-जाप से उतारने का उपदेश दिया गया है। इस तरह मोह का जहर उतरने पर ही ज्ञानी बन सकते हैं, उसके लिए

★ पाँचवा अष्टक है ज्ञान का।

ज्ञान की परिणति होना आवश्यक है। ज्ञान-प्रकाश प्राप्त होना चाहिए ! ज्ञान का अमृत, ज्ञान का ही रसायन और ज्ञान-ऐश्वर्य प्राप्त होना चाहिये ! तभी

जीव शान्त होता है और कषायों का शमन होता है अत:

★ छठवाँ अष्टक है शम का ।

किसी प्रकार का विकल्प नहीं और निरंतर आत्मा के शुद्ध स्वभाव का आलम्बन ! ऐसी आत्मा इन्द्रियविजेता बन सकती है अत:

★ सातवाँ अष्टक है इन्द्रिय-विजय का ।

विषयों के बन्धनों से आत्मा को सदैव कैद रखती इन्द्रियों के ऊपर विजय प्राप्त करनेवाले महामुनि ही सच्चे त्यागी बन सकते हैं, इसलिये

★ आठवाँ अष्टक है त्याग का ।

जब स्वजन, धन और इन्द्रियों के विषयों से मुक्त बना मुनि निर्भय और कलह रहित बनता है और अहंकार तथा ममत्व से नाता तोड देता है, तब उसमें शास्त्रवचन का अनुसरण करने की अदम्य शक्ति प्रस्फुटित होती है, अत:

★ नौवाँ अष्टक है क्रिया का !

प्रीतिपूर्वक क्रिया, जिनाज्ञानुसार एवं नि:संगता-पूर्वक क्रिया करनेवाला महात्मा परम तृप्ति का अनुभव करता है—इसलिए

★ दसवाँ अष्टक है तृप्ति का !

स्व—गुणों में तृप्ति ! शान्तरस की तृप्ति ! ध्यानामृत की डकार ! **'भिक्षुरेकः सुखी लोके ज्ञानतृप्तो निरंजनः'** भिक्षु... श्रमण.... मुनि ही ज्ञानतृप्त बन, परम सुख का अनुभव करता है ! ऐसी ही आत्मा सदैव निर्लेप रह सकती है, अत:

★ ग्यारहवाँ अष्टक है निर्लेपता का !

सारा संसार भले ही पाप-पंक का शिकार बन जाए, उसमें लिप्त हो जाए, लेकिन ज्ञानसिद्ध महात्मा उससे सदा अलिप्त-निर्लेप रहता है ! ऐसी ही आत्मा नि:स्पृह बन सकती है, अत:

★ बारहवाँ अष्टक है नि:स्पृहता का ।

नि:स्पृह महात्मा के लिए समस्त संसार तृणसमान होता है ! ना कोई भय, ना ही कोई इच्छा । फिर उसे क्या बोलने का होता है ? संकल्प-विकल्प भी कैसे हो सकता है ! ऐसी आत्मा ही मौन धारण कर सकती है, अत:

★ तेरहवाँ अष्टक है मौन का ।

नहीं बोलनेरुप मौन तो एकेन्द्रिय जीव भी पालता है ! लेकिन यह तो विचारों का मौन ! अशुभ-अपवित्र विचार सम्बंधित मौन पालन करना है ! जो आत्मा ऐसा मौन धारण कर सकती है, वही विद्यासम्पन्न बन सकती है, इसलिए

★ चौदहवाँ अष्टक है विद्या का ।

अविद्या की त्यागी और विद्या की अर्थी आत्मा, आत्मा को ही सदैव अविनाशी रूप में निहारती है ! ऐसी आत्मा विवेकसम्पन्न बनती है, अत:

★ पन्द्रहवाँ अष्टक है विवेक का !

दूध और पानी की तरह परस्पर ओत-प्रोत कर्म और जीव को मुनिरुपी राजहंस अलग करता है ! ऐसी भेदज्ञानी आत्मा ही मध्यस्थ बन सकती है ! अत:

★ सोलहवाँ अष्टक है मध्यस्थता का ।

कुतर्क और राग-द्वेष का त्याग हुआ और अन्तरात्म-भाव में रमणता शुरू हुई कि आत्मा मध्यस्थ और निर्भय होती है, अत:

★ सत्रहवाँ अष्टक है निर्भयता का !

भय की भ्रान्ति नहीं ! जो आत्म-स्वभाव के अद्वैत में लीन हो गया, वह निर्भयता के वास्तविक आनन्द का मजा लूटता है ! उसे स्व-प्रशंसा करना पसंद नहीं, तभी तो

★ अठारहवाँ अष्टक है अनात्मशंसा का ।

जो व्यक्ति स्व-गुणों से परिपूर्ण है उसे स्व-प्रशंसा पसंद ही नहीं ! अपना गुणानुवाद सुनने की इच्छा तक नहीं होती, अत: ज्ञानानन्द की मस्ती में परपर्याय का उत्कर्ष क्या साधना ? वह अलौकिक तत्त्वदृष्टि का स्वामी बनता है, अत:

★ उन्नीसवाँ अष्टक है तत्त्वदृष्टि का ।

तत्त्वदृष्टि प्रायः रुपी को नहीं, बल्कि अरुपी को परिलक्षित करती है । अरुपी को निहार, उसमें ओत-प्रोत हो जाती है, समरस होती है ! ऐसी आत्मा सर्वसमृद्धि का स्वयं में ही अहसास करती है, अतः

★ बीसवाँ अष्टक है सर्व समृद्धि का ।

इन्द्र, चक्रवर्ती, वासुदेव, शेषनाग, महादेव, कृष्ण आदि सभी विभूतिओं की समृद्धि... वैभव... ऐश्वर्य का प्रतिबिम्ब वह स्वयं की आत्मा में ही निहारता है । ऐसा आत्मदर्शन निरंतर टिक सके, अतः मुनि प्रायः कर्म-विपाक का चिंतन करता है, इसलिए

★ इक्कीसवाँ अष्टक है कर्म-विपाक का ।

कर्मों के फल का विचार । शुभाशुभ कर्मों के उदय का विचार करनेवाली आत्मा अपनी ही आत्म-समृद्धि में संतुष्ट होती है, संसार महोदधि से नित्य भयभीत होती है, अतः

★ बाईसवाँ अष्टक है भवोद्वेग का ।

संसार के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ आत्मा चारित्र-क्रिया में एकाग्रचित्त होती है । फलतः लोकसंज्ञा का उसे स्पर्श तक नहीं होता, अतः

★ तेईसवाँ अष्टक है लोकसंज्ञा-परित्याग का ।

लोकसंज्ञा की महानदी में मुनि बह न जाए, बल्कि वह तो प्रवाह की विपरीत दिशा में भी गतिशील महापराक्रमी होता है ! लोकोत्तर मार्ग पर चलता हुआ मुनि शास्त्रदृष्टि से युक्त होता है, अतः

★ चौबीसवाँ अष्टक है शास्त्र का !

उसकी दृष्टि ही शास्त्र है ! '**आगमचक्खु साहू**' श्रमण के नेत्र ही शास्त्र हैं ! ऐसा मुनि भी कहीं परिग्रही हो सकता है ? वह तो सदा-सर्वदा अपरिग्रही होता है, अतः

★ पच्चीसवाँ अष्टक है परिग्रहत्याग का ।

बाह्य अन्तरंग परिग्रह के त्यागी महात्मा के चरण में देवी-देवता तक नतमस्तक हो उठते हैं । ऐसे मुनिवर ही शुद्ध अनुभव कर सकते हैं, अत:

★ छब्बीसवाँ अष्टक है अनुभव का ।

अतींद्रिय परम ब्रह्म का अनुभव करनेवाला महात्मा न जाने कैसा महान् योगी बन जाता है ! अत:

★ सत्ताइसवाँ अष्टक है योग का ।

मोक्ष के साथ गठबन्धन करानेवाले योगों का आराधक योगी और स्थान-वर्णादि योग एवं प्रीति-भक्ति आदि अनुष्ठानों में रत योगी, सदैव ज्ञानयज्ञ करने के लिये सुयोग्य होता है, अत:

★ अठ्ठाइसवाँ अष्टक है नियाग का !

ज्ञानयज्ञ में आसक्ति ! समस्त आधि-व्याधि और उपाधि-रहित शुद्ध ज्ञान ही ब्रह्म-यज्ञ है । ब्रह्म में ही सर्वस्व समर्पण करनेवाला मुनि भाव-पूजा की सतह को स्पर्श कर सकता है, अत:

★ उन्तीसवाँ अष्टक है भावपूजा का ।

आतमदेव के नौ अंगो को ब्रह्मचर्य की नौ बाडों द्वारा पूजन-अर्चन करनेवाला मुनि अभेद-उपासना रुप भावपूजा में लीन हो जाता है । ऐसी आत्मा ही ध्यानस्थ बनती है, अत:

★ तीसवाँ अष्टक है ध्यान का !

ध्याता, ध्यान और ध्येय की एकता प्रस्थापित करनेवाला मुनि श्रेष्ठ कभी दु:खी नहीं होता । निर्मल अन्तरात्मा में परमात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है । फलस्वरूप तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन करता है... और तपमार्ग का पथिक बनता है, अत:

★ इकतीसवाँ अष्टक है तप का ।

बाह्य और आभ्यन्तर तप की आराधना से वह सर्व-कर्मक्षय रूपी मोक्ष-पद की प्राप्ति की दिशा में गतिमान होता है ! उसकी सभी दृष्टि से विशुद्धि होती है ! ऐसी आत्मा परम प्रशम-परम मध्यस्थ्य भाव को धारण करती है, अतः

★ बत्तीसवाँ अष्टक है सर्वनयाश्रय का !

सर्व नयों का स्वीकार करता है । कोई पक्षपात नहीं, ना ही भ्रान्ति ! परमानन्द से भरपूर ऐसी सर्वोत्कृष्ट आत्मभूमिका प्राप्त कर वह सदा के लिए कृतकृत्य बन जाता है ।

आत्मा की पूर्णता प्राप्त करने के लिये यह कैसा अपूर्व मार्ग है ! अब तो लक्ष्य चाहिये ! हमारे दृढ़ संकल्प की आवश्यकता है ! आत्मा की ऐसी सर्वोच्च अवस्था प्राप्त करने का भगीरथ पुरुषार्थ चाहिये । ३२ विषयों को हृदयस्थ कर और उस पर सतत चिंतन-मनन कर, उस दिशा में प्रयाण का संकल्प करना है ।

★आत्म-तत्त्व की श्रद्धा, आत्म-तत्त्व की प्रीति और आत्म-तत्त्व के उत्थान की उत्कट भावना... क्या सिद्धि नहीं कर सकती ? कायरता अशक्ति और आलस्य को दूर कर अदम्य उत्साह के साथ अपूर्व स्फूर्ति से सिद्धि के मार्ग पर प्रस्थान कर दो । इसके बिना दुःख, दर्द क्लेश और संताप का अन्त आनेवाला नहीं है । ध्यान रखो, जन्ममृत्यु का चक्र रुकनेवाला नहीं है, वह तो निरंतर निर्बाध गति से चलनेवाला ही है और कर्मो की श्रृखलाएँ यों सहज में टूटनेवाली नहीं है, अतः मानव-जीवन का आत्मतत्त्व के उत्थान के लिये ही उपयोग करें ।

● ● ●

★ तमेवैकं जानिथ आत्मनमन्या वाची किमूचथामृतस्यैव सेतुः । — मुण्डकोपनिषद्

उपसंहार

स्पष्टं निष्टङ्कितं तत्त्वमष्टकैः प्रतिपन्नवान् ।
मुनिर्महौदयं ज्ञानसारं समधिगच्छति ॥१॥

अर्थ : अष्टकों से स्पष्ट और सुनिश्चित ऐसे तत्त्व को प्राप्त मुनि महान् अभ्युदय करनेवाला विशुद्ध चारित्र प्राप्त करता है ।

विवेचन : इस ग्रन्थ में बताये गये ३२ तत्त्वों से युक्त मुनि, ऐसा विशुद्ध एवं पवित्र चारित्र प्राप्त करते हैं कि जिससे उनका महान् अभ्युदय होता है । क्योंकि ज्ञान का सार ही चारित्र है !

'**ज्ञानस्य फलं विरतिः**' भगवान् उमास्वातिजी का यह सारभूत वचन है। पूज्य उपाध्यायजी महाराज भी कुछ इसी तरह फरमाते हैं :

'**ज्ञानस्य सारः चारित्रम्**' ज्ञान का सार चारित्र है ! आगे चलकर वह ज्ञान का सार मुक्ति बताते हैं ! अर्थात् ज्ञान का सार चारित्र और चारित्र का सार मुक्ति है !

सामाइअमाइअं सुअनाणं जाव बिंदुसाराओ ।
तस्स वि सारो चरणं सारो चरणस्स निव्वाणं ॥

'सामयिक से लेकर चौदहवें पूर्ण '**बिंदुसार**' तक श्रुतज्ञान है और उसका सार चारित्र है । जबकि चारित्र का सार परिनिर्वाण है ।'

३२ अष्टकों को प्राप्त करने का अर्थ केवल उनका सरसरी निगाह से पठन करना नहीं है, बल्कि इन अष्टकों में वर्णित विषयों को आत्मसात् करना है । मन-वचन-काया को उनके रंग में रंग देना और ज्ञान के सार स्वरूप चारित्र

को पाना यानी चारित्रमय बन जाना है ।

यदि निर्वाण के लक्ष्य को लेकर ३२ विषयों का चिंतन-मनन किया जाय तो आत्मा की अपूर्व उन्नति हो सकती है । कर्म-बन्धन से आत्मा मुक्ति पा सकता है । आत्म-सुख का अनुभव करने लगता है और इसी लक्ष्य को निश्चित कर यशोविजयजी महाराज ने उपर्युक्त ३२ विषयों का अनूठा संकलन कर, तत्त्वनिर्णय किया है ।

निर्विकारं निराबाधं ज्ञानसारमुयेयुषाम् !
विनिवृत्तपराशानां मोक्षोऽत्रैव महात्मनाम् ॥२॥

अर्थ : विकाररहित और पीडारहित ज्ञानसार को प्राप्त करनेवाला और परायी आशा से निवृत्त हुए आत्माओं की मुक्ति इसी भव में है ।

विवेचन : ज्ञानसार !

किसी प्रकार का कोई विकार नहीं, ना ही पीडा है... । ऐसे अद्‌भुत ज्ञानसार की जिसे प्राप्ति हो गयी है, उसे भला, पर-पदार्थ की आशा-अपेक्षा क्या सम्भव है ? विकारी और क्लेशयुक्त पर-पदार्थों की इच्छा होना क्या सम्भव है ?

ज्ञान के सारभूत चारित्र में निर्विकार अवस्था है, साथ ही निराबाध भी । फलतः ऐसे महात्मा कर्म-बन्धनों से परे होते हैं । क्योंकि कर्म-बन्धन का मूल है विकार । पर-पदार्थों की चाह से विकारों का जन्म होता है ।

चारित्रवन्त आत्मा को कर्म-बन्धन नहीं होता है और इसीका नाम मोक्ष है । पूर्वकर्म का उदय भले ही हो, लेकिन नये कर्म-बन्धन नहीं होते । कर्मोदय के समय ज्ञानसार के कारण नये कर्म-बन्धन की सम्भावना नहीं होती ! नये कर्म-बन्धन न हों, यही मोक्ष है ।

पर-पदार्थों की स्पृहा के कारण उत्पन्न विकार और विकारों से पैदा होती पीडा, जिस महात्मा को स्पर्श तक न करें, उन्हें इसी भव में मोक्षसुख का अनुभव होता है, अर्थात् पराशाओं से निवृत्त यह मोक्ष प्राप्ति के लिए महत्त्वपूर्ण शर्त बन जाती है और शिवाय आत्मा, सभी पर है !

"अन्योऽहं स्वजनात् परिजनाद् विभवात् शरीरकाच्चेति !
यस्य नियता मतिरियं न बाधते तस्य शोककलिः ॥"

इस अन्यत्व भावना को दृढ करनेवाला महात्मा सदैव निर्विकार, निराबाध चारित्र का पालन करता हुआ मोक्ष-गति पाता है ।

चित्तमाद्रीकृतं ज्ञानसारसारस्वतोर्मिभिः !
नाप्नोत्ति तीव्रमोहाग्निप्लोषशोषकदर्थनाम् ॥३॥

अर्थ : ज्ञानसाररूप सरस्वती की तरंगावलि से कोमल बना मन, प्रखर मोहरूपी अग्नि के दाह से, शोष की पीड़ा से पीड़ित नहीं होता ।

विवेचन : ज्ञानसार की पवित्र-पावन सरयु सरस्वती !

सरस्वती की पवित्र धारा में निष्प्राण हड्डियाँ और राख विसर्जन करने से सद्गति नहीं मिलती है, स्वर्ग-प्राप्ति नहीं होती है ! उसके निर्मल पवित्र प्रवाह में हमारे मन को विसर्जित करना होगा ! अतः 'ज्ञानसार' की पतित पावनी सरस्वती में बार-बार अपने मनको डूबोकर उसे कोमल और कमनीय होने दो ! सरस्वती के पावन स्पर्श से उसे आर्द्र और स्निग्ध होने दो !

फिर भले ही मोह-दावानल सम्पूर्ण शक्ति से प्रज्वलित हो और उसकी लपटें मनको स्पर्श करें, उसको कोई पीडा नहीं, ना ही किसी प्रकार की वेदना। अरे, पानी से भीगे कपड़ों को कभी आग जला सकी है ? तब फिर सरस्वती की तरंगों से प्लावित मनको मोह-दावानल भला कैसे दग्ध कर सकता है ?

तभी तो कहा है 'ज्ञानसार' ग्रन्थ पवित्र सरस्वती है। 'ज्ञानसार' की वाणी-तरंगों से मनको सदैव तर-बतर होने दो ! मोह-वासनाओं का ज्वालामुखी उसको जला नहीं सकेगा ।

मोह-दावानल से बचने के लिए पूज्य उपाध्यायजी महाराज ने निरंतर 'ज्ञानसार' के रसामृत का आस्वाद लेने का उपदेश दिया है। क्योंकि समस्त दुःख, दर्द वेदना और व्याधिओं का मूल मोह है । मोह के प्रभाव से मन मुक्त होते ही किसी प्रकार की अशान्ति, वेदना और यातनाएँ नहीं रहेंगी ।

अचिन्त्या काऽपि साधूनां ज्ञानसारगरिष्ठता ।
गतिर्यत्योर्ध्वमेव स्याद् अधःपातः कदाऽपि न ॥४॥

अर्थ : ज्ञानसार का भार मुनिराज के लिए कुछ समझ में नहीं आये वैसा है । उससे उसकी उर्ध्वगति ही सम्भव है, अधोगति नहीं ।

विवेचन : 'ज्ञानसार' अवश्य भार है ! जो समझ में न आ सके ऐसा कल्पनातीत भार है ! इसे वहन करनेवाला भारी बनता है ! साथ ही 'ज्ञानसार' के बोझ से बोझिल बना महामुनि जब अधोगपति के बजाय उर्ध्वगति करता है तब हर किसी के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता !

'भारी मनुष्य उर्ध्वगामी बन सकता है !!' ज्ञानसार का भार इस तरह अचिन्त्य है, समझ में न आए ऐसा है ! उपाध्यायजी महाराज ज्ञानसार के प्रभाव की व्याख्या इस तरह सरल भाषा में कैसी सुगमता से करते हैं !

'ज्ञानसार से भारी बनो । ज्ञानसार का वजन बढाते रहो ! फलतः तुम्हारी उर्ध्वगति ही होगी ! अधःपतन कभी नहीं होगा !' ग्रन्थकार ने बड़ी ही लाक्षणिक शैली में यह उपदेश दिया है ! वे दृढता के साथ आश्वस्त करते हैं कि ज्ञानसार प्राप्त श्रमणश्रेष्ठ की उन्नति ही होती है । अधःपतन कभी सम्भव नहीं । अतः ज्ञानसार प्राप्त कर तुम निर्भय बन जाओ, दुर्गति का भय छोड दो, पतन का डर हमेशा के लिए अपने मन से निकाल दो ! ज्ञानसार के अचिन्त्य प्रभाव से तुम प्रगति के पथ पर निरन्तर बढते ही चले जाओगे ।

हालाँकि यह सृष्टि का शाश्वत् नियम है कि भारी वस्तु सदैव नीचे ही जाती है, ऊँची कभी नहीं जाती ! लेकिन यहाँ उसका अद्‌भुत विरोधाभास प्रदर्शित किया गया है : 'भारी होने के उपरान्त भी आत्मा ऊपर उठती है, ऊँची जाती है !' अतः यह विधान करना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि ज्ञानसार की गरिष्ठता से भारी बना मुनि सद्‌गति मोक्षपद का अधिकारी बनता है ।

क्लेशक्षयो हि मण्डूकचूर्णतुल्यः क्रियाकृतः ।
दग्धतच्चूर्णसदृशो ज्ञानसारकृतः पुनः ॥५॥

अर्थ : क्रिया द्वारा किया गया क्लेश का नाश मेंढक के शरीर के चूर्ण की तरह है। लेकिन 'ज्ञानसार' द्वारा किया गया क्लेश-नाश मेंढक के जले हुए चूर्ण की तरह है।

विवेचन : जिस तरह मेंढक के शरीर का चूर्ण हो जाने के उपरान्त भी वृष्टि होते ही उसमें से नये मेंढकों का जन्म होता है, उत्पत्ति होती हैं, ठीक उसी तरह धार्मिक-क्रियाओं की वजह से जिस क्लेश का-अशुभ कर्मों का क्षय होता है, वे कर्म पुनः निमित्त मिलते ही पैदा हो जाते है !

यदि मेंढक के शरीर के चूर्ण को जला दिया जाए तो फिर कितनी ही घनघोर बारिश उस पर क्यों न पड़े, दुबारा मेंढक पैदा होने का कभी सवाल ही नहीं उठता ! ठीक उसी तरह ज्ञानाग्नि से भस्मीभूत हुए कर्म कभी पैदा नहीं होते !

तात्पर्य यही है कि ज्ञान के माध्यम से सदा कर्म-क्षय करते रहो ! शुद्ध क्षयोपशम-भाव से कर्म-क्षय करो। दुबारा कर्मबन्धन का भय नहीं रहेगा। ज्ञानसार की यही तो महत्ता है ! ज्ञानसार द्वारा किया गया कर्म-क्षय ही वास्तव में सार्थक है।

हाँ, सिर्फ क्रिया-कांड के माध्यम से कर्म-क्षय करने में श्रद्धा रखनेवालों के लिए यह तथ्य अवश्य विचारणीय है ! भले ही वे अशुभ कर्मों का क्षय करते हों, लेकिन आश्रवों की वृष्टि होते ही पुनः अशुभ कर्म पनप उठेंगे ! अतः ज्ञान के माध्यम से कर्मक्षय करना सीखो।

अरे भाई, तुम अपने ज्ञानानन्द में सदा-सर्वदा मग्न रहो ! ज्ञान की मौज-मस्ती में खोये रहो ! इधर कर्म-क्षय निरन्तर होता ही रहेगा। तुम नाहक चिंता न करो कि 'मेरा कर्म-क्षय हो रहा है अथवा नहीं ?' इसके बजाय निरन्तर निर्भय होकर ज्ञानानन्द के अथाह जलाशय में सदा गोते लगाते रहो।

ज्ञानपूतां परेऽप्याहुः क्रियां हेमघटोपमाम्।
युक्तं तदपि तद्भावं न यद् भग्नाऽपि सोज्झति ॥६॥

अर्थ : दूसरे दार्शनिक भी ज्ञान से पवित्र क्रिया को सुवर्ण-घट कहते हैं, वह भी योग्य है। क्योंकि खण्डित क्रिया भी, क्रिया-भाव का त्याग नहीं

करती ! (सुवर्ण-घट के खण्डित हो जाने पर भी सुवर्ण तो उसमें रहता ही है।)

विवेचन : एक सुवर्ण-घट है,

मानो कि वह खण्डित हो गया, तो भी उसमें सोना तो रहता ही है ! सोना कहीं नहीं जाता। इस तरह सुवर्ण-घट की उपमा से विद्वान् ग्रन्थकार हमें ज्ञानयुक्त क्रिया का महत्त्व समझाते हैं।

ज्ञानयुक्त क्रिया सुवर्ण-घट के समान है। समझ लो कि क्रिया खंड़ित हो गयी, उसमें किसी प्रकार का विक्षेप आ गया, फिर भी सुवर्ण-समान ज्ञान तो शेष रहेगा ही। क्रिया का भाव तो बना रहेगा ही, ज्ञानयुक्त क्रिया के माध्यम से जिन कर्मों का क्षय किया, दुबारा उनके उदय होने का प्रश्न ही नहीं उठता। मतलब, कर्म-बन्धन होना असम्भव है। अन्तः कोडाकोडी सागरोपम से अधिक स्थितिवाले कर्मो का बन्धन नहीं होगा।

सुवर्ण-घट समान ज्ञानयुक्त क्रिया का महत्त्व बौद्धदर्शन आदि भी स्वीकार करते हैं। ज्ञानहीन क्रिया का विधान-समर्थन विश्व का कोई दर्शन नहीं करता। अरे भई, ज्ञानविहीन यानी भावशून्य क्रिया से क्या मतलब ?

जो क्रिया की जाए उसके अनुरूप भाव होना नितान्त आवश्यक है। भाव से क्रिया सजीव और प्राणवान बनती है, अमूल्य बनती है। जबकि ज्ञानशून्य क्रिया मिट्टी के घडे जैसी है। एक बार घडा फूट जाए, फिर उसका कोई उपयोग नहीं और ना ही उसकी कोई किंमत होती है। अतः हे महानुभाव, तुम अपनी धर्म-क्रियाओं को ज्ञानयुक्त बनाओ, भावयुक्त बनाओ। कर्मक्षय का लक्ष्य रख कर प्रत्येक धर्म-क्रिया करते रहो।

क्रियाशून्यं च यज्ज्ञानं ज्ञानशून्या च या क्रिया।
अनयोरन्तरं ज्ञेयं भानुखद्योतयोरिव ॥७॥

अर्थ : जो ज्ञान क्रिया रहित है और जो क्रिया ज्ञानरहित है, इन दोनों में अन्तर सूर्य और खद्योत (जुगनु) की तरह है।

विवेचन : क्रियाशून्य ज्ञान सूर्य की तरह है !

ज्ञानविहीन क्रिया जुगनु की तरह है ।

कहाँ तो सूर्य का प्रकाश और कहाँ जुगनु का प्रकाश ? असंख्य जुगनुओं का समूह भी सूर्य-प्रकाश की तुलना में नहिंवत ही है । इस तरह ज्ञानशून्य क्रियाएँ कितनी भी की जाएँ तो भी सूर्यसदृश तेजस्वी ज्ञान की तुलना में कोई महत्त्व नहीं रखती ।

जबकि, भले ही क्रियाशून्य ज्ञान हो, (ज्ञानयुक्त क्रिया उसके जीवन में नहीं है ।) फिर भी ज्ञान का जो अनोखा प्रकाश है, वह तो सदैव बरकरार ही रहेगा । अरे, सूर्य भले ही बादलों से घिरा हो, लेकिन संसार की क्रियाएँ उसके प्रकाश में चलती रहती हैं । जबकि जुगनु के प्रकाश में तुम कोई भी कार्य नहीं कर सकते ।

साथ ही क्रियारहित ज्ञान का अर्थ क्रिया-निरपेक्ष ज्ञान न लगाना । अर्थात् क्रिया के प्रति अरुचि अथवा उसकी अवहेलना नहीं, परन्तु क्रियाओं की उपादेयता का स्वीकार करनेवाला ज्ञान ! ज्ञानयुक्त क्रिया करते हुए क्रिया छूट जाए, लेकिन उसका भाव अन्त तक बरकरार रहे - ऐसा ज्ञान !

ज्ञानविहीन क्रिया के खद्योत बनकर ही संतुष्ट रहनेवाले और आजीवन ज्ञान की उपेक्षा करनेवालों को ग्रन्थकार के इन वचनों पर अवश्य गहरायी से चिंतन-मनन करना चाहिए और ज्ञानोपासक बनकर ज्ञान-सूर्य बनने का प्रयत्न करना चाहिये ।

चारित्रं विरतिः पूर्णा ज्ञानस्योत्कर्ष एव हि ।
ज्ञानाद्वैतनये दृष्टिर्देया तद्योगसिद्धये ॥८॥

अर्थ : सम्पूर्ण विरतिरुप चारित्र वास्तव में ज्ञान का अतिशय ही है ! अतः योग-सिद्धि के लिए केवल ज्ञान-नय में दृष्टिपात करने जैसा है ।

विवेचन : ज्ञान की सर्वोत्कृष्ट अवस्था यानी चारित्र !

ज्ञान-निमग्नता यानी चारित्र !

पूर्ण विरतिरुप चारित्र क्या है ? वह ज्ञान का ही एक विशिष्ट अतिशय

है । ज्ञानाद्वैत में दृष्टि प्रस्थापित करनी चाहिए । अर्थात् ज्ञानाद्वैत में ही लीन हो जाना चाहिए । यदि तुम्हें योग-सिद्धि करना है, आत्मा का परम विशुद्ध स्वरूप प्राप्त करना है तो !

ज्ञान और क्रिया के द्वैत का त्याग करो । क्योंकि द्वैत में अशान्ति है! जबकि अद्वैत में परम आनन्द है और है असीम शान्ति । ज्ञानाद्वैत का मतलब ही आत्माद्वैत । अतः आत्मा के अद्वैत में अपनी दृष्टि केन्द्रित करो । सजग रहो कि दृष्टि कहीं अन्यत्र भटक न जाए ।

ज्ञानसार का उपसंहार करते हुए उपाध्याय श्री यशोविजयजी ज्ञानाद्वैत का शिखर बताते हैं ! ज्ञान-क्रिया के द्वैत में से बाहर निकलने का, मुक्त होने का भारपूर्वक विधान करते हैं ! ज्ञान की सर्वोत्कृष्ट परिणति यही पूर्ण चारित्र है । उक्त चारित्र के सुहाने सपनों का चाहक जीव ज्ञानाद्वैत में तल्लीन हो जाए, तभी पूर्णता प्राप्त कर सकता है ।

निश्चयनय के दिव्य-प्रकाश को चारों दिशाओं में प्रसारित करनेवाले उपाध्यायजी महाराज ने ज्ञान में ही साध्य, साधन और सिद्धि निर्देशित कर ज्ञानमय बन जाने का आदेश दिया है ! साथ ही क्रिया-मार्ग की जडता को झटककर ज्ञानमार्ग का अनुसरण करने की प्रेरणा दी है ।

'ज्ञानद्वैत में लीनता हो !'

सिद्धिं सिद्धपुरे पुरन्दरपुरस्पर्धावहे लब्धवां-
श्चिद्दीपोऽयमुदारसारमहसा दीपोत्सवे पर्वणि !
एतद् भावनभावपावनमनश्चञ्चच्चमत्कारिणां,
तैस्तैर्दीपशतैः सुनिश्चयमतैर्नित्योऽस्तु दीपोत्सवः !

अर्थ : श्रेष्ठ एवं सारभूत परम ज्योतिर्मय प्रस्तुत ज्ञान-दीप, इन्द्र की राजधानी की स्पर्धा करनेवाले सिद्धपुर नगर में दीपावली पर्व के सुअवसर पर समाप्त हुआ ! यह ग्रन्थ भावनाओं के रहस्य से परिपूर्ण एवं पवित्र हुए मन में उत्पन्न विविध चमत्कारयुक्त जीवों को, वह वह उत्तम निश्चयमतरुपी शत-शत दीपकों से निरंतर उनके लिए दीपावली का महोत्सव हो !

विवेचन : यह 'ज्ञानसार' का दीपक दीपावली के पुनित पर्व में पूर्णरूपेण प्राप्त हुआ । गुर्जर धरा पर स्थित प्राचीन संस्कृति के अनन्य धाम 'सिद्धपुर' नगर में चातुर्मासार्थ रहे ग्रन्थकार के शुभ हाथों इसकी पूर्णता हुई ।

वास्तव में ज्ञानदीप का प्रकाश श्रेष्ठ है । सर्व प्रकाशों में प्रस्तुत प्रकाश सारभूत है । जो कोई सज्जन इस ग्रन्थ का अध्ययन, मनन एवं परिशीलन करेगा उसे निःसंदेह रहस्यभूत ज्ञान की प्राप्ति होगी । रहस्य से मन पवित्र होता है और आश्चर्य से चमत्कृत ! ऐसे जीवों के लिए ग्रन्थकार कहते हैं :

"हे मानव ! तुम नित्य प्रति निश्चयनय के असंख्य दीपक प्रज्वलित करो और सदैव दीपावली-महोत्सव मनाओ !"

ग्रन्थकार महोदय की यही मनीषा है कि, इसके पठन-पाठन एवं चिंतन से सांसारिक जीव हमेशा आत्मज्ञान के दीप प्रज्वलितकर अपूर्व आनन्द का अनुभव करें । साथ साथ इसके अध्ययन-परिशीलन से मन पवित्र बनेगा और अनुपम प्रसन्नता का अनुभव होगा, इसका विश्वास दिलाते हैं ।

निश्चयनय के माध्यम से आत्मज्ञान पाने के लिये प्रयत्नशील बनने की प्रेरणा प्राप्त होती है ।

केषांचिद्विषयज्वरातुरमहो चित्तं परेषां विषा-
वेगोदर्कतर्कमूर्च्छितमथान्येषां कुवैराग्यतः ।
लग्नालर्कमबोधकुपपतितं चास्ते परेषामपि,
स्तोकानां तु विकारभाररहितं तज्ज्ञानसाराश्रितम् ॥

अर्थ : उफ् ! कइयों का मन विषयज्वर से पीडित है, तो कइयों का मन विष-वेग जिसका परिणाम है वैसे कुतर्क से मूर्च्छित हो गया है, अन्य का मन मिथ्या वैराग्य से हडकाया जैसा है, जबकि कुछ लोगों का मन अज्ञान के अन्धेरे कुए में गिरे जैसा है । फिर कुछ थोडे लोगों का मन विकार के भार से रहित है, वह ज्ञानसार से आश्रित है ।

विवेचन : संसार में विभिन्न वृत्ति के जीव बसते हैं । उनका मन भिन्न भिन्न प्रकार की वासनाओं से लिप्त है ! यहाँ ऐसे जीवों का स्वरूप-दर्शन कराने

का ग्रन्थकार ने प्रयास किया है, साथ ही वे यह भी बताते हैं कि इनमें से कितनों का मन ज्ञानसार के रंग से तर-बतर है :

- कइयों का मन शब्दादि विषयों की स्पृहा एवं भोगोपभोग से पीडित है।
- कई जीव कुतर्क और कुमति के सर्पों से डसे हुए हैं । कुतर्क-सर्पों के तीव्र-विष के कारण मूर्च्छित हो गये हैं !
- कई लोग अपने आपको वैरागी के रूप में बताते हैं । लेकिन यह एक प्रकार का हडकवा ही है ! वास्तव में एकाध पागल कुत्ते जैसी उनकी अवस्था है ।
- जबकि कित्येक मोह-अज्ञान के अन्धेरे कूप में गिरे हुए हैं ! उनकी दृष्टि कुए के बाहर भला, कहाँ से जा सकती है ?
- हाँ, कुछ लोग, जो संख्या में अल्प हैं, ऐसे अवश्य हैं, जिनके मन पर विकार का बोझ नहीं है ! ऐसी सर्वोत्तम आत्मा ही ज्ञानसार का आश्रय ग्रहण करती है !

जातोद्रेकविवेकतोरणततौ धावल्यमातन्वति,
हृद्गृहे समयोचितः प्रसरति स्फीतश्च गीतध्वनिः ।
पूर्णानन्दघनस्य किं सहजया तद्भाग्यभंग्याऽभव-
न्नैतद् ग्रन्थमिषात् करग्रहमहश्चित्रं चरित्रश्रियः

अर्थ : जहाँ अधिकाधिक प्रमाण में विवेकरूपी तोरणमाला बाँधी गई हैं और जहाँ उज्वलता को विस्तृत करते हृदयरूपी भवन में समयानुकूल मधुर गीत की उच्च ध्वनि प्रसरित है ! वहाँ पूर्णानन्द से ओतप्रोत आत्मा का, उसके स्वाभाविक सौभाग्य की रचना से प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना के बहाने क्या चारित्ररुप लक्ष्मी के आश्चर्यकारक पाणिग्रहण-महोत्सव का शुभारंभ नहीं हुआ ?

विवेचन : क्या तुमने पूर्णानन्दी आत्मा का चारित्र-लक्ष्मी के साथ लग्नोत्सव कभी देखा है ? यहाँ ग्रन्थकार हमें वह लग्नोत्सव बताते हैं ! ध्यान से उसका निरीक्षण करो, देखो :

हर जगह, हर गली और हाट-हवेली में सर्वत्र लगाये तोरणों को देखो। ये सब **विवेक से तोरण** हैं और यह रहा लग्न-मंडप ! **यह हृदय का विशाल मंडप है !** यह प्रकाश-पुंज सा देदीप्यमान हो जगमगा रहा है ! यहाँ मधुर कण्ठ और राग-रागिणी से युक्त लग्न-गीतों की चित्ताकर्षक लहरियाँ वातावरण में व्याप्त हैं ! उसमें ३२ मंगल गीत हैं और आतमराम कैसा आनन्दातिरेक से डोल रहा है।

'ज्ञानसार' ग्रन्थ-रचना का तो एक बहाना है। इसके माध्यम से पूर्णानन्दी आत्मा ने **चारित्ररूपी लक्ष्मी** के साथ लग्न... महोत्सव का सुंदर, सुखद आयोजन किया है। देवी-देवता तक इर्ष्या करें ऐसा उसका अद्‌भुत सौभाग्य है !

इस प्रसंग पर ग्रन्थकार पूज्य उपाध्यायजी महाराज फरतमाते हैं कि इस ग्रन्थ-रचना के महोत्सव में मैंने चारित्र स्वरुप साक्षात् लक्ष्मी के साथ पाणिग्रहण किया है !'

सचमुच यह महोत्सव, हर किसीको विस्मित और आश्चर्य चकित कर दें, ऐसा अद्‌भुत है !

भावस्तोमपवित्रगोमयरसैः लिप्तैव भूः सर्वतः,
संसिक्ता समतोदकैरथ पथि न्यस्ता विवेकस्त्रजः ।
अध्यात्मामृतपूर्णकामकलशश्चक्रेऽत्र शास्त्रे पुरः ।
पूर्णानन्दधने पुरे प्रविशति स्वीयं कृतं मंगलम् ॥

अर्थ : प्रस्तुत शास्त्र में भाव के समूहस्वरुप गोबर से भूमि पोती हुई ही है और समभावरुपी शीतल जल के छिडकाव से युक्त है। अत्र-तत्र (मार्ग में) विवेकरुपी पुष्पमालायें सुशोभित है ! अग्रभाग में अध्यात्मरुप अमृत से छलकाता काम-कुम्भ रखा हुआ है और इस तरह पूर्णानन्द से भरपूर आत्मा नगर-प्रवेश करता है, तब अपना स्वयं का महामंगल किया है।

विवेचन : इस **'ज्ञानसार नगर'** में जिस पूर्णानन्दी आत्मा ने प्रवेश किया, उसका कल्याण हो गया !

इस नगर की भूमि पवित्र भावों के गोबर से पोती हुई है ! सर्वत्र समभाव

के शीतल जल का छिडकाव किया गया है ! नगर के विशाल राजमार्ग विवेकरूपी पुष्पमालाएँ, तोरणों से सुशोभित हैं और महत्त्वपूर्ण स्थानों पर अध्यात्मामृत से छलकते काम-कुम्भ रखे गये हैं !

कैसा भव्य और रमणीय नगर है ! आँखें थकती नहीं उसका मनोहर और मांगलिक स्वरुप देख-देख कर ! ऐसे विलक्षण नगर में हर कोई (जीव) प्रवेश नहीं कर सकता, बल्कि बहुत थोड़े कुछ लोग ही प्रवेश कर सकते हैं ! यदि इन थोड़े लोगों में हमें प्रवेश मिल गया, तो समझ लिजीए कि हमारा तो 'सर्व मंगल मांगल्यम्' हो गया !

पूर्णानन्दी आत्मा ही 'ज्ञानसार' नगर में प्रवेश पा सकता है ! पूर्णता के आनन्द-हेतु छटपटाता उद्विग्न जीव ही हमेशा ऐसे नगर की खोज में रहता है । इस तरह ग्रन्थकार महर्षि हमें 'ज्ञानसार' नगर का अनूठा दर्शन कराते हैं... इस में प्रवेश कर हम भी कृतकृत्य बनें ।

गच्छे श्रीविजयादिदेवसुगुरोः स्वच्छे गुणानां गणैः
प्रौढिं प्रौढिमधाम्नि जीतविजयप्राज्ञाः परामैयरुः ।
तत्सातीर्थ्यभृतां नयादिविजयप्राज्ञोत्तमानां शिशोः
श्रीमन्न्यायविशारदस्य कृतिनामेषा कृतिः प्रीतये ॥

अर्थ : सद्गुरु श्री विजयदेवसूरि के गुणसमूह से पवित्र एवं महान् गच्छ में जितविजय नाम के अत्यन्त विद्वान् और महिमाशाली पुरुष हुए । उनके गुरुभाई नयविजय पण्डित के सुशिष्य श्रीमद् न्यायविशारद (यशोविजयजी उपाध्याय) द्वारा रचित यह कृति, महाभाग्यशाली पुरुषों की प्रीति के लिए सिद्ध हो ।

विवेचन : ग्रन्थकार अपनी गुरु-परम्परा का वर्णन करते हैं !

श्री विजयदेवसूरि के गुण-समूह से अलंकृत विशाल पवित्र गच्छ में प्रकांड़ पण्डित जीतविजयजी नामक अत्यन्त प्रतिभा के धनी महात्मा पुरुष हुए। उनके गुरु भाई श्री नयविजयजी नामक मुनिश्रेष्ठ थे ।

उन्हीं श्री नयविजयजी गुरुदेव के, ग्रन्थकार उपाध्याय श्री यशोविजयजी शिष्य थे ।

ग्रन्थकार ने अपनी कृति में स्वयं का नाम-निर्देश न करते हुए काशी में प्राप्त 'न्यायविशारद' उपाधि का उल्लेख किया है। अपनी इस कृति के लिए उन्होंने आशा व्यक्त करते हुए कहा है :

'प्रस्तुत कृति महाभाग्यशाली और पुण्यशाली पुरुषों के लिए प्रीति कारक सिद्ध हो।" "ज्ञानसार" के अध्ययन, मनन और चिंतन से असीम प्रीति और आनन्द प्राप्त करनेवाली महा भाग्यवन्त आत्माएँ हैं।

'ज्ञानसार' में से ज्ञानानन्द और पूर्णानन्द प्राप्त करने का सौभाग्य समस्त जीवों को प्राप्त हो।

—सम्पूर्ण

• • •

परिशिष्ट

१. कृष्णपक्ष-शुक्लपक्ष
२. ग्रन्थिभेद
३. अध्यात्मादि योग
४. चार प्रकार के सदनुष्ठान
५. ध्यान
६. धर्मसंन्यास-योगसंन्यास
७. समाधि
८. पंचाचार
९. आयोजिका करण, समुद्घात, योगनिरोध
१०. चौदह गुणस्थानक
११. सात नय
१२. ज्ञपरिज्ञा-प्रत्याख्यानपरिज्ञा
१३. पंचास्तिकाय
१४. कर्मस्वरुप
१५. जिनकल्प-स्थविर कल्प
१६. उपसर्ग-परिसह
१७. पाँच शरीर
१८. बीस स्थानक तप
१९. उपशम श्रेणि
२०. चौदह पूर्व

२१. पुद्‌गल परावर्तकाल
२२. कारणवाद
२३. चौदह राजलोक
२४. यतिधर्म
२५. समाचारी
२६. गोचरी : ४२ दोष
२७. चार निक्षेप
२८. चार अनुयोग
२९. ब्रह्म अध्ययन
३०. ४५ आगम
३१. तेजो लेश्या

१. कृष्ण पक्ष-शुक्ल पक्ष

अनन्तकाल से अनन्त जीव चतुर्गतिमय संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं। वे जीव दो प्रकार के हैं : भव्य तथा अभव्य। जिस जीव में मोक्षावस्था प्राप्त करने की योग्यता होती है उसे 'भव्य' कहा जाता है तथा जिस जीव में वह योग्यता नहीं होती उसे 'अभव्य' कहते हैं।

भव्य-जीव का संसारपरिभ्रमणकाल जब एक 'पुदगल परावर्त' बाकी रहता है, अर्थात् मोक्षदशा प्राप्त करने के लिए एक पुद्‌गल-परावर्तकाल बाकी रहता है तब वह जीव 'चरमावर्त' में आया हुआ कहा जाता है।

एक पुद्‌गल-परावर्त का आधे से अधिक काल व्यतीत होने पर, वह जीव, 'शुक्लपाक्षिक' कहलाता है। किन्तु जो जीव कालमर्यादा में नहीं आया होता है वह 'कृष्णपाक्षिक' कहलाता है, अर्थात् वह जीव कृष्णपक्ष में अर्थात् मोह... अज्ञानता के प्रगाढ़ अन्धकार में रहा हुआ होता है।

श्री जीवाभिगम सूत्र के टीकाकार महर्षि ने भी उपरोक्त बात का समर्थन किया है :

'इह द्वये जीवाः तद्यथा-कृष्णपाक्षिकाः शुक्लपाक्षिकाश्च ।

तत्र येषां किञ्चिद्नार्द्धपुद्गल परावर्तः

संसारस्ते शुक्लपाक्षिकाः इतरे दीर्घसंसारभाजिनः कृष्णपाक्षिकाः ।

इसी बात को पूज्य उपाध्यायजी ने **'ज्ञानसार'** के 'टब्बे' में अन्य शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा पुष्ट किया है ।

जेसिं अवड्ढपुग्गलपरियट्टो सेसओ य संसारो ।

ते सुक्कपक्खिया खलु अवरे पुण कण्हपक्खिया ॥

उपरोक्त शास्त्रकारों की मान्यताओं की अपेक्षा श्री "दशाश्रुतस्कंध-सूत्र" के चूर्णीकार की मान्यता भिन्न है । उन्होंने इस प्रकार प्रतिपादन किया है:

'जो अकिरियावादी सो भवितो अभविउ व नियमा किण्हपक्खिओ, किरियावादी नियमा भव्वओ नियमा सुक्कपक्खिओ । अंतोपुग्गलपरियट्टस्स नियमा सिज्झिहिति । सम्मद्दिट्ठी वा मिच्छादिट्ठी वा होज्ज ।'

'जो जीव अक्रियावादी है, भले ही वह भव्य अथवा अभव्य हो, वह अवश्य कृष्णपाक्षिक है । जबकि क्रियावादी भव्य आत्मा निश्चय ही शुक्लपाक्षिक है और वह एक पुद्गल-परावर्तकाल में अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है । वर्तमान में वह जीव भले ही सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि हो ।'

चूर्णीकार की मान्यतानुसार चरमावर्त काल शुक्लपक्ष है; यह मान्यता तर्क-सम्मत भी लगती है । शुक्लपक्ष के प्रारम्भ में जिस प्रकार अल्पकालीन चन्द्रोदय होता है, उसी तरह चरमावर्तकाल में आने पर जीव के आत्म-आकाश में कतिपय गुणों का चन्द्रोदय होता है । पूजनीय आचार्यदेव श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज ने **'योगदृष्टि-समुच्चय'** नामक ग्रन्थ में चरमावर्तकालीन जीव को **भद्रमूर्ति-महात्मा** कहा है । उन्होंने इस भद्रमूर्ति महात्मा के तीन विशेष गुण बताए हैं ।

दुःखितेषु दयात्यन्त-मद्वेषो गुणवत्सु च ।
औचित्यासेवनं चैव सर्वत्रैवाविशेषतः ॥३२॥

दुःखी जीवों के प्रति अत्यन्त करूणा, गुणी जीवों के प्रति राग और सर्वत्र अविशेषरूप से औचित्य का पालन, इन तीन गुणों से सुशोभित भद्रमूर्ति माहात्मा को 'शुक्लपाक्षिक' कहने में दशाश्रुतस्कंध के चूर्णीकार महापुरुष की मान्यता योग्य लगती प्रतीत होती है । 'तत्त्वं तु केवलिनो विदन्ति ।' तत्त्व तो केवली भगवान जाने ।

'श्री पंचाशक' ग्रन्थ में याकिनीमहत्तरासूनु हरिभद्राचार्य ने शुक्ल पाक्षिक श्रावक का वर्णन किया है :

परलोयहियं सम्मं जो जिणवयणं सुणेइ उवउत्तो ।
अइतिव्वकम्मविगमा सुक्को सो सावगो एत्थ ॥२॥ –प्रथम पंचाशक

'सम्यक् प्रकार से उपयोगपूर्वक जो श्रावक परलोक हितकारी जिन वचन का श्रवण करता है और अति तीव्र पाप कर्म जिसके क्षीण हो गये हैं, वह शुक्लपाक्षिक श्रावक कहलाता है ।

२. ग्रन्थि भेद

जिस किसी भी प्रकार से 'तथाभव्यत्व' के परिपाक से जीवात्मा 'यथाप्रवृत्तिकरण'[१] द्वारा आयुष्य कर्म के अतिरिक्त ज्ञानावरणीयादि सातों कर्मों की 'पृथक पल्योपम'[२] के संख्याता भाग न्यून एक क्रोडाक्रोड सागरोपम प्रमाण स्थिति कर देता है।

जब कर्मों की इस प्रकार से मर्यादित कालस्थिति हो जाती है तब जीव के समक्ष एक अभिन्न ग्रन्थि आती है । तीव्र राग-द्वेष के परिणामस्वरुप यह ग्रन्थि होती है । उस ग्रन्थि का सर्जन अनादि कर्म-परिणाम द्वारा हुआ होता है ।

अभव्यजीव यथाप्रवृत्तिकरण से ज्ञानावरणीयादि सात कर्मों की दीर्घस्थिति का क्षय करके अनन्त बार इस 'ग्रन्थि' के द्वार पर आते हैं, परन्तु ग्रन्थि की भयंकरता देखकर ग्रन्थि को भेदने की कल्पना भी नहीं कर सकते... उसे भेदने का पुरुषार्थ करना तो दूर रहा ! वहीं से वापस लौटता है–पुनः वह संक्लेश में फँस जाता है ! संक्लेश द्वारा पुनः कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति बाँधता है । भवभ्रमण में चला जाता है ।

भव्य जीव भी अनन्तबार इस प्रकार से ग्रन्थि प्रदेश के द्वार पर, आकर ही घबड़ाते हुए वापिस लौट जाते हैं । परन्तु जब इस 'भव्य' महात्मा को 'अपूर्वकरण' की परमसिद्धि प्राप्त हो जाती है, कि जिस अपूर्वकरण की परमविशुद्धि को श्री 'प्रवचनसारोद्धार' ग्रन्थ के टीकाकार ने 'निसिताकुण्ठ-कुठारधारा' की उपमा दी है । वह तीक्ष्ण कुल्हाडी की धार के समान परम विशुद्धि द्वारा समुल्लसित दुर्निवार वीर्यवाला

---

१. गुरुतरगिरिसरित् – प्रवाहवाह्यमानोपलघोलनाकल्पेन अध्यवसायविशेषरूपेण अनाभोग-निर्वर्तितेन यथाप्रवृत्तिकरणेन । – प्रवचनसारोद्धारे

२. आयुर्वर्जानि ज्ञानावरणादिकर्माणि सर्वाण्यपि पृथक्पल्योपमसंख्येयभागन्यूनैक-सागरोपमकोटीकोटीस्थितिकानि करोति । – प्रवचनसारोद्धारे

महात्मा ग्रन्थि को भेदकर परमनिवृत्ति के सुख का रसास्वाद कर लेता है ।

अब यह महात्मा किस प्रकार से राग-द्वेष की निबिड़ ग्रन्थि को भेद डालता है, उसे एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं ।

कुछ[३] पथिक यात्रा के हेतु निकले । एक गहन वन में से गुजरते हुए उन्होंने दूर से डाकुओं को देखा । डाकुओं के रौद्र स्वरूप को देखकर कुछ पथिक तो वहीं से पीछे भाग गये । कुछ पथिकों को डाकुओं ने पकड़ लिया। जबकि शेष शूरवीर पथिकों ने डाकुओं को भूशरण कर आगे प्रयाण किया । वन को पार कर तीर्थस्थान पर जा पहुँचे।

मोहनीय[४] कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बाँधनेवाले वे भागनेवाले पथिकों जैसे हैं। जो डाकुओं द्वारा पकड़े गये थे वे ग्रन्थि देश में रहे हुए जीव हैं । जो डाकुओं को परास्त कर तीर्थस्थान पर पहुँचे वे ग्रन्थि को भेदकर समकित को प्राप्त करनेवाले हैं।

'सम्यक्त्वस्तव' प्रकरणकार इस प्रकार से ग्रन्थिभेद की प्रक्रिया बताते हैं । अर्धपुद्गलपरावर्त काल जीव का संसारकाल बाकी है, जो जीव भव्य हैं, पर्याप्त-संज्ञी-पंचेन्द्रिय हैं, वे जीव अपूर्वकरणरुपी मुद्गर के प्रहार से ग्रन्थिभेद करके, अन्तर्मुहूर्त में ही 'अनिवृत्तिकरण' करते हैं और वहाँ सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं ।

३. अध्यात्मादि योग

जैनदर्शन का योगमार्ग कितना स्पष्ट, सचोट, तर्कसंगत तथा कार्यसाधक है, उसकी सूक्ष्म दृष्टि से तथा गंभीर हृदय से शोध करने की आवश्यकता है । यहाँ क्रम से अध्यात्मयोग, भावनायोग, ध्यानयोग, समतायोग और वृत्तिसंक्षययोग का विवेचन किया जाता है ।

१. अध्यात्मयोग

'योग' शब्द की परिभाषा 'मोक्षेण योजनाद् योगः ।' इस प्रकार से करने में आई है । अर्थात् जिसके द्वारा जीवात्मा मोक्षदशा प्राप्त करे, वह योग है । इस योग की, साधना की दृष्टि से उत्तरोत्तर विकास की पाँच भूमिकाएँ अनंतज्ञानी परमपुरुषों ने

---

३. 'सम्यक्त्वस्तव' प्रकरणे

४. मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम है।

देखी हैं । उनमें से प्रथम भूमिका अध्यात्मयोग की है ।

उपाध्यायजी ने 'अध्यात्मसार' ग्रन्थरत्न में 'अध्यात्म' की व्याख्या इस प्रकार की है :

'गतमोहाधिकाराणामात्मानमधिकृत्य'[1] या ।
प्रवर्तते क्रिया शुद्धा तदध्यात्मं जगुर्जिनाः ॥

जिन आत्माओं के ऊपर से मोह का अधिकार... वर्चस्व उठ गया है, वे आत्माएँ स्व-पर की आत्मा को अनुलक्षित करके जो विशुद्ध क्रिया करती हैं (मन, वचन, काया से) उसे श्री जिनेश्वरदेव ने 'अध्यात्म' कहा है ।

जीवात्मा पर से मोह का वर्चस्व टूट जाने पर जीवात्मा का आंतरिक एवं बाह्य स्वरुप कैसा बन जाता है, उसका विशद वर्णन, भगवन्त हरिभद्राचार्य ने 'योगबिन्दु' ग्रन्थ में किया है ।

उस[2] जीव का आचरण सर्वत्र औचित्य से उज्ज्वल होता है। स्व-पर के उचित कर्तव्यों को समझकर तदनुसार अपने कर्तव्य का पालन करनेवाला वह होता है। उसका एक-एक शब्द औचित्य की सुवास से मधमधायमान होता है ।

उसके जीवन में पाँच अणुव्रत या पाँच महाव्रत रम गये हुए होते हैं । व्रतों का प्रतिज्ञाबद्ध पालन करता हुआ, यह महामना योगी लोक प्रिय बनता है।

श्री वीतराग सर्वज्ञ भगवन्तो के द्वारा निर्देशित नवतत्त्वों की निरन्तर पर्यालोचना मैत्री-प्रमोद-करूणा-माध्यस्थ्यमूलक होती है, अर्थात् इसके चिंतन में जीवों के प्रति मैत्री की, प्रमोद की, कारूण्य की और माध्यस्थ्य की प्रधानता होती है। इस प्रकार औचित्य, व्रतपालन और मैत्र्यादि प्रधान नवतत्त्वों का चिंतन यह वास्तविक 'अध्यात्म' है ।

इस[3] अध्यात्म से ज्ञानावरणीयादि क्लिष्ट पापों का नाश होता है । साधना में आंतरवीर्य उल्लसित होता है । चित्त की निर्मल समाधि प्राप्त होती है, सम्यग्ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है, जो कि जात्यरत्न के प्रकाश जैसा अप्रतिहत होता है। अध्यात्म

---

१. अध्यात्मसारे - अध्यात्मस्वरुपाधिकारे।

२. औचित्याद् वृत्तयुक्तस्य वचनात्तत्वचिंतनम्।
मैत्र्यादिसारमत्यन्तमध्यात्मं तद्विदो बिदुः ॥३५८॥ योगबिन्दुः ।

३. अतः पापक्षयः सत्त्वं शीलं ज्ञानं च शाश्वतम्।
तथानुभवसंसिद्धममृतं ह्यद एव तु ॥३५९॥ योगबिन्दुः ।

का यह दिव्य अमृत अतिदारूण मोह रूपी विष के विकारों का उन्मूलन कर डालता है। इस आध्यात्मिक पुरुष का मोह पर वर्चस्व जम जाता है।

२. भावनायोग :

उपर्युक्त[४] औचित्यपालन, व्रतपालन और मैत्र्यादिप्रधान नव तत्त्वों का प्रतिदिन अनुवर्तन-अभ्यास करना, उसका नाम भावनायोग हैं। जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ता जाता है वैसे-वैसे उनमें समुत्कर्ष होता जाता है और मन की समाधि बढ़ती जाती है।

यह[५] भावनायोग सिद्ध होने पर अशुभ अध्यवसायों (विचारों) से जीव निवृत्त होता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप वगैरह शुभ भावों के अभ्यास के लिये अनुकूल भावना की प्राप्ति होती है और चित्त का सम्यक् समुत्कर्ष होता है।

भावनायोगी[६] के आंतरिक क्रोधादिकषाय मंद पड़ जाते हैं। इन्द्रियों का उन्माद शान्त हो जाता है। मन-वचन-काया के योगों को वह संयमित रखता है। मोक्षदशा प्राप्त करने की अभिलाषावाला बनता है और विश्व के जीवों के प्रति वात्सल्य धारण करता है। ऐसी आत्मा निर्दंभ हृदय से जो क्रिया करती है, उससे उसके अध्यात्म-गुणों की वृद्धि होती है।

३. ध्यानयोग :

'प्रशस्त किसी एक अर्थ पर चित्त की स्थिरता होना, उसका नाम 'ध्यान' है। वह ध्यान धर्मध्यान या शुक्लध्यान हो तो वह ध्यानयोग बनता है। भूमिगृह कि जहाँ वायु का प्रवेश नहीं हो सकता, वहाँ जलते हुए दीपक की ज्योति के समान ध्यान स्थिर हो अर्थात स्थिर दीपक के जैसा हो। चित्त का उपयोग उत्पाद्, व्यय, ध्रौव्य वगैरह सूक्ष्म पदार्थों में होना चाहिए। इस प्रकार 'श्री योगबिंदु' ग्रन्थ में प्रतिपादन किया हुआ है।

इस[७] ध्यानयोग से प्रत्येक कार्य में भावस्तैमित्य आत्मस्वाधीन बनता है। पूर्व

---

४. अभ्यासोऽस्यैव विज्ञेयः प्रत्यहं वृद्धिसंगतः।
मनः समाधिसंयुक्तः पौनःपुन्येन भावना ॥३६०॥ योगबिन्दुः।

५. निवृत्तिरशुभाभ्यासाच्छुभाभ्यासानुकूलता।
तथा सुचित्तवृद्धिश्च भावनायाः फलं मतम् ॥३६१॥ योगबिन्दुः।

६. शान्तो दान्तः सदा गुरूतो मोक्षार्थी विश्ववत्सलः।
निर्दम्भां यां क्रियां कुर्यात् साध्यात्मगुणवृद्धये ॥२२५॥ अध्यात्मसारे।

७. वशिता चैव सर्वत्र भावस्तैमित्यमेव च।
अनुबन्धव्यच्छेद उदर्कोऽस्योति तद्विदः ॥३६३॥ योगबिन्दुः।

कर्मों के बन्ध की परम्परा का विच्छेद हो जाता है ।

४. समतायोग :

अनादिकालीन तथ्यहीन वासनाओं के द्वारा होनेवाले संकल्पों से जगत् के जड़-चेतन पदार्थों में जीव इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करता है । इष्ट में सुख मानता है, अनिष्ट में दुःख मानता है ।

समतायोगी महात्मा जगत के जड़-चेतन पदार्थों पर एक दिव्य दृष्टि डालता है ! न तो उसको कोई इष्ट लगता है और न अनिष्ट ! वह परामर्श करता है :

'तानेवार्थान् द्विषतः तानेवार्थान् प्रलीयमानस्य
निश्चयतोऽस्यानिष्टं न विद्यते किञ्चिदिष्टं वा ।।–प्रशमरति

"जिन पदार्थों के प्रति जीव एक बार द्वेष करता है, उन्हीं पदार्थों के प्रति वह राग करता है । 'निश्चयनय' से पदार्थ में कोई इष्टता नहीं है, कोई अनिष्टता नहीं है । वह तो वासनावासित जीव की भ्रमित कल्पना मात्र है ।

'प्रियाप्रियत्वयोर्यार्थैं व्यवहारस्य कल्पना ।' –अध्यात्मसारे

प्रियाप्रियत्व की कल्पना 'व्यवहार नय' की है । निश्चय से न तो कोई प्रिय है और न कोई अप्रिय !

'विकल्पकल्पितं तस्माद् द्वयमेतन्न तात्विकम् ।' –अध्यात्मसारे

विकल्पशिल्पी द्वारा बनाये गये ईष्ट-अनिष्टों के महल तात्त्विक नहीं, सत्य नहीं, हकीकत नहीं ।

इस विवेकज्ञानवाला समतायोगी जगत के सर्व पदार्थों में से इष्टानिष्ट की कल्पना को दूरकर समतारस में निमग्न बन जाता है ।

समता-शचि का स्वामीनाथ योगीन्द्र... समता–शचि के उत्संग में रसलीन बनकर ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है । न ही वह अपनी दिव्य शक्ति का उपयोग करता है और न वह इस कारण से समता-रानी के साथ को छोड़ता है । इस परिस्थिति में उसका एक महान् कार्य सिद्ध होता है । केवलज्ञान, केवलदर्शन, यथाख्यात चारित्र... आदि को घेरकर रहे हुए कुकर्मों का क्षय हो जाता है ! अपेक्षातन्तुविच्छेदः ! अपेक्षा तो कर्मबन्ध का मूल है, वह मूल उखड़ जाता है।

इस समतायोगी के गले में कोई भक्त आकर पुष्पमाला या चंदन का लेपकर जाय... कोई शत्रु आकर कुल्हाड़े का घावकर जाय... न तो उस भक्त पर राग और न

उस शत्रु पर द्वेष ! दोनों पर समान दृष्टि ! दोनों के शुद्ध आत्मद्रव्य पर ही दृष्टि !

श्री[८] उपाध्यायजी ने इस 'समता' के मुक्तकण्ठ से गीत गाये हैं !

५. वृत्तिसंक्षय योग :

निस्तरंग महोदधि समान आत्मा की वृत्तियाँ दो प्रकार से दृष्टि गोचर होती है; (१) विकल्परूप, (२) परिस्पंदरूप। ये दोनों प्रकार की वृत्तियाँ आत्मा की स्वाभाविक नहीं है परन्तु अन्य संयोगजन्य हैं। तथाविध मनोद्रव्य के संयोग★ से विकल्परूप वृत्तियाँ जाग्रत होती है। •शरीर से परिस्पन्दरूप वृत्तियाँ होती हैं।

जब केवलज्ञान की प्राप्ति होती है तब विकल्परूप वृत्ति का संक्षय हो जाता है। ऐसा क्षय हो जाता है कि पुनः अनंतकाल के लिए आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध ही न हो। 'अयोगी केवली' अवस्था में परिस्पंदरुप वृत्तियों का भी विनाश हो जाता है।

इसका नाम है वृत्तिसंक्षययोग।
इस योग का फल है—केवलज्ञान और मोक्षप्राप्ति !

अतोऽपि केवलज्ञानं शैलेशीसम्परिग्रहः।
मोक्षप्राप्तिरनाबाधा सदानन्दविधायिनी ॥६६७॥ —योगबिन्दुः

४. चतुर्विध सदनुष्ठान

सम्यग्ज्ञान-दर्शन और चारित्र के गुणों की वृद्धि जिस क्रिया द्वारा होती है उसे सदनुष्ठान कहा जाता है। सत्क्रिया कहें अथवा सदनुष्ठान कहें, दोनों समान हैं।

इस सदनुष्ठान के चार प्रकार 'श्री षोडषक' ग्रन्थ में श्रीमद् हरिभद्रसूरीश्वरजी ने बताये हैं। उसी प्रकार '**योगविंशिका**' ग्रन्थ की टीका में पूज्य उपाध्यायजी ने भी चार अनुष्ठानों का विशद वर्णन किया है।

१. प्रीति अनुष्ठान :

आत्महितकर[+] अनुष्ठान के प्रति, अनुष्ठान बतानेवाले सद्गुरु के प्रति और सर्व-

---

८. देखो : अध्यात्मसार—समताधिकारे।

★ मानसिक विचार • शारीरिक क्रियाएँ

+ यत्रादरोऽस्ति परमः प्रीतिश्च हितोदया भवति कर्तुः।
शेषत्यागेन करोति यच्च तत् प्रीत्यनुष्ठानम्॥ —दशम-षोडशके

जन्तुवत्सल तारक जिनेश्वरभगवन्त के प्रति परम प्रीति उत्पन्न होनी चाहिये । अनुष्ठान विशिष्ट प्रयत्नपूर्वक करने में आवे, अर्थात् जिस समय करना हो उसी समय किया जाय। भले ही दूसरे सैकड़ों काम बिगडते हों ।

एक वस्तु के प्रति दृढ़ प्रीति जगने के बाद, फिर उसके लिए जीव क्या नहीं करता ? किसका त्याग नहीं करता ? उपर्युक्त हकीकत 'श्री योगविंशिका' में दर्शायी गई है । 'यत्रानुष्ठाने १. प्रयत्नातिशयोऽस्ति, २. परमा च प्रीतिरूत्पद्यते, ३. शेषत्यागेन च यत्क्रियते तत्प्रीत्यनुष्ठानम् ।'

२. भक्ति अनुष्ठान :

भक्ति-अनुष्ठान में भी ऊपर की ही तीन वस्तुएँ होती हैं किन्तु अन्तर आलम्बनीय को लेकर पड़ता है । भक्ति-अनुष्ठान में आलम्बनीय में विशिष्ट पूज्यभाव की बुद्धि जाग्रत होती है, उससे प्रवृत्ति विशुद्धतर बनती है ।

पूज्य[1] उपाध्यायजी ने प्रीति और भक्ति के भेद को बताते हुए पत्नी और माता का दृष्टान्त दिया है । मनुष्य में पत्नी के प्रति प्रीति होती है और माता के प्रति भक्ति होती है । दोनों के प्रति कर्तव्य समान होते हुए भी माता के प्रति पूज्यभाव की बुद्धि होने से उसके प्रति का कर्तव्य उच्च माना जाता है ।

अर्थात्[2] अनुष्ठान के प्रति विशेष गौरव जाग्रत हो, उसके प्रति महान् सद्भाव उल्लसित हो तब वह अनुष्ठान भक्तिअनुष्ठान कहा जाता है । महायोगी श्री आनन्दघनजी ने प्रथम जिनेश्वर की स्तवना–

'ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो और न चाहुँ कंत...

इस प्रकार की है । उसे हम प्रीति अनुष्ठान में गिन सकते हैं । कारण कि उसमें योगीराज ने अपनी चेतना में पत्नीपन का आरोप किया है और परमात्मा में स्वामीपन की कल्पना की है । स्तवना में प्रीतिरस की प्रचुरता दृष्टिगोचर होती है ।

३. वचनानुष्ठान :

शास्त्रार्थप्रतिसंधानपूर्वा साधोः सर्वत्रोचितप्रवृत्तिः । –योगविंशिका

---

१. अत्यन्तवल्लभा खलु पत्नी तद्वद्धिता च जननीति ।
तुल्यमपि कृत्यमनयोर्ज्ञातिं स्यात् प्रीतिभक्तिगतम् ॥ —योगविंशिका

२. गौरवविशेषयोगाद् बुद्धिमतो यद् विशुद्धतरयोगम् ।
क्रिययेतरतुल्यमपि ज्ञेयं तद्भक्त्यनुष्ठानम् ॥ —दशम-षोड़षके

पंच महाव्रतधारी साधु इस अनुष्ठान की उपासना कर सकता है। प्रत्येक काल में और प्रत्येक क्षेत्र में साधु... मुनि... श्रमण... शास्त्र की आज्ञाओं के मर्म को समझकर जो उचित प्रवृत्ति करे वह 'वचनानुष्ठान' कहलाता है। श्री 'षोडशक' में भी इसी प्रकार वचनानुष्ठान बातलाया है।

'वचनात्मिका प्रवृत्तिः सर्वत्रौचित्ययोगतो या तु।
वचनानुष्ठानमिदं चारित्रवतो नियोगेन॥

४. असंगानुष्ठान :

दीर्घकालपर्यन्त जिनवचन के लक्ष से अनुष्ठान करनेवाले महात्मा के जीवन में ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना ऐसी आत्मसात् हो जाती है, कि पीछे से उस महात्मा को यह विचारना नहीं पड़ता कि 'यह क्रिया जिनवचनानुसार है या नहीं ?' जिस प्रकार चंदन में सुवास एकी भूत होती है उसी प्रकार ज्ञानादि की उपासना उस महात्मा में एक रस बन जाती है, तब वह 'असंगानुष्ठान'[३] कहलाता है। यह अनुष्ठान 'जिनकल्पी' आदि विशिष्ट महापुरुषों के जीवन में हो सकता है।

५. ध्यान

'ध्यान' के विषय में प्रथम सर्वसाधारण व्याख्या का निरूपण करके उसके भेद-प्रभेद पर परामर्श करेंगे।

'**ध्यानविचार**' ग्रन्थ में चिन्ता'—भावनापूर्वक स्थिर अध्यवसाय को 'ध्यान' कहा है।

श्री आवश्यकसूत्र-प्रतिक्रमण अध्ययन में 'ध्यातिर्ध्यानम् कालतः अन्तर्मुहुर्तमात्रम्'। इस प्रकार ध्यान का सातत्य अन्तर्मुहुर्त बताये गये है।

श्री आवश्यकसूत्र-प्रति अ० में ध्यान के चार भेद बताये गये हैं। (१) आर्त, (२) रौद्र, (३) धर्म, (४) शुक्ल

'श्री ध्यानविचार' में इन चारों प्रकारों में से तीन प्रकारों को दो भागों में विभाजित किया है और शुक्लध्यान को 'परमध्यान' कहा है।

---

३. यत्त्वभ्यासातिशयात् सात्मीभूतमिव चेष्टयते सद्भिः।
तदसङ्गानुष्ठानं भवति त्वेतत्तदावेधात्॥—दशम षोड़शके

१. चिन्ता-भावनापूर्वकः स्थिरोऽध्यवसायो ध्यानम्।—ध्यानविचारे

'द्रव्यतः आर्तरौद्रे, भावतस्तु आज्ञा-अपाय-विपाक-संस्थान विचयभिदं धर्मध्यानम्'।

१. आर्तध्यान :

शोक[२], आक्रन्द, विलापादि जिसमें हो वह आर्तध्यान कहलाता है।

श्री[३] औपपातिक (उपांग) सूत्र में आर्तध्यान के चार लक्षण बताए हैं :

(१) कंदणयाः जोरों की आवाज करके रोना।

(२) सोअणयाः दीनता करनी।

(३) तिप्पणयाः आंख में से अश्रु निकालना।

(४) विलवणयाः बार-बार कठोर शब्द बोलना।

२. रौद्र ध्यान :

श्री 'ओपपातिक सूत्र' में रौद्र ध्यान के चार लक्षण बताये गये हैं :

(१) ऊसण्णदोसे : निरंतर हिंसा, असत्य, चोरी आदि करना।

(२) बहुदोसे : हिंसादी सर्व पापों में प्रवृत्ति करनी।

(३) अण्णादोसे : अज्ञान से कुशास्त्रों के संस्कार से हिंसादि पापों में धर्मबुद्धि से प्रवृत्त करनी।

(४) आमरणंतदोसे : आमरणांत थोड़ा सा भी पश्चात्ताप किए बिना कालसौकरादि[५] की तरह हिंसादि में प्रवृत्ति करनी।

इस आर्त-रौद्र ध्यान के फल का विचार 'श्री आवश्यक सूत्र' के प्रतिक्रमण-अध्ययन में किया गया है। आर्तध्यान का फल परलोक में तिर्यंचगति और रौद्रध्यान का फल नरकगति होता है।

३. धर्मध्यान :

श्री[५] **'हरिभद्री अष्टक'** ग्रन्थ में धर्मध्यान की यथार्थ एवं सुन्दर स्तुति की गई है।

---

२. शोकाक्रन्दनविलपनादिलक्षणमार्तम्। आवश्यक सूत्र प्रतिक्रमणाध्ययने

३. अट्टस्स झाणस्स चत्तारि लक्खणा-कंदणया-सोअणया-तिप्पणया विलवणया। —औपपातिकोपांगे।

४. कालसौकरिक नाम का कसाई रोज ५०० पाड़ों का वध करता था।

५. भवशतसमुपचितकर्मवनगहनज्वलनकल्पम्। अखिलतपःप्रकारप्रवरम्। आन्तरतपःक्रियारुपम्।

● सैंकडों भवों में उपार्जित किये हुए अनन्त कर्मों के गहन वन के लिये अग्नि समान है ।

● सर्वतप के भेदों में श्रेष्ठ है ।

● आंतर तपः क्रियारुप है ।

धर्मध्यान[1] के चार लक्षण हैं : (१) आज्ञारुचि, (२) निसर्गरुचि, (३) उपदेशरुचि, (४) सूत्ररुचि ।

(१) **आज्ञारुचि :** श्री जिनेश्वरदेव के वचन की अनुपमता, कल्याणकारिता, सर्व सत्तत्त्वों की प्रतिपादकता वगैरह को देखकर उस पर श्रद्धा करना ।

(२) **निसर्गरुचि :** ज्ञान-दर्शन-चारित्रमय आत्मपरिणाम ।

(३) **उपदेशरुचि :** जिनवचन के उपदेश को श्रवण की भावना ।

(४) **सूत्ररुचि :** द्वादशांगी का अध्ययन एवं अध्यापन की भावना । धर्मध्यान[2] के चार आलम्बन हैं ।

(१) वाचना, (२) पृच्छना, (३) परावर्तना, (४) धर्मकथा

अर्थात् सद्गुरु के पास विनयपूर्वक सूत्र का अध्ययन करना । उसमें अगर शंका हो तो विधिपूर्वक गुरुमहाराज के पास जाकर पृच्छा करना । निःशंक बने हुए सूत्रार्थ भूल न जाये इसलिए बार बार उसका परावर्तन करना और इस प्रकार आत्मसात् हुए सूत्रार्थ का सुपात्र के सामने उपदेश देना । ऐसा करने से धर्मध्यान में स्थिरता प्राप्त होती है ।

धर्मध्यान[3] की चार अनुप्रेक्षा है :

(१) अनित्य भावना, (२) अशरण भावना, (३) एकत्व भावना और (४) संसार भावना ।

इन चार भावनाओं का निरन्तर चिन्तन करने से धर्मध्यान उज्ज्वल बनता है और आत्मसात् हो जाता है ।

---

१. धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारी लक्खणा-आज्ञारूई-णिसग्गरूई-उवएसरुई-सुत्तरुई । - श्री औपपातिक सूत्रे ।

२. धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि आलम्बणा-वायणा, पुच्छणा, परियट्टणा धम्मकहा ।

३. धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ-अनित्यत्वाशरणत्वैकत्वसंसारानुप्रेक्षाः ।-श्री औपपातिक सूत्रे ।

श्री उमास्वाती भगवन्त ने 'प्रशमरति' प्रकरण में धर्मध्यान की क्रमशः चार चिंतन धाराएँ बताई है :

आज्ञाविचयमपायविचयं च सद्ध्यानयोगमुपसृत्य ।
तस्माद्विपाकविचयमुपयाति संस्थानविचयं च ॥२४७॥

१. आज्ञाविचय :

'आप्तपुरुष[१]' का वचन ही प्रवचन है । यह है आज्ञा । उस आज्ञा के अर्थ का निर्णय करना विचय है ।

२. अपायविचय :

मिथ्यात्वादि[२] आश्रवों में, स्त्रीकथादि विकथाओं में, रस-ऋद्धि-शाता गारवों में, क्रोधादि कषायों में, परीषहादि नहीं सहने में आत्मा की दुर्दशा है, नुकसान है । उसका चिंतन करके वैसा ही दृढ़ निर्णय हृदय में स्थापित करना।

३. विपाकविचय :

अशुभ[३] और शुभ कर्मों के विपाक (परिणाम) का चिंतन करके 'पापकर्म से दुःख तथा पुण्यकर्म से सुख' ऐसा निर्णय हृदयस्थ करना ।

४. संस्थानविचय :

षड्द्रव्य[४], ऊर्ध्व-अधो-मध्यलोक के क्षेत्र, चौदह राजलोक की आकृति वगैरह का चिंतन करके, विश्व की व्यवस्था का निर्णय करना, उसे संस्थानविचय कहते हैं ।

धर्मध्यानी :

श्री आवश्यक सूत्र में धर्मध्यान करने की इच्छुक आत्मा की योग्यता का प्रतिपादन इस प्रकार किया है :

'जिणसाहूगुणकित्तणपसंसणाविणयदाणसंपण्णो ।
सुअसीलसंजमरओ धम्मज्झाणी मुणेयव्वो' ॥

---

१. आप्तवचनं प्रवचनं चाज्ञा, विचयस्तदर्थनिर्णयनम् ।

२. आस्रवविकथागौरवपरीषहाद्येष्वपायस्तु ।

३. अशुभशुभकर्मविपाकानु चिन्तनार्थो विपाकविचयः स्यात् ।

४. द्रव्यक्षेत्राकृत्यनुगमनं संस्थानविचयस्तु । २४८-२४९ प्रशमरति प्रकरणे ।

(१) श्री जिनेश्वरदेव के गुणों का कीर्तन और प्रशंसा करनेवाला ।

(२) श्री निर्ग्रन्थ मुनिजनों के गुणों का कीर्तन-प्रशंसा करनेवाला । उनका विनय करनेवाला । उनको वस्त्र-आहारादि का दान देनेवाला ।

(३) श्रुतज्ञान की प्राप्ति करने में निरत । प्राप्त श्रुतज्ञान से आत्मा को भावित करने के लक्षवाला ।

(४) शील-सदाचार के पालन में तत्पर ।

(५) इन्द्रियसंयम, मनःसंयम करने में लीन ।

ऐसी आत्मा धर्मध्यानी बन सकती है । श्री प्रशमरति ग्रन्थ में बताया गया है कि वास्तविक धर्मध्यान प्राप्त हुए बाद ही आत्मा वैरागी बनती है अर्थात् उस आत्मा में वैराग्य की ज्योत प्रज्वलित होती है । **'धर्मध्यानमुपगतो वैराग्यमाप्नुयाद् योग्यम्'** ।

वाचिक ध्यान :

सामान्यतः आम विचार ऐसा है कि 'ध्यान' मानसिक ही होता है । परन्तु श्री आवश्यक सूत्र में 'वाचिक ध्यान' भी बताया गया है ।

एवंविहा गिरा मे वत्तव्वा एरिसी न वत्तव्वा ।
इय वेयालियवक्कस्स भासओ वाइगं झाणं ॥

'मुझे इस प्रकार की वाणी बोलनी चाहिये, ऐसी नहीं बोलनी चाहिये ।' इस प्रकार विचारपूर्वक बोलनेवाला वक्ता 'वाचिक-ध्यानी' है ।

ध्यान-काल :

ध्यान के लिए उचित काल भी वह है कि जिस समय मन-वचन-काया के योग स्वस्थ हों । ध्यान के लिए दिवस-रात के समय का नियमन नहीं है।

'कालोऽपि स एव ध्यानोचितः यत्र काले मनोयोगादिस्वास्थ्य प्रधान प्राप्नोति, नैव च दिवसनिशावेलादिनियमनं ध्यायिनो भणितम् ।'

—श्री हरिभद्रसूरि । आवश्यक सूत्रे ।

४. शुक्लध्यान :

शुक्लध्यान के चार प्रकार है । वे 'शुक्लध्यान के चार पाया' के रूप में प्रसिद्ध है ।

१. पृथक्त्व-वितर्क-सविचार :

★पृथक्त्वसहित, वितर्कसहित और विचारसहित प्रथम सुनिर्मल शुक्लध्यान है। यह ध्यान मन-वचन-काया के योगवाले साधु को हो सकता है ।

+पृथक्त्व = अनेकत्वम् । ध्यान को फिरने की विविधता ।

वितर्क = श्रुतचिंता । चौदपूर्वगत श्रुतज्ञान का चिंतन ।

विचार = संक्रम । परमाणु[1], आत्मा आदि पदार्थ, इनके वाचक[2] शब्द और कायिकादियोग[3], इन तीन में विचरण, संचरण, संक्रमण ।

२. एकत्व-वितर्क-अविचार

शुक्ल ध्यान के दूसरे प्रकार में

- एकत्व
- अविचारता
- सवितर्कता होती है ।

अर्थात् यहाँ स्वयं के एक आत्मद्रव्य का अथवा पर्याय का या गुण का निश्चल ध्यान होता है। अर्थ, शब्द और योगों में विचरण नहीं होता है और भावश्रुत के आलम्बन में शुद्ध-आत्मस्वरुप में चिंतन होता रहता है ।

शुक्लध्यान के ये दो भेद आत्मा को उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी में चढ़ानेवाले हैं अर्थात् मुख्य रुप से श्रेणी में होते हैं । दूसरे प्रकार के ध्यान के अन्त में आत्मा वीतरागी बनती है । क्षपकश्रेणीवाली ध्यानी आत्मा ज्ञानावरणीयादि कर्मों को खपाकर

★ सवितर्क सविचारं सपृथकत्वमुदाहृतं ।
त्रियोगयोगिनः साधोराद्यं शुक्लं सुनिर्मलम् ॥६०॥

+ श्रुतचिन्ता वितर्कः स्यात् विचारः संक्रपो मतः ।
पृथकत्वं स्यादनेकत्व भवत्येतत्त्रयात्मकम् ॥६१॥—गुणस्थान-क्रमारोहे

इस ध्यान में तीन विशिष्टता रही हुई है :

१. स्वशुद्ध आत्मानुभूत भावना के आलम्बन से अन्तर्जल्प चलता है।

२. श्रुतोपयोग एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर, एक शब्द से दूसरे शब्द पर तथा एक योग से दूसरे योग पर विचार करता है।

३. ध्यान एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य पर, एक गुण से दूसरे गुण पर और एक पर्याय से दूसरे पर्याय पर संक्रमण करता है।

केवलज्ञान प्राप्त करके सर्वज्ञ बनती है ।

३. सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाति :

यह ध्यान चिन्तनरुप नहीं है । सर्वज्ञ आत्मा को सब आत्म-प्रत्यक्ष होने से, उसे चिन्तनात्मक ध्यान की आवश्यकता रहती ही नहीं । इस तीसरे प्रकार में मन-वचन-काया के बादर योगों का अवरोध होता है । सूक्ष्म मन-वचन-काया के योगों को अवरुद्ध करनेवाला एक मात्र सूक्ष्म काययोग बाकी रहता है । यह ध्यान आत्मा की एक विशिष्ट प्रकार की अवस्था है और वह अप्रतिपाती तथा अविनाशी है अर्थात् यह अवस्था अवश्य चौथे प्रकार के ध्यानरूप बन जाती है ।

४. व्युच्छिन्न क्रिया-अनिवृत्ति :

यहाँ समग्र योग हमेशा के लिए विराम प्राप्त कर गए होते हैं । विच्छेद प्राप्त कर गये होते हैं । इस अवस्था में अब कभी भी परिवर्तन नहीं होता । यह अवस्थाविशेष ही ध्यान है । 'शैलेशी अवस्था' इस ध्यानरूप है ।

छद्मस्थ आत्मा का ध्यान :

मन[१] की स्थिरता छद्मस्थ का ध्यान है ।

अन्तर्मुहूर्तकालं यच्चित्तावस्थानमेकस्मिन् वस्तुनि तच्छद्मस्थानां ध्यानम् ।

श्री हरिभद्रसूरि, आवश्यक सूत्रे ।

'अन्तर्मुहूर्त' काल के लिए एक वस्तु में जो चित्त की एकावस्था, वह छद्मस्थ जीव का ध्यान है ।

जिन का ध्यान

योग[२] निरोध, यह जिन का ध्यान है । दूसरे का नहीं ।

काया[३] की स्थिरता, केवली का ध्यान है ।

---

१. 'छद्मस्थस्य... ध्यानं मनसः स्थैर्यमुच्यते' ॥१०१॥

—गुणस्थानक क्रमारोहे ।

२. योगनिरोधो जिनानामेव ध्यानं नान्येषाम् ।

—श्री हरिभद्रसूरिः, आवश्यक सूत्रे

३. बपुषः स्थैर्यं ध्यानं केवलिनो भवेत् ॥१०१॥

—गुणस्थानक क्रमारोहे

६. धर्मसंन्यास-योगसंन्यास

'सामर्थ्य योग के ये दो भेद हैं। समार्थ्ययोग क्षपकश्रेणी में होता है। यह योग प्रधान फल मोक्ष का निकटतम कारण है।

१. धर्मसंन्यास :

क्षपकश्रेणी[१] में जब जीव द्वितीय अपूर्वकरण करता है, तब तात्त्विक रुप में यह 'धर्मसंन्यास' नाम का सामर्थ्य योग होता है। यहाँ क्षायोपशमिक क्षमा-आर्जव-मार्दवादि धर्मों से योगी निवृत्त हो जाता है।

अतात्त्विक[२] 'धर्मसंन्यास' में तो क्षायोपशमिक धर्मों का भी संन्यास (त्याग) कर दिया जाता है अर्थात् वहाँ जीव को क्षायिक गुणों की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि क्षायोपशमिक धर्म ही क्षायिक रूप बन जाते हैं।

२. योग संन्यास :

'योग' का अर्थ कायादि के कार्य (कायोत्सर्गादि) हैं, इनका भी त्याग (संन्यास) सयोगी केवली भगवन्त 'आयोजिकाकरण' के बाद करते हैं।

सयोगी[३] केवली (१३वें गुणस्थानक पर) समुद्घात करने से पहले 'आयोजिकाकरण' करते हैं। यह आयोजिका सभी केवली भगवन्त करते हैं।

---

१. द्वितीयेऽपूर्वकरणे प्रथमो धर्मसंन्याससंज्ञितः सामर्थ्ययोगः तात्त्विक भवेत्।
क्षपकश्रणियोगिनः क्षायोपशमतिकक्षान्त्यादिधर्मनिवृतेः। —योगदृष्टिसमुच्चये

२. - अतात्त्विकस्तु प्रव्रज्याकालेऽपि भवति। — योगदृष्टिसमुच्चये

३. पञ्चसंग्रहे-क्षपकश्रेणि-प्रकरणे।
समाधिः सविकल्पकः निर्विकल्पकश्च। निर्विकल्पस्य अङ्गानि-
(१) यमाः अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः।
(२) नियमाः शौच-संतोष-तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि।
(३) आसनानि करचरणादिसंस्थानविशेषलक्षणानि पद्मस्वस्तिकादीनि।
(४) प्राणायामाः रेचकपूरककुम्भकलक्षणाः प्राणनिग्रहोपायाः।
(५) प्रत्याहारः इन्द्रियाणां स्व-स्वविषयेभ्यः प्रत्याहरणम्।
(६) धारणा अद्वितीयवस्तुन्यन्तरिन्द्रियधारणम्।
(७) ध्यानं अद्वितीयवस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्य अन्तरिन्द्रियवृत्तिप्रवाहः।
(८) समाधिस्तु उक्त सविकल्प एव। — वेदान्तसार-ग्रन्थे
- लय-विक्षेप-कषाय-रसास्वादलक्षणाश्चत्वारो विघ्नाः। —वे. सारे

७. समाधि

'वेदान्त दर्शन' के अनुसार समाधि दो प्रकार की है :

(१) सविकल्प समाधि, (२) निर्विकल्प समाधि ।

निर्विकल्प समाधि के आठ अंग बताने में आये हैं और इन आठ अंगों को ही सविकल्प समाधि कहा गया है । निर्विकल्प समाधि के चार विघ्न 'वेदान्तसार' ग्रन्थ में बताये गये हैं ।

श्री जैनदर्शन दोनों प्रकार की समाधि का सुचारू पद्धति से पाँच योग द्वारा समन्वय करता है । श्री 'योगविंशिका' में आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी ने यह समन्वय किया है और उपाध्यायजी ने उसे विशेष स्पष्ट किया है । यहाँ पाँच योगों द्वारा सविकल्प, निर्विकल्प समाधि बताई गई है ।

*(१) **स्थान** : सकलशास्त्रप्रसिद्ध कायोत्सर्ग-पर्यंकबन्ध–पद्मासनादि आसन ।

(२) **ऊर्ण** : शब्द । क्रियादि में बोले जानेवाले वर्णस्वरुप ।

(३) **अर्थ** : शब्दाभिधेय का व्यवसाय ।

(४) **आलम्बन** : बाह्य प्रतिमादि विषयक ध्यान ।

उपरोक्त चार योग 'सविकल्प समाधि' कहे जा सकते हैं ।

(५) **रहित** : रुपी द्रव्य के आलम्बन से रहित निर्विकल्प चिन्मात्र समाधिरुप ।

यह योग निर्विकल्प समाधि स्वरूप है ।

पाँच योग के अधिकारी :

स्थानादियोग निश्चयनय से देशचारित्री एवं सर्वचारित्री को ही हो सकते हैं ।

★ (१) स्थानम्-आसनविशेषरुपं कायोत्सर्गपर्यङ्कबन्धपद्मासनादि-सकलशास्त्र-प्रसिद्धम् ।

(२) उर्णः-शब्दः स च क्रियादौ उच्चार्यमाणसूत्रवर्णलक्षणः ।

(३) अर्थ-शब्दाभिधेयव्यवसायः ।

(४) आलम्बनम्-बाह्यप्रतिमादिविषयध्यानम् ।

(५) रहित : रूपिद्रव्यालम्बनरहितो निर्विकल्पचिन्मात्रसमाधिरूपः । —योगविंशिकायाम्

क्रियारुप (स्थान-ऊर्ण) और ज्ञानरुप (अर्थ, आलम्बन और रहित) ये योग चारित्रमोहनीय के क्षयोपशम बिना सम्भव नहीं हो सकते ।

'जो जीव देशचारित्री या सर्वचारित्री नहीं हैं, उन जीवों में योग का मात्र बीज हो सकता है ।' किन्तु यह कथन निश्चय नय का है । व्यवहार नय तो योगबीज में भी योग का उपचार करता है । इससे व्यवहार नय से अपुनर्बंधकादि जीव भी योग के अधिकारी हो सकते हैं ।

८. पाँच आचार

मोक्षमार्ग की आराधना के मुख्य पाँच मार्गों को 'पंचाचार' कहा जाता है । यहाँ '**श्री प्रवचनसारोद्धार**' ग्रन्थ के आधार पर उसका संक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

१. ज्ञानाचार

१. काल : आगमग्रन्थों के अध्ययन के लिए शास्त्रकारों ने काल-निर्णय किया है, उस समय में ही अध्ययन करना ।

२. विनय : ज्ञानी, ज्ञान के साधन और ज्ञान का विनय करते हुए ज्ञानार्जन करना।

३. बहुमान : ज्ञान-ज्ञानी के प्रति चित्त में प्रीति धारण करना ।

४. उपधान : जिन जिन सूत्रों के अध्ययन हेतु शास्त्रकारों ने जो तप करने का विधान बताया है, वह तप करके ही शास्त्र का अध्ययन करना । उससे यथार्थ रुप में सूत्र की शीध्र धारणा हो जाती है ।

५. अनिह्नवन : अभिमानादिवश या स्वयं की शंका से श्रुतगुरु का या श्रुत का अपलाप नहीं करना ।

६. व्यंजन : अक्षर-शब्द-वाक्य का शुद्ध उच्चारण करना ।

७. अर्थ : अक्षरादि से अभिधेय का विचार करना ।

८. ऊभय : व्यंजन-अर्थ में फेरफार किये बिना तथा सम्यक् उपयोग रखकर पढ़ना।

२. दर्शनाचार

१. नि:शंकित : जिनवचन में संदेह न रखना ।

२. नि:कांक्षित : अन्य मिथ्यादर्शनों की आकांक्षा नहीं करना ।

३. निर्विचिकित्सा : 'साधु मलीन हैं ।' ऐसी जुगुप्सा नहीं करना ।

४. अमूढता : तपस्वी विद्यावन्त कुतीर्थिक की ऋद्धि देखकर चलित नहीं होना ।

५. उपबृंहणा : साधर्मिक जीवों के दान-शीलादि सद्गुणों की प्रशंसा करके, उनके सद्गुणों की वृद्धि करना ।

६. स्थिरीकरण : धर्म से चलचित्त जीवों को हित-मित-पथ्य वचनों के द्वारा पुनः स्थिर करना ।

७. वात्सल्य : साधर्मिकों की भोजनवस्त्रादि द्वारा भक्ति व सन्मान करना ।

८. प्रभावना : धर्मकथा, वादीविजय, दुष्कर तपादि द्वारा जिनप्रवचन का उद्योत करना। (यद्यपि जिनप्रवचन स्वयं शाश्वत् जिनभाषित और सुरासुरों से नमस्कृत होने से उद्योतीत ही है, फिर भी स्वयं के दर्शन की निर्मलता हेतु, खुद के किसी विशेष गुण द्वारा लोगों को प्रवचन की ओर आकर्षित करना ।)

३. चारित्राचार :

पाँच समिति (ईर्यासमिति, भाषासमिति, ऐषणासमिति, आदान-भंडमत्तनिक्षेपणासमिति और पारिष्ठापनिका समिति) तथा तीन गुप्ति (मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति) द्वारा मन-वचन-काया को भावित रखना ।

४. तपाचार :

अनशन, उणोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रसत्याग, कायक्लेश और संलीनता, इन छः बाह्य तपों द्वारा आत्मा को तपाना । (यह छः प्रकार का तप बाह्य इसलिए कहा जाता है कि (१) बाह्य शरीर को तपानेवाला है । (२) बाह्य लोक में तपरुप प्रसिद्ध है । (३) कुतीर्थिकों ने स्वमत से सेवन किया है ।)

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय और ध्यान, इन छः प्रकार के आभ्यंतर तप से आत्मा को विशुद्ध करना ।

५. वीर्याचार :

उपरोक्त चार आचारों में मन-वचन-काया का वीर्य (शक्ति) स्फुरित करके सुन्दर धर्मपुरुषार्थ करना ।

इस प्रकार पंचाचार का निर्मल रुप से पालन करनेवाली आत्मा, मोक्षमार्ग की तरफ प्रगति करती है और अन्त में मोक्ष प्राप्त करती है ।

९. आयोजिका—करण समुद्घात योगनिरोध

'**श्री पंचसंग्रह**' ग्रन्थ के आधार पर आयोजिका-करण, समुद्घात तथा योगनिरोध का स्पष्टीकरण किया जाता है ।

१. आयोजिका-करण :

सयोगी केवली गुणस्थान पर यह करण किया जाता है । केवली की दृष्टिरुप मर्यादा से अत्यन्त प्रशस्त मन-वचन-काया के व्यापार को 'आयोजिका करण' कहा जाता है । यह ऐसा विशिष्ट व्यापार होता है कि जिसके बाद में समुद्घात तथा योगनिरोध की क्रियाएं होती हैं ।

कुछ आचार्य इस करण को 'आवर्जितकरण' भी कहते हैं । अर्थात् तथाभव्यत्वरुप परिणाम द्वारा मोक्षगमन की ओर सन्मुख हुई आत्मा का अत्यन्त प्रशस्त योगव्यापार ।

कुछ दूसरे आचार्य इसे 'आवश्यककरण' कहते हैं । अर्थात् सब केवलियों को यह 'करण' करना आवश्यक होता है । समुद्घात की क्रिया सभी केवलियों के लिए आवश्यक नहीं होती ।

२. समुद्घात :

*केवली को वेदनीयादि अघाती कर्म विशेष हों और आयुष्य कम हो तब उन दोनों को बराबर करने के लिए (वेदनीयादि कर्म आयुष्य के साथ ही भोगकर पूर्ण हो जावें उसके लिये) यह समुद्घात की क्रिया की जाती है ।

प्रश्न : बहुत काल तक भोगने में आ सके ऐसे वेदनीयादि कर्मों का एकदम नाश करने से 'कृतनाश' दोष नहीं आता ? **समाधान:** बहुत समय तक फल देने के हेतु निश्चित हुए वेदनीयादि कर्म तथा प्रकार के विशुद्ध अध्यवसायरूप उपक्रम (कर्मक्षय के हेतु) द्वारा जल्दी से भोग लिये जाते हैं । उसमें 'कृतनाश' दोष नहीं आता । हाँ, कर्मों को भोगे बिना ही नाश कर दें तब तो दोष लगें, यहाँ ये कर्म जल्दी से भोग लिये जाते हैं । कर्मों का भोग (अनुभव) दो प्रकार से होता है। (१) प्रदेशोदय द्वारा, (२) रसोदय द्वारा । प्रदेशोदय द्वारा सब कर्म भोगे जाते हैं। रसोदय द्वारा कोई भोगा जाता है और कोई नहीं भी भोगा जाता है । रसोदय द्वारा भोगने पर ही सब कर्मों का

★ चेदायुषः स्थितिर्न्यूना सकाशाद्वेद्यकर्मणः ।
तदा तत्तुल्यतां कर्तुं समुद्घातं करोत्यसौ ॥ —गुणस्थान क्रमारोहे

क्षय होता है, अगर ऐसा माना जाय, तो असंख्य भवों में तथा प्रकार के विचित्र अध्यवसाय द्वारा नरकादि गतियों में जो कर्म उपार्जित किए हैं, उन सब का मनुष्यादि एक भव में ही अनुभव (भोग) नहीं हो सकता। क्योंकि जिस-जिस गति योग्य कर्म बाँधे हों, उनका विपाकोदय उस गति में जाने पर ही होता है, तो फिर आत्मा का मोक्ष किस प्रकार हो ?

जब आयुष्य अन्तर्मुहूर्त बाकी हो, तब समुद्घात किया जाता है ।

[1]पहले समय में अपने शरीर प्रमाण और उर्ध्व-अधोलोक प्रमाण अपने आत्मप्रदेशों का दण्ड करे ।

दूसरे समय में आत्मप्रदेशों को पूर्व-पश्चिम अथवा उत्तर-दक्षिण में कपाट रुप बनायें ।

तीसरे समय में रवैया (मन्थान) रुप बनायें ।

चौथे समय में आन्तराओं को पूरित करके सम्पूर्ण १४ राजलोक व्यापी बन जाय ।

[2]पाँचवें समय में आन्तराओं का संहरण कर ले ।

छट्ठे समय में मन्थान का संहरण कर ले ।

सातवें समय में कपाट का संहरण कर ले ।

आठवें समय में दण्ड को भी समेटकर आत्मा शरीरस्थ बन जाय ।

३. योगनिरोध :

समुद्घात से निवृत्त केवली भगवान् 'योगनिरोध' के मार्ग पर चलते हैं। योग (मन-वचन-काया) के निमित्त होनेवाले बन्ध का नाश करने हेतु योगनिरोध करने में आता है । यह क्रिया अन्तर्मुहूर्त काल में करने में आती है।

सबसे पहले बादर काययोग के बल से बादर वचनयोग को रोधे, फिर बादर काययोग के आलम्बन से बादर मनोयोग को रोधे । उसके बाद उच्छ्वास-निश्वास को रोधे, तत्पश्चात् सूक्ष्म काययोग से बादर काययोग को रोधे । (कारण कि जहाँ तक बादर योग हो वहाँ तक सूक्ष्म योग रोधे नहीं जा सकते ।)

---

१. दण्डं प्रथमे समये कपाटमथ चोत्तरे तथा समये ।
मन्थानमथ तृतीये लोकव्यापी चतुर्थे तु ॥२७४॥ —प्रशमरति प्रकरणे

२. संहरति पञ्चमे त्वन्तराणि मन्थानमथ पुनः षष्ठे ।
सप्तमके तु कपाटं संहरति ततोऽष्टमे दण्डम् ॥ — प्रशमरति प्रकरणे

उसके बाद सूक्ष्म काययोग से सूक्ष्म वचनयोग को रोधे और पीछे के समय में सूक्ष्म मनोयोग की रोधे । उसके बाद के समय में काययोग को रोधे ।

सूक्ष्म काययोग के अवरोध की क्रिया करती हुई आत्मा 'सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती' नाम के शुक्ल ध्यान के तीसरे भेद पर आरुढ हो जाय और १३ वें गुणस्थानक के चरम समयपर्यंत जाय ।

सयोगी केवली गुणस्थानक के चरम समय में (१) सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती ध्यान (२) सर्व किट्टियाँ, (३) शाता का बंध (४) नाम गोत्र की उदीरणा (५) शुक्ल लेश्या, (६) स्थिति-रस का घात और (७) योग । इन सातों पदार्थों का एक साथ विनाश हो जाता है और आत्मा अयोगी केवली बन जाती है ।

१०. चौदह गुणस्थानक

आत्मगुणों की उत्तरोत्तर विकास-अवस्थाओं को 'गुणस्थानक' कहा जाता है। ये अवस्थाएं चौदह हैं । चौदह अवस्थाओं के अन्त में आत्मा गुणों से परिपूर्ण बनती है, अर्थात् अनंतगुणमय आत्मस्वरुप प्रगट हो जाता है ।

★गुणविकास की इन अवस्थाओं के नाम भी उस-उस अवस्था के अनुरूप रखे गए हैं। (१) मिथ्यात्व, (२) सास्वादन, (३) मिश्र, (४) सम्यग्दर्शन, (५) देशविरति, (६) प्रमत्त श्रमण, (७) अप्रमत्त श्रमण, (८) अपूर्वकरण, (९) अनिवृत्ति, (१०) सूक्ष्मलोभ, (११) शान्तमोह, (१२) क्षीणमोह, (१३) सयोगी, (१४) अयोगी ।

अब यहाँ एक-एक गुणस्थानक के स्वरुप का संक्षेप में विचार करते हैं ।

१. मिथ्यादृष्टि गुणस्थानक :

. तात्त्विक दृष्टि से जो परमात्मा नहीं; जो गुरू नहीं; जो धर्म नहीं, उसे परमात्मा-गुरु और धर्म मानना वह, मिथ्यात्व कहलाता है । परन्तु यह व्यक्त मिथ्यात्व कहलाता है। मोहरूप अनादि अव्यक्त मिथ्यात्व तो जीव में हमेशा रहता है। वास्तव में मिथ्यात्व यह गुण नहीं है, फिर भी 'गुणस्थानक' व्यक्त मिथ्यात्व की बुद्धि को अनुलक्षित करके कहा गया है । **'व्यक्तमिथ्यात्वधीप्राप्तिर्गुणस्थानतयोच्यते ।'**[१]

★ 'गुणस्थानक्रमारोह' प्रकरणे श्लोक : २-३-४-५

१. व्यक्त मिथ्यात्व की प्राप्ति को गुणस्थान कहा जाता है।

मिथ्यात्व का प्रभाव :

मदिरा के नशे में चकचूर मनुष्य जिस प्रकार हिताहित को नहीं जानता, उसी प्रकार मिथ्यात्व से मोहित जीव धर्म या अधर्म को नहीं समझता । विवेक नहीं कर सकता । धर्म को अधर्म तथा अधर्म को धर्म मान लेता है ।

२. सास्वादन–गुणस्थानक

पहले औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद, अनन्तानुबन्धी कषायों में से किसी एक से जीव फिसलता है परन्तु मिथ्यात्व दशा को प्राप्त करने में उसे कुछ देर लगती है । (एक समय से लेकर छ आवलिका तक) वहाँ तक वह सास्वादन कहा जाता है ।

'सास्वादन' का प्रभाव :

यहाँ अति अल्पकाल में जीव औपशमिक सम्यक्त्व का रहा सहा आस्वादन करता है ।

जिस प्रकार खीर का भोजन करने पर उल्टी हो जाय, किन्तु उसके बाद भी उसकी डकारें आती हैं, उसी तरह यहाँ औपशमिक समकित से भ्रष्ट होने पर भी, जहाँ तक मिथ्यात्व दशा को प्राप्त न करे वहाँ तक औपशमिक सम्यक्त्व का आस्वादन रहता है ।

३. मिश्र-गुणस्थानक :

मिथ्यात्वदशा के बाद ऊपर चढ़ते हुए दूसरी दशा मिश्रगुणस्थानक की होती है । 'सास्वादन-गुणस्थानक' तो नीचे गिरते हुए जीव की एक अवस्था है । 'मिश्र' का अर्थ है सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों का मिश्रण, यह मिश्र-अवस्था मात्र एक अन्तर्मुहूर्त्त काल तक रहती है । आत्मा की यह एक विलक्षण अवस्था है । यहाँ जीव में धर्म-अधर्म दोनों पर समबुद्धि से श्रद्धा होती है । 'गुणस्थानक-क्रमारोह' प्रकरण में कहा है—

तथा धर्मद्वये श्रद्धा जायते समबुद्धितः ।
मिश्रोऽसौ भण्यते तस्माद् भावो जात्यन्तरात्मकः ॥१५॥

मिश्रदृष्टि का प्रभाव :

यहाँ आत्मा अतत्त्व का या तत्त्व का पक्षपाती नहीं होता । इस अवस्था में जीव परभव का आयुष्य नहीं बाँधता है और मरता भी नहीं है ।

४. अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानक :

स्वाभाविकता से या उपदेश से यथोक्त तत्त्वों में जीव को रूचि हो, वह सम्यक्त्व कहलाता है ।

यथोक्तेषु च तत्त्वेषु रुचिर्जीवस्य जायते ।
निसर्गादुपदेशाद्वा सम्यक्त्वं हि तदुच्यते ।।–श्री रत्नशेखरसूरि

'सम्यक्त्व' की महत्ता बताते हुए उपाध्यायजी यशोविजयजी ने 'अध्यात्मसार' प्रकरण में कहा है :

'कनीनिकेव नेत्रस्य कुसुमस्येव सौरभम् ।
सम्यक्त्वमुच्यते सारः सर्वेषां धर्मकर्मणाम् ।।

'आँख में जैसे पुतली, पुष्प में जैसे सुगन्ध, उसी प्रकार सब धर्मकार्यों में 'सम्यक्त्व' सारभूत है ।

आत्मा की इस अवस्था में अनन्तानुबन्धी कषायों का उदय नहीं होता है परन्तु अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होता है । उसके प्रभाव से आत्मा कोई व्रत-नियम नहीं ले सकती । हालाँकि यथोक्त तत्त्वों की रुचि जरुर होती है ।

सम्यक्त्व का प्रभाव :

सम्यक्त्व का गुण आत्मा में प्रगट होने के बाद प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्तिक्य, ये पाँच गुण आत्मा में प्रगट हो जाते हैं ।

कृपा-प्रशम-संवेग-निर्वदास्तिक्य-लक्षणाः ।
गुणा भवन्ति यच्चित्ते, सःस्यात्सम्यक्त्वभूषितः ।।-श्री रत्नशेखरसूरि

यह समकिती आत्मा परमात्मा, सद्गुरु और संघ की सद्भक्ति करता है तथा परमात्मशासन की उन्नति करता है । भले ही उसमें कोई व्रत-नियम न हो । कहा है:

देवे गुरौ च संघे च सद्भक्ति शासनोन्नतिम् ।
अव्रतोऽपि करोत्येव स्थितस्तुर्ये गुणालये ।।

५. देशविरति-गुणस्थानक :

★'सर्वविरति' गुण का आवारक प्रत्याख्यानावरण कषायों के उदय से यहाँ आत्मा, सर्व सावद्ययोग से कुछ अंश तक विराम पाती है । (देश अंश में, विरति-

---

★ - सर्वविरतिरूपं हि प्रत्याख्यानमावृण्वन्ति इति प्रत्याख्यानावरणाः । —प्रवचनसारोद्धार

विराम प्राप्त करना।) अर्थात् पापव्यापारों का सर्वथा त्याग नहीं करती है परन्तु कुछ अंश तक त्याग करती है।

देशविरति का प्रभाव :

यहाँ आत्मा अनेक गुणों से युक्त हो जाती है। जिनेन्द्र-भक्ति, गुरू-उपासना, जीवों पर अनुकम्पा, सुपात्रदान, सत्शास्त्र-श्रवण, बारह व्रतों का पालन, *प्रतिमाधारण..... वगैरह बाह्य तथा आभ्यन्तर धर्म-आराधना से आत्मा का जीवन शोभायमान होता है।

६. प्रमत्तसंयत गुणस्थानक :

यहाँ अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण कषायों का उदय नहीं होता। यहाँ 'संज्वलन' कषायों का उदय होता है। उससे निद्रा-विकथादि प्रमाद का प्रभाव आत्मा पर पड़ता है। इसलिये इस भूमिका में रही हुई आत्मा को 'प्रमत्तसंयत' कहा जाता है।

'**श्री प्रवचन सारोद्धार**' ग्रन्थ में 'प्रमत्तसंयत' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है :

'संयच्छति स्म-सर्वसावद्ययोगेभ्यः सम्यगुपरमति स्मेति संयतः। प्रमाद्यति स्म-मोहनीयादिकर्मोदयप्रभावतः संज्वलनकषायनिद्राद्यन्यतम-प्रमादयोगतः संयमयोगेषु सीदति स्मेति प्रमत्तः, स चासौ संयतश्च प्रमत्तसंयतः।'

सर्व सावद्ययोगों से जो विराम पाता है, उसे 'संयत' कहते हैं। मोहनीयादि कर्मों के उदय से तथा निद्रादि प्रमाद के योग से संयमयोगों में अतिचार लगाता है, इसलिये उसे प्रमत्त कहते हैं।

सर्वविरति का प्रभाव :

आत्मगुणों के विकास की यह एक उच्च भूमिका है। यहाँ आत्मा क्षमा-आर्जव-मार्दव-शौच-संयम-त्याग-सत्य-तप-ब्रह्मचर्य-आकिंचन्य, इन दस यतिधर्मों का पालन करती है। अनित्यादि भावनाओं से भावित होकर विषयकषायों को वश में रखती है। सर्व पापों के त्यागरुप पवित्र जीवन जीती है। किसी भी जीव को वह दुःख नहीं देती है।

★ -श्रावक की ११ प्रतिमाओं का वर्णन देखो 'पञ्चाशक' प्रकरण में।

७. अप्रमत्तसंयत-गुणस्थानक :

यहाँ संज्वलन कषायों का उदय मंद हो जाने से निद्रादि प्रमाद का प्रभाव रहता नहीं, इससे आत्मा अप्रमादी-अप्रमत्त, महाव्रती बन जाती है ।

प्रमाद का नाश हो जाने से आत्मा व्रत-शील... आदि गुणों से अलंकृत और ज्ञान-ध्यान की सम्पत्ति से शोभायमान बनती है ।

८. *अपूर्वकरण गुणस्थानक :

अभिनव पाँच पदार्थों के निर्वर्तन को 'अपूर्वकरण' कहा जाता है । ये पाँच पदार्थ इस प्रकार हैं – (१) स्थितिघात (२) रसघात (३) गुणश्रेणि (४) गुणसंक्रम और (५) अपूर्व स्थितिबन्ध ।

१. स्तितिघात : ज्ञानावरणीयादि कर्मों की दीर्घ स्थिति का अपवर्तनाकरण से अल्पीकरण।

२. रसघात : कर्म परमाणुओं में रही हुई स्निग्धता की प्रचुरता को अपवर्तना-करण से अल्प करना ।

यह स्थितिघात और रसघात पहले के गुणस्थानों में रहा जीव भी करता है। परन्तु उन गुणस्थानों में विशुद्धि अल्प होने से स्थितिघात तथा रसघात अल्प करता है। यहाँ विशुद्धि का प्रकर्ष होने से अति विशाल-अपूर्व करता है ।

३. गुणश्रेणि : ऐसे कर्मदलिकों कि जिनका क्षय दीर्घकाल में होना है, उन कर्मदलिकों को अपवर्तनाकरण से विशुद्धि के प्रकर्ष द्वारा नीचे लाए, अर्थात् एक अन्तर्मुहूर्त में उदयावलिका के ऊपर, जल्दी क्षय करने के लिये, प्रतिक्षण असंख्य गुणवृद्धि से वह दलिकों की रचना करे ।

४. गुणसंक्रम : बन्धती हुई शुभ-अशुभ कर्मप्रकृति में अबध्यमान शुभाशुभ कर्मदलिकों को प्रतिक्षण असंख्य गुणवृद्धि से डालना ।

५. अपूर्व स्थितिबन्ध : अशुद्धिवश जीव पहले कर्मों की दीर्घ स्थिति बाँधता था, अब विशुद्धि द्वारा कर्मों की स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग में हीन-हीनतर-हीनतम बाँधता है ।

★ -अपूर्व-अभिनवं करणं-स्थितिघात-गुणश्रेणि-गुणसंक्रम—
स्थितिबन्धानां पञ्चानां पदार्थनां निर्वतनं यस्यासौ अपूर्वकरणः । —प्रवचनसारोद्धारे

९. अनिवृत्ति बादरसंपराय-गुणस्थानक :

एक समय में अर्थात् समान समय में इस गुणस्थानक पर आये हुए सभी जीवों के अध्यवसाय-स्थान समान होते हैं। अर्थात् आत्मा की यह एक ऐसी अनुपम गुण-अवस्था है कि इस अवस्था में रहे हुए सभी जीवों के चित्र की एक-समान स्थिति होती है। अध्यवसायों की समानता होती है। परन्तु इस अवस्था का काल मात्र एक अन्तर्मुहूर्त होता है। शब्द व्युत्पत्ति इस प्रकार है : बादर का मतलब स्थूल, संपराय का अर्थ कषायोदय। स्थूल कषायोदय निवृत्त नहीं हुआ हो, ऐसी आत्मावस्था का नाम अनिवृत्तिबादरसंपराय गुणस्थानक है।

इस गुणस्थान पर प्रथम समय से आरम्भ करके प्रति समय अनन्तगुण विशुद्ध अध्यवसायस्थान होते हैं, एक अन्तर्मुहूर्त में जितना समय हो उतने अध्यवसाय के स्थान इस गुणस्थानप्राप्त जीवों के होते हैं।

इस गुणस्थान पर दो प्रकार के जीव होते हैं (१) क्षपक और (२) उपशमक।

१०. सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानक :

सूक्ष्म लोभकषायोदय का यह गुणस्थानक है। अर्थात् यहाँ लोभ का उपशम हो जाता है अथवा क्षय कर दिया जाता है।

११. उपशान्तकषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थानक :

संक्रमण-उद्वर्तना-अपवर्तना वगैरह करणों द्वारा कषायों को विपाकोदय-प्रदेशोदय दोनों के लिए अयोग्य बना दिया जाता है। अर्थात् कषायों का ऐसा उपशम कर दिया जाता है। कि यहाँ न तो उनका विपाकोदय आता है और न प्रदेशोदय।

इस गुणस्थान पर जीव के राग और द्वेष ऐसे शान्त हो गए होते हैं कि वह वीतरागी कहलाता है। उपशान्तकषायी वीतराग होता है।

१२. क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ-गुणस्थानक :

'क्षीणाःकषाया यस्य सः क्षीणकषायः' आत्मा में अनादिकाल से रहे हुए कषायों का यहाँ सर्वथा क्षय हो जाता है।

१३. सयोगी केवली-गुणस्थानक :

'केवलं ज्ञानं दर्शनं च विद्यते यस्य सः केवली।' जिसे केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन हों वह केवली होता है।

'सह योगेन वर्तन्ते ते सयोगा-मनोवाक्कायाः ते यस्य विद्यन्ते सः सयोगी।'

मन-वचन-काया के योगों से सहित हो वह सयोगी कहलाता है ।

केवलज्ञानी को गमनागमन, निमेष-उन्मेषादि काययोग होते हैं, देशनादि वचनयोग होता है । मनःपर्यायज्ञानी और अनुत्तर-देवलोकवासी देवों द्वारा मन से पूछे गये प्रश्नों का जवाब मन से देनेरुप मनोयोग होता है ।

इस सयोगी-केवली अवस्था का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टकाल देशोनपूर्वकोटि वर्ष होता है। जब एक अन्तर्मुहूर्त आयुष्य शेष रहता है तब वे 'योगनिरोध' करते हैं ।

योगनिरोध करने के बाद सूक्ष्मक्रिया-अनिवृत्ति नामका शुक्ल ध्यान ध्याते हुए शैलेशी में प्रवेश करते हैं ।

१४. अयोगी केवली-गुणस्थानक :

शैलेशीकरण का काल (समय) पाँच ह्रस्व स्वर के उच्चारण काल जितना होता है और यही अयोगी-केवली गुणस्थानक का काल है ।

शैलेशीकरण के चरम समय के पश्चात् भगवन्त उर्ध्वगति प्राप्त करते हैं। अर्थात् ऋजुश्रेणि से एक समय में ही लोकान्त में चले जाते हैं ।

आत्मा की पूर्णता प्राप्त करने का यह गुणस्थानकों का यथावस्थित विकासक्रम है । अनंत आत्माओं ने इस विकासक्रम से पूर्णता प्राप्त की है और अन्य जीव भी इसी विकासक्रम से पूर्णता प्राप्त करेंगे ।

११. नयविचार

*प्रमाण से परिच्छिन्न अनंतधर्मात्मक वस्तु के एक अंश को ग्रहण करनेवाले (दूसरे अंशों का प्रतिक्षेप किए बिना) अध्यवसाय विशेष को 'नय' कहा जाता है ।

प्रत्येक पदार्थ अनंत धर्मात्मक होता है । 'प्रमाण' एक पदार्थ को अनन्त धर्मात्मक सिद्ध करता है । जबकि 'नय' उसी पदार्थ के अनन्त धर्मों में से किसी एक धर्म को ग्रहण करता है और सिद्ध करता है । परन्तु एक धर्म का ग्रहण करते हुए अर्थात् प्रतिपादन करते हुए दूसरे धर्मों का खण्डन नहीं करता ।

★ प्रमाणपरिच्छिन्नस्यानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः एकदेशग्राहिणस्तदितरांशाप्रतिक्षेपिणोऽध्यवसायविशेषा नयाः । —जैन तर्कभाषायाम्

'**प्रमाण**' और '**नय**' में यह भेद है। नय प्रमाण का एक देश (अंश)[१] है। जिस तरह से समुद्र का एक देश (अंश) समुद्र नहीं कहलाता उसी तरह असमुद्र भी नहीं कहलाता। इसी तरह नयों को प्रमाण नहीं कहा जा सकता तथा अप्रमाण भी नहीं कहा जा सकता।

श्री[२] '**आवश्यक सूत्र**' की टीका में श्रीयुत मलयगिरिजी ने प्रतिपादन किया है कि 'जो नय नयान्तर सापेक्षता से 'स्यात्' पदयुक्त वस्तु का स्वीकार करता है, वह परमार्थ से परिपूर्ण वस्तु का स्वीकार करता है, इसलिये उसका 'प्रमाण' में ही अन्तर्भाव हो जाता है। जो नयान्तर निरपेक्षता से स्वाभिप्रेत धर्म के आग्रह से वस्तु को ग्रहण करने का अभिप्राय धारण करता है वह 'नय' कहलाता है। क्योंकि वह वस्तु के एक अंश का ग्रहण करता है।

'नय' की यह परिभाषा नयवाद को मिथ्यावाद सिद्ध करती है। 'सव्वे नया मिच्छावाईणो' इस आगम की उक्ति से सभी नयों का वाद मिथ्यावाद है।

नयान्तर निरपेक्ष नय को महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने '**नयाभास**' कहा है।

'**श्री सम्मतितर्क**' में सिद्धसेनदिवाकरसूरिजी नयों के मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व का माध्यम इस प्रकार बताते हैं :

तम्हा सव्वे पि मिच्छदिट्ठी सपक्खपड़िबद्धा।
अण्णोण्णणिस्सिया उण हवन्ति सम्मत्तसब्भावा ॥२१॥

'स्वपक्षप्रतिबद्ध सभी नय मिथ्यादृष्टि हैं। अन्योन्य सापेक्ष सभी नय समकित दृष्टि हैं।'

दृष्टान्त द्वारा उपरोक्त कथन को समझाते हुए उन्होंने कहा है :

जहऽणेयलक्खणगुणा वेरुलियाईमणी विसंजुत्ता।
रयणावलिववएसं न लहंति महग्घमुल्ला वि ॥२२॥

---

१. यथा हि समुद्रैकदेशो न समुद्रो नाप्यसमुद्रस्तथा नया अपि न प्रमाणं चाऽप्रमाणमिति। — जैन तर्कभाषायाम्

२. इह यो नयो नयान्तरसापेक्षतया स्यात्पदलाञ्छितं वस्तु प्रतिपद्यते स परमार्थतः परिपूर्ण वस्तु गृहणाति इति प्रमाण एवान्तर्भवति, यस्तु नयवादान्तरनिरपेक्षतया स्वाभिप्रेतेनैव धर्मेण अवधारणपूर्वक वस्तु परिच्छेत्तुमभिप्रैति स नयः। —आवश्यकसूत्र-टीकायाम्

तह णिययवायसुविणिच्छिया वि अण्णोण्णपक्खनिरवेक्खा ।
सम्मद्दंसणसद्दं सव्वे वि णया ण पावंति ॥२३॥

'जिस प्रकार विविध लक्षणों से युक्त वैडूर्यादि मणि महान् किंमती होने पर भी, अलग-अलग हो वहाँ तक 'रत्नावलि' नाम प्राप्त नहीं कर सकते, उसी तरह नय भी स्वविषय का प्रतिपादन करने में सुनिश्चित होने पर भी, जब तक अन्योन्यनिरपेक्ष प्रतिपादन करे वहाँ तक 'सम्यग्दर्शन' नाम प्राप्त नहीं कर सकते, अर्थात् सुनय नहीं कहलाते ।

द्रव्यार्थिक नय-पर्यायार्थिक नय :

प्रत्येक वस्तु के मुख्य रुप से दो अंश होते हैं (१) द्रव्य और (२) पर्याय।

वस्तु को जो द्रव्य रुप से ही जाने वह द्रव्यार्थिक नय और जो वस्तु को पर्याय रूप से ही जाने वह पर्यायार्थिक नय कहलाता है । मुख्य तो ये दो ही नय हैं । नैगमादि नय इन दोनों के विकल्प हैं । भगवन्त तीर्थंकरदेव के वचनों के मुख्य प्रवक्ता रुप में ये दो नय प्रसिद्ध है ।

'सम्मति तर्क' में कहा है ।

तित्थयरवयणसंगह विसेसपत्थारमूलवागरणी ।
दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पासि ॥३॥

तीर्थंकर वचन के विषयभूत (अभिधेयभूत) द्रव्य-पर्याय है । उनका संग्रहादि नयों द्वारा जो विस्तार किया जाता है, उनके मूल वक्ता द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय हैं । नैगमादि नय उनके विकल्प हैं; भेद हैं ।

द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक नयों के मन्तव्यों का स्पष्ट प्रतिपादन करते हुए 'सम्मति-तर्क' में कहा है :

उप्पज्जंति वियंति य भावा नियमेण पज्जवणयस्स ।
दव्वट्ठियस्स सव्वं सया अणुप्पन्नमविणट्ठं ॥२१॥

पर्यायार्थिक नय का मंतव्य है कि सर्व भाव उत्पन्न होते हैं और नाश होते हैं अर्थात् प्रतिक्षण भाव उत्पाद-विनाश के स्वभाववाले हैं । द्रव्यार्थिक नय कहता है कि सब वस्तुएँ अनुत्पन्न-अविनिष्ट हैं अर्थात् प्रत्येक भाव स्थिर स्वभाववाला है ।

द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद हैं - (१) नैगम (२) संग्रह और (३) व्यवहार। पर्यायार्थिक नय के चार भेद हैं (१) ऋजुसूत्र (२) शब्द (३) समभिरूढ़ (४) एवंभूत।

श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ऋजुसूत्र नय को द्रव्यार्थिक नय का भेद कहते हैं ।

नैगम :

सामान्य-विशेषादि अनेक धर्मों को यह नय मान्यता देता है अर्थात् 'सत्ता' लक्षण महासामान्य, अवान्तर सामान्य-द्रव्यत्व-गुणत्व-कर्मत्व वगैरह तथा समस्त विशेषों को यह नय मानता है ।

'सामान्य विशेषाद्यनेकधर्मोपनयनपरोऽध्यवसाय नैगमः'

—जैन तर्कभाषा

यह नय अपने मन्तव्य को पुष्ट करते हुए कहता है :

'यद्यथाऽवभासते तत्तथाऽभ्युपगन्तव्यम् यथा नीलं नीलतया ।'

जो जैसा दिखाई दे उसे वैसा मानना चाहिये । नीले को नीला तथा पीले को पीला ।

धर्मी और धर्म को एकान्त रुप से भिन्न मानने पर यह नय मिथ्यादृष्टि है अर्थात् नैगमाभास है । न्यायदर्शन तथा वैशेषिक दर्शन धर्मी-धर्म को एकान्त भिन्न मानते हैं।

संग्रह :

'सामान्यप्रतिपादनपरः संग्रह नयः'

यह नय कहता है सामान्य ही एक तात्त्विक है, विशेष नहीं ।

अशेष विशेष का अपलाप करते हुए सामान्य रूप से ही समस्त विश्व को यह नय मानता है ।

एकान्त[1] से सत्ता अद्वैत को स्वीकार कर, सफल विशेष का निरसन करनेवाला संग्रहाभास है, इस प्रकार महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज कहते हैं । सभी अद्वैतवादी दर्शन और सांख्य दर्शन सत्ताअद्वैत को ही मानते हैं ।

व्यवहार :

विशेषप्रतिपादनपरो व्यवहारनयः ।—श्रीमद् मलयगिरि

सामान्य का निरास करते हुए विशेष को ही यह नय मानता है । 'सामान्य' अर्थक्रिया के सामर्थ्य से रहित होने के कारण सकल लोक-व्यवहार के मार्ग में नहीं

---

१. सत्ताद्वैतं स्वीकुर्वाणः सकलविशेषान् निराचक्षाणः संग्रहाभासः । —जैन तर्कभाषा

आ सकता । व्यवहार नय कहता है कि 'यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत् ।' वही परमार्थ-दृष्टि से सत् है कि जो अर्थक्रियाकारी है । सामान्य अर्थक्रियाकारी नहीं है अतएव वह सत् नहीं है ।

यह नय लोकव्यवहार का अनुसरण करता है । जो लोग मानते हैं उसे यह नय मानता है । जैसे लोग भ्रमर को काला कहते हैं । वास्तव में भ्रमर पाँच रंगोंवाला होता है । फिर भी काला वर्ण स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है, इससे लोग भ्रमर को काला कहते हैं । व्यवहार नय भी भ्रमर को काला कहता है ।

स्थूल लोकव्यवहार का अनुसरण करनेवाला यह नय द्रव्य-पर्याय के विभाग को अपरमार्थिक मानता है, तब यह व्यवहाराभास कहलाता है । चार्वाक दर्शन इस व्यवहाराभास में से ही उत्पन्न हुआ है ।

ऋजुसूत्र :

प्रत्युत्पन्नग्राही ऋजुसूत्रो नयविधिः ।—आचार्य श्री मलयगिरि

जो अतीत है वह विनष्ट होने से तथा जो अनागत है वह अनुत्पन्न होने से न तो वे दोनों अर्थक्रिया समर्थ हैं और न प्रमाण के विषय हैं । जो कुछ है वह वर्तमानकालीन वस्तु ही है । भले ही उस वर्तमानकालीन वस्तु के लिंग और वचन भिन्न हों ।

जैसे अतीत-अनागत वस्तु नहीं है, उसी तरह जो परकीय वस्तु है वह भी परमार्थ से असत् है, क्योंकि वह अपने किसी प्रयोजन की नहीं ।

ऋजुसूत्र नय निक्षेपों में नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव चारों निक्षेप मानता है।

मात्र वर्तमान पर्याय को माननेवाला और सर्वथा द्रव्य का अपलाप करनेवाला 'ऋजुसूत्राभास' नय है । बौद्ध दर्शन ऋजुसूत्राभास में से प्रकट हुआ दर्शन है ।

शब्द :

इस नय का दूसरा नाम 'साम्प्रत' नय है । यह नय भी ऋजुसूत्र की तरह वर्तमानकालीन वस्तु को ही मानता है । अतीत-अनागत वस्तु को नहीं मानता। वर्तमानकालीन परकीय वस्तु को भी नहीं मानता ।

निक्षेप में केवल भावनिक्षेप को ही मानता है । नाम-स्थापना और द्रव्य-इन तीनों निक्षेपों को नहीं मानता ।

इसी तरह लिंग और वचन के भेद से वस्तु का भेद मानता है, अर्थात् एकवचन

वाच्य 'गुरु' का अर्थ अलग और बहुवचन वाच्य 'गुरवः' का अर्थ अलग ! इसी तरह पुल्लिंग अर्थ नपुंसकलिंग से वाच्य नहीं और स्त्रीलिंग से भी वाच्य नहीं । नपुंसकलिंग-अर्थ पुल्लिंग-वाच्य नहीं और स्त्रीलिंगवाच्य भी नहीं । ऐसा स्त्रीलिंग के लिए भी समझना ।

यह नय अभिन्न लिंग-वचनवाले पर्याय शब्दों की एकार्थता मानता है । अर्थात् इन्द्र-शक्र-पुरन्दर वगैरह शब्द जिनका कि लिंग-वचन समान है, उन शब्दों की एकार्थता मानता है । उनका अर्थ भिन्न-भिन्न नहीं मानता ।

'शब्दाभिधेयार्थप्रतिक्षेपी शब्दनयाभासः ।'

शब्दाभिधेय अर्थ का प्रतिक्षेप (अपलाप) करनेवाला नय शब्दनयाभास कहलाता है ।

समभिरूढ़ :

शब्दनय तथा समभिरूढ़ नय में एक भेद है । शब्द नय अभिन्न लिंग वचनवाले पर्याय शब्दों की एकार्थता मानता है, जबकि समभिरूढ़ नय पर्याय शब्दों की भिन्नार्थता मानता है । शब्द के व्युत्पत्ति-अर्थ को ही मानता है ।

'पर्यायशब्देषु निरूक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढ़ः ।'

—जैन तर्कभाषा

यह नय पर्यायभेद से अर्थभेद मानता है । पर्याय शब्दों के अर्थ में रहे हुए अभेद की उपेक्षा करता है । इन्द्र, शक्र, पुरन्दर वगैरह शब्दों का अर्थ भिन्न-भिन्न करता है । उदाहरण :

इन्दनादिन्द्रः, शकनाच्छक्रः, पूर्दारणात् पुरन्दरः ।

एकान्ततः[1] पर्याय-शब्दों के अर्थ में रहे हुए अभेद की उपेक्षा करनेवाला नय मिथ्यानय, नयाभास कहलाता है ।

एवंभूत :

'शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाविष्टमर्थं वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छन्नेवम्भूतः।'

—जैन तर्कभाषा

किसी भी शब्द के जिस व्युत्पत्ति-अर्थ के अनुसार क्रिया में परिणत पदार्थ हो वही उस शब्द से वाच्य बनता है ।

१.-पर्यायध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव कक्षीकुर्वाणः समभिरुढ़ाभासः ।—जैन तर्कभाषा

उदाहरण : गौ : (गाय) शब्द का प्रयोग उस समय ही सत्य कहा जा सकता है जबकि वह गमनक्रिया में प्रवृत्त हो, क्योंकि गौः शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ है–'गच्छतीति गौः ।' गाय खड़ी हो कि बैठी हो, तब उसके लिये गौः (गाय) शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता, ऐसा यह नय मानता है ।

इस प्रकार यह नय क्रिया में अप्रवृत्त वस्तु को शब्द से अवाच्य मानता होने से मिथ्यादृष्टि है ।

'क्रियानाविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपन्नेवंभूताभासः ।'

—जैन तर्कभाषा

'क्रिया में अप्रवृत्त वस्तु शब्दवाच्य नहीं है, ऐसा कहनेवाला यह नय 'एवंभूताभास' है ।'

इस प्रकार सात नयों का स्वरूप संक्षेप से प्रस्तुत किया गया है । विशेष जिज्ञासावाले मनुष्य को गुरुगम से जिज्ञासा पूर्ण करनी चाहिये ।

निश्चयनय-व्यवहारनय

'तात्त्विकार्थाभ्युपगमपरस्तु निश्चय ।'—जैन तर्कभाषा

निश्चय नय तात्त्विक अर्थ का स्वीकार करता है । 'भ्रमर' को यह नय पञ्चवर्ण का मानता है । पाँच वर्ण के पुद्गलों से उसका शरीर बना हुआ होने से भ्रमर तात्त्विक दृष्टि से पाँच वर्णवाला है अथवा तो निश्चय नय की परिभाषा इस प्रकार से भी की जाती है : 'सर्वनयमतार्थग्राही निश्चयः' सर्व नयों के अभिमत अर्थ को ग्रहण करनेवाला निश्चय नय है ।

प्रश्न : सर्वनय अभिमत अर्थ को ग्रहण करते हुए वह प्रमाण कह लायेगा तो फिर नयत्व का व्याघात नहीं होगा ?

उत्तर : निश्चय नय सर्वनय-अभिमत अर्थ को ग्रहण करता है, फिर भी, उन-उन नयों के अभिमत स्व-अर्थ की प्रधानता को स्वीकार करता है, इसलिये उसका अन्तर्भाव 'प्रमाण' में नहीं होता ।

'लोकप्रसिद्धार्थानुवादपरो व्यवहार नयः'

लोगों में प्रसिद्ध अर्थ का अनुसरण करनेवाला व्यवहार नय ही है । जिस प्रकार लोगों में 'भ्रमर' काला कहा जाता है, तो व्यवहार नय भी भ्रमर को काला मानता है अथवा 'एकनयमतार्थग्राही व्यवहारः' किसी एक नय के अभिप्राय का अनुसरण करनेवाला व्यवहार नय कहा जाता है ।

ज्ञाननय-क्रियानय :

'ज्ञानमात्रप्राधान्याभ्युपगमपरा ज्ञाननयाः ।' मात्र ज्ञान की प्रधानता माननेवाला ज्ञाननय कहलाता है ।

'क्रियामात्र-प्राधान्याभ्युपगमपराश्च क्रियानयाः ।' मात्र क्रिया की प्रधानता को स्वीकार करनेवाला क्रियानय कहलाता है । ऋजुसूत्रादि चार नय चारित्ररूप क्रिया की ही प्रधानता मानते हैं, क्योंकि क्रिया ही मोक्ष के प्रति अव्यवहित कारण है । 'शैलेशी' क्रिया के बाद तुरन्त ही आत्मा सिद्धिगति को प्राप्त करती है ।

नैगम, संग्रह और व्यवहार, ये तीनों नय यद्यपि ज्ञानादि तीनों को मोक्ष का कारण मानते हैं, परन्तु तीनों के समुदाय को नहीं, ज्ञानादि को भिन्न-भिन्न रूप से मोक्ष के कारण रूप स्वीकार करते हैं । ज्ञानादि तीनों से ही मोक्ष होता है, ऐसा नियम ये नय नहीं मानते । अगर ऐसा माने तो वे नय, नय ही न रहें । नयत्व का व्याघात हो जाय ।

यह ज्ञाननय-क्रियानय का संक्षिप्त स्वरूप है ।

१२. ज्ञपरिज्ञा-प्रत्याख्यानपरिज्ञा

सम्यग् आचार की पूर्व भूमिका में सम्यग्ज्ञान की आवश्यकता निश्चित रूप से मानी गई है । सम्यग्ज्ञान के बिना आचार में पवित्रता, विशुद्धि और मार्गानुसारिता नहीं आ सकती ।

'पापों को जानना और परिहरना, मनुष्य का-साधक मनुष्य का यह आदर्श, साधक को पापमुक्त बनाता है । इस आदर्श को श्री 'आचारांग-सूत्र' में 'ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा' की परिभाषा में प्रस्तुत किया गया है । आचारांग सूत्र के प्रथम अध्ययन में ही चार प्रकार की 'परिज्ञा' बताई गई है । (१) नाम परिज्ञा, (२) स्थापना परिज्ञा, (३) द्रव्य परिज्ञा[१], (४) भाव परिज्ञा । उसमें द्रव्य तथा भाव परिज्ञा के दो दो भेद बताए गये हैं : ज्ञपरिज्ञा तथा प्रत्याख्यानपरिज्ञा ।

पृथ्वीकायादि[२] षट्काय के आरम्भ-समारम्भ को कर्मबन्ध के हेतुरूप में जानना

---

१. दव्वं जाणण पच्चक्खाणे दविए उवगरणे ।

भावपरिण्णा जाणणपच्चक्खाण च भावेण ॥३७॥—आचारांग प्र० अध्य० निर्युक्तिगाथा

२. पृथिवीविषयाः कर्मसमारम्भाः खननकृष्याद्यात्मकाः कर्मबन्धहेतुत्वेन परिज्ञाता भवन्ति ज्ञपरिज्ञया तथा प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहृता भवन्ति ।—आचारांग, प्र० अध्य० द्वि० उद्दे० सूत्र १८ शीलाङ्काचार्यटीकायाम्

यह ज्ञपरिज्ञा और उन आरम्भ-समारम्भ का त्याग करना, उसका नाम प्रत्याख्यानपरिज्ञा है। मुनि इन दोनों परिज्ञाओं से सर्व पाप-आचारों को जाने और उनका त्याग करे।

भावपरिज्ञा का विशेष स्पष्टीकरण करते हुए श्री शीलांकाचार्यजी ने कहा है–

भावपरिज्ञा: 'आगम' से ज्ञपरिज्ञा का ज्ञाता और उसमें उपयोगवाला आत्मा स्वयम्। 'नो आगम' से ज्ञानक्रिया रूप इस अध्ययन अथवा ज्ञपरिज्ञा का ज्ञाता और अनुपयुक्त। प्रत्याख्यानपरिज्ञा भी इसी प्रकार समझना। विशेष में, 'नो आगम' से प्राणातिपातनिवृत्ति त्रिविध-त्रिविध समझने की है।

१३. पंचास्तिकाय

पाँच द्रव्यों का विश्व है। विश्व का ज्ञान करने के लिए पाँच द्रव्यों का ज्ञान करना पड़ता है। विश्व[१]=पाँच द्रव्य।[२]

'द्रव्य'[३] परिभाषा

१. 'सत्तालक्षणम् द्रव्यम्'–सत्ता जिसका लक्षण है, उसे द्रव्य कहते हैं। यह परिभाषा द्रव्यार्थिक नय से करने में आई है।

२. 'उत्पादव्ययध्रौव्यसंयुक्तं द्रव्यम्' जो उत्पत्ति, विनाश तथा ध्रुवता से संयुक्त हो वह द्रव्य कहलाता है। यह व्याख्या पर्यायार्थिक नय से करने में आई है।

३. 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्' गुण-पर्याय का जो आधार है वह द्रव्य है। श्री तत्त्वार्थ सूत्र में भी यह व्याख्या की गई है। (अध्याय ५, सूत्र ३७)

प्रथम व्याख्या के आधार पर बौद्धदर्शन की मान्यता का खण्डन हो जाता है। दूसरी व तीसरी व्याख्या के आधार पर सांख्य व नैयायिक दर्शन का निरसन हो जाता है।

---

१. 'जगच्छब्देन सकलधर्माधर्माकाशपुद्गलास्तिकायपरिग्रहः।'
—श्री नन्दीसूत्रटीकायाम्

२. एते धर्मादयश्चत्वारो जीवाश्च पञ्चद्रव्याणि च भवन्ति।
—तत्त्वार्थ-भाष्ये, अ० ५

३. दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्ययधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू॥१०॥ —पञ्चास्तिकाये

अनादिनिधन त्रिकालावस्थायी द्रव्य की उत्पत्ति या विनाश नहीं होता। उत्पत्ति और विनाश द्रव्य के पर्याय हैं। जैसे सोने के कड़े को तोड़कर उसका हार बनाया जाता है, उसमें सोने का नाश नहीं होता, परन्तु सोने का जो कड़े के रूप में पर्याय (अवस्था) है, उसका नाश हो जाता है। उसी तरह सोने की उत्पत्ति नहीं होती परन्तु हार रूप पर्याय उत्पन्न हो जाता है। सोना (द्रव्य) तो कायम रहता है।

पर्याय[१] से भिन्न द्रव्य नहीं और द्रव्य से भिन्न पर्याय नहीं। दोनों अनन्यभूत हैं। अर्थात् पर्याय की उत्पत्ति-विनाश, द्रव्य की उत्पत्ति और द्रव्य का नाश कहा जाता है।

पंचास्तिकाय[२] :

धर्मास्तिकाय
अधर्मास्तिकाय
आकाशास्तिकाय
जीवास्तिकाय
पुद्गलास्तिकाय

'अस्ति'[३] अर्थात् प्रदेश और 'काय' यानी समूह-अस्तिकाय है।

धर्मास्तिकाय :

स्वरूप :

धर्मास्तिकाय रस, वर्ण, गन्ध, शब्द और स्पर्श से रहित है। अतः वह अमूर्त है। अवस्थित है, अरूपी है, निष्क्रिय है। असंख्यप्रदेशात्मक है। लोकाकाशव्यापी है, अनादि-अनंत रुप से विस्तीर्ण है। धर्मास्तिकाय के प्रदेश सांतर नहीं परन्तु निरन्तर हैं।

---

१. दव्वं पज्जवविउयं दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि।
उप्पायट्ठिइभंगा हदि दवियलक्खणं एयं ॥१२॥ —सम्मति-तर्क

तुलना-पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जवा णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परुविंति ॥ —पञ्चास्तिकाय-प्रकरणे

२. पञ्चास्तिकाया धर्माऽधर्माऽऽकाश-पुद्गलजीवाख्याः।
—तत्त्वार्थ-टीकाएं, सिद्धसेनगणि।

३. अस्तयः=प्रदेशाः तेषां कायः=संघातः अस्तिकायः —अनुयोगद्वारसूत्रे, हेमचन्द्रसूरि

धम्मत्थिकायमरसं अवण्णगंधं असद्दमप्फासं ।
लोगागाढं पुट्ठं पिहुलमसंख्यादियपदेसं ॥८३॥—पंचास्तिकाये

कार्य :

गतिपरिणत[१] जीव और पुद्गलों की गति में सहकारी कारण है। जिस प्रकार सरोवर, सरिता, समुद्र में रहे हुए मत्स्यादि जलचर जंतुओं के चलने में जल निमित्त-कारण बनता है। जलद्रव्य गति में सहायक है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मत्स्य को वह बलपूर्वक गति कराता है।

सिद्ध भगवन्त उदासीन होने पर भी सिद्धगुण के अनुराग में परिणत भव्य जीवों की सिद्धि में सहकारी कारण बनते हैं, उसी तरह धर्मास्तिकाय भी स्वयं उदासीन होने पर भी गतिपरिणत जीव-पुद्गल की गति में सहकारी कारण बनता है।

जिस प्रकार पानी स्वयं गति किये बिना, मत्स्यों की गति में सहकारी कारण बनता है, उसी तरह धर्मास्तिकाय स्वयं गति किए बिना जीव-पुद्गलों की गति में सहकारी कारण बनता है।

अधर्मास्तिकाय :

जैसा[२] स्वरुप धर्मास्तिकाय का है वैसा ही स्वरुप अधर्मास्तिकाय का है। कार्य में भेद है। जीव-पुद्गलों की स्थिति में अधर्मास्तिकाय सहायक है। जिस प्रकार छाया पथिकों की स्थिरता में सहायक बनती है अथवा जिस प्रकार पृथ्वी स्वयं स्थिर रही हुई अश्वमनुष्यादि की स्थिरता में बाह्य सहकारी हेतु बनती है। जीव-पुद्गलों की स्थिति का उपादान कारण तो स्वकीय स्वरुप ही है। अधर्मास्तिकाय व्यवहार से निमित्त कारण है।

आकाशास्तिकाय :

लोकालोकव्यापी[३] अनन्त प्रदेशात्मक अमूर्त द्रव्य है। आकाशास्तिकाय[४] से

---

१. उदयं जह मच्छाणं गमणाणुगहयरं हवदि लोए।
तह जीव पुग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणेहि ॥८५॥—पञ्चास्तिकाये

२. जह हवदि धम्मदव्व तह तं जाणेह दव्वमधम्मक्खं।
ठिदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं तु पुढवीव ॥—पञ्चास्तिकाये

३. लोकालोकव्याप्यनन्तप्रदेशात्मकोऽमूर्तद्रव्यविशेषः ।—अनुयोगद्वारटीका

४. जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा य लोगदोण्णा।
तत्तो अणण्णमण्णं आयासं अंतवदिरित्तं ॥९१॥—पञ्चास्तस्तिकाये

व्यतिरिक्त द्रव्य मात्र लोकाकाशव्यापी है, जबकि आकाशास्तिकाय लोक-अलोक दोनों में व्याप्त है ।

धर्मास्तिकायादि चार अस्तिकायों को आकाश अवकाश देता है । अर्थात् धर्मास्तिकायादि चार अस्तिकाय लोकाकाश को अवगाहित करते हुए हैं ।

'अवगाहिनां धर्मपुद्गलजीवानामवगाह आकाशस्योपकारः ।'

—तत्त्वार्थभाष्य, अ. ५ सू. १८

जीवास्तिकाय :

जो जीता है, जियेगा और जिया है, वह जीव कहलाता है । 'जीवन्ति जीविष्यन्ति, जीवितवन्त इति जीवाः' संसारी जीव दस प्राणों से जीता है, जिएगा और जिया है । पाँच इन्द्रिय, मन-वचन और काया, आयुष्य और उच्छवास, ये दस प्राण हैं । प्रत्येक जीव असंख्यप्रदेशात्मक होता है । स्वदेहव्यापी होता है । अरुपी और अमूर्त होता है । अनुत्पन्न तथा अविनाशी होता है ।

'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' (तत्त्वार्थ, अ. ५, सू. २१)—अन्योन्य उपकार करना यह जीवों का कार्य है । हित के प्रतिपादन द्वारा और अहित के निषेध द्वारा जीव एक दूसरे पर उपकार कर सकते हैं । पुद्गल नहीं कर सकते ।

जीव का अन्तरंग लक्षण है : उपयोग । 'उपयोगलक्षणो जीवः' ।

पुद्गलास्तिकाय :

जिसका पूरण-गलन स्वभाव हो वह पुद्गल है । अर्थात् जिसमें हानि-वृद्धि हो, उसे पुद्गल कहा जाता है । पुद्गल परमाणु से लगाकर अनन्ताणुक स्कंध तक होते हैं । पुदगल[1] के चार भेद हैं । स्कंध, देश, प्रदेश और परमाणु । पुद्गल रुपी हैं । जिसमें स्पर्श-रस-गन्ध और वर्ण हो वह पुद्गल कहलाता है । 'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः' (तत्त्वार्थ, अ. ५. सू. २३) पंचास्तिकाय में श्री कुन्दकुन्दाचार्यजी ने पुद्गल को पहचानने की रीति बताते हुए कहा है—

उवभोज्जमिंदिए हि य इंदिया काया मणो य कम्माणि ।
जं हवदि मुत्तमण्णं तं सव्वं पुग्गलं जाणे ॥८२॥

---

१. खंधा य खंधदेसा खंधपदेसा य होंति परमाणु ।
इति ते चदुव्वियप्पा पुग्गलकाया मुणेयव्वा ॥७४॥—पञ्चास्तिकाय-प्रकरणे

'इन्द्रियों के उपभोग्य विषय, पाँच इन्द्रियाँ, औदारिकादि पाँच शरीर, मन और आठ प्रकार के ज्ञानावरणीयादि कर्म, जो कुछ भी मूर्त हैं, वह सब पुद्गल समझना'। श्री 'तत्त्वार्थ सूत्र' में कहा है :

पञ्चविधानि शरीराण्यौदारिकादीनि वाङ्मनः प्राणापानाविति पुद्गलानामुपकारः । —स्वोपज्ञ-भाष्ये, अ० ५, सू० १९

औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण-ये पाँच शरीर, वाणी, मन और श्वासोच्छ्वास, पुद्गलों का उपकार हैं, अर्थात् ये पुद्गलनिर्मित हैं ।

इस प्रकार पंचास्तिकाय का स्वरुप और उसका कार्य संक्षेप में बताकर अब पंचास्तिकाय की सिद्धि की जाती है ।

धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय के बिना जीव और पुद्गलों की गति तथा स्थिति नहीं हो सकती। अगर धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय के बिना भी जीव-पुद्गल की गति-स्थिति हो सकती हो तो लोक की तरह आलोक में भी जीव-पुद्गल जाने चाहिये। अलोक अनंत है। इस लोक में से निकलकर जीव-पुद्गल आलोक में चले जायें और इस प्रकार लोक जीव-शून्य तथा पुद्गलशून्य बन जाय ! न तो ऐसा कभी देखा गया है और न ऐसा ईष्ट है। इसलिये जीव और पुद्गल की गति-स्थिति की उपपत्ति हेतु धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय का अस्तित्त्व सिद्ध होता है ।

- जीवादि पदार्थों का आधार कौन ? अगर आकाशास्तिकाय को नहीं मानते हैं तो जीवादि पदार्थ निराधार बन जायेंगे । धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय जीवादि के आधार नहीं बन सकते। वे दोनों तो जीव-पुद्गल की गति-स्थिति के नियामक हैं और दूसरे से साध्य कार्य तीसरा नहीं कर सकता। अतः जीवादिकों के आधार रुप से आकाशास्तिकाय की सिद्धि होती है।
- प्रत्येक प्राणी में ज्ञानगुण स्वसंवेदनसिद्ध है । गुणी के बगैर गुण का अस्तित्व कैसे हो सकता है ?

  प्र० स्वसंवेदनसिद्ध ज्ञानगुण का गुणी शरीर को मानो तो ?

  उ० गुण के अनुरुप गुणी होना चाहिये । ज्ञान गुण अमूर्त और चिद्रुप है। सदैव इन्द्रियविषयातीत है ! गुणी भी उसके अनुरूप होना चाहिये । वह जीव है, देह नहीं । जो अनुरूप न हो, अगर उसे भी गुणी माना जाय तो अनवस्था दोष आता है। तो फिर रुप-रसादि गुणों के गुणी के रुप में आकाश को भी मान लेना चाहिये !
- घट... पटादि कार्यों से पुद्गलास्तिकाय का अस्तित्व तो प्रत्यक्ष ही है।

१४. कर्मस्वरुप

अनादि अनंत काल से जीव कर्मों से बन्धा हुआ है। जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि है। इससे जीव में अज्ञान, मोह, इन्द्रियविकलता, कृपणता, दुर्बलता, चार गतियों में परिभ्रमण, उच्च-नीचता, शरीरधारिता वगैरह अनन्त प्रकार की विचित्रता दृष्टिगोचर होती है।

प्रत्येक जीव के कर्म अलग अलग होते हैं। अपने कर्म के अनुसार जीव सुख-दुःख और दूसरी विचित्रताओं का अनुभव करते हैं। जीवों के बीच ज्ञान, शरीर, बुद्धि, आयुष्य, वैभव, यश-कीर्ति वगैरह सैंकड़ों बातों की विषमता का कारण कर्म है। कर्म कोई काल्पनिक वस्तु नहीं, परन्तु यथार्थ पदार्थ है और उसका पुद्गलास्तिकाय में एक द्रव्यरूप में समावेश है।

कर्म[१] के मुख्य आठ भेद हैं। श्री प्रशमरतिप्रकरण में कहा है :

स ज्ञानदर्शनावरणवेद्य-मोहायुषां तथा नाम्नः।
गोत्रान्तराययोश्चेति कर्मबन्धोऽष्टधा मौलः ॥३४॥

	नाम	अवान्तर[२]-भेद
१.	ज्ञानावरणीय	५
२.	दर्शनावरणीय	९
३.	वेदनीय	२
४.	मोहनीय	२८
५.	आयुष्य	४
६.	नाम	४२
७.	गोत्र	२
८.	अन्तराय	५
		९७

---

१. आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुष्कनामगोत्रान्तरायाः। तत्त्वार्थ अ० ८, सूत्र ५

२. पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिकश्चतुः षट्कसप्तगुणभेदाः।
द्विपञ्चभेद इति सप्तनवति भेदास्तथोत्तरतः ॥३५॥—प्रशमरतिप्रकरणे

पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम्।—तत्त्वार्थ अ० ५, सूत्र ६

प्रत्येक कर्म का आत्मा पर भिन्न-भिन्न प्रभाव होता है ।

आत्मगुण	आवरण	प्रभाव
अनन्त केवलज्ञान	ज्ञानावरण	अज्ञानता
अनन्त दर्शन	दर्शनावरण	अन्धापन, निद्रा... आदि
अनन्त सुख	वेदनीय	सुख-दुःख
क्षायिक चारित्र	मोहनीय	क्रोधादि, हास्यादि पुरुषवेदादि, मिथ्यात्व
अक्ष्य स्थिति	आयुष्य	चारगति में भ्रमण
अमूर्तता	नाम	शरीर, यश-अपयशादि तीर्थंकरत्वादि
अगुरुलघुता	गोत्र	उच्च-नीचता
अनन्तवीर्य	अन्तराय	कृपणता, दुर्बलता वगैरह

कर्मबन्ध :

ज्ञानावरणीयादि[१] कर्म पुद्गलों से आत्मा का बन्धना अर्थात् परतन्त्रता प्राप्त करना उसे 'बन्ध' कहते हैं। कर्मबन्ध पुद्गल-परिणाम है। आत्मा का एक-एक प्रदेश अनन्त-अनन्त पुद्गलों से बन्धा हुआ है। अर्थात् आत्मप्रदेश और कर्मपुद्गल अन्योन्य ऐसे मिल गये हैं कि दोनों का एकत्व हो गया है। जिस प्रकार से क्षीर और नीर का एकत्व हो जाता है। यह कर्मबन्ध[२] चार प्रकार से होता है : (१) प्रकृतिबन्ध, (२) स्थितिबन्ध, (३) अनुभागबन्ध, (४) प्रदेशबन्ध।

(१) कर्मपुद्गलों को ग्रहण करना, कर्म और आत्मा की एकता 'प्रकृति बन्ध' कहलाता है। 'पुद्गलादानं प्रकृतिबन्धः कर्मात्मनोरैक्यलक्षणः ।' (तत्त्वार्थटीकायाम्)

(२) कर्मपुद्गलों[३] का आत्मप्रदेशों में अवस्थान वह स्थिति। अर्थात् कर्मों का आत्मा में अवस्थानकाल का निर्णय होना वह 'स्थितिबन्ध' कहलाता है। 'कर्म-

---

१. 'बध्यते वा येनात्मा-अस्वातन्त्र्यमापाद्यते ज्ञानावरणादिना स बन्धः पुद्गल-परिणामः ।'
—तत्त्वार्थ-टीकायां, श्री सिद्धसेनगणि

२. 'प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशास्तद्विधयः ।' —तत्त्वार्थ, अ० ८, सूत्र ४

३. इति कर्मणः प्रकृतयो मूलाश्च तथोत्तराश्च निर्दिष्टाः ।
तासां यः स्थितिकालनिबन्धः स्थितिबन्ध उक्तः सः ॥ —तत्त्वार्थ-टीकायाम्

पुद्गलराशेः कर्त्रा परिगृहीतस्यात्मप्रदेशेष्ववस्थानं स्थितिः ।' (तत्त्वार्थ-टीकायाम्)

(३) शुभाशुभ वेदनीयकर्म के बन्ध के समय ही रसविशेष बन्धता है, जिसका विपाक नामकर्म के गत्यादि स्थानों में रहा हुआ जीव अनुभव करता है।

(४) कर्मस्कंधो को आत्मा के सर्व प्रदेशों से योगविशेष से (मन-वचन-काया के) ग्रहण करना, वह प्रदेशबन्ध होता है। अर्थात् कर्मपुद्गलों का द्रव्यपरिणाम प्रदेशबन्ध में होता है । 'तस्य कर्तुः स्वप्रदेशेषु कर्मपुद्गलद्रव्यपरिमाणनिरुपणं प्रदेशबन्धः ।' (तत्त्वार्थ-टीकायाम्)

इस प्रकार संक्षेप में कर्म का स्वरुप और कर्मबन्ध का स्वरूप बताया गया है । विशेष जिज्ञासु को 'कर्मग्रन्थ', 'कर्म प्रकृति', 'तत्त्वार्थ सूत्र' आदि ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए ।

१५. जिनकल्प-स्थविरकल्प

श्री 'बृहत्कल्पसूत्र' आदि ग्रन्थों में विस्तार से जिनकल्प तथा स्थविर कल्प का वर्णन देखने में आता है ।

ये दोनों कल्प (आचार) साधु-पुरुषों के लिये हैं । गृहस्थों के लिये नहीं। दोनों कल्पों का प्रतिपादन श्री तीर्थंकर परमात्मा ने किया है । अर्थात् जिनकल्प का साधुजीवन और स्थविरकल्प का साधुजीवन दोनों प्रकार के जीवन परमात्मा महावीरदेव ने बताए हैं । दोनों प्रकार के जीवन से मोक्षमार्ग की आराधना हो सकती है । दोनों जीवों के बीच का अन्तर मुख्यतया एक है । जिनकल्प का साधुजीवन मात्र उत्सर्गमार्ग का अवलम्बन लेता है । स्थविरकल्प का साधुजीवन उत्सर्ग मार्ग और अपवादमार्ग-दोनों का अवलम्बन लेता है । अर्थात् जिनकल्पी मुनि अपवाद मार्ग का अनुसरण नहीं करते । स्थविरकल्पी मुनि अनुसरण करते हैं । अपवादमार्ग का अनुसरण करनेवाले मुनि भी आराधक हैं । तात्पर्य यह कि मोक्षमार्ग की आराधना के लिए मुख्यरूप से ये दो प्रकार के ही जीवन हैं ।

प्रस्तुत में जिनकल्प का स्वरूप श्री बृहत्कल्पसूत्र ग्रन्थ के आधार पर दिया जाता है :

जिनकल्प-स्वीकार की पूर्व तैयारी

जिनकल्प स्वीकार करनेवाला मुनि अपनी आत्मा को इस प्रकार तैयार करे। तैयारी में पाँच प्रकार की भावनाओं से आत्मा को भावित करे ।

(१) तपो भावना
(२) सत्त्व भावना
(३) सूत्र भावना
(४) एकत्व भावना
(५) बल भावना

तप भावना :

धारण किया हुआ तप जहाँ तक स्वभावभूत न हो जाय वहाँ तक उसका अभ्यास न छोड़े ।

एक-एक तप वहाँ तक करे कि जिससे विहित अनुष्ठान की हानि न हो ।

शुद्ध प्रासुक आहार नहीं मिले तो छः महिने तक भूखा रहे, परन्तु दोषित आहार न ले ।

इस प्रकार तप से वह अल्पाहारी बने, इन्द्रियों को स्पर्शादि विषयों से दूर रखे, मधुर आहार में निःसंग बने, इन्द्रियविजेता बने ।

सत्त्व भावना :

इस भावना में मुनि 'पाँच प्रतिमाओं' का पालन करें ।

जनशून्य... मलिन... तथा अन्धकारपूर्ण उपाश्रय में निद्रा का त्यागकर कायोत्सर्ग-ध्यान में खड़ा रहकर भय को जीतकर निर्भय बने । उपाश्रय में फिरनेवाले चूहे, बिल्ली आदि द्वारा होनेवाले उपसर्गों से भय प्राप्त न करे, भाग न जाए ।

उपाश्रय के बाहर रात्रि के समय कायोत्सर्गध्यान में खड़ा रहकर चूहे, बिल्ली, कुत्ते तथा चोरादि के भय को जीते ।

जहाँ चार मार्ग मिलते हों, वहाँ जाकर रात्रि के समय ध्यान में रहे । पशु, चोरादि के भय को जीते ।

खण्डहर.... शून्यघर में जाकर रात्रि के समय ध्यान में स्थिर रहकर उपद्रवों से डरे नहीं और निर्भय रहे ।

श्मशान में जाकर कायोत्सर्ग ध्यान में खड़ा रहे और सविशेष भयों को जीते।

इस प्रकार सत्त्व भावना से अभ्यस्त होने से दिन में या रात में, देव-दानव से भी नहीं डरे और जिनकल्प का निर्भयता से वहन करे ।

सूत्र भावना :

काल का प्रमाण जानने के लिये वह ऐसा श्रुताभ्यास करे कि खुद के नाम जैसा अभ्यास हो जाय। सूत्रार्थ के परिशीलन द्वारा, वह अन्य संयमानुष्ठानों के प्रारम्भकाल तथा समाप्तिकाल को जान ले। दिन और रात के समय को जान ले। कब कौन सा प्रहर और घड़ी चल रही है, वह जान ले। आवश्यक, भिक्षा, विहार... आदि का समय छाया नापे बिना जान ले।

सूत्र भावना से चित्त की एकाग्रता, महान् निर्जरा वगैरह अनेक गुणों को वह सिद्ध करता है।

'सुयभावणाए नाणं दंसणं तवसंजमं च परिणमइ'

—बृहत्कल्प० गाथा १३४४

एकत्व भावना :

संसारवास का ममत्व तो मुनि पहले ही छोड देता है, परन्तु साधु जीवन में आचार्यादि का ममत्व हो जाता है। अतः जिनकल्प की तैयारी करनेवाला महात्मा आचार्यादि के साथ भी सस्निग्ध अवलोकन, आलाप, परस्पर गोचरीपानी का आदान-प्रदान, सूत्रार्थ के लिए प्रतिपृच्छा, हास्य, वार्तालाप वगैरह त्याग दै। आहार, उपधि और शरीर का ममत्व भी न करे। इस प्रकार एकत्व भावना द्वारा ऐसा निर्मोही बन जाय कि जिनकल्प स्वीकार करने के बाद स्वजनों का वध होता हुआ देखकर भी क्षोभ प्राप्त न करे।

बल भावना :

- मनोबल से स्नेहजनित राग और गुणबहुमानजनित राग, दोनों को त्याग दे।
- धृतिबल से आत्मा को सम्यग्भावित करे।

इस प्रकार महान् सात्विक, धैर्यसम्पन्न, औत्सुक्यरहित, निष्प्रकंपित बनकर परिषह-उपसर्ग को जीतकर वह अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करता है। 'सर्व सत्वे प्रतिष्ठितम्'-सब सिद्धि सत्व से मिलती है।

इस प्रकार पाँच भावनाओं से आत्मा को भावित करके जिन कल्पिक के समान बनकर गच्छ में ही रहते हुए द्विविध परिकर्म करे।

१. आहार परिकर्म

२. उपधि परिकर्म

सात[१] पिण्डैषणा में से पहली दो को छोड़कर बाकी की पाँच पिण्डैषणा में भिक्षा ग्रहण करे। उसमें भी विविध प्रकार के अभिग्रह धारण करे। अलेपकृत आहार ग्रहण करे, अन्तप्रान्त और रूक्ष आहार ग्रहण करे।

उपधिपरिकर्म में वस्त्र और पात्र की चार प्रतिमाओं में से प्रथम दो त्याग दे और अंतिम दो ग्रहण करे।

'उत्कुटुक' आसन का अभ्यास करे, क्योंकि जिनकल्प में 'औपग्रहिक' उपधि नहीं रखी जाती, इसलिये बैठने का आसन नहीं होता और साधु आसन बिछाये बिना सीधा भूमि-परिभोग नहीं कर सकता, इससे उत्कुटकु (उभड़क) आसन से ही जिनकल्पिक रहता है। अतः इसका अभ्यास पहले कर लेना चाहिए।

जिनकल्प-स्वीकार :

- प्रशस्त द्रव्य-क्षेत्र काल और भाव देखकर, संघ को इकट्ठाकर (अगर वहाँ संघ न हो तो स्व-गण के साधुओं को इकट्ठाकर) क्षमापना करे। परमात्मा तीर्थंकर देव के सान्निध्य में अथवा तीर्थंकर न हो तो गणधर के सान्निध्य में क्षमापना करे।

  जइ किं चि पमाएणं न सुट्ठु भे वट्टियं मइ पुव्विं।
  तं भे खामेमि अहं निस्सल्लो निक्कसाओ अ॥

'निशल्य और निष्कषाय बनकर मैं, पूर्व के प्रमाद से जो कोई तुम्हारे प्रति दुष्ट कार्य किया हो, उसकी क्षमा माँगता हूँ।'

अन्य साधुओं से आनन्दाश्रु बहाते हुए भूमि पर मस्तक लगाकर क्षमापना करे।

- साधु को दस प्रकार की समाचारी में से जिनकल्पी को (१) आवश्यिकी, (२) नैषेधिकी, (३) मिथ्याकार, (४) आपृच्छा और (५) गृहस्थविषयक उपसंपत् ये पाँच प्रकार की समाचारी ही होती है।
- जिनकल्प स्वीकार करनेवाले साधु को नववें पूर्व की तीसरी वस्तु तक का ज्ञान तो अवश्य होना ही चाहिए। उत्कृष्ट कुछ न्यून दस पूर्व।
- पहला संघयण (वज्रऋषभनाराच) होना चाहिये।
- बिना दीनता के उपसर्ग सहन करे।

---

१. सात पिण्डैषणा :

'असंसट्ठा संसट्ठा उद्धड़ा, अप्पलेवा, उग्गमहिआ, पग्गहिया उज्झियधम्मेति।

—आचारांगसूत्रे २ श्रुतस्कंधे

- अगर रोग-आतंक पैदा हों तो उसको सहन करे। औषधादि चिकित्सा न करावे।
- लोच, आतापना, तपश्चर्या वगैरह की वेदना सहन करे।
- जिनकल्पी अकेले ही रहे और विचरे।
- 'अनापात-असंलोक' स्थंडिल भूमि पर मलोत्सर्ग करे। जल से शुद्धि न करे। जलशुद्धि की जरूरत ही नहीं पड़ती है। मल से बाह्य भाग लिप्त ही नहीं होता।
- जिस स्थान में रहे वहाँ चूहे वगैरह का बिल हो तो बन्ध न करे। वसति-स्थान को खाते हुए पशुओं को न रोके। द्वार के किंवाड़ बन्ध न करे। सांकल नहीं लगावे।
- स्थान (उपाश्रयादि) का मालिक अगर किसी प्रकार की शर्त करके उतरने के लिये स्थान देता हो तो उस स्थान में नहीं रहे। किसीको सूक्ष्म भी अप्रीति हो जाय तो उस स्थान का त्याग कर दे।
- जिस स्थान पर बलि चढ़ती हो, दीपक जलाने में आते हों, अंगार-ज्वालादि का प्रकाश पड़ता हो अथवा उस स्थान का मालिक कोई काम बताता हो, उस स्थान में जिनकल्पिक न रहे।
- तीसरी पोरसी में भिक्षाचर्या करे। अभिग्रह धारण करे।
- भिक्षा अलेपकृत ले : मूंग-चने... वगैरह।
- जिस क्षेत्र (गाँव) में रहे, उसके छः विभाग करे। प्रतिदिन एक-एक विभाग में भिक्षा के लिए जावे। उससे आधाकर्मी दोष वगैरह नहीं लगते।
- एक बस्ती में अधिक से अधिक सात जिनकल्पिक रहें। परन्तु परस्पर सम्भाषण न करें। एक दूसरे की भिक्षा की गली का त्याग करें।
- जिनकल्प स्वीकार करनेवाले का जन्म कर्मभूमि में होना चाहिये। देवादि द्वारा संहरण होने पर अकर्मभूमि में भी हो सकता है।
- अवसर्पिणी में तीसरे-चौथे आरे मे जन्मा हो।
- सामायिक-छेदोपस्थानीय चारित्र में रहा हुआ मुनि जिनकल्प स्वीकारकर सकता है।
- महाविदेह क्षेत्र में सामायिक-चारित्र में रहा हुआ स्वीकार करता है।
- परमात्मा धर्मतीर्थ की स्थापना करे, उसके बाद ही जिनकल्प स्वीकार करे।
- जिनकल्प स्वीकार करते समय कम से कम उम्र २९ वर्ष की होनी चाहिये। साधुता

का पर्याय कम से कम २० वर्ष का होना चाहिये । उत्कृष्टकाल देशोनपूर्वकोटी ।

- नया श्रुताभ्यास नहीं करे । पूर्वोपार्जित श्रुतज्ञान का एकाग्र मन से स्मरण करे ।
- जिनकल्प पुरुष ही स्वीकारकर सकता है । अथवा कृत्रिम नपुंसकलिंगी भी स्वीकार कर सकता है ।
- जिनकल्पी का वेश जिनकल्प स्वीकार करते समय साधु का हो । भाव भी साधु के हों । पीछे से बाह्यवेश चौरादि द्वारा ले लिया जाय तो नग्न रहे ।
- जिनकल्प स्वीकारते समय तेजो-पद्म-शुक्ल तीन शुभ लेश्या हों । पीछे से छःओं लेश्याऐ हो सकती हैं । परन्तु कृष्ण-नील-कापोत लेश्या अति संक्लिष्ट नहीं होती और अधिक समय नहीं रहती ।
- जिनकल्प स्वीकारते हुए प्रवर्द्धमान धर्मध्यान नहीं होता । पीछे से आर्त्तध्यान-रौद्रध्यान भी हो सकता है कर्म की विचित्रता से ! परन्तु शुभ भावों की प्रबलता होने से आर्त्त-रौद्रध्यान के अनुबन्ध प्रायः नहीं पड़ते ।
- एक समय में जिनकल्प स्वीकारनेवाले अधिक से अधिक दो सौ से नौ सौ हो सकते हैं ।
- जिनकल्पियों की उत्कृष्ट संख्या दो हजार से नौ हजार तक हो सकती है ।
- अल्पकालिक अभिग्रह जिनकल्पी को नहीं होते । 'जिनकल्प' स्वयं ही जिन्दगी का महान् अभिग्रह है ।
- जिनकल्पी किसीको दीक्षा नहीं देता है । अगर उन्हें ज्ञान द्वारा दिखाई पड़े कि 'यह दीक्षा लेनेवाला है', तो उपदेश दे और संविग्न गीतार्थ साधुओं के पास भेज देवे ।
- मन से भी अगर सूक्ष्म अतिचार लग जाय तो प्रायश्चित १२० उपवास आता है ।
- ऐसा कोई कारण नहीं जिससे अपवादपद का सेवन करना पड़ता हो ।
- आँख का मेल भी दूर नहीं करे । चिकित्सादि नहीं करावे ।
- तीसरी पोरसी में आहार-विहार करे । शेषकाल में कायोत्सर्ग ध्यान में रहे ।
- जन्घाबल क्षीण हो जाय, विहार न कर सके तो भी एक क्षेत्र में रहते हुए दोष न लगने देवें और अपने कल्प का अनुपालन करें ।
- स्थविरकल्पी मुनि पुष्टालम्बन से अपवाद-मार्ग का भी आसेवन करे । स्थविरकल्पी मुनि गुरुकुलवास में रहें और गच्छवास की मर्यादाओं का पालन करे ।

१६. उपसर्ग-परिसह

उपसर्ग का अर्थ है कष्ट, आपत्ति ।

जब श्रमण भगवान महावीर देव ने संसारत्याग किया था तब इन्द्र ने प्रभु से प्रार्थना की थी :

"प्रभो ! तवोपसर्गाः भूयांसः सन्ति ततो द्वादशवर्षो यावत् वैयावृत्यनिमित्तं तवान्तिके तिष्ठामि !"

'हे प्रभो ! आपको अनेक उपसर्ग हैं इसलिए बारह वर्ष तक मैं वैयावच्च (सेवा) के लिए आपके पास रहता हूँ ।'

भगवान[1] को उपसर्ग आये अर्थात् कष्ट हुए । ये उपसर्ग तीन वर्गों से आते हैं । १. देव, २. मनुष्य, ३. तिर्यंच । इन तीन की तरफ से दो प्रकार के उपसर्ग होते हैं : १. अनुकूल, २. प्रतिकूल

(१) भोग-संभोग की प्रार्थना आदि अनुकूल उपसर्ग हैं ।

(२) मारना, लूटना, तंग करना आदि प्रतिकूल उपसर्ग हैं ।

शास्त्रीय भाषा में अनुकूल उपसर्ग को 'अनुलोम उपसर्ग' कहते हैं और प्रतिकूल उपसर्ग को 'पड़िलोम उपसर्ग' कहते हैं ।

जिनको अन्तरंग शत्रु काम-क्रोध-लोभ आदि पर विजय प्राप्त करने की साधना करनी हो उन्हें ये उपसर्ग समता भाव से सहन करने चाहिए भगवान महावीर ऐसे उपसर्ग सहकर ही वीतराग-सर्वज्ञ बने थे ।

परिसह :

मोक्ष मार्ग में स्थिर होना और कर्मनिर्जरा के लिए सम्यक् सहन करने को परिसह कहते हैं । परन्तु यह परिसह जीवन की स्वाभाविक परिस्थितियों में से उत्पन्न हुए कष्ट होते हैं । परिसह में कोई देव, मनुष्य या तिर्यंच के अनुकूल-प्रतिकूल हमले नहीं होते हैं । परिसह का उद्भवस्थान मनुष्यों का स्वयं का मन होता है । बाह्य निमित्तों को प्राप्तकर मन में उठता हुआ क्षोभ है । ये परिसह २२ प्रकार के हैं । 'नवतत्त्व प्रकरण' आदि ग्रन्थों में इनका स्पष्ट वर्णन मिलता है।

---

१. जे केई उपसग्गा उप्पज्जंति तं जहा दिव्वा वा माणुसा वा, तिरिक्ख-जोणिया वा, अणुलोमा वा, पडिलोमा वा ते उप्पन्ने सम्मं सहइ, खमइ, तितिक्खइ, अहियासेइ ।

—कल्पसूत्रः सूत्र ११८

(१) क्षुधा : भूख लगना ।
(२) पिपासा : प्यास लगना ।
(३) शीत : सर्दी लगना ।
(४) ऊष्ण : गर्मी लगना ।
(५) दंश : मच्छरों आदि से तकलीफ ।
(६) अचेल : जीर्ण वस्त्र पहनना ।
(७) अरति : संयम में अरुचि ।
(८) स्त्री : स्त्री को देखकर विकार होना ।
(९) चर्या : उग्र विहार ।
(१०) नैषेधिकी : एकान्त स्थान में रहना ।
(११) शय्या : ऊँची नीची खड्डे वाली जमीन पर रहना ।
(१२) आक्रोश : दूसरों का क्रोध या तिरस्कार होना ।
(१३) वध : प्रहार होना ।
(१४) याचना : भिक्षा मांगना ।
(१५) अलाभ : इच्छित वस्तु नहीं मिलना ।
(१६) रोग : रोग की पीड़ा होना ।
(१७) तृणस्पर्श : संथारे पर बिछाये हुए घास का स्पर्श ।
(१८) मल : शरीर पर मैल (कचरा) जमना ।
(१९) सत्कार : मान-सम्मान मिलना ।
(२०) प्रज्ञा : बुद्धि का गर्व ।
(२१) अज्ञान : ज्ञान प्राप्त नहीं होना ।
(२२) सम्यक्त्व : जिनोक्त तत्त्व में सन्देह करना ।

इन[१] परिसहों में विचलित नहीं होना । सम्यक् भाव से सहन करना । साधुजीवन में आनेवाले इन विघ्नों को समताभाव से सहन करना चाहिए । इससे मोक्षमार्ग में स्थिरता प्राप्त होती है और कर्मों की निर्जरा होती है ।

---

१. मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परिसहाः ॥८॥
क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्या निषद्याशय्याऽऽक्रोश वधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि । —तत्वार्थसूत्र : अध्याय ९

१७. पाँच शरीर

इस विश्व में जीवों का शरीर सिर्फ एक तरह का ही नहीं है। चार गतिमय इस विश्व में पाँच प्रकार के शरीर होते हैं। ये पाँच भेद शरीर के आकार के माध्यम से नहीं हैं परन्तु शरीर जिन पुद्गलों से बनता है, इन पुद्गलों के वर्ण के माध्यम से हैं।

यहाँ शरीर के अंगों का विवेचन 'विचारपंचाशिका' नामक ग्रन्थ के आधार से किया गया है ।

शरीर के नाम :

(१) औदारिक

(२) वैक्रिय

(३) आहारक

(४) तैजस

(५) कार्मण

शरीर की बनावट :

पाँच प्रकार के द्रव्यों में एक द्रव्य है पुद्गलास्तिकाय । ये पुद्गल चौदह राजलोक में व्याप्त हैं । इनकी २६ वर्गणायें (विभाग) हैं । इसमें जीवनोपयोगी केवल ८ वर्गणायें हैं। इसमें जो 'औदारिक वर्गणा' है, उससे औदारिक शरीर बनता है। 'वैक्रिय वर्गणा' के पुद्गलों से वैक्रिय शरीर बनता है। 'आहारक वर्गणा' के पुद्गलों से 'आहारक शरीर' बनता है। तैजस वर्गणा के पुद्गलों से तैजस शरीर बनता है और कार्मण वर्गणा के पुद्गलों से कार्मण शरीर बनता है। जैसे मिट्टी के पुद्गलों से मिट्टी के घड़े बनते हैं, सोने के पुद्गलों से सोने का घड़ा और चाँदी के पुद्गलों से चाँदी का घड़ा बनता है, उसी तरह इन पुद्गलों से उनके अनुरुप शरीर बनता है ।

किसका कौन सा शरीर होता है :

- तिर्यंच एवं मनुष्य का औदारिक शरीर होता है ।
- देव और नारकीय जीव का वैक्रिय शरीर होता है। (वक्रिय लब्धिवाले तिर्यंच और मनुष्य को भी वैक्रिय शरीर होता है।)

- चौदह पूर्व के ज्ञानी मनुष्यों का आहारक शरीर होता है ।
- सर्व गति के सर्व जीवों का तैजस और कार्मण शरीर होता है ।

शरीरों का प्रयोजन :

- औदारिक शरीर से सुख-दुःख का अनुभव करना, चारित्र धर्म का पालन करना और निर्वाण प्राप्त करने का कार्य होता है ।
- वैक्रिय शरीरवाले जीव अपना स्थूल एवं सूक्ष्म अनेक रुप कर सकते हैं । शरीर लम्बा या छोटा बना सकते हैं ।
- आहारक शरीर, चौदह पूर्वधर ज्ञानी पुरुष आवश्यकता होती है तब ही बनाते हैं। आहारक वर्गणा के पुद्गलों को ज्ञानबल से खींचकर यह शरीर बनाते हैं । वे इस शरीर के माध्यम से महाविदेह क्षेत्र में जाते हैं, वहाँ तीर्थंकर भगवन्तों से अपने संशयों का निराकरण करते हैं, फिर शरीर का विसर्जन कर देते हैं ।
- तैजस शरीर खाये हुए आहार का परिपाक करता है । इस शरीर के माध्यम से शाप दे सकते हैं और आशीर्वाद भी दे सकते हैं ।
- कार्मण शरीर द्वारा जीव एक भव से दूसरे भव में जाता है ।

इन पाँचो शरीर से आत्मा की मुक्ति हो तब ही आत्मा सिद्ध हुआ ऐसा कह सकते हैं । मुक्त होने का पुरुषार्थ औदारिक शरीर से होता है ।

१८. बीस स्थानक तप

'कर्मणां तापनात् तपः' कर्मों को तपावे-नष्ट करे उसे तप कहते हैं । ऐसे तरह तरह के तप शास्त्रों में बताये गये हैं । तीर्थंकर नामकर्म बन्धानेवाला मुख्य तप बीस स्थानक की आराधना का तप है ।

नीचे के सात स्थानों में अनुराग, गुण-स्तुति और भक्ति-सेवा, ये आराधना करनी होती है ।

(१) **तीर्थंकर** : अष्ट प्रातिहार्य की शोभा के योग्य ।

(२) **सिद्ध** : सर्व कर्मरहित, परम सुखी और कृत-कृत्य ।

(३) **प्रवचन** : द्वादशांगी और चतुर्विध संघ ।

(४) गुरु : यथावस्थित शास्त्रार्थ कहनेवाले । धर्म-उपदेश आदि देनेवाले ।

(५) स्थविर : वयस्थविर (६० वर्ष से ज्यादा), श्रुत स्थविर (समवायांग तक के ज्ञाता), पर्याय स्थविर (२० वर्ष का दीक्षित)

(६) बहुश्रुत : जो महान ज्ञानी हो ।

(७) तपस्वी : अनेक प्रकार के तप करनेवाले तपस्वी मुनि ।

(८) निरंतर ज्ञानोपयोग : हर समय ज्ञान का उपयोग ।

(९) दर्शन : सम्यग् दर्शन ।

(१०) विनय : ज्ञान आदि का विनय ।

(११) आवश्यक : प्रतिक्रमणादि दैनिक धर्मक्रिया ।

(१२-१३) शील व्रत : शील यानी उत्तर गुण, व्रत यानी मूलगुण ।

(१४) क्षण-लव-समाधि : क्षण, लव आदि काल के नाम हैं। अमुक समय निरन्तर संवेगभावित होकर ध्यान करना ।

(१५) त्याग समाधि : त्याग दो प्रकार के हैं; द्रव्य त्याग और भाव त्याग।

अयोग्य आहार, उपधि आदि का त्याग और सुयोग्य आहार-उपधि आदि साधुजनों को वितरण । यह द्रव्य त्याग है । क्रोध आदि अशुभ भावों का त्याग और ज्ञान आदि शुभ भावों का साधुजनों को वितरण-यह भावत्याग है । इन दोनों तरह के त्याग में शक्ति अनुसार निरन्तर प्रवृत्ति करनी चाहिए ।

(१६) तप समाधि : बाह्य-आभ्यन्तर बारह प्रकार के तप में शक्ति अनुसार प्रवृत्ति करनी चाहिए।

(१७) दसविध वैयावच्च : आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, शैक्षक, कुल, गुण, संघ और साधर्मिक आदि की १३ प्रकार से वैयावच्च करनी चाहिए। (१) भोजन, (२) पानी, (३) आसन, (४) उपकरण-पडिलेहण, (५) पाद-प्रमार्जन, (६) वस्त्र-प्रदान, (७) औषध प्रदान, (८) मार्ग में सहायता, (९) दुष्टों से रक्षण, (१०) दण्ड (डंडा) ग्रहण, (११) मात्रक-अर्पण, (१२) संज्ञामात्रक अर्पण और (१३) श्लेष्ममात्रक अर्पण ।

(१८) अपूर्व ज्ञानग्रहण : नया नया ज्ञान प्राप्त करना ।

(१९) श्रुतभक्ति : ज्ञान-भक्ति ।

(२०) प्रवचनप्रभावना : जिनोक्त तत्त्वों का उपदेश आदि देना ।

पहले और अंतिम तीर्थंकर ने (ऋषभदेव और महावीर स्वामी) इन बीस स्थानकों की आराधना की थी । मध्य के २२ तीर्थंकरों में से किसी ने दो, किसी ने तीन... किसी ने सब स्थानकों की आराधना की थी ।

(—प्रवचनसारोद्धार: द्वार : १० के अनुसार)

बीस स्थानक तप की आराधना की प्रचलित विधि निम्न प्रकार है ।

- एक एक स्थानक की एक एक ओली की जाती है । एक ओली २० अट्ठम की होती है । अट्ठम (३ उपवास) करने की शक्ति न हो तो २० छट्ठ (दो उपवास) करके ओली हो सकती है । अगर यह भी शक्ति न हो तो २० उपवास, २० आयंबिल या २० एकासणा करके भी ओली हो सकती है ।
- एक ओली ६ महिनों में पूर्ण करनी चाहिए ।
- ओली की आराधना के दिन पौषधव्रत करना चाहिए । सब पदों की आराधना में पौषधव्रत नहीं कर सकते हैं तो पहले सात पद की ओली में तो पौषधव्रत करना ही चाहिए । पौषध की अनुकूलता न हो तो देशावगासिक व्रत (८ सामायिक और प्रतिक्रमण) करें ।
- ओली के दिनों में प्रतिक्रमण, देव वंदन, ब्रह्मचर्य पालन, भूमि शयन आदि नियमों का पालन करना चाहिए । हिंसामय व्यापार का त्याग, असत्य और चोरी का त्याग.... प्रमाद का त्याग करना चाहिए ।
- २० स्थानक की २० ओली पूर्ण करने पर महोत्सव करें; प्रभावना करें, उजमणा करके इस महान तप की आराधना पूर्ण होने का आनन्द व्यक्त करें ।
- अगर ६ महिनों में एक ओली न हो तो वापिस ओली चालू करनी पड़ती है ।
- हर एक ओली के दिन जिनेश्वर भगवान के समक्ष स्वस्तिक, खमासमण और काउस्सग्ग करना चाहिए । हर एक पद की २० नवकारवाली गिननी चाहिए।
- ये सब क्रिया करके उन पद के गुणों का स्मरण-चिंतन करके आनन्दित होना चाहिए।

जाप का पद	स्वस्तिक	खमासमण	काउ. लो.	नवकारवाली
ॐ नमो अरिहंताणं	१२	१२	१२	२०
ॐ नमो सिद्धाणं	३१	३१	३१	२०
ॐ नमो पवयणस्स	२७	२७	२७	२०
ॐ नमो आयरियाणं	३६	३६	३६	२०
ॐ नमो थेराणं	१०	१०	१०	२०
ॐ नमो उवज्झायाणं	२५	२५	२५	२०
ॐ नमो लोए सव्वसाहूणं	२७	२७	२७	२०
ॐ नमो नाणस्स	५१	५१	५१	२०
ॐ नमो दंसणस्स	६७	६७	६७	२०
ॐ नमो विणयसम्पन्नस्स	५२	५२	५२	२०
ॐ नमो चारित्तस्स	७०	७०	७०	२०
ॐ नमो बंभवयधारिणं	१८	१८	१८	२०
ॐ नमो किरियाणं	२५	२५	२५	२०
ॐ नमो तवस्स	१२	१२	१२	२०
ॐ नमो गोयमस्स	११	११	११	२०
ॐ नमो जिणाणं	२०	२०	२०	२०
ॐ नमो संयमस्स	१७	१७	१७	२०
ॐ नमो अभिनवनाणस्स	५१	५१	५१	२०
ॐ नमो सुयस्स	२०	२०	२०	२०
ॐ नमो तित्थस्स	३८	३८	३८	२०

'बीस स्थानक पद पूजा' तथा 'विधिप्रपा' आदि ग्रन्थों से यह विधि-संकलित की गई है ।

१९. उपशम श्रेणी

'**अप्रमत्तसंयत**' गुणस्थानक में रही हुई आत्मा उपशम श्रेणी का प्रारंभ करती है। इस श्रेणी में 'मोहनीय कर्म' की उत्तर प्रकृत्तियों का क्रमशः उपशम होता है, इसलिए इसको 'उपशम श्रेणी' कहा जाता है ।

दूसरा मत यह है कि अनन्तानुबन्धी कषाय का उपशमन अप्रमत्त-संयत ही नहीं परन्तु अविरत, देश-विरत, प्रमत्त-संयत, अप्रमत्त-संयत भी कर सकते हैं ।

परन्तु दार्शनत्रिक (सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्रमोहनीय मिथ्यात्व मोहनीय) का उपशमन तो संयत ही कर सकता है, यह सर्वसम्मत नियम है ।

अनन्तानुबन्धी कषाय का उपशमन :

- ४-५-६-७ गुणस्थानकों में से किसी एक गुणस्थानक में रहता है ।
- तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या में से किसी एक लेश्यावाला ।
- मन, वचन, काया के योगों में से किसी योग में वर्तमान ।
- साकार उपयोगवाला ।
- अन्तः कोड़ाकोड़ी सागरोपम स्थितिवाला ।
- श्रेणी के करण-काल पूर्व भी अन्तर्मुहूर्त काल तक विशुद्ध चित्तवाला।
- परावर्तमान प्रकृतियां (शुभ) बांधनेवाला ।

प्रति समय शुभ प्रकृति में अनुभाग की वृद्धि और अशुभ प्रकृति में अनुभाग की हानि करता है। पहले कर्मों की जीतनी स्थिति बांधता था अब उन कर्मों की पहले के स्थितिबन्ध की अपेक्षा पल्योपम के असंख्यातवें भाग न्यून स्थिति बांधता है ।

इस तरह अन्तर्मुहूर्त पूर्ण होने के बाद यथाप्रवृत्ति-करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण करता है । हर एक करण का समय अन्तर्मुहूर्त होता है । फिर आत्मा उपशमकाल में प्रवेश करती है ।

यथाप्रवृत्तिकरण में व्यवहार करती आत्मा (प्रति समय उत्तरोत्तर अनन्तगुण विशुद्ध होने से) शुभ प्रकृतियों के रस में अनन्तगुनी वृद्धि करते हैं । अशुभ प्रकृति के रस में हानि करते हैं, पूर्व स्थितिबन्ध की अपेक्षा से पल्योपम के असंख्यात भाग न्यून... न्यून... स्थितिबन्ध करता है । परन्तु यहाँ स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि या गुणसंक्रम नहीं होता है, क्योंकि उसके लिए आवश्यक विशुद्धि का अभाव होता है ।

अन्तर्मुहूर्त के बाद अपूर्वकरण करता है । यहाँ स्थितिघात आदि पाँचों होते हैं। अपूर्वकरणकाल समाप्त होने के बाद अनिवृत्तिकरण होता है, इसमें भी स्थितिघातादि पाँचों होते हैं । इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त का ही होता है । इस अनिवृत्तिकरण का संख्यात भाग बीतने पर जब एक भाग बाकी रहता है तब अन्तरकरण करता है ।

अनन्तानुबन्धी कषाय के एक आवलिका प्रमाण निषेकों को छोड़कर ऊपर के निषेकों का अन्तरकरण करता है। अन्तरकरण के दलिकों को वहाँ से उठा उठाकर बध्यमान अन्य प्रकृतियों में डालता है और नीचे की स्थिति जो एक आवलिका प्रमाण होती है उसके दलिक को भोगी जा रही अन्य प्रकृति में 'स्तिबुक संक्रम' द्वारा डालकर भोगकर क्षय करता है।

अन्तरकरण के दूसरे समय में अन्तरकरण की ऊपर की स्थितिवाले दलिकों का उपशम करते हैं। पहले समय में कुछ दलिकों का उपशम करते हैं, दूसरे समय में असंख्यात गुना, तीसरे समय में उससे असंख्यातगुना। इस प्रकार प्रति समय असंख्यातगुना-असंख्यातगुना दलिकों का उपशम करते हैं। अन्तर्मुहूर्त पूर्ण होते ही सम्पूर्ण अनन्तानुबन्धी कषायों का उपशम होता है।

उपशम की व्याख्या :

धूल के ऊपर पानी डालकर घन के द्वारा कूटने से जैसे धूल जम जाती है इसी तरह कर्मों पर विशुद्धिरूप जल छींटकर अनिवृत्तिकरणरूपी घन द्वारा कूटने से जम जाती है ! यही उपशम कहलाता है। उपशम होने के बाद उदय, उदीरणा, निधत्ति, निकाचना आदि करण नहीं लग सकते हैं अर्थात् उपशम हुए कर्मों का उदय... उदीरणा आदि नहीं होते हैं।

अन्य मत :

कुछ आचार्य अनन्तानुबन्धी कषाय का उपशमन नहीं मानते हैं, परन्तु विसंयोजना या क्षपण ही मानते हैं।

दर्शनत्रिक का उपशमन :

क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि आत्मा (संयम में रहते हुए) एक अन्तर्मुहूर्त काल में दर्शनत्रिक, (समकित मोहनीय, मिश्र मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय) का उपशमन करते हैं। उपशमन करते हुए-पूर्वोक्त तीन करण करते हुए बढ़ती विशुद्धिवाला अनिवृत्तिकरण काल के असंख्य भाग के बाद अन्तरकरण करता है। अन्तरकरण में सम्यक्त्व की प्रथम स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण करता है और मिथ्यात्व-मिश्र की आवलिका प्रमाण स्थिति करता है। इसके बाद तीनों प्रकृति के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अन्तरकरण के दलिक को वहाँ से उठा उठाकर सम्यक्त्व की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण प्रथम स्थिति में डालता है। मिथ्यात्व और मिश्र का एक आवलिका प्रमाण जो प्रथम स्थितिगत दलिक है उसे स्तिबुक संक्रम द्वारा

सम्यकत्व की प्रथम स्थिति में संक्रमण कराता है। सम्यक्त्व के प्रथम स्थितिगत दलिकों को भोगकर क्षय करता है। इस तरह क्रमशः दर्शनत्रिक का क्षय होने के उपरान्त उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है। दार्शनत्रिक की उपर्युक्त स्थिति में रहे हुए दलिकों का उपशमन करता है। इस प्रकार दार्शनत्रिक का उपशमन करते हुए प्रमत्त-अप्रमत्त गुणस्थानक में सैकड़ों बार आवागमन करता हुआ वापिस चारित्र मोहनीय का उपशमन करने के लिए प्रवृत्त होता है।

चारित्र मोहनीय का उपशमन :

चारित्र मोहनीय कर्म का उपशमन करने के लिए पुनः तीन करण करने पड़ते हैं। उसमें यह विशेष है कि यथाप्रवृत्तिकरण अप्रमत्त गुणस्थानक में होता है। अपूर्वकरण अपूर्वकरण गुणस्थानक में होता है। अपूर्वकरण में स्थितिघातादि पाँचो कार्य होने के बाद अनिवृत्तिकरण गुणस्थानक में अनिवृत्तिकरण करता है। यहाँ भी पूर्वोक्त पाँचों कार्य होते हैं।

अनिवृत्तिकरण-काल के संख्यात भाग बीत जाने के बाद मोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियों का अन्तरकरण करता है। (दर्शन सप्तक के अलावा २१ प्रकृति) वहाँ जो वेद और संज्वलन कषाय का उदय हो उसके उदयकाल प्रमाण प्रथम स्थिति करता है। शेष ११ कषाय और ८ नोकषाय की आवलिका-प्रमाण प्रथम स्थिति करता है।

अन्तरकरण करके अन्तर्मुहूर्त काल में नपुंसकवेद का उपशमन करता है। उसके बाद अन्तर्मूहुर्त काल में स्त्रीवेद का उपशमन करता है। उसके बाद अन्तर्मुहूर्त में हास्यादि षट्क का शमन करता है और उसी समय पुरुषवेद के बन्ध-उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है। इसके उपरान्त दो आवलिका काल में (एक समय कम) सम्पूर्ण पुरुषवेद का विच्छेद करता है।

फिर अन्तर्मुहूर्त काल में एक साथ ही अप्रत्याख्यानावरण क्रोधकषाय का उपशमन करता है। ये उपशान्त होते ही उसी समय संज्वलन क्रोध के बन्ध-उदय-उदीरणा का विच्छेद होता है। इसके बाद आवलिका (एक समय कम) में संज्वलन क्रोध का उपशमन करता है। काल के इस क्रम से ही अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरण मान का एक साथ ही उपशमन करता है। फिर संज्वलन मान का उपशमन करता है। (बन्ध-उदय-उदीरणा का विच्छेद करता है।)

इसके उपरान्त वह लोभ का वेदक बनता है।

लोभवेदनकाल के तीन विभाग है :

(१) अश्वकरण - करणकाल

(२) किट्टिकरण - काल

(३) किट्टिवेदन - काल

(१) प्रथम विभाग में संज्वलन लोभ की दूसरी स्थिति से दलिकों को ग्रहण कर प्रथम स्थिति बनता है और वेदन करता है। अश्वकर्ण-करण-काल में रहा हुआ जीव प्रथम समय में ही अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन-इन तीनों लोभ का एक साथ उपशमन प्रारम्भ करता है। विशुद्धि में चढता हुआ जीव अपूर्व स्पर्धक करता है। इसके बाद संज्वलन माया का समयन्यून दो आवलिका काल में उपशमन करता है। इस तरह अश्वकर्ण करण समाप्त होता है।

(२) किट्टिकरण - काल में पूर्व स्पर्धक और अपूर्व स्पर्धकों में से द्वितीय स्थिति में रहे हुए दलिकों को लेकर प्रति समय अनंत किट्टियाँ करता है। किट्टीकरण काल के चरम-समय में एक साथ अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण लोभ का उपशमन करता है। यह उपशमन होते ही संज्वलन लोभ के बन्ध का विच्छेद होता है और बादर संज्वलन लोभ के उदय-उदीरणा का विच्छेद होता है। इसके उपरान्त जीव सूक्ष्म सम्परायवाला बनता है।

(३) किट्टिवेदन-काल दसवें गुणस्थानक का काल है। (अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल है।) यहाँ दूसरी स्थिति से कुछ किट्टिया ग्रहण करके सूक्ष्म सम्पराय के काल जितनी प्रथम स्थिति बनाता है और वेदन करता है। समयन्यून दो आवलिका में बन्धे हुए दलिक का उपशमन करता है। सूक्ष्म सम्पराय के अन्तिम समय में सम्पूर्ण संज्वलन लोभ उपशान्त होता है। आत्मा उपशान्तमोही बनती है।

उपशान्तमोह-गुणस्थानक का जघन्यकाल एक समय का है और उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त का है, इसके बाद वे अवश्य गिरते हैं।

पतन :

उपशान्तमोही आत्मा का पतन दो तरह से होता है।

(१) आयुष्य पूर्ण होने से मृत्यु होती है और अनुत्तर देवलोक में अवश्य जाते हैं। देवलोक में उन्हें प्रथम समय में ही चौथा गुणस्थानक प्राप्त होता है।

(२) उपशान्तमोह-गुणस्थानक का काल पूर्ण होने से जो जीव गिरे-वह नीचे किसी भी गुणस्थानक में पहुँच जाता है। दूसरे सास्वादन गुणस्थानक में होकर पहले

मिथ्यात्व गुणस्थानक में भी जाता है।

उपशम श्रेणी कितनी बार ? :

- एक जीव को समस्त संसारचक्र में पाँच वार उपशम श्रेणी की प्राप्ति होती है।
- एक जीव एक भव में ज्यादा से ज्यादा दो बार उपशम श्रेणी प्राप्तकर सकता है। परन्तु जो दो बार उपशम श्रेणी पर चढ़ता है वह इसी भव में क्षपक श्रेणी प्राप्त नहीं कर सकता है। यह मंतव्य कर्मग्रन्थ के रचयिता आचार्यों का है। आगमग्रन्थों का मत है कि एक भव में एक ही श्रेणी प्राप्त कर सकता है। उपशम श्रेणी प्राप्त करनेवाला क्षपक श्रेणी उसी भव में प्राप्त नहीं कर सकता है।

'मोहोपशमो एकस्मिन् भवे द्विः स्यादसन्ततः।
यस्मिन् भवे तूपशम क्षयो मोहस्य तत्र न ॥"

वेदोदय और श्रेणी :

ऊपर जो उपशम श्रेणी का वर्णन किया गया है वह पुरुषवेद के उदय होने पर श्रेणी प्राप्त करनेवाली आत्मा को लेकर किया गया है।

जो आत्मा नपुंसक वेद के उदय में श्रेणी मांडता है वह सर्वप्रथम अनन्तानुबन्धी और दार्शनत्रिक का तो उपशमन करता ही है। परन्तु स्त्रीवेद या पुरुषवेद के उदय में श्रेणी माण्डनेवाला आत्मा जहाँ नपुंसक वेद का उपशमन करता है, वहाँ नपुंसक वेद में श्रेणी माण्डनेवाला आत्मा भी नपुंसक वेद का ही उपशमन करता है। इसके बाद स्त्रीवेद और नपुंसकवेद-दोनों का उपशमन करता है। यह उपशमन नपुंसकवेद के उदयकाल के उपान्त्य समय तक होता है। वहाँ स्त्रीवेद का पूर्णरूपेण उपशमन होता है। आगे सिर्फ नपुंसकवेद की एक समय की उदय स्थिति शेष रहती है, वह भी भोगने पर आत्मा अवेदक बनती है। इसके बाद पुरुषवेद वगैरह ७ प्रकृति का एक साथ उपशमन करना चालू करता है।

- जो आत्मा स्त्रीवेद के उदय में श्रेणी मांडता है वह दर्शनत्रिक के बाद नपुंसकवेद का उपशमन करता है, इसके बाद चरम समय जितनी उदय स्थिति को छोड़कर स्त्रीवेद के शेष दलिकों का उपशमन करता है। चरम समय का दलिक भोगकर क्षय होने के बाद अवेदी बनता है। अवेदक बनने के बाद पुरुषवेद आदि ७ प्रकृति का उपशमन करता है।

२०. चौदह पूर्व

पूर्वपद : संख्या	विवरण
१. उत्पाद ११ कोड पद	जिसमें 'उत्पाद' के आधार पर सर्व द्रव्य और सर्व पर्यायों की प्ररूपणा की गई है ।
२. आग्रायणीय ९६ लाख पद	जिसमें सर्व द्रव्य, सर्व पर्याय और जीवों के परिमाण का वर्णन किया गया है ।
३. वीर्य प्रवाद ७० लाख पद	जिसमें जीव और अजीवों के वीर्य का वर्णन, किया गया है । (अग्र-परिमाण, अयनम्-परिच्छेद अर्थात् ज्ञान)
४. अस्ति नास्ति प्रवाद ६० लाख पद	जो खरशृंगादि पदार्थ विश्व में नहीं हैं और जो धर्मास्तिकायादि पदार्थ हैं, उनका वर्णन इस पूर्व में है । अथवा हर एक पदार्थ का स्व-रुपेण अस्तित्व और पर-रुपेण नास्तित्व प्रतिपादन किया है।
५. ज्ञान प्रवाद १ क्रोड पद (एक कम)	इस पूर्व में पाँच ज्ञान के भेद-प्रभेद, उनका स्वरुप आदि का वर्णन किया गया है ।
६. सत्य प्रवाद १ क्रोड ६ पद	सत्य यानी संयम, उसका विस्तृत वर्णन इस पूर्व में किया गया है ।
७. आत्म प्रवाद २६ क्रोड पद	अनेक नयों द्वारा आत्मा के अस्तित्व का और आत्मा के स्वरुप का इस पूर्व में वर्णन है ।
८. कर्म प्रवाह १ क्रोड ८० लाख पद	ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों के बन्ध, उदय, सत्ता आदि का इसमें भेद-प्रभेद के साथ वर्णन है ।
९. प्रत्याख्यान प्रवाद ८४ लाख पद	प्रत्याख्यान (पच्चक्खाण) का भेद-प्रभेद के साथ इस पूर्व में वर्णन किया है ।
१०. विद्या प्रवाद ११ क्रोड १५ हजार पद	विद्याओं की साधना की प्रक्रियायें और उससे होनेवाली सिद्धियों का वर्णन इस पूर्व में है ।

११. कल्याण प्रवाद २६ क्रोड पद फल का वर्णन ।	ज्ञान, तप आदि शुभ योगों की सफलता और प्रमाद, निद्रा आदि अशुभ योगों के अशुभ
१२. प्राणायु १ क्रोड ५६ लाख पद	इस पूर्व में जीव के दस प्राणों का वर्णन और जीवों के आयुष्य का वर्णन किया गया है ।
१३. क्रिया विशाल ९ क्रोड पद	इस पूर्व में कायिकी आदि क्रियाओं का उनके भेद-प्रभेद के साथ वर्णन किया गया है ।
१४. लोक बिन्दुसार १२॥ क्रोड पद	जैसे श्रुतलोक में अक्षर के ऊपर रहा हुआ बिन्दु श्रेष्ठ है उसी तरह 'सर्वाक्षर सन्निपात लब्धि' प्राप्त करने के इच्छुक साधक के लिए यह पूर्व सर्वोत्तम है ।

पूर्व का अर्थ क्या ?

यह पूर्व शब्द शास्त्र, ग्रन्थ जैसे अर्थ में उपयोग किया गया शब्द है । तीर्थंकर जब धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं तब पूर्व का उपदेश देते हैं । फिर गणधर इन उपदेशों के आधार पर 'आचारांग' आदि सूत्रों की रचना करते हैं ।

२१. पुद्गलपरावर्त काल

जहाँ गणित का प्रवेश असम्भव है, ऐसे काल को जानने के लिए 'पल्योपम' 'सागरोपम' 'उत्सर्पिणी' 'अवसर्पिणी' 'कालचक्र' 'पुद्गल परावर्त' जैसे शब्दों का सर्जन किया गया है । ऐसे शब्दों की स्पष्ट परिभाषा ग्रन्थों में दी गई है । यहाँ अपन 'प्रवचन सारोद्धार' ग्रन्थ के आधार पर 'पुद्गल परावर्त' काल को समझेंगे ।

१० कोडा कोडी (१० × १० क्रोड) सागरोपम
= १ उत्सर्पिणी
= १ अवसर्पिणी

ऐसे[१] अनंत उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी का समूह तब एक पुद्गल परावर्त कहा जाता है । अतीत काल अनन्त पुद्गलपरावर्त का होता है ।

---

१. 'ओसप्पिणी अणंता पोग्गल परियट्टओ मुणेयव्वो ।
तेऽणंता तीयद्धा अणागयद्धा अणंतगुणा ॥'

अतीत काल से अनंत गुना ज्यादा भविष्य काल है। अर्थात् अनागत काल में जो पुद्गल परावर्त हैं वे अतीत काल से अनन्त गुना ज्यादा हैं।

यह[२] 'पुद्गल परावर्त' चार तरह का है :

(१) द्रव्य पुद्गल परावर्त

(२) क्षेत्र पुद्गल परावर्त

(३) काल पुद्गल परावर्त

(४) भाव पुद्गल परावर्त

ये चारों पुद्गल परावर्त २-२ तरह के हैं : (१) बादर (२) सूक्ष्म

(१) बादर द्रव्य पुद्गलपरावर्त :

एक जीव संसार—अटवी में भ्रमण करता हुआ, अनंत भवों में औदारिक-वैक्रिय-तैजस-कार्मण-भाषा-श्वासोच्छ्वास और मन रुप सर्व पुद्गलों को (१४ राजलोक में रहे हुए) ग्रहणकर, भोगकर रख दे... इसमें जितना समय लगे उतना काल बादर द्रव्य पुद्गल परावर्त काल कहलाता है। (आहारक शरीर को तो एक जीव मात्र चार बार ही बनाता है। अर्थात् पुद्गलपरावर्त काल में वह उपयोगी नहीं होने से उसे नहीं लिया है।)

(२) सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्त :

औदारिक आदि शरीरों में से किसी एक शरीर से एक जीव संसार में परिभ्रमण करता हुआ सब पुद्गलों को पकडकर, भोगकर छोड़ दे, उस काल को सूक्ष्म द्रव्य पुद्गल परावर्त कहते हैं। विवक्षित शरीर के अलावा दूसरे शरीर से जो पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं और भोगे जाते हैं वे नहीं गिने जाते हैं।

(३) बादर क्षेत्र पुद्गलपरावर्त :

क्रम से या उत्क्रम से एक जीव लोकाकाश के सब प्रदेशों को मृत्यु से स्पर्श करने में जितना समय लगाता है उस कालविशेष को बादर क्षेत्र पुद्गलपरावर्त कहते हैं। अर्थात् चौदह राजलोक के असंख्य आकाश प्रदेश (आकाश का एक ऐसा भाग कि जिसका और भाग न हो सके) हैं। इन एक एक आकाशप्रदेश में उस जीव की मृत्यु होती है। इसमें जो समय लगता है उसे 'बादर क्षेत्र पुद्गल परावर्त' कहते हैं।

---

२. पोग्गलपरियट्टो इह दव्वाइ चउव्विहो मुणेयव्वो।'—प्रवचनसारोद्धार

(४) सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गलपरावर्त :

जीव की कम से कम अवगाहना भी असंख्य प्रदेशात्मक है। फिर भी कल्पना करें कि जीव की किसी एक आकाशप्रदेश में मृत्यु हुई है। इसके बाद इसके पास के आकाशप्रदेश में मृत्यु होती है। फिर इसके पास के तीसरे आकाशप्रदेश में मृत्यु होती है। इस तरह क्रमशः एक के बाद एक आकाशप्रदेश को मृत्यु से स्पर्श करता है और इस तरह समस्त लोकाकाश को मृत्यु द्वारा स्पर्श किया जाय, तब सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल-परावर्त काल कहा जाता है।

परन्तु मान लो कि जीव की पहले आकाश प्रदेश में मरने के बाद तीसरे या चौथे आकाश प्रदेश में मृत्यु होती है तो उसकी गणना नहीं होगी। अगर पहले के बाद दूसरे आकाशप्रदेश में मृत्यु हो तब ही गणना हो सकती है।

(५) बादर काल पुद्गलपरावर्त :

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के जितने समय (परम सूक्ष्म काल विभाग) हैं, उन समयों को एक जीव स्वयं की मृत्यु द्वारा क्रम से या उत्क्रम से स्पर्श करे तब बादर काल पुद्गलपरावर्त कहा जाता है।

(६) सूक्ष्म काल पुद्गलपरावर्त :

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के समयों को एक जीव अपनी मृत्यु द्वारा क्रम से ही स्पर्श करे उसे सूक्ष्म काल पुद्गलपरावर्त कहते हैं। जैसे कि अवसर्पिणी के प्रथम समय में किसी जीव की मृत्यु हुई, उसके बाद अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी बीत गई और वापिस अवसर्पिणी के दूसरे समय में मृत्यु प्राप्त की हो तो वह दूसरे समय का मृत्यु द्वारा स्पर्श गिना जाएगा।

(७) बादर भाव पुद्गलपरावर्त :

असंख्य लोकाकाश प्रदेशों के जितने अनुभाग बन्ध के अध्यवसाय स्थान हैं, उन अध्यवसायस्थानों को एक जीव मृत्यु द्वारा क्रम से या उत्क्रम से स्पर्श करने में जितना समय लगाता है उस काल को बादर भाव पुद्गलपरावर्त कहते हैं।

(८) सूक्ष्म भाव पुद्गलपरावर्त :

क्रमशः[१] सब अनुभागबन्ध के अध्यवसाय स्थानों को जितने समय में मृत्यु द्वारा

---

१. अनुभागबन्ध स्थान का वर्णन 'प्रवचनसारोद्धार' ग्रन्थ में इस प्रकार है :
तिष्ठति अस्मिन् जीव इति स्थानं; एकेन काषायिकेणध्यवसायेन गृहीतानां कर्मपुद्गलानां

स्पर्श किया जाता है, उस कालविशेष को सूक्ष्म भाव पुद्गलपरावर्त कहते हैं ।

हालाँकि ऊपर के बादर पुद्गल परावर्त कहीं भी सिद्धांत में उपयोगी नहीं है परन्तु बादर समझाने से सूक्ष्म का ज्ञान सरलता से हो सकता है, इसलिए बादर का वर्णन किया गया है । ग्रन्थों में जहाँ जहाँ 'पुद्गल परावर्त' आता है, वहाँ अधिकतर 'सूक्ष्म-क्षेत्र-पुद्गल परावर्त' समझना चाहिए ।

२२. कारणवाद

कारण के बिना कार्य नहीं होता है । जितने कार्य दिखते हैं उनके कारण होते ही हैं । ज्ञानियों ने विश्व में ऐसे पाँच कारण खोजे हैं, जो संसार के किसी भी कार्य के पीछे होते ही हैं ।

(१) काल
(२) स्वभाव
(३) भवितव्यता
(४) कर्म
(५) पुरुषार्थ

कोई भी कार्य इन पाँच कारणों के बिना नहीं होता है । अब अपन एक एक कारण को देखते हैं ।

काल :

विश्व में ऐसे भी कई कार्य दिखते हैं जिसमें काल (समय) ही कार्य करता हुआ दिखता है । परन्तु वहाँ काल को मुख्य कारण समझना चाहिए और शेष ४ कारणों को गौण समझना चाहिए ।

(१) स्त्री गर्भवती होती है वह निश्चित समय में ही बच्चे को जन्म देती है। (२) दूध से अमुक समय में ही दही जमता है । (३) तीर्थंकर भी अपना आयुष्य बढ़ा नहीं सकते हैं और निश्चितसमय में उनका भी निर्वाण होता है । (४) छः ऋतु अपने अपने समय से आती हैं और बदलती हैं । इन सब में काल प्रमुख कारण है।

विवक्षितैकसमयबद्धरससमुदायपरिमाणम् ।

अनुभाग बन्ध स्थानानां निष्पादका ये कषायोदयरूपा अध्यवसायविशेषा तेऽप्यनुभागबन्धस्थानानि ।

स्वभाव :

स्त्री को मूछ क्यों नहीं आती हैं ? यह स्वभाव है । हथेली में वाल क्यों नहीं उगते ? नीम के वृक्ष पर आम क्यों नहीं आते ? मोर के पंख ऐसे रंगबिरंगे और कलायुक्त क्यों होते हैं ? बेर के काँटे ऐसे नुकीले क्यों होते हैं ? फल फूलों के ऐसे विविध रंग क्यों ? पर्वत स्थिर और वायु चंचल क्यों ? इन सब प्रश्नों का समाधान एक ही शब्द हैः स्वभाव ।

भवितव्यता :

आम के पेड़ पर फूल आते हैं और कितने ही झड़ जाते हैं... कई आम मीठे और कई खट्टे... ऐसा क्यों ? जिन्हें स्वप्न में भी आशा न हो वह वस्तु उन्हें मिल जाती है... ऐसा क्यों ? एक मनुष्य युद्ध से जीवित आता है और घर में मर जाता है... ऐसा क्यों ? इन सब कार्यों में मुख्य भाग भवितव्यता का है ।

कर्म :

जीव चार गति में परिभ्रमण करता है । यह कर्म के कारण से ही है। राम को वनवास में रहना पड़ा और सती सीता पर कलंक लगा-यह कर्म के कारण ही हुआ। भगवान महावीर के कानों में कीलें ठोकी गईं... ऐसा सब कर्म के कारण ही हुआ । भूखा चूहा टोकरी को देखर काटता है... उसमें घुसता है... अन्दर बैठा हुआ भूखा साँप उस चूहे को निगल जाता है... यह कर्म के कारण ही । इन सब कार्यों का मुख्य कारण कर्म है ।

पुरुषार्थ :

राम ने पुरुषार्थ से लंका विजय की... तिल से तैल कैसे निकलता है ? लता मकान पर कैसे चढ़ जाती है ? पुरुषार्थ से ! कहावत है कि, 'बून्द बून्द सरोवर भर जाता है...' पुरुषार्थ के बिना विद्या, ज्ञान, धन, वैभव प्राप्त नहीं होता है ।

यहाँ एक बात महत्त्वपूर्ण है, इन पाँच कारणों में से कोई एक कारण कार्य को पैदा नहीं कर सकता है । हाँ, एक कारण मुख्य होता है और दूसरे चार गौण होते हैं । उपाध्याय श्री विनयविजयजी ने कहा है 'ये पाँचों समुदाय मिले बिना कोई भी कार्य पूर्ण नहीं होता है ।'

उदाहरणार्थ–तंतुओं से कपड़ा बनता है, यह स्वभाव है । कालक्रम से तंतु बनते हैं । भवितव्यता हो तो कपड़ा तैयार हो जाता है नहीं तो विघ्न आते हैं और काम अधूरा रह जाता है । कातनेवाले का पुरुषार्थ और भोगनेवाले का कर्म चाहिए ।

इसी तरह जीव के विकास में पाँचों कारण काम करते हैं ।

भवितव्यता के योग से ही जीव निगोद से बाहर निकलता है । पुण्यकर्म के उदय से मनुष्यभव प्राप्त करता है । भवस्थिति (काल) परिपक्व होने से उसका वीर्य (पुरुषार्थ) उल्लसित होता है और भव्य स्वभाव हो तो वह मोक्ष प्राप्त करता है । श्री विनयविजयजी उपाध्याय सज्झाय में कहते हैं :

'नियतिवशे हलु करमी थईने निगोद थकी निकलीयो,
पुण्ये मनुष्य भवादि पामी सद्गुरु ने जई मलियो;
भवस्थितिनो परिपाक थयो तव पण्डित वीर्य उल्लसीयो ।
भव्य स्वभावे शिवगति पामी शिवपुर जइने वसीयो ।

प्राणी ! समकित-मति मन आणो,

नय एकांत न ताणो रे...'

'किसी एक कारण से–ही कार्य होता है'–ऐसा माननेवालों में से अलग अलग मत–अलग अलग दर्शन पैदा हुए हैं ।

२३. चौदह राजलोक

कोई कहता है, 'यह मैदान ४० मीटर लम्बा है ।' कोई कहता है 'वह घर ५० फुट ऊंचा है'–अपन को तुरंत कल्पना हो जाती है । क्योंकि 'मीटर', 'फुट' आदि नापों से अपन परिचित हैं । 'राजलोक' यह भी एक नाप है । सबसे नीचे 'तमः तमः प्रभा' नरक से शुरू होकर सबसे ऊपर सिद्धशिला तक विश्व १४ राजलोक ऊंचा है।

यह[१] १४ राजलोक प्रमाण विश्व का आकार कैसा होगा, यह जिज्ञासा स्वाभाविक है । एक मनुष्य अपने दोनों पैर चौड़े करके और दोनों हाथ कमर पर रखकर खड़ा हो और जो आकार बनता है, ऐसा आकार इस १४ राजलोक प्रमाण विश्व का है ।

विश्व के विषय में कुछ मूलभूत बातें स्पष्ट करनी चाहिए ।

(१) इस लोक (विश्व) की उत्पत्ति किसी ने नहीं की थी ।

(२) इस लोक को किसी ने उठाया हुआ नहीं है । अर्थात् यह किसी के सहारे पर ठहरा हुआ नहीं है ।

---

१. वैशाखस्थानस्थः पुरुष इव कटिस्थकरयुग्मः ।—प्रशमरतिः

(३) यह लोक अनादि काल से है और अनंत काल तक रहेगा ।

(४) यह विश्व धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय से परिपूर्ण है ।

लोक के तीन भाग हैं :

(१) ऊर्ध्वलोक ।

(२) अधोलोक ।

(३) मध्यलोक ।

ऊर्ध्वलोक :

ऊर्ध्वलोक में वैमानिक देव और सिद्ध आत्मायें रहती हैं ।

बारह देवलोक :

(१) सौधर्म

(२) ईशान

(३) सनत्कुमार

(४) माहेन्द्र

(५) ब्रह्मलोक

(६) लान्तक

(७) महाशुक्र

(८) सहस्रार

(९) आनत

(१०) प्राणत

(११) आरण

(१२) अच्युत .

बारह देवलोक पूरे होने के बाद उनके ऊपर नौ ग्रैवेयक देवलोक हैं । उनके ऊपर अनुत्तर देवलोक हैं ।

पाँच अनुत्तर-देवलोक :

(१) विजय

(२) विजयन्त

(३) जयन्त

(४) अपराजित

(५) सर्वार्थसिद्ध

अधोलोक :

अधोलोक में नारकी, भवनपति देव, व्यन्तर आदि देव रहते हैं ।

सात नरक

(१) रत्नप्रभा

(२) शर्कराप्रभा

(३) बालुकाप्रभा

(४) पंकप्रभा

(५) धूमप्रभा

(६) तमःप्रभा

(७) तमः तमः प्रभा

क्रमशः एक के बाद एक नरक में ज्यादा-ज्यादा दुःख-वेदना होती है।

उंचाई में सात नरक सात राज्यलोक प्रमाण है ।

सातवीं नरक की चौड़ाई सात राजलोक जितनी है ।

मध्यलोक :

मध्यलोक में मनुष्य, ज्योतिषदेव, तिर्यंच जीव रहते हैं । मध्यलोक में असंख्य द्वीप और समुद्र हैं । अपन मध्यलोक में हैं ।

२४. यतिधर्म

यति यानी मुनि-साधु-श्रमण और इनका जो धर्म है वह यतिधर्म कहलाता है । साधुजीवन की भूमिका में मनुष्य को इन दस प्रकार के धर्म की आराधना करनी पड़ती है ।

(१) क्षान्ति : क्षमाधर्म का पालन करना ।

(२) मार्दव : मद का त्याग कर नम्र बनना ।

(३) आर्जव : माया का त्याग कर सरल बनना ।

(४) मुक्ति : निर्लोभता ।

(५) तप : इच्छाओं का निरोध ।

(६) संयम : इन्द्रियों का निग्रह ।

(७) सत्य : सत्य का पालन करना ।

(८) शौच : पवित्रता । व्रत में दोष नहीं लगने देना ।

(९) अकिंचन्य : बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग ।

(१०) ब्रह्म : ब्रह्मचर्य का पालन ।

इन दस प्रकार के धर्म की आराधना में साधुता है। साधुजीवन के ये दसविध धर्म प्राण हैं । इनका वर्णन 'नवतत्व प्रकरण', 'प्रशमरति', 'प्रवचन सारोद्धार', 'बृहत्कल्पसूत्र' इत्यादि अनेक प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है ।

२५. सामाचारी

साधुजीवन के परस्पर व्यवहार की आचारसंहिता 'दशविध सामाचारी' नाम से प्रसिद्ध है ।

(१) इच्छाकार :[१] साधु को अपना काम दूसरों से कराना हो तो अगर दूसरे की इच्छा हो तो कराना चाहिए, जबरदस्ती नहीं । इसी तरह दूसरों का काम करने की इच्छा हो तो भी उन्हें पूछकर करना चाहिए । हालाँकि निष्प्रयोजन तो दूसरों से अपना काम कराना ही नहीं चाहिए । परन्तु अशक्ति, बीमारी, अपंगता आदि कारण से दूसरों से (जो दीक्षा पर्याय में अपने से छोटे हों उनसे) पूछे : 'मेरा यह काम करोगे ?"

इसी तरह सेवाभाव से कर्मनिर्जरा के हेतु से दूसरों का काम स्वयं को करना हो तो भी पूछे 'आपका यह काम मैं कर सकता हूँ ?'

(२) मिथ्याकार : साधुजीवन के व्रतनियमों का पालन करने में जाग्रत होते हुए भी अगर कोई गलती हो जाये तो उसकी शुद्धि के लिए 'मिच्छामि दुक्कडं' कहना चाहिए। उदाहरण के लिए, छींक आई और वस्त्र मुँह के आगे नहीं रहा, बाद में ध्यान आने पर तुरंत 'मिच्छामि दुक्कडं' कहना चाहिए । परन्तु जान बूझकर जो दोष करता है और बार बार करता है तो उन दोषों की शुद्धि 'मिच्छामि दुक्कडं' से नहीं होगी।

---

१. सेव्यः क्षान्तिर्मार्दवमार्जव-शौचे च संयमत्यागौ ।
सत्यतपो–ब्रह्माकिञ्चन्यानीत्येष धर्मविधिः ॥ —प्रशमरतिः

(३) **तथाकार** : स्वयं के स्वीकार किये हुए सुगुरु का वचन बिना किसी विकल्प के 'तहत्ति' कहकर स्वीकार कर लेना चाहिए ।

(४) **आवश्यकी (आवस्सही)** : ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना के लिये मकान के बाहर निकलते ही 'आवस्सही' बोलकर निकलना चाहिए । आवश्यक कार्य के लिए बाहर जाना उसे आवश्यकी कहते हैं ।

(५) **नैषेधिकी** (निस्सीही) : आवश्यक कार्य पूर्ण करके साधु मकान में आये तब प्रवेश करते ही 'निस्सीही' बोलकर प्रवेश करे ।

(६) **पृच्छा** : कोई काम करना हो तो गुरुदेव को पूछे–'भगवन् ! यह काम मैं करूं ?'

(७) **प्रतिपृच्छा** : पहले किसी काम के लिए गुरुदेव ने मना कर दिया हो परन्तु वर्तमान में वह काम उपस्थित हो गया हो तो गुरुमहाराज को पूछे कि : 'भगवन् ! पहले आपने यह काम करने के लिए मना किया था परन्तु अब इसका प्रयोजन है, अगर आपकी आज्ञा हो तो मैं यह कार्य करूं ?' गुरु महाराज जैसा कहें वैसा करे ।

'प्रतिपृच्छा' का दूसरा अर्थ यह है कि किसी काम के लिए गुरु-महाराज ने अनुमति दे दी हो तो भी वह कार्य शुरू करते समय पुनः गुरुमहाराज को पूछना चाहिए।

(८) **छंदणा** : साधु गोचरी लाकर सहवर्ती साधुओं को कहे, 'मैं गोचरी (भिक्षा) लेकर आया हूँ, जिन्हें जो उपयुक्त हो वह इच्छानुसार ग्रहण करें ।'

(९) **निमन्त्रण** : गोचरी जाने के समय सहवर्ती साधुओं को पूछे (निमन्त्रण दे) कि मैं आपके लिए योग्य गोचरी लाऊँगा ।'

(१०) **उसंपत्** : विशिष्ट ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना के लिए एक गुरुकुल से दूसरे गुरुकुल में जाना ।

इन दस प्रकार के व्यवहार को सामाचारी कहते हैं । साधु-जीवन में इस व्यवहार का पालन मुख्य कर्तव्य है ।

२६. गोचरी के ४२ दोष

साधु जीवन का निर्वाह भिक्षावृत्ति पर होता है । साधु-साध्वी गृहस्थों के घर से भिक्षा लाते हैं । परन्तु गोचरी लाने में सतर्कता के कुछ नियम हैं । इन नियमों का अनुसरण करके भिक्षा लानी चाहिए । अगर इन नियमों का पालन न करे तो साधु को

दोष लगता है, उसका उन्हें प्रायश्चित करना पड़ता है। महाव्रतों को सुरक्षित रखने के लिए इन दोषों से बचना पड़ता है। ४२ दोषों को टालने के लिए इन दोषों का ज्ञान आवश्यक है। यहाँ इन दोषों के नाम और उनकी संक्षिप्त जानकारी दी गई है। विस्तृत ज्ञान के जिज्ञासुओं को 'प्रवचन सारोद्धार' 'ओधनिर्युक्ति' 'पिंडनिर्युक्ति' आदि ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए।

(१) आधाकर्म : साधु के लिए बनाए हुआ अन्न पानी।

(२) औद्देशिक : विचरण करते हुए साधु संन्यासियों के लिए बनाया हुआ।

(३) पूतिकर्म : आधाकर्म से मिश्र।

(४) मिश्रजात : ज्यादा बनाये।

(५) स्थापना : अलग निकालकर रखे।

(६) प्राभृतिक : लग्न आदि प्रसंगों में साधु के निमित्त देर से या पहले करे। इसी तरह सुबह या शाम को साधु के निमित्त देर से या जल्दी भोजन बनावे।

(७) प्रादुष्करण : खिड़की खोले; बत्ती करे।

(८) क्रीत : साधु के लिए खरीदकर लाये।

(९) प्रामित्य : साधु के लिए उधार लाये।

(१०) परावर्तित : अदल बदल करे।

(११) अभ्याहृत : साधु के स्थान पर लाकर देना।

(१२) उद्भिन्न : सील तोड़कर या ढक्कन खोलकर दे।

(१३) मालापहृत : छींके में रखा हुआ उतारकर दे।

(१४) आच्छेद्य : पुत्र आदि की इच्छा न हो तो भी उनके पास से लेकर दे।

(१५) अनुत्सृस्ट : अनुमति बिना (पति पत्नी की, पत्नी पति की) देवें।

(१६) अध्वपूरक : भोजन पकाने की शुरूआत अपने लिए करे फिर इसमें साधु के लिए और बढ़ा देवें।

(१७) धात्रीदोष : साधु धाय मां का काम करे।

(१८) दूतिदोष : संदेश ले जाना और लाना।

(१९) निमित्त कर्म : ज्योतिष शास्त्र से निमित्त कहे।

(२०) आजीवक पिंड : अपने आचार्य का कुल बताना ।

(२१) वनीपक पिंड : ब्राह्मण, अतिथि, भिखारी के समान बनकर भिक्षा माँगे ।

(२२) चिकित्सा पिंड : दवा बताये या करे ।

(२३) क्रोध पिंड : क्रोध से भिक्षा मांगे ।

(२४) मान पिंड : अभिमान से भिक्षा लाये ।

(२५) माया पिंड : नये नये वेश करके लाये ।

(२६) लोभ पिंड : कोई खास वस्तु लाने की इच्छा से फिरे ।

(२७) संस्तवदोष : माता, पिता और ससुराल का परिचय दें ।

(२८) विद्या पिंड : विद्या से भिक्षा लाये ।

(२९) मन्त्र पिंड : मन्त्र से भिक्षा लाये ।

(३०) चूर्ण पिंड : चूर्ण से भिक्षा लाये ।

(३१) योग पिंड : योगशक्ति से भिक्षा प्राप्त करे ।

(३२) मूल कर्म : गर्भपात करने के उपाय बताये ।

(३३) शंकित : दोष की शंका हो तो भी भिक्षा लें ।

(३४) भ्रक्षित : काम में लिया हुआ जूठा द्रव्य लें ।

(३५) पीहित : सचित या अचित से ढकी हुई वस्तु लें ।

(३६) दायक : नीचे लिखे लोगों से भिक्षा लेने से यह दोष लगता है।

(१) बेडी से जकड़ा हुआ (२) जूते पहने हुए (३) बुखारवाला (४) बालक (५) कुबड़ा (६) वृद्ध (७) अन्धा (८) नपुँसक (९) उन्मत्त (१०) लंगड़ा (११) खांडनेवाला (१२) पीसनेवाला (१३) धुनकनेवाला (१४) कातनेवाला (१५) दही बिलोनेवाला (१६) गर्भवती स्त्री (१७) दूध पीते बच्चे की माँ (१८) मालिक की अनुपस्थिति में नोकर

(३७) उन्मिश्र : सचित्त-अचित्त मिलाकर देवे वह लेना ।

(३८) अपरिणत : पूर्ण अचित्त न हुआ हो वह लेना अथवा दो साधु में एक को निर्दोष लगे और दूसरे को सदोष लगे वह लेना ।

(३९) लिप्त : शहद, दही से लिपा हुआ लेना ।

(४०) छर्दित : भूमि पर गिरा हुआ लेना ।

(४१) निक्षिप्त : सचित्त के साथ संघट्टावाला लेना ।

(४२) संहृत : एक बर्तन से दूसरे बर्तन में खाली करके, खाली बर्तन से बोहराना ।

साधु साध्वी को इन ४२ दोषों की जानकारी होनी ही चाहिए । तभी वे भिक्षा लाने के योग्य बन सकते हैं ।

२७. चार निक्षेप

किसी भी शब्द का अर्थ निरुपण करना हो तो वह 'निक्षेप' पूर्वक किया जाये तो स्पष्ट रुप से समझ में आ सकता है । 'निक्षेपणं निक्षेपः' निरुपण करने को निक्षेप कहते हैं । यह निक्षेप जघन्य से चार प्रकार का है और उत्कृष्ट से अनेक प्रकार का है । यहाँ हम चार प्रकार के निक्षेप का विवेचन करेंगे ।

(१) नाम ।

(२) स्थापना ।

(३) द्रव्य ।

(४) भाव ।

नाम निक्षेप :

यद्[१] वस्तुनोऽभिधानं स्थितमन्यार्थे तदर्थ निरपेक्षम् ।
पर्यायानभिधेयं च नाम यादृच्छिकं च तथा ॥

(१) यथार्थ में एक नाम सर्वत्र बहुत प्रसिद्ध होता है और वही नाम दूसरे लोग भी रखते हैं । उदाहरणार्थ 'इन्द्र' यह नाम देवों के अधिपति के रुप में प्रसिद्ध है और यह नाम ग्वाले के लड़के का भी रख देते हैं ।

(२) 'इन्द्र' शब्द का जो 'परम ऐश्वर्यवान्' अर्थ है वह ग्वाले के लड़के के लिए प्रयुक्त नहीं होगा ।

(३) 'इन्द्र' शब्द के जो पर्याय 'शक्र', 'पुरन्दर', 'शचि-पति' आदि हैं वे पर्याय ग्वाले के पुत्र इन्द्र के लिये प्रयुक्त नहीं होंगे ।

---

१. अनुयोग द्वार-सूत्र

'यादृच्छिक' प्रकार में ऐसे नाम आते हैं कि जिनका व्युत्पत्ति अर्थ नहीं होता है। इसमें तो स्वेच्छा से ही नाम दिये जाते हैं।

ये नाम जीव और अजीव के हो सकते हैं।

स्थापना निक्षेप :

यत्तु[२] तदर्थ वियुक्तं तदभिप्रायेण यच्च तत्करणि।
लेप्यादिकर्म तत्स्थापनेति क्रियतेऽल्पकालं च ॥

- भाव इन्द्र आदि का अर्थ रहित (परन्तु अर्थ के अभिप्राय से) साकार या निराकार जो किया जाता है उसे स्थापना कहते हैं।
- भाव-इन्द्रादि के साथ समानता हो उसे साकार स्थापना कहते हैं।
- भाव-इन्द्रादि के साथ असमानता हो उसे निराकार स्थापना कहते हैं।

काष्ठ, पत्थर, हाथीदांत की मूर्तियाँ, प्रतिमायें आदि को साकार स्थापना कहते हैं। ये दो तरह की होती हैं। (१) शाश्वत् (२) अशाश्वत्। देवलोक आदि में शाश्वत् जिन प्रतिमाएँ होती हैं, जबकि दूसरी प्रतिमायें शाश्वत् नहीं भी होती हैं।

- शंख आदि में जो स्थापना की जावे उसे निराकार स्थापना कहते हैं।

शाश्वत् जिन प्रतिमाओं में 'स्थापना' शब्द की व्युत्पत्ति 'स्थाप्यते इति स्थापना' चरितार्थ नहीं होती है। क्योंकि वे शाश्वत् हैं। शाश्वत् को कोई स्थापित नहीं कर सकता है। इसलिए वहाँ 'अर्हदादिरुपेण तिष्ठतीति स्थापना, यानी कि 'अरिहंत आदि रुप से रहते हैं वह स्थापना' ऐसा व्युत्पत्ति-अर्थ करना चाहिए।

नाम निक्षेप और स्थापना निक्षेप में इस तरह बहुत अन्तर हैं। परमात्मा की स्थापना (मूर्ति), देवों की स्थापना, गुरुवरों की स्थापना के दर्शन-पूजन से इच्छित लाभों की प्राप्ति प्रत्यक्ष दिखती है। इसके अलावा प्रतिमा के दर्शन से विशिष्ट कोटि के भाव भी जाग्रत होते हैं।

द्रव्य निक्षेप :

'भूतस्य[३] भाविनो वा भावस्य हि कारणं तु यल्लोके।
तद्द्रव्यं तत्वज्ञैः सचेतनाचेतनं कथितम् ॥'

---

२. अनुयोग द्वार-सूत्र
३. अनुयोग द्वार-सूत्र

जो चेतन-अचेतन द्रव्य भूतकालीन भाव का कारण हो या भविष्यकाल के भाव का कारण हो उसे द्रव्य निक्षेप कहते हैं ।

उदाहरणार्थ भूतकाल में वकील या डाक्टर हों परन्तु वर्तमान में वकालत न करते हों या दवाई नहीं करते हों तो भी जनता उन्हें वकील या डॉक्टर कहती है । यह द्रव्य निक्षेप से वकील या डाक्टर कहे जाते हैं । इसी तरह अभी तक वकालात पढ़ रहे हों या मेडिकल कॉलेज में पढ़ रहे हों तो भी लोग उन्हें वकील या डॉक्टर कहते हैं क्योंकि वे भविष्य में वकील या डॉक्टर होनेवाले हैं । इसी तरह भूतकालीन पर्याय का एवं भविष्यकालीन पर्याय का जो कारण वर्तमान में हो उसे द्रव्य निक्षेप कहते हैं ।

द्रव्य निक्षेप की दूसरी परिभाषा इस तरह की जाती है–'अणुवओगो दव्वं' अनुपयोग अर्थात् भावशून्यता, बोध-शून्यता... उपयोग शून्यता । जिस क्रिया में भाव, बोध, उपयोग न हो उस क्रिया को द्रव्य क्रिया कहते हैं ।

लोकोत्तर द्रव्य-आवश्यक की चर्चा करते हुए अनुयोगद्वार सूत्र में कहा है कि यदि कोई श्रमण गुणरहित और जिनाज्ञारहित बनकर, स्वच्छन्दता से विचरण कर, उभयकाल प्रतिक्रमण के लिए खड़ा हो उस साधु वेशधारी का प्रतिक्रमण वह लोकोत्तर द्रव्य आवश्यक है ।'

द्रव्य निक्षेप की विस्तृत चर्चा के लिए 'अनुयोग द्वार सूत्र' का अध्ययन करना आवश्यक है ।

भावनिक्षेप :

तीर्थंकर भगवन्त को लेकर जहाँ भाव-निक्षेप का विचार किया गया है, वहाँ कहा है–'समवसरणठ्ठा भाव जिणिंदा' समवसरण में बैठे हुए... धर्मदेशना देते हुए तीर्थंकर भगवन्त भाव तीर्थंकर हैं ।

'श्री अनुयोगद्वार सूत्र' में कहा है : 'वक्तृविवक्षित परिणामस्य भवनं भावः ।' वक्ता के कहे हुए परिणाम जाग्रत होने को भाव कहते हैं ।

भाव से प्रतिक्रमण आदि क्रियायें दो प्रकार से होती हैं : (१) आगम से (२) नो आगम से ।

- प्रतिक्रमण के सूत्रों के अर्थ के उपयोग को भाव प्रतिक्रमण कहते हैं। इसी तरह जो क्रिया की जाती है उस क्रिया के अर्थ के उपयोग हो तो वह क्रिया भावक्रिया कही जाती है ।

- नो आगम से भावक्रिया तीन प्रकार की है : (१) लौकिक (२) कुप्रावचनिक (३) लोकोत्तर

(१) लौकिक : लौकिक शास्त्रों के श्रवण में उपयोग ।

(२) कुप्रावचनिक : होम, जप... योगादि क्रियाओं में उपयोग ।

(३) लोकोत्तरिक : तच्चित्त आदि आठ विशेषताओं से युक्त धर्मक्रिया (प्रतिक्रमण आदि)

सारांश यह है कि प्रस्तुत क्रिया छोड़कर दूसरी तरफ मन-वचन-काया का उपयोग न करते हुए जो क्रिया की जाती है उसे भावक्रिया कहते हैं ।

२८. चार अनुयोग

राग[१], द्वेष और मोह से अभिभूत संसारी जीव शारीरिक और मानसिक अनेक दुःखों से पीड़ित हैं । इन समस्त दुःखों को दूर करने के लिए हेय और उपादेय पदार्थ के परिज्ञान में यत्न करना चाहिए । यह प्रयत्न विशिष्ट विवेक के बिना नहीं हो सकता है । विशिष्ट विवेक अनन्त अतिशय युक्त आप्त पुरुष के उपदेश के बिना नहीं हो सकता है । राग, द्वेष और मोह आदि दोषों का सर्वथा क्षय करनेवाले को 'आप्त' कहते हैं। ऐसे आप्तपुरुष 'अरिहंत' ही हैं ।

अरिहंत भगवन्त का उपदेश ही राग-द्वेष के बन्ध को तोड़ने में समर्थ है । इसलिए इस अर्हद्वचन की व्याख्या करनी चाहिए । पूर्वाचार्यों ने चार अनुयोगों में अर्हद्वचन को विभाजित किया है ।

(१) धर्मकथा-अनुयोग

(२) गणित-अनुयोग

(३) द्रव्य-अनुयोग

(४) चरण-करण-अनुयोग

अनुयोग अर्थात् व्याख्या । धर्मकथाओं का वर्णन श्री उत्तराध्ययन आदि में है। गणित का विषय सूर्यप्रज्ञप्ति आदि में वर्णित है । द्रव्यों की चर्चा-विचारणा चौदह पूर्व में और सन्मतितर्क आदि ग्रन्थों में है । चरण-करण का विवेचन आचारांग सूत्र आदि में किया गया है ।

---

१. आचारांग-सूत्र टीका; श्री शीलांकाचार्यजी ।

इस तरह वर्तमान में उपलब्ध ४५ आगमों को इन चार अनुयोगों में विभक्त किया गया है ।

२९. ब्रह्म-अध्ययन

'नियाग-अष्टक' में कहा है :

ब्रह्माध्ययन निष्ठावान् परब्रह्म समाहितः ।
ब्राह्मणो लिप्यते नाघैः नियागप्रतिपत्तिमान् ॥

इस श्लोक के विवेचन में 'ब्रह्म-अध्ययन' में निष्ठा, श्रद्धा, आस्था रखने के लिए कहा है ।

श्री आचारांग सूत्र का प्रथम भाग यही ब्रह्म अध्ययन है। हालाँकि यह श्रुतस्कंध है, परन्तु श्री यशोविजयजी महाराज ने अध्ययन के रुप में निर्देश किया है । इस प्रथम श्रुतस्कंध के नौ अध्ययन थे परन्तु इनका 'महापरिज्ञा' नामक सातवाँ अध्ययन करीब हजार वर्षो से लुप्त है ।

'सत्थपरिण्णा लोगविजओ य सीओसणिज्ज सम्मत्तं ।
तह लोगसारनामं धुयं तह महापरिण्णा य ॥
अट्ठएम य विमोक्खो उवहाणसुयं च नवमगं भणियं ।'

—आचारांग-निर्युक्ति, ३१-३२

(१) शस्त्र परिज्ञा (२) लोक विजय
(३) शीतोष्णीय (४) सम्यक्त्व
(५) लोकसार (६) धूताध्ययन
(७) महा परिज्ञा (८) विमोक्ष
(९) उपद्यानश्रुत

श्री शीलांकाचार्यजी कहते हैं, "ये नौ अध्ययन संयमी आत्मा को मूल गुण और उत्तर गुणों में स्थिर करते हैं, इसलिए कर्म निर्जरा के लिए इन अध्ययनों का परिशीलन करना चाहिए ।'

३०. पैंतालीस आगम

आज से २५०० वर्ष पहले श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने सर्वज्ञता प्राप्त करके धर्मतीर्थ की स्थापना की थी। उन्होंने ग्यारह विद्वान् ब्राह्मणों को दीक्षा देकर उन्हें 'गणधर' की पदवी दी। भगवन्त ने ११ गणधरों को 'त्रिपदी' दी। 'उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा।' इस त्रिपदी के आधार पर गणधरों ने 'द्वादशांगी' (बारह शास्त्रों) की रचना की।

पाँचवें गणधर सुधर्मा स्वामी ने जो द्वादशांगी की रचना की, उनमें से बारहवां अंग 'दृष्टिवाद' लुप्त हो गया है। जो ग्यारह अंग रहे हैं उनमें से भी बहुत सा भाग नष्ट हो गया है, फिर भी जो रहा उसको आधार मानकर कालान्तर में अन्य आगमों की रचना की गई है।

इस तरह पिछले सैंकड़ों वर्षों से '४५ आगम' प्रसिद्ध हैं। इन आगमों के ६ विभाग हैं :

११ अंग

१२ उपांग

४ मूलसूत्र

६ छेद सूत्र

१० प्रकीर्णक

२ चूलिका सूत्र

इन ४५ आगमों पर जो विवरण लिखे गये हैं, वे चार प्रकार के हैं—(१) निर्युक्ति (२) भाष्य (३) चूर्णी (४) टीका। ये विवरण संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में लिखे गये हैं।

११ अंग	१२ उपांग	४ मूल सूत्र	६ छेद सूत्र	१० प्रकीर्णक	२ चूलिका सूत्र
आचार[१]	औपपातिक	आवश्यक	निशीथ	देवेन्द्र स्तव	नन्दी
सूत्रकृत	राज प्रश्नीय	उत्तराध्ययन	दशाश्रुत	तंदुल वैचारिक	अनुयोगद्वार
स्थान	जीवाभिगम	दशवैकालिक	बृहत्कल्प	गणि विद्या	
समवाय	प्रज्ञापना	ओघ निर्युक्ति	व्यवहार	आतुर प्रत्याख्यान	
व्याख्या प्रज्ञप्ति	सूर्य प्रज्ञप्ति		जीतकल्प	महाप्रत्याख्यान	
ज्ञाता धर्म कथा	चन्द्र प्रज्ञप्ति		महानिशीथ	गच्छाचार	
उपासक दशा	जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति			भक्तपरिज्ञा	
अन्तकृत् दशा	निरयावलिका			मरण समाधि	
अनुत्तरोपपातिकदशा	कल्पावतंसिका			संस्तारक	
प्रश्न व्याकरण	पुष्पिता			चतुःशरण	
विपाक श्रुत	पुष्प चूलिका				
	वृष्णि दशा				

१. आगम साहित्य की विशेष जानकारी के लिए देखिये "आर्हत् आगमोनुं अवलोकन" और "पैंतालीस आगम" (लेखक प्रो० हीरालाल र० कापड़िया)

३१. तेजोलेश्या[१]

'तेजोलेश्या' शब्द का उपयोग जैन आगम साहित्य में तीन अर्थों में किया गया है।

१. जीव का परिणाम।

२. तपोलब्धि से प्रकटित शक्ति।

३. आन्तर आनन्द; आन्तर सुख।

'ज्ञानसार' में ग्रन्थकार ने कहा है :

"तेजोलेश्याविवृद्धिर्या साधोः पर्यायवृद्धितः।
भाषिता भगवत्यादौ सेत्थंभूतस्य युज्यते॥"

तेजोलेश्या को आन्तर सुखरूप समझनी चाहिए। श्री भगवती सूत्र के चौदहवें शतक में देवों की तेजोलेश्या (सुखानुभव) के साथ श्रमण की तेजोलेश्या की तुलना की गयी है। टीकाकार महर्षि ने तेजोलेश्या का अर्थ '**सुखासिकाम**' किया है। अर्थात् सुखानुभव।

एक माह के दीक्षा पर्यायवाला श्रमण वाणव्यन्तर देवों की तेजोलेश्या का अतिक्रमण कर जाता है। दो माह के दीक्षा पर्यायवाला श्रमण भवनपति देवों की तेजोलेश्या का अतिक्रमण कर देता है। तीन माह के दीक्षा पर्यायवाला असुरकुमार देवों की, चार माह के दीक्षा पर्यायवाला ज्योतिष देवों की पाँच माह के दीक्षा पर्यायवाला सूर्य-चन्द्र की, छह माह के दीक्षा पर्यायवाला सौधर्म-इशान देवों की, सात माह के दीक्षा पर्यायवाला सनत्कुमार-माहेन्द्र की, आठ माह के दीक्षा पर्यायवाला ब्रह्म और लांतकदेवों की नौ माह के दीक्षा पर्यायवाला महाशुक्र और सहस्रार की, दस माह के दीक्षा पर्यायवाला आनत, प्राणत, आरण और अच्युत की, ग्यारह माह के दीक्षा पर्यायवाला ग्रैवेयक-देवों की और बारह माह के दीक्षा पर्यायवाला अनुत्तरवासी देवों की तेजोलेश्या का अतिक्रमण कर जाता है।

• • •

१. द्वितीय अष्टक 'मग्नता' : श्लोक ५

प्रकाशक
श्री चिंतामणि पार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर तीर्थ
हरिद्वार • दिल्ली